# सम्पूर्ण जीवन दर्शन

**भाग – ५**

**(सन्त सौरभ)**

**स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज**

*जो मजहब, संप्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है ।*

प्रथम संस्करण – २०१९
1000 प्रतियाँ

मूल्य : कुल 10 पुस्तकों के लिए ₹ 2500

**प्रकाशक**

## करनाल मानव सेवा संघ

निकट बस स्टैण्ड़, जी टी रोड़,
करनाल, हरियाणा – 132 001
दूरभाष : 0184-2254415

# प्रार्थना

( प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है )

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें ।

**ॐ आनन्द!  ॐ आनन्द!!  ॐ आनन्द!!!**

## हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।

## सर्वहितकरी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।

हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

# मानवता के मूल सिद्धांत

(१) आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

(४) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

(५) दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

(६) पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

(७) निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

(८) शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कायों में स्वावलम्बन।

(९) शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

(१०) सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

(११) व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना !

# विषय सूची

(१) सन्त समागम

क. लखनऊ सत्संग

ख. अजमेर का सत्संग

(२) सन्त सौरभ

(३) सन्त उद्बोधन

(४) साधन सूत्र

# सन्त समागम

## लखनऊ का सत्संग

## ४ जनवरी १९४०

**ध्यान किस प्रकार हो सकता है?**

ध्यान करने वाले महानुभावों को यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि वे किसका ध्यान करना चाहते हैं, क्योंकि ध्येय के ज्ञान के बिना ध्यान किसी प्रकार नहीं हो सकता है और प्रेम-पात्र का ज्ञान होने पर ध्यान अपने आप हो जाता है, क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं होता उसका ध्यान किसी प्रकार नहीं हो सकता।

**ध्यान का फल?**

ज्ञान से संसार के बंधन टूट जाते हैं और ध्यान से आनन्द की अनुभूति होती है बन्धन टूटते ही संसार की वासनाओं का त्याग हो जाता है। इससे ज्ञान होने पर ध्यान स्वयं हो जाता है।

**कर्म क्यों होता है?**

जब तक हृदय में किसी प्रकार की विलासिता जीवित है तब तक ही शुभ तथा अशुभ कर्म में रुचि होती है। विलासिता का अन्त होने पर त्याग के भाव उत्पन्न होते हैं, फिर कर्म में रुचि बिल्कुल नहीं होती और त्याग आ जाने पर हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि किसी का त्याग ही किसी का प्रेम हो जाता है।.....

**त्याग का फल?**

त्याग और कर्म में यही भेद है कि त्याग संसार के चढ़ाव (मूल) की ओर और कर्म संसार के बहाव की ओर ले जाता है। जिस प्रकार नदी के चढ़ाव की ओर चलने वाला नदी का अन्त करके नदी के कारण को जान लेता है। उसी प्रकार त्याग करने वाला संसार के कारण को जान लेता है।

**कर्म का फल?**

जिस प्रकार नदी के बहाव की ओर जाने वाला महासागर में डूबकर बार-बार उसी पानी में चक्कर लगाता है, अर्थात् नदी के कारण को नहीं जान पाता, उसी प्रकार कर्म करने वाला संसार में चक्कर लगाता है, परन्तु संसार के कारण को नहीं जान पाता।

## ५ जनवरी १९४०

**आदर और अनादर तथा सुख-दुःख क्यों होता है?**

कर्त्ता ने अपने को जिस भावना से बाँध लिया है उस भावना के अनुसार क्रिया करने पर कर्त्ता उस समुदाय में आदर पाता है और भावना के विपरीत क्रिया करने पर अनादर पाता है। आदर से सुख और अनादर से दुःख अपने आप होता है।

**गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता क्यों होती है?**

अपने कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान करने के लिए गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता होती है।

**क्या गुरु और ग्रन्थ के बिना कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हो सकता?**

गुरु और ग्रन्थ के बिना भी कर्त्तव्य का ज्ञान हो सकता है, यदि कर्त्ता को कर्त्तव्य के ज्ञान के लिए सच्ची व्याकुलता उत्पन्न हो जाय।

जिसको व्याकुलता नहीं उत्पन्न होती उसको बाहरी सहायता लेनी आवश्यक है।

**व्याकुलता उत्पन्न होने पर कर्त्तव्य का ज्ञान कैसे होता है?**

व्याकुलता अग्नि के समान है, अतः वह सब प्रकार के विकारों को जला देती है हृदय आदि को शुद्ध कर देती है।

हृदय के शुद्ध होने पर कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार साफ की हुई मिट्टी ही दूरबीन का काँच है जिससे बहुत दूर का दिखाई दे जाता है। (बिना साफ की हुई मिट्टी से नहीं) उसी प्रकार अन्तःकरण आदि के शुद्ध होने से कर्त्तव्य का ज्ञान दिखाई दे जाता है।

ऐसे महापुरुष (विचारशील पुरुष) को गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं होती।

**कर्त्तव्य-पालन करने से क्या लाभ होता है?**

कर्त्तव्य-पालन करने पर कर्त्ता अभय हो जाता है अर्थात् बंधन से छूट जाता है और किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता, गरीबी सदा के लिए मिट जाती है। "करने" से छूट जाता है, सीमित भाव का अभाव हो जाता है।

**वैराग्य क्या है?**

संसार से सच्ची निराशा आ जाने पर जीवन में मृत्यु का अनुभव हो जाता है, यही वास्तव में वैराग्य है।

**अभ्यास क्या है?**

अपने को सब ओर (संसार) से हटा लेना ही अभ्यास है।

**अभ्यास से क्या लाभ होता है?**

जो अपने को सब ओर से हटा लेता है, वह अपने में ही सब कुछ (स्थायी आनन्द) पा लेता है।

**संसार का स्वरूप क्या है?**

- इन्द्रिजय-जन्य ज्ञान का सद्भाव होने पर संसार सत् मालूम होता है।
- बुद्धि-जन्य ज्ञान से संसार असत् मालूम होता है।
- अनुभव-जन्य ज्ञान से संसार का अभाव हो जाता है। अतः सत्, असत् और अभाव ये संसार के तीन स्वरूप मालूम होते हैं।

**इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव क्यों होता है?**

विषयों का राग होने पर इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव होता है।

**बुद्धि-जन्य ज्ञान का सद्भाव क्यों होता है?**

विषयों का राग मिटने पर अर्थात् विचारपूर्वक वैराग्य होने से बुद्धि-जन्य ज्ञान का सद्भाव होता है।

(वैराग्य उसी समय तक जीवित है, जब तक किसी न किसी प्रकार का राग है।)

राग समूल मिटने पर वैराग्य अपने आप मिट जाता है। राग और वैराग्य के मिटते ही अनुभव-जन्य ज्ञान का सद्भाव हो जाता है।

अनुभव-जन्य ज्ञान, ज्ञान का स्वरूप है और बुद्धि-जन्य ज्ञान व इन्द्रिय-जन्य ज्ञान, ज्ञान का गुण है। अर्थात् इन दोनों का ज्ञान स्वरूप नहीं है, इसीलिए घटता बढ़ता है।

**राग मिटने पर वैराग्य कैसे मिट जाता है।**

वैराग्य अग्नि के समान है जो रागरूपी लकड़ी को जलाता है। जिस प्रकार लकड़ी का अभाव होते ही अग्नि अपने आप शान्त हो जाती है, उसी प्रकार राग का अभाव होते ही वैराग्य, और जो अविचार का अभाव होते ही विचार, तथा अज्ञान का अभाव होते ही योग, स्वतः मिट जाता है। अर्थात् सभी गुण दोष के आधार पर जीवित हैं, अतः दोषों का अभाव होने पर गुण अपने आप मिट जाते हैं। वास्तव में तो जिस प्रकार प्रकाश की कमी ही अँधेरा है, उसी प्रकार गुणों की कमी ही दोष है।

**राग क्यों होता है?**

सुख से राग का जन्म होता है, क्योंकि यदि विषयों में सुख न मालूम पड़े तो राग नहीं हो सकता। विषयों में सुख-भाव अविचार से होता है, अविचार ज्ञान की कमी से होता है। और ज्ञान की कमी अपने को शरीर समझने पर होती है। इन सब कारणों से ही राग का जन्म होता है।

**दुःख क्यों होता है?**

सुख रूप बीज से ही दुःखरूप वृक्ष हरा-भरा होता है, क्योंकि ऐसा कोई दुःख नहीं है कि जिसका जन्म सुख से न हुआ हो।

**दुःख और सुख का परिणाम?**

जो सुख किसी का दुःख बन कर मिलता है, वह मिट कर कभी न कभी बड़ा दुःख हो जाता है, क्योंकि उसका जन्म दुःख से हुआ था। और जो दुख किसी का सुख बन कर मिला है वह मिटकर कभी न कभी आनन्द में बदल जायेगा, क्योंकि प्राणी सुख से बँधता है और दुःख से छूट जाता है। अर्थात् सुख से दुःख और दुःख से आनन्द मिलता है।

**त्याग का स्वरूप क्या है?**

संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास का अत्यन्त अभाव ही सच्चा त्याग है क्योंकि अनुकूलता से राग और प्रतिकूलता से द्वेष होता है। राग द्वेष का अभाव हो जाना ही त्याग है।

जिस प्रकार लड़की पिता के घर कन्या और ससुराल में बहू तथा पुत्रवती होने पर माता कहलाती है, उसी प्रकार त्याग में प्रेम और प्रेम ही ज्ञान कहलाता है।

त्याग होने पर आस्तिकता आ जाने से त्याग प्रेम में, और आस्तिकता का यथार्थ अनुभव होने पर प्रेम ज्ञान में बदल जाता है।

## ६ जनवरी १९४०

**आस्तिकता क्या है?**

सभी प्रकार के कर्मों का त्याग होने पर जो शेष रहता है उसका अनुभव ही आस्तिकता है। जिस प्रकार कमरों के मिटा देने से मकान की सत्ता कुछ नहीं रहती, उसी प्रकार सब प्रकार के कर्मों का अन्त होने पर कर्त्ता कुछ नहीं रहता, कर्म और कर्त्ता के मिटते ही अचल नित्य सत्ता शेष रहती है। क्योंकि कर्म से किसी प्रकार स्थायी प्रसन्नता नहीं मिल सकती, इसलिये जब

तक कर्म से प्रसन्नता मालूम होती हो तब तक समझना चाहिये कि आस्तिकता नहीं उत्पन्न हुई।

**आस्तिकता की आवश्यकता क्यों है?**

जो अभिलाषा किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती उसका पूरा होना अनिवार्य है

स्थायी प्रसन्नता सभी प्राणी चाहते हैं और वह केवल कर्म से किसी प्रकार पूरी नहीं हो सकती। इसलिये आस्तिकता की ओर जाने के लिए स्थायी प्रसन्नता का अभिलाषी मजबूर हो जाता है।

**आस्तिक-नास्तिक कौन है?**

- जो हर काल में है उसको जो जानता है वह आस्तिक है।
- जो हर काल में नहीं है उसको जो मानता है वह नास्तिक है।

**कर्म से स्थायी प्रसन्नता क्यों नहीं मिलती?**

कर्मरूप बीज से शरीररूप वृक्ष उत्पन्न होता है और संसाररूप फल लगता है, जिसका स्वाद सुख और दुःख है। इसलिये कर्म से प्रसन्नता नहीं मिल सकती। कर्म शरीर तथा संसार इन तीनों का स्वरूप एक है, इनमें कोई भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जो स्वतन्त्र नहीं है उससे स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, और स्वतन्त्रता के बिना प्रसन्नता कहाँ? अतः इन कर्मादि से प्रसन्नता नहीं मिल सकती।

**कर्म किस प्रकार करना चाहिये?**

कर्म को विश्व-प्रेम के भाव से करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से भोगों का यथार्थ ज्ञान होने पर त्याग अपने आप उत्पन्न होता है और फिर कर्म में रुचि नहीं होती।

प्रत्येक करना न करने के लिये होता है, इसीलिये करना तभी सार्थक है कि करना शेष न रहे। अतः विषयासक्तों को अपने सभी कर्म असीम विश्व-प्रेम के भाव से करने चाहिये। विषयासक्त कर्म से ही उन्नति कर सकता है और किसी प्रकार नहीं।

**फल?**

कर्म का अन्त होने पर आस्तिकता अपने आप आ जाती है। आस्तिकता आने पर राग-द्वेष त्याग-प्रेम में बदल जाते है।

**चाह क्यों उत्पन्न होती है?**

सभी प्रकार की चाह उस समय उत्पन्न होती है जब हम अपने में शरीर-भाव धारण करते हैं, क्योंकि शरीर-भाव धारण करने से सीमित अहंभाव उत्पन्न हो जाता है। सीमित अहंभाव होने से हम किसी न किसी प्रकार की बंधनयुक्त भावना अपने में अनुभव करते हैं और उसी बंधनयुक्त भावना के अनुसार करने का भाव उत्पन्न होता है।

**संसार क्यों प्रतीत होता है?**

अपने में शरीर-भाव धारण करने पर आनन्दघन भगवान् संसार के स्वरूप में प्रतीत होते हैं।

(जिस प्रकार शरीर-भाव धारण करने पर संसार का अनुभव होता है उसी प्रकार आत्म-भाव धारण करने पर परमात्मा का अनुभव होता है।)

(शरीर-भाव मिटाने के लिए आत्म-भाव धारण करना परमावश्यक है, क्योंकि किसी का होना ही किसी का न होना हो जाता है।)

**उन्नति का साधन क्या है?**

वर्तमान जीवन से असन्तोष होने पर ही उन्नति का जन्म हो सकता है।

**जीवन की सार्थकता क्या है?**

जीवन के दो ही स्वरूप सार्थक हैं। या तो हदय में दुःख रूप अग्नि जलती रहे अथवा आनन्द की गंगा लहराती रहे, क्योंकि दुःखरूप अग्नि सभी प्रकार के विकारों को जला देती है। जिस प्रकार लकड़ी न रहने पर अग्नि अपने आप ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार विकार न रहने पर दुःख अपने आप शान्त हो जाते हैं।

## ७ जनवरी १९४०

**सत्य को कौन पा सकता है?**

जिसका कोई आधार नहीं है और जो किसी का आधार नहीं वह सत्य से अभिन्न हो जाता है अर्थात् वह अपने प्रीतम को अपने से भिन्न नहीं पाता।

**सबसे बड़ी भूल क्या है?**

कमी होते हुए कमी का अनुभव न करना परम भूल है, क्योंकि इस भूल से ही सभी भूलें उत्पन्न होती हैं।

**मनुष्यता क्या है?**

कमी का अनुभव करना और उसे मिटाने का प्रयत्न करना ही मनुष्यता है। मनुष्य किसी शरीर का नाम नहीं है।

(दुःख से कमी का अनुभव होता है और कमी का अनुभव होने पर दुःख होता है, इन दोनों का स्वरूप एक है।)

**संसार पर शासन किस प्रकार किया जाता है?**

यदि संसार पर शासन करना चाहते हो तो संसार को अपनी पूर्ति का साधन मत बनाओ, बल्कि यथाशक्ति संसार की पूर्ति के साधन बन जाओ।

## ८ जनवरी १९४०

**ब्रह्मचर्य आश्रम क्या है?**

जीवन की वह अवस्था है जिसमें कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को विचारपूर्वक यथार्थ जाना जाता है अर्थात् मस्तिष्क की उन्नति अथवा बुद्धि-जन्य ज्ञान की प्राप्ति की जाती है। (बुद्धि-जन्य ज्ञान के लिए शारीरिक उन्नति भी आवश्यक है।)

**गृहस्थ आश्रम क्या है?**

जीवन की वह अवस्था है जिसमें विषयों का राग विचार-पूर्वक त्याग न कर सकने पर उस राग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए नियम पूर्वक अर्थ और काम को न्याय-पूर्वक संचय किया जाय और शेष आश्रमों की अर्थादि से सेवा की जाय।

**वानप्रस्थ आश्रम क्या है?**

जीवन की वह अवस्था है जिसमें विषयों में अरुचि अर्थात् दुःख मालूम होने पर मन और इन्द्रिय आदि का तपश्चर्यापूर्वक संयम और पारिवारिक जीवन का त्याग करके विश्व के साथ एकता स्थापित की जाय। (आस्तिकता तो सभी आश्रमों में है।)

**संन्यास आश्रम क्या है?**

अवस्था भेद मिटाकर सब प्रकार से अभय हो जाना अर्थात् अपने में स्थायी भाव से सत्य का अनुभव कर लेना ही संन्यास आश्रम है। (जीवन की पूर्णता सिद्ध करने के लिए संन्यास परम आवश्यक है।)

आश्रमों का बाह्य स्वरूप भले ही मिट जाय, परन्तु आन्तरिक स्वरूप उन्नति के लिए परम आवश्यक है, अर्थात् अन्तःकरण की रुचि की पूर्तिके लिए चारों ही आश्रम अधिकारी के लिए आवश्यक हैं।

जिसको कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हुआ वह बुड्ढा ही क्यों न हो उसको ब्रह्मचारी होना ही पड़ेगा, जिसको भोग-वासना है उसे गृहस्थ होना ही पड़ेगा, चाहे कोई क्यों न हो। जिसको तप करना है उसे वानप्रस्थ होना ही पड़ेगा, चाहे राजा ही क्यों न हो। जो अभय होना चाहता है उसे त्याग करना ही पड़ेगा चाहे कोई क्यों न हो।

**राग क्या है?**

दोष मालूम होते हुए भी त्याग न करना राग है।

**द्वेष क्या है?**

गुण मालूम होते हुए भी ग्रहण न करना द्वेष है।

(राग त्याग नहीं होने देता और द्वेष प्रेम नहीं होने देता क्योंकि त्याग और प्रेम से राग-द्वेष मिट जाते हैं।)

**अच्छाई बुराई कैसे होती है?**

ऐसी कोई बुराई नहीं जिसका जन्म राग और द्वेष से न हो, अर्थात् सभी बुराइयाँ राग और द्वेष से होती है।

ऐसी कोई अच्छाई नहीं जिसका जन्म त्याग और प्रेम से न हो, अर्थात् सभी अच्छाई त्याग और प्रेम से होती है।

**सत्य की आवाज**

- जिसप्रकारबिनानींव के मकान नहीं बन सकता उसी प्रकार बिना सत्य के अनुभव के कोई सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि सेवा वही कर सकता है जिसको अपने लिए कुछ न करना हो।
- यदि स्थायी प्रसन्नता चाहते हो तो सत्य का अनुभव करो।
- यदि सत्य का अनुभव करना चाहते हो तो असत्य का त्याग करो।
- त्याग करने योग्य वही वस्तुएँ हैं जो त्याग करने वाले का हर समय त्याग कर रही हैं। यदि उनका त्याग अपनी ओर से कर दिया जाय तो फिर उनकी याद नहीं आयेगी। यदि उन्होंने अपनी ओर से त्याग कर दिया तो उनकी याद आयेगी, जो फिर सत्य की याद नहीं करने देगी। इसीलिए त्याग कर देने वाली वस्तुओं का त्याग कर देना आवश्यक है। शरीरादि वस्तु जलप्रवाह के समान लगातार अलग हो रही हैं, इसलिए उन सबसे

अपने को ऊपर उठा लेना ही वास्तव में असत्य का त्याग है।(असत्य का त्याग की सत्य का प्रेम हो जाता है)

- जिस काल में त्याग करने वाली सभी वस्तुओं का त्याग हो जाता है, बस उसी काल में सत्य का अनुभव अपने आप हो जाता है।
- सत्य के साथ वही नाता रक्खो जो अपने साथ रखते हो।
- शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सत्य का ज्ञान हो जाता है।

**न्याय क्या है?**

ऐसा कोई दुःख नहीं जिसका जन्म शरीर के संग से न हुआ हो, परन्तु फिर भी शरीर के प्रति हित के भाव रहते हैं, अर्थात् उसकी यथाशक्ति रक्षा करते रहते हैं, इसलिए दुःख देने वालों के साथ भी हित का भाव रखना ही सच्चा न्याय है।

**प्रेम क्या है?**

कोई भी अपना त्याग नहीं करता, अतः सत्य का किसी प्रकार त्याग न हो, यही वास्तव में प्रेम है।

(असत्य संसार के साथ न्याय, और सत्य से प्रेम करना चाहिए।)

(न्याय राजा है और प्रेम साधु है। राजा संसार पर शासन करता है और साधु राजा पर।)

**भगवद्भक्त कौन हो सकता है?**

जो पतित अर्थात् दोषयुक्त प्राणियों को आदर के भाव से नहीं देख सकता वह भगवद्भक्त नहीं हो सकता, क्योंकि जो प्राणी उस मालिक की दी हुई धूप वायु आदि का अधिकारी है क्या वह आपके तुच्छ प्रेम का अधिकारी नहीं है? अर्थात् अवश्य है।

# ९ जनवरी १९४०

**भक्त कौन है?**

जो किसी का भी भक्त नहीं है वही भक्त है क्योंकि जो किसी का नहीं होता वह सबका होता है और जो सबका होता है वह किसी का नहीं होता। अतः भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती।

**ध्यान कौन कर सकता है?**

आत्म-ध्यान वही कर सकता है जो जीवन में ही जीवन का अन्त कर देता है, क्योंकि सीमित अहंभाव के आधार पर ही संसार जीवित है, जो ध्यान नहीं होने देता। अतः सीमित अहंभाव को मिटा देना जीवन में ही जीवन का अन्त कर देना है।

**कर्म की उत्पत्ति क्यों होती है?**

जब हम अपने को सीमित अहंभाव अर्थात् किसी न किसी प्रकार की भावनाओं में बाँध लेते हैं उसी भावना के अनुसार क्या करना चाहिए, यह भाव उत्पन्न होता है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं होती जिसका संबंध हमारे माने हुए अहंभाव के अनुसार न हो, अर्थात् सब प्रकार के कर्मों का जन्म मानी हुई भावनाओं के अनुसार होता है।

**स्थायी प्रसन्नता कौन पाता है?**

स्थायी प्रसन्नता वही पाता है जो संसार की ओर से आने वाली सभी प्रसन्नताओं का अन्त कर देता है।

**सत्य की आवाज**

- विचार शील पुरुष की दृष्टि में थोड़ा सा दुःख भी बहुत बड़ा होता है, परन्तु उसे प्रसन्नता तब तक नहीं होती जब तक वह प्रसन्नता न मिले कि जिससे बड़ी और कोई प्रसन्नता नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार एक बीज में अनन्त वृक्ष होते हैं उसी प्रकार दुःख रूप बीज से अनन्त दुःख होते हैं, इसलिए उसे वह पसन्द नहीं करता, बल्कि दुःख का अन्त करने के लिए अखण्ड प्रयत्न करता है।
- दुःख, दुःखी की भूल से होता है, इसलिए अपने दुःख का कारण दूसरे को समझना परम भूल है।
- दुःख कोई देता नहीं बल्कि दुःखी से स्वयं दूसरों को दुःख होता है, जिस प्रकार अग्नि स्वयं जलकर दूसरों को जलाती है।
- दुःख दुनियाँ की सहायतासे किसी प्रकार नहीं मिट सकता, क्योंकि संसार की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है, जो दुःख को मिटा सके। इसलिए दुःखी के लिए संसार में कोई स्थान नहीं है।(संसार की कोई भी ऐसी अवस्था नहीं है जिसको पाकर किसी प्रकार की कमी शेष न रहे।)
- दुःखी का दुःख उसी समय तक जीवित है जब तक कि अभागा दुःखी दुःख को संसार की सहायता से मिटाना चाहता है, संसार से निराश होते ही दुःखहारी हरि दुःख को स्वयं हर लेते हैं। ऐसा जीवन में अनेक बार अनुभव हुआ है।

**सर्व इच्छाओं की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है?**

इच्छाओं के आधार पर अहंभाव और अहंभाव के आधार पर इच्छा जीवित रहती है और इसी नियम के अनुसार अनन्त काल से इच्छाओं के अनुसार अहंभाव बनता रहता है। यदि कोई ऐसी प्रबल इच्छा बन जाय कि जो और सब इच्छाओं को मिटा दे तो फिर अत्यन्त व्याकुलता बढ़ जाने पर इच्छा भी मिट जाती है। सब इच्छाओं के मिटते ही अहंभाव मिट जाता है। वह इच्छा जिस भाव को लेकर मिटी थी उसकी पूर्ति उसी काल में हो जाती है, जिसमें कि अहंभाव मिटा था, क्योंकि जो अहंभाव को प्रकाशित करता है वह सब प्रकार से पूर्ण है। अतः सब प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति हो सकती है।

## १० जनवरी १९४०

**कर्म कब तक होता है?**

जब तक किसी प्रकार का भी व्यक्तित्व कर्ता को अपने सुख का साधन मालूम होता है। तब तक वह कर्म अवश्य करता है।

(मन इन्द्रिय आदि से जो कुछ जाना जाता है वह व्यक्तित्व है।)

**कर्म का त्याग कब से होता है?**

व्यक्तित्व की गुलामी में अर्थात् बुद्धि आदि से जो कुछ मालूम होता है, उन विषयों में जब रस नहीं आता है तब कर्त्ता कर्म का त्याग कर देता है।

**व्यक्तित्व किस प्रकार बनता है?**

जो चीज बनती है वह सत् नहीं होती (अर्थात् हर काल में नहीं रहती) तथा असत् में ही किसी न किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है। जिसकी इच्छा उत्पन्न होती है असत् उसी इच्छित व्यक्तित्व को अपने से भिन्न नहीं पाता। जैसे एम. ए. की इच्छा करने वाला विद्यार्थी एम. ए. को अपने से भिन्न नहीं पाता अर्थात् यही अनुभव करता है कि मैं एम. ए. हो गया, अतः प्रत्येक व्यक्तित्व अपनी इच्छा के अनुसार अनेक व्यक्तित्व में बदलता रहता है।

**व्यक्तित्व किस प्रकार मिट सकता है?**

इच्छा सदा अपूर्ण होती है, परन्तु यदि उस अपूर्ण में पूर्ण की इच्छा हो जाय तो वह फिर सदा के लिए मिटकर पूर्ण हो जाता है। और फिर किसी प्रकार की इच्छा उत्पन्न नहीं होती और न फिर व्यक्तित्व ही रहता है। अतः अपूर्ण को पूर्ण होने की इच्छा करना परम आवश्यक है। जब तक पूर्ण होने की इच्छा नहीं होती तब तक ही अनेक इच्छाएँ जीवित रहती है। पूर्ण होने की इच्छा होने पर और सब इच्छा अपने आप मिट जाती है, जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में और सब प्रकाश मिट जाते हैं।

**कर्म से अपूर्णता नहीं मिट सकती।**

कर्म से संसार प्राप्त होता है। बेचारा संसार स्वरूप से अपूर्ण है, इसलिए संसार की सहायता से अपूर्णता नहीं मिट सकती। अतः कर्म से अपूर्णता नहीं मिट सकती।

**अपूर्णता किस प्रकार मिट सकती है?**

अपूर्णता अविचार तथा अज्ञान की कमी से उत्पन्न हुई है, अतः विचार तथा यथार्थ ज्ञान से ही मिट सकती है और किसी प्रकार नहीं।

**विचार क्या है?**

यह=संसार, वह=परमात्मा, मैं=शरीरादि का अभिमानी, इन तीनों का यथार्थ ज्ञान हो जाना ही विचार है। यद्यपि ये तीनों सूरज=वह, धूप=यह, किरण=मैं, के समान है, परन्तु किसी एक का यथार्थ ज्ञान होने पर तीनों का ज्ञान हो जाता है।

अखण्ड समाधि किस प्रकार हो सकती है?

विचार पूर्वक यथार्थ ज्ञान से 'यह' 'वह' 'मैं' इन तीनों के एक हो जाने पर अखण्ड समाधि अपने आप हो जाती है।

**सत्य की आवाज**

- यदि किसी प्रकार की अभिलाषा बाकी है तो समझना चाहिए कि अभी अनन्त अभिलाषाएँ बाकी हैं, क्योंकि त्याग कुल का होता है, जुज का नहीं।
- इच्छा की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख तथा इच्छाओं की निवृत्ति में आनन्द का अनुभव होता है।

- अविचार से इच्छाओं की उत्पत्ति होती है, कर्म से इच्छाओं की पूर्ति होती है और ज्ञान से इच्छाओं की निवृत्ति होती है।

**सुख और आनन्द में क्या भेद है?**

सुख से दुःख दब जाता है आनन्द से मिट जाता है। दबा हुआ दुःख फिर उत्पन्न होता है किन्तु मिट जाने पर फिर उत्पन्न नहीं होता।

## ११ जनवरी १९४०

**विचार उत्पन्न करने का क्या साधन है?**

बिना जरूरी कामों का त्याग करने पर और जरूरी कामों का पूरा करने पर विचार उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि जो सुख काम के आधार से उत्पन्न होता है वह स्थिर नहीं रहता, अन्त में दुःख ही शेष रहता है। और दुःख से विचार का जन्म हो जाता है।

**जरूरी काम क्या है?**

जिस कार्य के पूरा करने के साधन प्राप्त हों और जिसके बिना कर्त्ता किसी प्रकार न रह सके, वही आवश्यक कार्य है।

**जड़ क्या है?**

जड़ वह है जो अपने आप को प्रकाशित न कर सके, अर्थात् जो किसी और की सत्ता से प्रकाशित हो।

**चेतन क्या है?**

चेतन वह है जो अपने को स्वयं प्रकाशित करे और जिससे जड़ प्रकाशित हो।

**असत् क्या है?**

असत् वह है जो बदलता रहे अर्थात् जो हर काल में एकसा न हो।

**सत् क्या है?**

सत् वह है जो सर्वकाल में एक सा रहे और असत् को प्रकाशित करे।

**आनन्द क्या है?**

आनन्द वह है जिसका किसी प्रकार त्याग न किया जाय अर्थात् जो अत्यन्त प्रिय हो।

**दुःख क्या है?**

जो किसी प्रकार प्रिय न हो, अर्थात् जिसका त्याग कर दिया जाय।

**शरीर जड़, असत् तथा दुःख रूप है?**

शरीरादि जो कुछ जानने में आता है वह अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं कर सकता, इसलिए जड़ है।

शरीरादि सभी वस्तुएँ लगातार बदलती रहती है, अतएव असत् हैं और वही दुःख रूप हैं।

**क्रिया किस में होती है?**

जो अपूर्ण हो, अर्थात् पूर्ण में क्रिया नहीं होती?

**अपूर्ण कौन है?**

अपूर्ण वही है, जो असत्, जड़ तथा दुःख रूप है।

**भक्ति क्या है?**

अपने में सद्भाव पूर्वक अखण्ड सच्चिदानंदघन की स्थापना कर अपना सब कुछ उनके सामने छोड़कर उनकी रजा में राजी रहने का अभ्यास करना ही अनन्य भक्ति है।

**सत् की अभिलाषा उत्पन्न करने का साधन क्या है?**

प्रत्येक सत् के अभिलाषी को अपनी सभी अभिलाषाओं को विचारपूर्वक भली प्रकार देखना चाहिए कि वास्तविक अभिलाषा क्या है? यदि उसने अपनी अभिलाषाओं का यथार्थ अनुभव कर लिया तो फिर सत् की अभिलाषा उत्पन्न हो जायेगी। वास्तविक अभिलाषा वही है जो किसी प्रकार न मिटाई जा सके जो अभिलाषाएँ किसी भी प्रकार मिटाई जा सकती हैं उनके मिटने से ही सत् की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, अथवा सत् की अभिलाषा होने पर और अभिलाषाएँ मिट जाती है।

**सत् का मार्ग क्या है?**

सत् की अभिलाषा ही एक मात्र सत् का मार्ग है। जिस प्रकार बड़ी मछली सभी छोटी मछलियों को खाकर अन्त में अपने आप मर जाती है, उसी प्रकार सत् की अभिलाषा सभी अभिलाषाओं को मिटा कर अन्त में अपने आप मिट जाती है, बस उसी काल में सत् का अनुभव हो जाता है।

(जिस प्रकार कमरों का अभाव होने पर मकान का अपने आप अन्त हो जाता है। उसी प्रकार सभी कर्मों का अन्त होने पर कर्त्ता का अपने आप अन्त हो जाता है। और फिर स्वयं प्रकाश, सच्चिदानंदघन, शुद्ध, निर्विकार शेष रह जाता है।

# १२ जनवरी १९४०

**पूजा क्या है?**

प्राणीमात्र को किसी न किसी प्रकार की चाह अवश्य होती है। चाह के अनुसार चिंतन अपने आप हो जाता है। और चिंतन से ध्यान हो जाता है, अर्थात् अपने प्रिय इष्ट का स्मरण, चिंतन, ध्यान करना ही पूजा है, जो सभी करते हैं। साधारण मनुष्य पूजा को आस्तिकवाद ही में लेते हैं, अन्तर सिर्फ यह है कि आस्तिक एक की पूजा करता है और नास्तिक अनेक की पूजा करता है। पूजा बिना किये प्राणी रह नहीं सकता। पूजा करना सबको आता है, सिर्फ यही बात विचार करने की है कि पूजा किसकी की जाय।

**पूजा की सार्थकता क्या है?**

पुजारी (सीमित अहंभाव) पूज्य (जिसमें अत्यन्त प्रियता हो , अर्थात् जिसका किसी प्रकार त्याग न किया जा सके) और पूजन की सामग्री (मन इन्द्रिय आदि संसार की सभी वस्तुएँ) इन तीनों का एक हो जाना ही पूजा की सार्थकता है। पूजा पूरी होने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता, क्योंकि पुजारी अर्थात् कर्त्ता स्वयं मिट जाता है, अतः कर्त्ता के बिना क्रिया हो नहीं सकती। यह पूजा वही कर सकता है कि जो सच्चा आस्तिक हो।

**नास्तिक की पूजा क्या है?**

जिसकी अस्ति नहीं है उससे जिसकी अत्यन्त प्रियता है वही नास्तिक है। नास्तिक अपने विषय-जन्य स्वभाव के अनुसार संसार के भोगों की अभिलाषा करता है। जब वह अपनी

शक्ति से उन भोगों को नहीं पाता तब व्याकुल हो उनका चिन्तन करता है। प्रबल व्याकुलता के कारण जब वह चिन्तन अचिन्तता में बदल जाता है तो साधक उसी काल में अनन्त सत्य से अपनी रुचि के अनुसार भोगों के यथाशक्ति प्राप्त करने का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसी ज्ञान के अनुसार कर्म करने पर वह इच्छित भोग प्राप्त करता है। इसी प्रकार अनेक बार पूजा करता रहता है।

**दुःख का कारण क्या है?**

संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास करना ही दुःख का मूल है, क्योंकि यदि अनुकूलता का सुख न प्रतीत हो तो प्रतिकूलता का दुःख नहीं हो सकता।

सुखरूप बीज से ही दुःखरूप वृक्ष हरा-भरा होता है, जो अविचार-रूप भूमि में अपने आप उपजता है। दुःख दुःखी की भूल से होता है। अतः दुःखी को अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं समझना चाहिए। बेचारा जड़ संसार दुःख दे नहीं सकता और आनन्दघन भगवान् के यहाँ दुःख है नहीं, क्योंकि संसार की कोई भी अवस्था ऐसी नहीं है कि जो निर्दोष तथा सब प्रकार से पूर्ण हो। अतः दुःख संसार की सहायता से नहीं मिट सकता। जिस काल में दुःखी संसार की सभी सहायताओं का त्याग कर देता है बस उसी काल में दुःखहारी हरि उसका दुःख हर लेते हैं। ऐसा भली प्रकार अनुभव हो चुका है।

(संसार की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर विश्वास करने से कर्त्ता आशा और भय के जाल में फँस जाता है।)

**संसार की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता क्यों होती है?**

संसार सबल के अनुकूल तथा निर्बल के प्रतिकूल अपने आप हो जाता है। यद्यपि संसार की अनुकूलता से किसी प्रकार आनन्द नहीं मिलता, परन्तु फिर भी प्राणी को अनुकूलता प्रिय होती है।

**निर्बलता क्या है?**

सबसे प्रबल निर्बलता यही है कि बल को संसार की सहायता पर निर्भर किया हुआ है। अर्थात् शरीरादि संसार की सभी वस्तुओं पर भरोसा करना ही निर्बलता है। यदि संसार की सहायता का त्याग कर दिया जाय तो साधक अत्यन्त सबल हो जाता है और फिर संसार उसके अनुकूल होने के लिये मजबूर हो जाता है। अतः संसार की सहायता को त्यागकर सबल हो जाओ।

## १३ जनवरी १९४०

**सब प्रकार से समर्थ कौन है?**

यथार्थ ज्ञान; क्योंकि पतित को पवित्र तथा अपूर्ण को पूर्ण, अनाथ को नाथ, जड़ को चेतन, दुःख को आनन्द, असत् को सत् करने वाला एक मात्र यथार्थ ज्ञान ही है, क्योंकि सभी विकार ज्ञान की कमी से ही जीवित रहते हैं।

(ज्ञान, बल, अर्थ और क्रिया इन चारों से जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है)

(ज्ञान–बल, अर्थ और क्रिया तीनों पर शासन करता है।)

(बल–अर्थ और क्रिया इन दोनों पर शासन करता है।)

(अर्थ–केवल क्रिया पर शासन करता है।)

- विशेष ज्ञान होने के कारण ब्राह्मण जगद्गुरु कहलाता है।
- विशेष बल की विशेषता के कारण क्षत्रिय संसार का राजा कहलाता है।
- विशेष अर्थ की विशेषता के कारण वैश्य संसार की निधि कहलाता है।
- विशेष क्रिया की विशेषता के कारण शूद्र संसार का दास कहलाता है।

(ज्ञान का भी अभिमान त्याग करने पर सच्चा सन्यासी ब्राह्मण का भी गुरु कहलाता है।)

(ब्राह्मण ज्ञान का आदर करता है, क्षत्रिय बल का, वैश्य अर्थ का और शूद्र क्रिया का।)

**प्रार्थना क्या है?**

अभिलाषा का प्रबल हो जाना ही सच्ची प्रार्थना है।

**उपासना क्या है?**

प्रबल अभिलाषा को, अर्थात् की हुई प्रार्थना को समर्पण कर देना ही उपासना है।

**स्तुति क्या है?**

उपासना पूर्ण होने पर जो अनुभव में आये उसका बुद्धि से गान करना ही स्तुति है।

## १४ जनवरी १९४०

**भोग की इच्छा क्यों होती है?**

विषयों के राग के कारण स्थायी प्रसन्नता के अभिलाषी को भोग की प्रवृत्ति होती है, यद्यपि सफलता नहीं होती।

**योग की इच्छा क्यों होती है?**

विषयों का राग मिटाने पर स्थायी प्रसन्नता के अभिलाषी को योग की इच्छा होती है, यद्यपि बिना ज्ञान के सफलता नहीं पाता। भोग से शक्तियों का विनाश और योग से शक्तियों का विकास होता है।

(योग करने के लिए स्वतंत्रता है और भोग करने के लिए परतंत्रता है, क्योंकि भोग के लिए संसार की सहायता तथा कर्म की आवश्यकता होती है और योग करने के लिए संसार के त्याग की आवश्यकता होती है। त्याग कर्त्ता स्वयं कर सकता है। अतःयोग स्वतंत्र है और भोग परतंत्र है।)

**बन्धन क्या है?**

मानी हुई सत्ता का सद्भावपूर्वक शासन स्वीकार करना ही बन्धन है।

**स्वतंत्रता क्या है?**

मानी हुई सत्ता का सद्भाव मिटाकर उसके शासन को स्वीकार न करना तथा अपने पर अपना ही शासन होना वास्तविक स्वतंत्रता है।

**संत-उपदेश**

१. यदि दुःख पर शासन करना चाहते हो सुख को मिटा दो।

२. यदि अपमान पर शासन करना चाहते हो तो सम्मान को मिटा दो।

३. यदि रोग पर शासन करना चाहते हो तो भोग को मिटा दो।

४. यदि वियोग पर शासन करना चाहते हो संयोग को मिटा दो।

५. यदि शोक पर शासन करना चाहते हो तो हर्ष को मिटा दो।

६. हमारे स्वभाव के अनुसार ही संसार का हमारे ऊपर प्रभाव होता है, अर्थात् संसार शासन करता है, क्योंकि ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जिसको हम स्वयं स्वीकार न करें और वह हम पर अपना अधिकार कर सके, अर्थात् हमारी मर्जी के बिना हम पर कोई भी शासन नहीं कर सकता।

७. परतंत्रताअपनीबनाईहुईचीजहै, इसलिए कर्त्ता उसे मिटाकर स्वतंत्र हो सकता है। स्वतंत्रता कभी दूसरे की सहायता से नहीं मिल सकती। सबप्रकार की स्वतंत्रता कर्त्ता के पुरुषार्थ पर निर्भर है।

८. जिस प्रकार भूख लगने पर सब की एक दशा होती है। उसी प्रकार सत्य की खोज करते समय सब की एक दशा होती है, अर्थात् उस समय अपनी वर्तमान परिस्थिति से सभी को अरुचि होती है। इसीलिए सभी सत्य की खोज करने वालों ने त्याग किया है।

९. जो विषयासक्त हैं वे अपने स्वभाव के अनुसार अलौकिक विषयों के स्वरूप में सत्य की खोज करते हैं अर्थात् अनेक लोगों की प्राप्ति के लिए कर्म करते हैं।

१०. जो विषयों से विरक्त हैं, वे विषयातीत, सच्चिदानंदघन, अखंड, एकरस, निर्विकार सत्य की खोज करते हैं, अर्थात् मोक्ष चाहते हैं।

११. विषयासक्त स्वभाव–अर्थात् जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से जाना जाता है वह कभी नित्य नहीं रह सकता। इसको सभी सत्य की खोज करने वाले जानते हैं, किन्तु राग के कारण त्याग नहीं कर सकते।

१२. विषयों का अभाव होने पर अवस्था-भेद नहीं रहता। यह सब प्रकार सत्य है। इसी अनन्त नित्य की खोज में प्राणिमात्र छटपटा रहा है।

१३. विषय-युक्त सदा परतंत्र और विषयातीत सदा स्वतंत्र है।

## १५ जनवरी १९४०

**प्रेम की अवस्थाएँ?**

यह(संसार) जो कुछ है वह उनका है, अर्थात प्रेम पात्र का है–यह प्रेम की प्रथम अवस्था है।

यह जो कुछ है वह उनका ही स्वरूप है–यह द्वितीय अवस्था है। इस अवस्था में सृष्टि मिटकर प्रेमपात्र का स्वरूप प्रतीत होती है, अर्थात् संसार का भाव मिट जाता है।

प्रेम की जो तीसरी अन्तिम अवस्था है, वह किसी प्रकार कही नहीं जा सकती। सिर्फ यह संकेत किया जा सकता है कि प्रेमपात्र के सिवाय और कुछ कभी हुआ ही नहीं।

(इन तीनों अवस्थाओं का एक हो जाना ही यथार्थ ज्ञान है।)

**भक्ति की निष्ठा**

भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती, अर्थात् प्रेमपात्र ही भासता है।

**ज्ञानी की निष्ठा क्या है?**

ज्ञानी की दृष्टि में सृष्टि तथा प्रेमपात्र भी नहीं रहता, अर्थात् एक ही परमतत्त्व भासता है।

## १६ जनवरी १९४०

**गुरु का स्वरूप क्या है?**

शरीर में गुरु-बुद्धि और गुरु में शरीर बुद्धि करना परम भूल है, क्योंकि गुरु-तत्त्व अनन्त ज्ञान का भण्डार है। गुरु, हरिहर और सत्य में कोई भेद नहीं है। इसलिए जो गुरु को प्राप्त कर लेता है वह सब कुछ पा लेता है।

**शिष्य कौन है?**

ज्ञान का जिज्ञासु ही शिष्य है। शिष्य गुरु होने के लिए गुरु की शरण में जाता है। गुरु वही है जो शिष्य को गुरु बना सके, क्योंकि गुरु के मिलते ही शिष्य गुरु हो जाता है।

गुरु की आवश्यकता गुरु होने के लिये होती है, शिष्य होने के लिये नहीं, शिष्य तो उसी समय तक है जब तक कि गुरु नहीं मिला। ज्ञान की जिज्ञासा आवश्यकता होने पर अपने आप उत्पन्न होती है, अतः शिष्य तो स्वयं ही बन जाता है। (सत् होने के लिए ही सत् की आवश्यकता है। इसलिए वही सत् है जो सत् के अभिलाषी को सत् बना दे।)

## १७ जनवरी १९४०

(सत्य की आवाज)

1. विश्वास–सुनने तथा मानने पर होता है। श्रद्धा–देखने तथा जानने पर होती है। अनेक की श्रद्धा एक की श्रद्धा बनती है। श्रद्धा उस पर होती है जिसमें कर्त्ता को किसी प्रकार का दोष न दिखाई दे।
2. संसार पर उसी समय तक श्रद्धा रहती है जब तक अपने शरीर पर श्रद्धा रहती है।
3. जो अपने पर श्रद्धा करता है वह सत्, ब्रह्म तथा ईश्वर पर श्रद्धा करता है, जो शरीर पर श्रद्धा करता है, वह संसार (स्वर्गादि) पर श्रद्धा करता है।
4. श्रद्धा के अनुसार ही कर्त्ता की प्रवृत्ति होती है।
5. ज्ञान के अनुसार श्रद्धा होती है।
6. ज्ञान विचार से उत्पन्न होता है। विचार दुःख से उत्पन्न होता है।
7. दुःख वही है जिसका किसी प्रकार संयोग न किया जा सके, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार से रुचि न हो।

8. आनन्द वही है जिसका किसी प्रकार वियोग न किया जा सके।
9. किसी का न जानना किसी का जानना अवश्य हो जाता है, क्योंकि जो जानने वाली सत्ता है वह किसी न किसी को जानती रहती है।
10. जो सत्ता सबको जानती है उसका अनुभव किया जा सकता है, वह जानी नहीं जा सकती है। अनुभव अभेद होने पर हो सकता है और किसी प्रकार नहीं।
11. जिस प्रकार सभी मिठाइयोंमें मीठापन खाँडका है, उसी प्रकार सभी ज्ञानवाली चीजों (मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि) में ज्ञान उसी ज्ञान स्वरूप सत्ता का है जो सबको जानती है।
12. योगियों का योग, प्रेमियों का प्रेम, विचारशीलों का विचार तथा उन्नतिशीलों की उन्नति उसमें ही विलीन हो जाती है, अर्थात् वही जीवन का परम लक्ष्य है क्योंकि उसका किसी प्रकार त्याग नहीं किया जा सकता। जिसका किसी प्रकार त्याग नहीं किया जा सकता उसमें ही आनन्द है।आनन्द की अभिलाषा प्राणिमात्र को होती है, अतः वही जीवन का परम लक्ष्य है।
13. असत् से हट जाना ही असत् का ज्ञान है और सत् से मिल जाना ही सत् का ज्ञान है, क्योंकि असत् से बिना हटे असत् का कथन नहीं कर सकते और सत् से बिना मिले सत् का अनुभव नहीं कर सकते।

## १८ जनवरी १९४०

**सदाचार क्या है?**

विलासिता की भावना से क्रिया का न होना ही सच्चा सदाचार है, क्योंकि ऐसा कोई दुराचार नहीं कि जिसका हेतु राग न हो। राग और विलासिता बीज और वृक्ष के समान हैं और सुख-दुःख इसके फल हैं। तथा अविचार-भूमि में रागरूपी बीज अपने-आप उत्पन्न होता है और फिर विलासितारूप वृक्ष में सुख-दुःख रूपी फल लगता है, जो विषयों के चिन्तनरूपी जल से सदैव सुरक्षित रहता है।

अविचार को विचार से मिटाकर वैराग्यरूपी बीज को उत्पन्न कर त्यागरूपी वृक्ष से आनन्दरूपी फल उत्पन्न होता है।

**उन्नति का साधन क्या है?**

शारीरिक उन्नति के लिए सदाचार परमावश्यक है, आत्मिक उन्नति के लिये त्याग परमावश्यक है।

**सेवा और कर्म में क्या भेद है?**

सेवा, स्वामी से मिलाती है, अर्थात् अपने लक्ष्य तक पहुँचाता है और कर्म, फल में बाँध लेता है।

सेवा-भाव से की हुई अनेक क्रियाओं का एक ही अर्थ होता है। यथार्थ सेवा करने पर मन में किसी प्रकार का राग नहीं रहता है। सेवा करने वाले की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती, बल्कि सब ओर अपना प्रेमपात्र ही नजर आता है, यही मानसिक उन्नति की पराकाष्ठा है।

सेवा का भाव गल जाना ही सच्चा त्याग है, त्याग से आत्मिक उन्नति होती है, अर्थात् फिर वह अपने से भिन्न और कुछ नहीं पाता।

**सेवा?**

सेवा आस्तिकता के बिना किसी प्रकार नहीं हो सकती और कर्म नास्तिक-भाव होने पर भी हो सकता है।

कर्म और संसार दोनो का स्वरूप एक है, इसलिए कर्म से संसार की प्राप्ति होती है।

**आस्तिक-नास्तिक भाव?**

संसार से परे कुछ नहीं, ऐसा भाव ही नास्तिकता का भाव है। संसार से परे अनन्त सत्य है, यही आस्तिकता का भाव है।

## १९ जनवरी १९४०

**साधुत्व क्या है?**

अपने को जिन कल्पनाओं (वर्णाश्रम आदि) में बाँध लिया हो उनके नियम के अनुसार पूरी शक्ति लगाकर कार्य करने पर सत्य की खोज करते रहना ही साधुत्व है, क्योंकि जो अपने को पूरा नहीं लगाते हैं उनकी ही उन कामों की याद आती है कि जिनको अनेक बार कर चुके हैं, इसलिए पूरा लगाना चाहिए।

काम का अन्त होने पर सत् की अभिलाषा अपने आप उत्पन्न होती है, सत् की अभिलाषा होने पर भूतकाल याद नहीं आता, वर्तमान में चैन नहीं पड़ती और भविष्य की आशा नहीं होती।

**सत् किस प्रकार से मिल सकता है?**

सत् असत् की सहायता से नहीं मिल सकता और न किसी प्रकार की क्रियाओं से मिल सकता है, क्योंकि क्रिया असत् में होती है। अतः असत् के त्याग से सत् मिल सकता है।

**असत् का स्वरूप?**

असत् वह है जिसमें इच्छाओं की उत्पत्ति हो अथवा जो परतंत्र सत्ता हो।

इच्छाओं के आधार पर असत् और असत् के आधार पर इच्छाएँ जीवित रहती हैं। यदि सर्व इच्छाओं का त्याग कर दिया जाय तो असत् मिट जाता है और असत् को मिटा दिया जाय तो सब इच्छाएँ मिट जाती हैं।

## २० जनवरी १९४०

**योग का साधन?**

विषयों को इन्द्रियों में विलीन करो और इन्द्रियों को मन में मन को बुद्धि में, और बुद्धि को उसमें जो बुद्धि से परे है। विषयों की अभिलाषा मिटने पर विषय इन्द्रियों में विलीन हो जाते हैं, संकल्प रहित होने पर इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं, विषयों का राग मिटने पर निःसंकल्प हो जाता है, मन के निःसंकल्प होने पर इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती है, सत् असत् का विचार होने पर मन बुद्धि में विलीन हो जाता है, और सभी अभिलाषाओं का अन्त होने पर बुद्धि, जो बुद्धि से परे है उसमें विलीन हो जाती

है। यह प्रणव की उपासना है, अर्थात् लय-चिन्तन योग है।

**अखंड समाधि क्या है?**

यह=संसार, मैं=शरीर का अभिमानी, वह=परमात्मा, इनका एक हो जाना ही अखंड समाधि है।

**पाठ किसका करना चाहिए?**

जो जीवन की घटनाओं का यथार्थ पाठ नहीं कर सकता, उसको पुस्तकों के पाठ से कुछ लाभ नहीं हो सकता क्योंकि अच्छाई उत्पन्न होती है सीखी नहीं जाती। सीखी हुई अच्छाई कभी न कभी धोखा अवश्य देती है।

यदि विचारपूर्वक देखें तो पाठकों को यह भली भाँति अनुभव होगा कि जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ अवश्य रखती है।

विचारशील साधक उस घटना से अनुभव हुए ज्ञान को अपना लेते हैं और घटनाओं को भूल जाते हैं।

अविचारी साधक उस घटना से उत्पन्न हुए ज्ञान को भूल जाते हैं और घटना को याद रखते हैं।

ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं होती कि जिससे सुख तथा दुःख दोनों की अनुभूति न हो।

जिसकी दृष्टि दुःख होने पर भी सुख पर ही रहती है, उसकी कर्म में रुचि बनी रहती है और बेचारा बड़े-से बड़े दुःखों (जन्ममरणादि) को उठाता रहता है।

जिसकी दृष्टि दुःख पर रहती है वह त्याग करने के लिए समर्थ होता है और विचारपूर्वक दुःख का अन्त कर देता है।

**सत्संग क्या है?**

सत्संग कहने में नहीं आता, किया जाता है। असत् का त्याग होने पर सत् का संग किया जा सकता है। अतः सत् हो कर ही सत् का संग किया जा सकता है।

असत् हो कर सत् की बातें करना साधारण मनुष्य सत्संग समझते हैं। वास्तव में वह सत्संग नहीं है।

## २५ जनवरी १९४०

**शरणागति का साधन क्या है?**

शरणागत होने वाले महानुभाव को यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि–1. किसको शरणागत होना चाहिए। 2. किसके शरणागत होना चाहिए और 3. किसलिए शरणागत होना चाहिए?

**१. शरणागत होने वाले का स्वरूप क्या है?**

शरणागत होने की आवश्यकता उसको ही होती है जो किसी की शरणागत रहता है, अर्थात् जिसकी स्वतंत्र नित्य सत्ता नहीं है। जो स्वतंत्र नहीं है वह कुछ न कुछ करता है और जो कर्त्ता है, वह भोक्ता अवश्य है, अर्थात् शरणागत होने वाले का स्वरूप यही है जो (अ) स्वतंत्र न हो;(ब) जिसमें कर्त्तापन हो, (स) जिसमें भोक्तापन हो।

**२. शरणागत किसके होना चाहिए?**

जो स्वतंत्र हो, नित्य हो, अखंड हो, अनन्त हो, सब प्रकार से पूर्ण हो, अनन्त ज्ञान हो अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की कमी न हो, उसकी शरण होना चाहिए। यदि किसी प्रकार का दोषमालूम हो तो उसकी शरण नहीं होना चाहिए।

**३. शरणागत किसलिए होना चाहिए?**

जिसकी शरणागत होना हो उससे अभिन्न होने के लिए शरणागत होना चाहिए।

**शरणागत हो जाने का स्वरूप क्या है?**

शरणागत होने वाला (कर्त्ता तथा भोक्ता) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषयों का त्याग कर परमतत्त्व सच्चिदानंदघन की शरण होकर उससे अभिन्न हो जाता है, अर्थात् द्रष्टा, दर्शन, दृश्य त्रिपुटी का अभाव हो जाता है, यही शरणागति का स्वरूप है। जिस प्रकार पानी का बहाव रोक देने पर जहाँ से पानी निकलता था वहाँ अपने आप चढ़ जाता है, उसी प्रकार विषयों का त्याग करते ही विषयों का भोक्ता अपने आप अपने निजस्वरूप परमतत्त्व में स्थायी भाव से विलीन हो जाता है।

**संयम क्या है?**

जो सुनने वाले की प्रसन्नता के लिये बोलता है। जो मिलने वाले की प्रसन्नता के लिए मिलता है। जो खिलाने वाले की प्रसन्नता के लिये खाता है। जिसकी आँखें रूप की सार्थकता के लिए देखती हैं। जिसके कान शब्द की सार्थकता के लिए सुनते हैं। जिसकी नाक गंध की सार्थकता के लिए सूँघती है। इसी न्याय के अनुसार जिसकी सभी क्रियाएँ होती है, उन क्रियाओं का कर्त्ता पर कुछ अर्थ नहीं होता। अर्थ रहित क्रियाओं से राग मिट जाता है। राग मिटते ही त्याग हो जाता है। त्याग होने पर धारणा, ध्यान तथा समाधि अपने आप हो जाती है और इन तीनों का एक हो जाना ही सच्चा संयम है।

(संयम पूरा हो जाने पर व्याकुलतापूर्वक सत् की अभिलाषा उत्पन्न होती है, जो सत् का मार्ग है।)

# २६ जनवरी १९४०

**सन्त-संदेश**

मन, इन्द्रिय आदि सभी संबंधियों से कह दीजिये कि कृपया अब आप अपनी प्रसन्नता के लिए शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध आदि विषयों से संबंध न करें। बल्कि जो क्रिया जीवन के वास्ते परमावश्यक हो वह सिर्फ भगवान् के नाते से तथा उस क्रिया की सार्थकता के वास्ते करें। ऐसा करने से विषयों का राग मिट जायगा और संसार नीरस तथा निर्जीव हो जायेगा। संसार के नीरस होते ही व्याकुलतापूर्वक आनन्दधन भगवान् केलिये अभिलाषा उत्पन्न होगी। व्याकुलता बढ़ जाने पर सफलता अपने आप हो जाती है।

जब तक कुछ भी करते हो तब तक यह नहीं कह सकते कि धर्म कुछ नहीं, क्योंकि करना ही धर्म है।

जब तक कुछ भी जानना चाहते हो तब तक यह नहीं कह सकते कि गुरु की

आवश्यकता नही, क्योंकि जानने की इच्छा ही शिष्य का स्वरूप है।

जब तक कुछ भी चाहते हो तब तक यह नहीं कह सकते कि ईश्वर कुछ नहीं, क्योंकि माँगना ही अपने से बड़ी सत्ता को स्वीकार कर लेना है।

## २८ जनवरी १९४

**मनका निग्रह किस प्रकार हो सकता है?**

सार्थक काम के पूरा करने से और निरर्थक काम का त्याग करने से मन का निग्रह अपने आप हो जाता है, क्योंकि काम को मन में जमा नहीं रखना चाहिए। अर्थात् काम न रहने से मन का निग्रह अपने आप हो जाता है।

**सार्थक काम क्या है?**

जिसके बिना कर्त्ता किसी प्रकार न रह सके तथा जिस काम के करने के साधन प्राप्त हों और जिसके करने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति हो, वही सार्थक काम है।

**निरर्थक काम क्या है?**

जो काम वर्तमान में न हो, अर्थात् आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन करना तथा जिन कामों से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति न हो, वह निरर्थक काम है।

**अच्छाई-बुराई क्यों होती है?**

बुराई का चिन्तन करने से बुराई और भलाई का चिन्तन करने से भलाई अपने आप आ जाती है।

इसलिए भूलकर भी किसी की बुराई का चिन्तन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसकी बुराई कर्त्ता में आती है और उसका भी अहित होता है, जिसकी बुराई की जाती है। तथा बुराई करने से भी बुराई का चिन्तन अधिक बुरा है और भलाई करने से भी भलाई का चिन्तन अधिक भला है।

**किसी को अच्छा कैसे बनाया जाय?**

जिसको अच्छा बनाना चाहते हो उसमें अपने मन से उन्हीं गुणों को स्थापित कर दो अर्थात् जैसा बनाना चाहते हो उन्हीं भावनाओं को उसमें देखो। बार-बार ऐसा चिन्तन करो कि वह अच्छा है। इससे कालान्तर में वह उसी प्रकार का हो जायेगा जैसा कि चिन्तन किया गया है।

**संसार के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए?**

संसार हमारे प्रति जिस प्रकार की भावनाएँ करता है कर्त्ता को उसकी भावनाओं की पूर्ति क लिए यथाशक्ति क्रिया कर देनी चाहिए, अपना किसी प्रकार का भाव नहीं रखना चाहिए। ऐसा कर्त्ता करते हुए भी कर्म से छूट जाता है और भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ करते हुए भी उसकी समता बनी रहती है, क्योंकि वास्तव में उसकी ओर से प्रतिक्रिया होती है, क्रिया नहीं। ऐसी प्रतिक्रिया वही कर सकता है जिसके हृदय से शत्रुता-मित्रता का भाव मिट कर अभेदता का भाव हो गया है।

**हमको मृतक के साथ क्या करना चाहिए?**

मृतक के साथ सबसे बड़ा कर्त्तव्य यही है कि उससे हमको अपना संबंध तोड़ देना चाहिए और हृदय से सद्भावपूर्वक मूक प्रार्थना करनी चाहिए, कि उस प्राणी का कल्याण हो क्योंकि जब प्राणी स्थूल शरीर को छोड़कर अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार की हुई इच्छाओं की पूर्ति के लिए योनि धारण करता है, तब यदि आप उसके साथ संबंध रखेंगे तो उसको योनि धारण करने में देर अवश्य होगी। इसलिए जल्दी सम्बंध तोड़ देना चाहिए।

**मृत्यु क्या है?**

मृत्यु को जानने के लिए जीवन का जान लेना आवश्यक है। जीवन इच्छाओं की पूर्ति के लिये मिला है, यह सभी जानते हैं। यदि सभी इच्छाओं की पूर्ति हो गई तो फिर जीवन की आवश्यकता नहीं होती। और जब जीवन की आवश्यकता नहीं होती तब मृत्यु की आवश्यकता नहीं होती। जीवन की आवश्यकता न रहने पर देहान्त होता है, मृत्यु नहीं, क्योंकि मृत्यु जीवन के लिए होती, अर्थात् जो इच्छाएँ शेष रह जाती हैं उनकी पूर्ति के लिए मृत्यु एक अवस्था है और कोई वस्तु नहीं।

जिस प्रकार थके हुए प्राणी को थकावट दूर करने के लिए नींद आवश्यक है उसी प्रकार इच्छाओं के शेष रहने पर प्राणी को जीवन के लिए मृत्यु आवश्यक है।

**दुःख की महिमा**

कमी होते हुए कमी का अनुभव न करना परम भूल है। दुःखी होने पर कमी का अनुभव और कमी के अनुभव करने पर दुःख होता है। मनुष्य किसी शरीर का नाम नहीं हैं। दुःख जीवन में परम आवश्यक वस्तु है, क्योंकि प्यारा दुःख हमको अनित्य से हटाकर नित्य आनन्द से मिलाता है। दुःख सब प्रकार के विकारों को मिटाकर अन्त में अपने आप मिट जाता है, दुःख के मिटने पर आनंद का अनुभव होता है, दुःख के बिना जीवन की पूर्णता सिद्ध नहीं होती।

दुःख जैसी प्रिय वस्तु किसी और को न देनी चाहिए। यदि मिल सके तो दूसरों से ले अवश्य लेनी चाहिए, क्योंकि जो दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं उनको अपने दुःख से दुःखी नहीं होना पड़ता।

दुखियों के दुःख के आधार पर ही सुखियों का सुख, उन्नतिशीलों की उन्नति, विचारशीलों का विचार, प्रेमियों का प्रेम, विज्ञानियों का विज्ञान तथा योगियों का योग जीवित है। अर्थात् ऐसी कोई अच्छाई नहीं कि जिसका जन्म दुःख से न हो। दुःखी को दुःख उस समय तक न भूलना चाहिए कि जब तक स्वयं मिटाकर आनन्द में विलीन न हो जाय। दुःख से डरो मत। जो दुःख से डरता है वह कुछ नहीं कर सकता। आप के निज स्वरूप में अपार आनन्द छिपा है, जो दुःख की कृपा से मिलेगा, सुख की कृपा से नहीं।

जीवन के दो ही स्वरूप सार्थक हैं, या तो हृदय में दुःख रूप अग्नि जलती रहे या हृदय

में आनंद का सागर लहराता रहे। इसके सिवा अन्य प्रकार का जीवन मनुष्यता के विरुद्ध है।

## ४ फरवरी १९४०

**ज्ञानयोग का साधन क्या है?**

(१) जिन चीजों में अपने को रख दिया है उनसे अपने को हटा लो, और (२) जिन चीजों को अपने में रख लिया है उनको अपने में से निकाल दो ऐसा करने से ज्ञानयोग अपने आप हो जायगा।

**माया के स्वरूप**

माया के दो स्वरूप हैं–(१) गुणमयी माया (२) योगमाया। गुणमयी माया से बंधन होता है और योगमाया से बंधन छूट जाता है।

राग-द्वेष, सुख-दुःख गुणमयी माया से होते हैं। त्याग, प्रेम तथा आनन्द योगमाया से होते हैं।

इस प्रकार की इच्छाशक्ति उत्पन्न होने पर कि जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकते, अर्थात् व्याकुलतापूर्वक इच्छा उत्पन्न होने पर योगमाया का प्रादुर्भाव होता है। वास्तव में तो योगमाया व इच्छाशक्ति दोनों का स्वरूप एक है। गुणमयी माया से वासनाओं की उत्पत्ति होती है और योगमाया से वासनाओं की निवृत्ति होती है।

गुणमयी माया = अविद्या, योगमाया = विद्या। जीव-भाव होने पर गुणमयी माया, ईश्वर-भाव होने पर योगमाया और ब्रह्म-भाव होने पर माया का अभाव हो जाता है।

**साधन से सफलता क्यों नहीं होती?**

जिस प्रकार बिना प्राण का शरीर, कितना ही सुन्दर क्यों न हो, बेकार होता है, उसी प्रकार व्याकुलता रहित साधन, कितना ही उत्तम क्यों न हो बेकार हो जाता है। साधन में सफलता न होने का सिर्फ यही कारण है कि कर्त्ता जिसलिए साधन करता है, उसके बिना रह सकता है। यदि उसके बिना न रह सके तो सफलता अवश्य हो जाय।

**क्या और किसी साधन की सहायता के बिना केवल व्याकुलता से सफलता हो सकती है?**

सभी मिठाइयाँ में मीठापन केवल खाँड का होता है। यदि खाने वाले को सिर्फ मीठे की रुचि हो तो फिर उसको खाँड के सिवाय और किसी मिठाई की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु मीठे को भिन्न-भिन्न प्रकार से खाना चाहें तो और मिठाइयों की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार सत्य के अभिलाषी को केवल व्याकुलता की आवश्यकता होती है, क्योंकि संसार की सहायता से सत्य नहीं मिल सकता और जिसको भोगों की अभिलाषा है उसको व्याकुलता के साथ संसार की अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता होती है, क्योंकि कोई भी कर्म बिना संगठन के नहीं हो सकता। और कोई भी संगठन व्याकुलता के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए व्याकुलता तो प्रत्येक कार्य में आवश्यक है।

जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मीठेपन की झलक केवल खाँड की होती है उसी प्रकार सभी कर्मों में रस तथा आनन्द की झलक सत्य की होती है। अतएव सत् और असत् से मिले हुए

रस की रुचि हो तो व्याकुलता तथा साधन दोनों चाहिए और केवल सत् की अभिलाषा हो तो केवल व्याकुलता चाहिए।

व्याकुलता बढ़ जाने पर कर्त्ता का वही स्वरूप हो जाता है कि जिसके लिए व्याकुलता होती है, अर्थात् सत् के अभिलाषी का सत् से अभेद हो जाता है। इसलिए केवल सत् की अभिलाषा को अपने सिवाय और किसी की आवश्यकता नहीं होती।

**सबसे बड़ा दुःख कब होता है?**

सबसे बड़ा दुःख मनुष्य को तब होता है जब वह अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता, अर्थात् अपने में कमी का अनुभव करता है।

**सबसे बड़ा सुख कब होता है?**

सबसे बड़ा सुख मनुष्य को तब होता है जब वह अपनी दृष्टि में अपने में किसी प्रकार की कमी नहीं पाता।

**स्थायी प्रसन्नता किस प्रकार मिल सकती है?**

यदि स्थायी प्रसन्नता चाहते तो अपने से भिन्न अर्थात् दूसरों के सहारे से आने वाली सभी प्रसन्नताओं को मिटा दो, क्योंकि छोटी-छोटी प्रसन्नताओं के मिट जाने पर अखण्ड स्थायी प्रसन्नता का अनुभव हो जाता है।

## ७. फरवरी १९४०

**क्रिया किस में होती है और क्यों होती है?**

यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो यही मालूम होता है कि एक-एक कर्मेन्द्रिय का एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से संबंध है। अतएव ज्ञानेन्द्रियों के बिना कर्मेन्द्रियों में क्रिया नहीं होती है। जिस प्रकार जो सुन नहीं सकता वह बोल नहीं सकता, ऐसा देखने में आता है। त्वचा का और हाथ का, नासिका का और गुदा का, आँख का और पैर का तथा रसना और उपस्थ का भी उसी प्रकार संबंधहै। परन्तु यदि मन ज्ञानेन्द्रियों का साथ न दे तो फिर ज्ञानेन्द्रियों में भी क्रिया नहीं हो सकती। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रिय की क्रिया एक दूसरे से भिन्न प्रकार की है, किन्तु एक ही मन पाँचों इन्द्रियों से भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रिया करता है, जिस प्रकार एक सेब के फल को रसना चखकर, आँख देखकर और नाक सूँघ कर सेब कहती है। अर्थात् क्रिया में भिन्नता होते हुए भी सभी इन्द्रियों का ज्ञान एक होता है। इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पाँचों इन्द्रियों का ज्ञान एक ही मन से होता है। यह भी अनुभव होता है कि यदि मन इन्द्रियों का साथ न दे, तो इन्द्रियाँ होते हुए भी बेकार सी हो जाती हैं। इससे यही समझना चाहिए कि मन के बिना इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकती, और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चारों का स्वरूप एक है, किन्तु क्रिया–भेद से चार प्रकार के मालूम होते हैं, क्योंकि एक काल में चारों की क्रिया का एक साथ अनुभव नहीं होता। जब मन क्रिया करता है तब और अन्य तीनों नहीं करते अर्थात् एक की ही क्रिया एक

समय में होती है परन्तु बुद्धि की आज्ञा को सभी स्वीकार करते हैं। बुद्धि की प्रवृत्ति चाह के अनुसार होती है यदि किसीप्रकार की चाह न रहे तो फिर बुद्धि सम हो जाती है बुद्धि के सम होते ही मन इन्द्रियाँ आदि सभी सम हो जाती हैं अर्थात् सभी क्रियाओं का अन्त सा हो जाता है। अब यह विचार करना है कि चाह उत्पन्न क्यों होती है, और किसमें होती है? चाह उसमें उत्पन्न होती है कि जो विषयों के रस का आस्वादन करता है तथा जो अपने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखना चाहता है। उसमें ही अर्थात् सीमित अहं भाव में ही चाह उत्पन्न होती है। यह भली प्रकार विचार करने से मालूम होता है कि चाह वास्तव में दो प्रकार की होती है। एक तो विषयों; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के रस के आस्वादन की और दूसरी किसी प्रकार की कमी न रहने की, अर्थात सब प्रकार से पूर्ण होने की। इन दो प्रकार के सिवाय और किसी प्रकार की चाह कभी देखने में नहीं आती। विषयों की चाह की पूर्ति के लिये कर्म में रुचि होती है, और पूर्णता की चाह की पूर्ति के लिए ज्ञान में रुचि होती है, क्योंकि अनेक बार विषयों का रसास्वादन करने पर भी कमी शेष रहती है। इसलिए विषयों का त्याग करने के लिए पूर्णता का अभिलाषी मजबूर हो जाता है। विषयों का राग मिटने पर कर्म की रुचि मिट जाती है और फिर एक ही चाह शेष रहती है। जिस समय वह एक चाह रह जाती है उस समय संसार की सुन्दरता, सत्यता, सुखरूपता, बिलकुल मिट जाती है। इन्द्रियों के ज्ञान पर बिल्कुल विश्वास नहीं रहता। ऐसी दशा में अजीब व्याकुलता होती है जो कहने में नहीं आती।

सीमित अहं भाव न तो जड़ मालूम होता है न चेतन, क्योंकि जड़ से मिलकर जड़ और चेतन से मिलकर चेतन प्रतीत होता है। सीमित अहं भाव का कोई स्वतन्त्र स्वरूप नहीं दिखाई देता। सीमित अहं-भाव के मिटने पर सभी प्रकार की क्रियाओं का अन्त हो जाता है। चाह के समूह के सिवाय सीमित अहंभाव का और कोई स्वरूप नहीं मालूम होता, क्योंकि सभी चाहों के मिट जाने पर सीमित अहंभाव मिट जाता है और फिर संसार का पता नहीं चलता। शरीर और संसार दोनों का स्वरूप एक है, क्योंकि स्थूल शरीर का स्थूल पंचभूतों से अभेद सम्बन्ध है। जिस प्रकार सूर्य (अग्नितत्त्व) के बिना कोई भी आँख देख नहीं सकती और सूर्य के बिना किसी प्रकार का रूप बन नहीं सकता, अर्थात् सूर्य, आँख तथा रूप इन तीनों का एक ही स्वरूप है, उसी प्रकार आकाश के बिना कान सुन नहीं सकते, अर्थात् आकाश, शब्द और कान तीनों एक हैं। इसी प्रकार जल के बिना रसना रसास्वादन कर नहीं सकती अर्थात् जल, रस, रसना तीनों एक हैं। वायु के बिना त्वचा उत्पन्न नहीं होती और वायु के बिना स्पर्श भी नहीं हो सकता, अर्थात् वायु त्वचा तथा स्वर्श तीनों एक हैं। पृथ्वी के बिना गन्ध उत्पन्न नहीं होती और पृथ्वी के बिना नासिका सूँघ नहीं सकती, अर्थात् पृथ्वी नासिका तथा गन्ध तीनों एक हैं।

इस प्रकार शरीर का कुल संसार से अभेद सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। अतः ये अंग और अंगी के समान एक ही हैं। एक शरीर का अहंभाव संसार से भिन्नता मानने पर उत्पन्न होता है जो स्वरूप से मिथ्या है। शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सीमित अहंभाव मिट कर असीम अहंभाव आ जाता है। (अर्थात् जीव भाव मिट कर ईश्वर भाव आ जाता है), क्योंकि जो अंग का मालिक है वही अंगी का मालिक हो सकता है। अंगी का कोई अलग अभिमानी नहीं हो सकता। सीमित अहंभाव का अभाव होने पर असीम अहंभाव भी मिट जाता है और फिर शुद्ध, निर्विकार, सब प्रकार से पूर्ण अखंड, अविचल, आनन्दघन, बोध स्वरूप, स्वयं-प्रकाश, परमतत्त्व शेष रहता है। उसमें कभी किसी प्रकार की क्रिया अनुभव नहीं होती और न पर-प्रकाश्य असत् जड़ संसार में ही क्रिया हो सकती है तथा जड़ और चेतन का मेल भी नहीं हो सकता, क्योंकि मिलाप अभिन्न स्वरूपों में ही हो सकता है, विरोधी स्वरूपों में नहीं। जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार दोंनों कभी एक समय में नहीं मालूम होते उसी प्रकार जड़ और चेतन दोनों एक समय अनुभव नहीं होते। क्रिया चेतन में भी नहीं होती, क्योंकि वह पूर्ण है।

विषयों के राग और ज्ञान की कमी से सीमित अहंभाव उत्पन्न होता है। सीमित अहंभाव बिना किसी के आधार के रह नहीं सकता। यह जिसको आधार करता है उसका ही स्वरूप हो जाता है, इसलिए सीमित अहंभाव में जड़ या चेतन की कल्पना उचित नहीं मालूम होती, सिवाय इसके कि चेतन का ज्ञान होने पर चेतन और जड़ का ज्ञान होने पर इसे जड़ कह देते हैं। वास्तव में तो उनका स्वरूप मिथ्या अनुभव होता है।

जिसका कारण मिथ्या है उसका कार्य सत्य नहीं हो सकता। अतः क्रिया किसमें होती है, क्यों होती है, इसका कथन नहीं किया जाता, बल्कि ज्ञान होने पर यह प्रश्न हल हो जाता है।

अतः पाठकों को चाहिए कि प्रश्न हल करके ही शान्ति प्राप्त करें, केवल सुनकर नहीं।

**सुगमता से प्राणायाम किस प्रकार हो सकता है?**

कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानइन्द्रियाँ दोनों मन में एक हो जाती हैं, इसीलिए मन में क्रिया और ज्ञान दोनों ही मालूम होते हैं। मन में जो ज्ञान शक्ति है वह बुद्धि का अंग है और जो क्रिया शक्ति है वह प्राण का अंग है। इसीलिए मन का निरोध होने पर प्राण का निरोध (कुम्भक) अपने आप हो जाता है। प्राण के निरोध से मन दब जाता है। अतएव मन और प्राण का घोड़े और सवार के समान संबंध है। अतः सुगमता के साथ प्राणायाम करने वाले महानुभावों को मन का विचार पूर्वक निरोध करना चाहिए।

**योग क्या है?**

भोग का अत्यन्त अभाव हो जाना ही वास्तव में योग है, क्योंकि विषयों से अरुचि होने पर योग की रुचि उत्पन्न होती है।

# ११ फरवरी १९४०

**कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग,**

कर्मयोग में आस्तिकतापूर्वक कार्य कुशलता होती है।

(कर्म करते समय अपने को बचा न रक्खें, अर्थात् पूरी शक्ति लगा दें और जो काम जिसके लिए करना चाहिए उसके सिवाय किसी प्रकार की विलासिता का भाव नहीं होना चाहिए। यही कार्य कुशलता है)

भक्ति योग में पवित्र पूर्वक भाव की प्रबलता होती है। ज्ञान योग में असंगतापूर्वक विचार की विशेषता होती है।

**कर्मयोग**

प्रेम पात्र के नाते न्यायपूर्वक यथाशक्ति वर्तमान में ही सभी कामों को करने पर योग अपने आप हो जाता है, अर्थात् वियोग का दुःख मिट जाता है तथा प्रेमपात्र का अनुभव होकर अनुपम अचल आनन्द प्राप्त होता है।

**भक्तियोग**

लगातार स्मरण, चिन्तन, ध्यान होने से जब अत्यंत व्याकुलता बढ़ जाती है। तब सद्भाव पूर्वक सब कुछ समर्पण होने से योग अपने आप हो जाता है। अर्थात् भक्त की दृष्टि में सृष्टि का अभाव हो जाता है और अखण्ड सच्चिदानंद ही सब ओर अनुभव होता है, क्योंकि जिस प्रकार रात्रि का अभाव होने पर दिन अपने आप आ जाता है उसी प्रकार संसार का अभाव होने पर प्रेमपात्र आ जाता है।

1. स्वार्थ कालेश मात्रभी भावन हो, अर्थात् सब प्रकार का राग मिट जाय और प्रेमपात्र के मिलने का भाव निरन्तर उत्तरोत्तर बढ़ता रहे। यही पवितत्र पूर्वक भाव की प्रबलता है।
2. विचार द्वारा जो निर्णय हो उसके विपरीत क्रिया करने में असमर्थ हो जाय अर्थात् ज्ञान और अभ्यास का एक स्वरूप होना ही विचार की विशेषता है।
3. सद्भाव क्या है? जिस भावना के विपरीत भाव न हों, अर्थात् एक बार होने पर ही सदा के लिए अचल हो जाय। जैसे पतिव्रता नारी जिसको एक बार अपना पति मान लेती है उस भाव को फिर किसी प्रकार भी मिटा नहीं सकती।

**ज्ञान योग**

विचारपूर्वक अत्यन्त जिज्ञासा बढ़ जाने पर जब बनाये हुए सभी संगठन मिट जाते हैं, तब अकथनीय अपार निज स्वरूप का अनुभव होने से योग अपने आप हो जाता है और फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती।

(१.कर्म-योग में करने का भाव होता है। २. भक्ति-योग में होने का भाव होता है। ३. ज्ञान-योग में असंगता तथा न होने का भाव होता है।)

# १३ फरवरी १९४०

**धर्म क्या है?**

जिसके धारण करने से भय-रहित नित्य शान्ति प्राप्त हो।

**धर्मानुसार व्यवहार किस प्रकार किया जाय?**

यदि आप अपने किये हुए काम से मुक्त नहीं होते तो समझ लो कि आपने उस काम को धार्मिक दृष्टि से पूरा नहीं किया, क्योंकि प्रत्येक काम का करना न करने के लिए अर्थात् उस काम से ऊपर उठ जाने के लिए होता है।

धर्मानुसार कार्य करने वाले महापुरुषों को यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि धर्म की प्रवृत्ति भोग तथा मोक्ष दोनों के लिए होती है। वे भोग, जिनको पूरा करने के लिए साधन प्राप्त हैं, यथाशक्ति अपने को पूरा लगाकर भोगने पर उनसे अरुचि उत्पन्न हो जायेगी। उस समय उनको चाहिए कि उस अरुचि को स्थिर करने का प्रयत्न करें, अर्थात् भोग के अन्त में दुःख से छूटने (मोक्ष) की रुचि बढ़ायें। वह रुचि फिर उनको भोग की ओर नहीं जाने देगी। जिस प्रकार शोधन किया हुआ संखिया अनेक प्रकार के रोगों को मिटा देता है उसी प्रकार धार्मिक भाव से भोगे हुए, भोग-वासना से ऊपर उठा देते हैं।

**वासना की निवृत्ति कैसे हो?**

विचार करो कि वासना क्यों उत्पन्न होती है? वासना उत्पन्न होने का कारण केवल यही है कि जिसकी वासना होती है उसका अभी ज्ञान नहीं हुआ है, अर्थात् वह नहीं मिला। जिसको भोग का ज्ञान हो जाता है उसकी भोग-वासना मिट जाती है और जिसको मोक्ष का ज्ञान हो जाता है, उसकी मोक्ष-वासना मिट जाती है।

ऐसा कोई भोग नहीं होता कि जिसका अंत न हो परन्तु भोग का अंत होने पर धर्मानुसार आचरण न करने वाले महानुभाव, भोगने की शक्ति न होते हुए भी, व्यर्थ भोगों का चिन्तन करते हैं अर्थात् धर्म का दूसरा अंग जो मोक्ष है उससे विमुख हो जाते हैं।

धर्मात्मा पुरुष की संसार अभिलाषा करता है, क्योंकि धर्मात्मा संसार की अभिलाषा नहीं करता। अभिलाषा वही करता है, जो अपने धर्म का पालन नहीं करता। सारा संसार धर्मात्मा के दर्शन की प्रतीक्षा में है। यदि आप संसार को अपनी ओर बुलाना चाहते हैं, तो धर्म का पालन करें।

धर्मात्मा अपनी ओर देखता है, संसार की ओर नहीं। अर्थात् यदि धर्मात्मा पिता है तो वह यह नहीं देखता कि पुत्र कैसा है, बल्कि यह देखता है कि पुत्र के साथ क्या करना चाहिए। धार्मिक भाव से पिता हो जाने पर पुत्र-वासना मिट जाती है।

धर्मात्मा को यह देखने तथा सुनने की फुरसत नहीं होती कि संसार क्या देखता है, क्या करता है, क्योंकि बेचारा संसार तो वह करना चाहता है जो धर्मात्मा करता है और वह सुनना चाहता है जो धर्मात्मा कहता है। संसारकी ओर वही देखता है जो अपने धर्म का पालन नहीं करता।

धर्म एक है अनेक नहीं। जिस प्रकार रेलवे स्टेशन पर मुसलमान के हाथ में होने से मुसलमान पानी और हिन्दू के हाथ में होने से हिन्दू पानी कहलाता है, यद्यपि बेचारा पानी न तो हिन्दू होता है न मुसलमान उसी प्रकार जब लोग धर्मात्मा को किसी में बाँध लेते हैं तब उसके नाम से उस धर्म को कहने लगते हैं, वास्तव में तो धर्म वह है जो करने में आये, कहने में नहीं। यदि यह जानना चाहते हो कि धर्म क्या है, तो यह कहा जा सकता है कि धर्म के न रहने से किसी प्रकार का आदर नहीं रहता और अधर्मी का सभी तिरस्कार करते हैं, जिस प्रकार जब अग्नि में अग्निपन नहीं रहता, तब उस राख को फेंक देते हैं कि जिसका पहले पूजन करते थे तथा जिससे सभी डरते थे। संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति भी धर्मात्मा का तिरस्कार नहीं कर सकती।

अब अपनी दृष्टि से अपने को देखो कि आपके साथ संसार क्या करता है? संसार उसका ही तिरस्कार कर सकता है कि जो अपनी दृष्टि से अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। धर्मात्मा ही अपनी दृष्टि से अपने को आदर के योग्य पाता है।

# सन्त समागम

## अजमेर का सत्संग

# २१ मार्च १९४१

चाह होते हुए भी भजन क्यों नहीं होता?

भजनकर्ता महानुभाव को भजन करने से पहले यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि भजन क्यों करना चाहिये? यह नियम है कि आवश्यकता के अनुसार कर्त्ता की प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। अतः कर्त्ता को क्रिया के आरम्भ से प्रथम अपनी आवश्यकता का भली प्रकार ज्ञान होना चाहिये। आवश्यकता रहित कर्त्ता का कोई स्वरूप नहीं, जिस प्रकार रूप की आवश्यकता ही आँख की क्रिया है, रूप की आवश्यकता निकाल देने पर आँख का स्वरूप शेष नहीं रहता। आवश्यकता के अनुसार कर्त्ता क्रिया करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। परतन्त्रता उन्हीं क्रियाओं में मालूम होती है, जिनको कर्त्ता अपने लिये नहीं करता, अर्थात् जो क्रियाएँ कर्त्ता की आवश्यकता की पूर्ति में समर्थ नहीं होती।

क्रिया में प्रवृत्ति संकल्प की दृढ़ता से होती है। संकल्प इच्छा के अनुसार होता है और इच्छाएँ अभिलाषा के अनुसार होती है। अतः यथार्थ स्थायी अभिलाषा होने पर शुभ इच्छाएँ अवश्य उत्पन्न होंगी। शुभ इच्छाओं के अनुसार शुभ संकल्प और संकल्प के अनुसार क्रिया में प्रवृत्ति होती है।

यद्यपि प्रत्येक मानव भजन करता है, परन्तु आस्तिक समुदाय उसको भजन के भाव से स्वीकार नहीं करता। गहराई से देखो भजन की आवश्यकता क्यों होती है? भजन की आवश्यकता दो अवस्थाओं में होती है, एक तो यथार्थ अभिलाषा का बोध होने पर दूसरे शक्तिहीनता का अनुभव होने पर। शक्ति-संचय के लिये सभी भजन करते हैं।

भजन का वास्तविक स्वरूप क्या है? वर्तमान विषय-जन्य प्रवृत्ति से हट जाना। शक्तिहीनता का अनुभव होने पर भजन करने वाला कुछ काल के लिये उस प्रवृत्ति से हटता है, क्योंकि शक्ति-संचय कर वह फिर विषयों में प्रवृत्त हो जाता है। परन्तु यथार्थ अभिलाषी विषयों की प्रवृत्ति से सदा के लिये हट जाता है। अतः जिसका भजन करता है, उससे उसका अभेद हो जाता है।

यथार्थ अभिलाषा का बोध विषयों के समझने पर होता है। विचारों की स्वतन्त्रता सभी को प्रिय है, परन्तु विषयों को प्राप्त करने में सभी परतन्त्रता का अनुभव करते हैं। तथा विषयों के उपभोग एवं उनको सुरक्षित रखने में भी परतन्त्रता का अनुभव होता है। अतः बेचारे विषयी का जीवन परतन्त्रतामय हो जाता है, अर्थात् विषयों की प्रवृत्ति ही परतन्त्रता है। इसलिए स्वतन्त्रता का अभिलाषी ही सच्चा भजन करने में समर्थ होता है।

**भजन करते हुए भी भजन में सफलता क्यों नहीं होती?**

भजन होने पर भजन में सफलता अवश्य होती है, क्योंकि भजन प्राकृतिक कर्म के समान नहीं है। प्राकृतिक कर्म अपने से भिन्न बाह्य साधन युक्त होता है तथा भविष्य में फल देता है और भजनकर्त्ता स्वयं ही भजन कर सकता है, अर्थात् उसे किसी और बाह्य साधन

की अपेक्षा नहीं होती। अतः भजन वर्तमान में ही, जिसके लिये किया जाता है उसकी अनुभूति कराने में समर्थ होता है, क्योंकि वास्तव में वह स्मरण नहीं है, जिससे कि स्मरण से पूर्व जो सत्ता प्रतीत होती है, उसका विस्मरण न हो जाये, अर्थात् यह अखंड नियम है कि किसी का स्मरण किसी का विस्मरण हो जाता है।

नाम तथा मंत्र आदि का जप तो केवल नामी के अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न स्वरूप की सत्ता की स्वीकृति में समर्थ है, अर्थात् नाम आदि का जप तो एक शुभ कर्म ही है, जो अशुभ कर्म को हटाने में समर्थ है, प्रेम-पात्र से मिलाने में तो स्मरण अर्थात् विरह की व्याकुलता ही समर्थ है।

प्रत्येक कर्त्ता में क्रिया-शक्ति, भाव-शक्ति तथा ज्ञान-शक्ति विद्यमान है। विषयासक्त प्राणी क्रिया-जन्य आसक्ति का रस चखता है। क्रिया-जन्य रस बिना संगठन के सिद्ध नहीं होता। अतः बेचारा विषयी संसार की गुलामी से छूट नहीं पाता। यदि की जाने वाली सभी आवश्यक क्रियाओं को एक ही भाव में विलीन कर दिया जाय तो फिर क्रिया-जन्य रस की आसक्ति मिट जाती है। उसके मिटते ही क्रिया भाव में विलीन होती है, अर्थात् व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र से मिलने की रुचि उत्पन्न हो जाती है। जब व्याकुलता पूर्ण हो जाती है तब भाव-शक्ति ज्ञान-शक्ति में विलीन हो प्रेम-पात्र को मिलाने में समर्थ होती है, अर्थात् ज्ञान से ही प्रेम पात्र का अनुभव होता है, क्योंकि न जानने की दूरी है। उत्पन्न होने वाली सभी सत्ताएँ उसी समय तक जीवित रहती है, जब तक कि वे पूर्ण नहीं हो जाती।

क्रिया की पूर्णता यही है कि हमारी सभी क्रियाएँ प्रेम-पात्र के नाते से सभी के लिये हो, क्योंकि किसी भी व्यक्ति की संसार से भिन्नता नहीं है। अतः विश्व के साथ एकता करना आवश्यक है और उस विश्व की सेवा प्रेमपात्र के नाते से करनी है, विश्व के नाते से नहीं। क्रिया की पूर्णता होने पर क्रिया-जन्य रस अर्थात् विषयों का राग शेष नहीं रहता। जिस कर्म से विषय-विराग न हो वह कर्म अधूरा है। अधूरा कर्म करने वाला प्राणी कर्म से छूट नहीं सकता, यद्यपि करने का अन्त करना सभी को प्रिय है परन्तु सभी अपने को बचाते हैं, इसलिये छूट नहीं पाते।

जो भक्त प्रेम-पात्र के नाते से सेवाभावपूर्वक सभी आवश्यक क्रियाओं को करता है, वह प्रत्येक क्रिया के अन्त में प्रेमपात्र की ओर चला जाता है। अन्तर सिर्फ यह रहता है कि क्रिया के अन्त में किसी भक्त का तो स्मरण होता है और किसी का ध्यान। स्मरण, ध्यान आदि से उत्थान होने पर जब बार-बार व्याकुलता होती है तब भक्त उस व्याकुलता को सहन नहीं कर पाता। बस, उसी काल में भक्त प्रेम-पात्र की कृपा से अभिन्न हो जाता है। सेवा-भाव पूर्ण होने पर क्रिया का रस नहीं आता, बल्कि भाव का रस आता है, जिससे तन्मयता बढ़ती जाती है। यद्यपि तन्मयता का रस भी भाव की कमी है, क्योंकि उसमें भोक्ता की सत्ता शेष रहती है। यद्यपि भावजन्य रस अत्यन्त मधुर है, किन्तु नित्य नहीं। भाव की पूर्णता होने पर

व्याकुलता की अग्नि से भोक्ता की सत्ता मिट जाती है, यही भाव की पूर्णता है।

भोक्ता की सत्ता का मिट जाना ही प्रेम-पात्र से एकता है।

**हमारी चाह का अन्त क्यों नहीं होता?**

माने हुए सम्बन्ध की स्वीकृति से जातीय अभिलाषा, अर्थात् प्रत्येक मानव जो अपने में किसी प्रकार की कमी रखना पसन्द नहीं करता, वह किसी प्रकार मिट नहीं सकती। अब विचार करो कि माना हुआ सम्बन्ध किससे है? माना हुआ सम्बन्ध शरीर आदि सभी संसार से है, क्योंकि शरीर से किसी काल में भी स्वरूप से एकता नहीं होती। यह सभी कथन करते है कि 'यह मेरा शरीर है'। माने हुए सम्बन्ध की अस्वीकृति करने पर केवल आनन्द की अभिलाषा शेष रहती है, वह विषयों की सभी इच्छाओं को खा लेती है और अन्त में निज-स्वरूप अथवा प्रेम-पात्र की कृपा से पूर्ण हो जाती है। यदि चाह का अन्त करना चाहते हो तो विचारपूर्वक माने हुए सम्बन्ध का अन्त कर दो। जातीय अभिलाषा स्वयं अपनी पूर्ति में समर्थ है, उसकी पूर्ति के लिये किसी बाह्य परिस्थिति की आवश्यकता नहीं है। आनन्द से मानी हुई दूरी और संसार से माना हुआ सम्बन्ध है। यह नियम है कि जिससे मानी हुई दूरी होती है उसकी अभिलाषा मिटा देने से उसकी दूरी मिट जाती है, क्योंकि जातीय एकता का त्याग नहीं हो सकता, सिर्फ अभिलाषा के कारण दूरी प्रतीत होती है। जिससे माना हुआ सम्बन्ध होता है, उसकी चाह मिटा देने से सम्बन्ध मिट जाता है, क्योंकि माने हुए सम्बन्ध से जातीय एकता नहीं होती। अतः दोनों प्रकार की चाह का अन्त कर देने पर किसी भी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती।

**क्या ईश्वर को बिना समझे-बूझे ईश्वर की भक्ति नहीं करनी चाहिये?**

यह बात ठीक है कि बिना समझे-बूझे कोई कार्य नहीं करना चाहियें, परन्तु विषयासक्त प्राणी तो संसार को बिना समझे बूझे ही संसार में प्रवृत्त रहता है, क्योंकि संसार के समझने पर, संसार से ऊपर उठने के लिये, स्वयं रुचि हो जाती है, अर्थात् संसार के समझने पर संसार में प्रवृत्ति नहीं रहती। जब संसार में प्रवृत्ति नहीं रहती और आवश्यकता शेष रहती है, तब आवश्यकता की पूर्ति के लिये जिसमें प्रवृत्ति होती है, वही ईश्वर है। प्यारे, जब एक क्रिया का अन्त होता है और दूसरी क्रिया उदय नहीं होती तब आप किसमें रहते हो? अनुभव तो करो। वहीं भक्तों का ईश्वर है। जिस प्रकार संसार को बिना समझे, संसार में प्रवृत्त होने पर, संसार की सत्ता प्रतीति मात्र भासित होती है और उसी भासित सत्ता में आसक्ति होने से संसार से भिन्न और कुछ दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार ईश्वर के स्वरूप को बिना समझे भी यदि व्याकुलतापूर्वक ईश्वर की भक्ति करता है तो भक्त ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ होता है, क्योंकि भक्ति ईश्वर के स्वरूप को जानने में साधन है। जानने पर भक्ति और भक्ति होने पर जानना स्वयं हो जाता है। भक्ति का वास्तविक स्वरूप विरह का दुःख और मिलन का आनन्द

है। प्यारे, विचारो तो सही, जिस प्रकार संसार को समझने पर विषय-विराग होता है और विषय-विराग से इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि की प्रवृत्ति रुक जाती है, जिससे फिर संसार की सत्ता प्रतीत नहीं होती उसी प्रकार विरह से विश्वासमार्गी भक्त के बुद्धि आदि के दरवाजे बन्द हो जाते हैं और वह मिलन के आनन्द का अनुभव करने लगता है। जिस प्रकार विचार की कमी से तत्त्व-निष्ठा नहीं होती, उसी प्रकार भाव की कमी से मिलन नहीं होता। विचार की पूर्णता में तत्त्व-निष्ठा और भाव की पूर्णता में मिलन अपने आप हो जाता है। विश्वासमार्गी अथवा विचारमार्गी पूर्ण होने पर दोनों एक हो जाते हैं, क्योंकि प्रेम अथवा ज्ञान दोनों का स्वरूप एक है। प्रेम में भी क्रिया नहीं होती और ज्ञान में भी क्रिया नहीं होती।

विचारमार्गी का जो स्वरूप होता है विश्वासमार्गी की वह अवस्था होती है। स्वरूप से उत्थान नहीं होता, अवस्था से उत्थान होता है, अर्थात् बार-बार विरह होता है। जब विरह इतना बढ़ जाता है कि वियोग असह्य हो जाता है, तब प्रेम-पात्र की कृपा से विश्वासमार्गी अभेद-भाव का अनुभव करता है। आवश्यकता होने के कारण विश्वासमार्गी यद्यपि ईश्वर के स्वरूप को नहीं जानता, किन्तु उसकी सत्ता को हृदय से स्वीकार करता है। विचारमार्गी जिज्ञासा करता है, जिज्ञासा और भक्ति इन दोनों का अर्थ स्वरूप से एक है, क्योंकि दोनों ही विषय-विराग में समर्थ हैं अतः बिना समझे-बूझे भी भक्ति में लाभ है, किन्तु संसार को बिना समझे उसमें प्रवृत्त होने में हानि है।

## २२ मार्च १९४१

इच्छाशक्ति की कमी किस प्रकार पूरी हो सकती है?

ऐसी कोई 'कमी' नहीं है जिसकी पूर्ति'न करने' से न हो। 'न करना' सभी को प्रिय है, परन्तु अन्तर सिर्फ इतना है कि विषयी बेचारा तो विषय-प्रवृत्ति के अन्त में, शक्ति-हीनता मिटाने के लिये आराम करता है। आराम क्रिया नहीं होती यह सभी जानते हैं। अतः इस प्रकार वह 'न करने' की शरण लेता है, परन्तु उसकी रुचि में विषय-प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। अतः आराम से शक्ति पाकर वह फिर विषय-प्रवृत्ति करता है। किन्तु भक्त अपने को समर्पण कर 'न करने' की अवस्था को प्राप्त होता है। भक्त की रुचि में प्रेम-पात्र का मिलन विद्यमान है, अतः समर्पण होने पर मिलन का अनुभव होता है। जिज्ञासु असंगता के भाव से 'न करने' का अनुभव करता है। उसकी रुचि में तत्त्व-साक्षात्कार विद्यमान है, अतः 'न करने' से वह तत्त्व-ज्ञान का अनुभव करता है।

व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध करने पर इच्छाशक्ति जाग्रत हो जाती है और अन्त में इच्छाशक्ति स्वयं अपने इच्छित लक्ष्य से अभिन्न होती है।

विषयी को बार-बार इच्छाशक्ति जाग्रत करनी पड़ती है, क्योंकि वह उसका दुरुपयोग करता है। पर भक्त तथा जिज्ञासु को इच्छाशक्ति बार बार जाग्रत नहीं करनी पड़ती, क्योंकि वे उसका सदुपयोग करते हैं।

बार-बार दुरुपयोग करने पर जब विषयी बेचारे को महान् दुःख होता है जब वह अपनी रुचि के बदलने में समर्थ होता है।

**मानव-जीवन की पराकाष्ठा क्या है?**

किसी प्रकार की कमी शेष न रहे, अर्थात् पूर्णता का अनुभव हो।

**मानव-जीवन का आरम्भ क्या है?**

अपनी कमी का अनुभव करना और उसको मिटाने का प्रयत्न करना, यही मानव-जीवन का आरम्भ है।

**कमी का अनुभव करने से क्या लाभ होता है?**

गहराई से देखो, सबसे बड़ा दुःख कब होता है? जब व्यक्ति अपनी दृष्टि से अपने में कमी का अनुभव करता है, तब सबसे बड़ा दुःख होता है। यह नियम है कि अत्यन्त दुःख होने पर दुःखी अपनी वर्तमान परिस्थिति से ऊपर उठ जाता है, अर्थात् उसे बदल देता है और फिर उस कमी को मिटाने में समर्थ होता है।

अतः उन्नतिशील मानव को प्रथम कमी का अनुभव करना आवश्यक है। यदि कमी का अनुभव कर मिटाने का प्रयत्न न किया तब भी मानवता नहीं कही जा सकती, क्योंकि मानवता व्यक्ति नहीं है; बल्कि जीवन की एक अवस्था है, जो उन्नति के लिए एकमात्र सर्वोत्तम अवस्था है।

**मानवता कब तक रहती है?**

जीवित वही अवस्था रहती है जो पूर्ण नहीं होती। पूर्ण मानवता होने पर मानवता का अन्त हो जाता है, अर्थात् 'पूर्ण' से अभिन्नता हो जाती है, जो मानव की वास्तविक रुचि है।

**क्या पूर्णता जीवन में ही मिल सकती है?**

यदि जीवन में ही पूर्णता न मिले तो जीवन का मूल्य ही कुछ नहीं। यदि जीवन में ही पूर्णता न मिल सके जो पूर्णता सिर्फ कल्पनामात्र होगी। पूर्णता जीवन में ही मिल सकती है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। गहराई से देखो, जो चाह किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती उसका पूर्ण होना परम अनिवार्य है।

कमी का रहना किसी को प्रिय नहीं, अतः कमी का अन्त करने के लिए ही जीवन मिला है।

मानव जीवन में वे सभी साधन विद्यमान हैं जिसमें कि जीवन में ही जीवन की पूर्णता का अनुभव हो सकता है, परन्तु बाह्य रंगों से अपने को रँग लेने से वे छिप से जाते हैं। व्याकुलता के प्रभाव से बाह्य रंग धुल जाते हैं। क्या व्याकुलता प्रत्येक मानव में नहीं? अर्थात् सभी में है। जो पूर्णता के लिये व्याकुल होता है वही उसे अनुभव करता है। जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मिठास चीनी की होती है। उसी प्रकार सभी साधनों में प्रधानता व्याकुलता की होती है। पूर्णता की निराशा-पापिनी व्याकुलता को दबा देती है, मिटा तो पाती नहीं। अतः इस पापिनी को जीवन में मत आने दो। दबी हुई व्याकुलता बार-बार उत्पन्न होती है, अतः उसको पूर्ण कर दो। व्याकुलता के सभी ऋणी हैं, क्योंकि वह पूर्ण करने पर ही साथ छोड़ती है अतः व्याकुलता का कोई भी प्रत्युपकार नहीं कर पाता। जीवन में व्याकुलता के समान कोई भी हितैषी मित्र नहीं है। अतः उस

परम हितैषी मित्र का आदर करो, हृदय में स्थान दो, जीवन का अंग बनाओ। वह आपका पूर्णता से अभेद करने में समर्थ है। व्याकुलता-रहित जीवन बेकार है।

**क्या मृत्यु होने पर पूर्णता नहीं मिल जाती?**

गहराई से देखो, जिसको आप मृत्यु कहते हैं, वह नवीन जीवन को उत्पन्न करने के लिये एक विशेष अवस्था है। जीवन की परिस्थिति को देखो, क्या है? कुछ इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, कुछ इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये प्रयत्न कर रहे हो, और कुछ इच्छाएँ जमा हैं। इसके सिवाय वर्तमान जीवन और कुछ नहीं। जब जीवन की क्रिया-शक्ति क्षीण हो जाती हैं और इच्छाएँ शेष रहती हैं, तब प्रकृति-माता क्रिया-शक्ति प्रदान करने को कुछ काल के लिए अपने में विलीन कर लेती हैं और फिर नवीन जीवन देती हैं। जब तक इच्छाएँ बनी रहती हैं तब तक जीवन की सभी अवस्थाएँ बार-बार होती रहती है। जीवन का सदुपयोग करने पर इच्छाओं का जीवन में ही अन्त हो जाता है। बस, उसी काल में जीवन में ही पूर्णता अनुभव होती है, मृत्यु होने पर नहीं, मृत्यु तो सिर्फ प्राणी को नवीन जीवन देने में समर्थ होती है, पूर्णता देने में नहीं। पूर्णता का अभिलाषी तो जीवन में ही पूर्णता का अनुभव करता है, अर्थात् पूर्णता का संबंध तो वर्तमान जीवन से ही है।

**मन के निरोध का उपाय क्या है?**

आवश्यक कार्य को पूरा करने और अनावश्यक कार्यों का त्याग करने पर मन का निरोध अपने आप हो जाता है। यदि यह नहीं कर सकते तो फिर ऐसा करो कि अपने माने हुए अहं को जो शरीर-भाव से मिला दिया है उसको बदल दो–यदि भाव की प्रधानता हो तो 'मैं भक्त हूँ, शरीर नही'। यदि विचार की प्रधानता हो तो 'मैं जिज्ञासु हूँ, शरीर नहीं। यह दोनों प्रकार के अहं अधिकारी भेद से आदरणीय हैं। अहं के बदलने से क्रियायें बदल जाती है। माने हुए अहं के मिटने से क्रियायें मिट जाती है। 'मैं जिज्ञासु हूँ' यह अहं उसी समय तक जीवित रहता है जब तक कि जिज्ञासा पूर्ण नहीं होती। 'मैं भक्त हूँ' यह अहं उसी समय तक जीवित रहता है जब तक भक्ति पूर्ण नहीं होती। अहं के अनुसार जीवन होने पर ही अहं की पूर्णता होती है, अर्थात् माने हुए अहं का अन्त हो जाता है। भक्त भगवान् तथा जिज्ञासु तत्त्वज्ञ हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं।

**क्या निवृत्ति मार्ग वाले भक्त तथा जिज्ञासुओं से संसार को कुछ भी लाभ नहीं, क्या वे केवल अपने स्वार्थ में ही लगे रहते हैं?**

गहराई से देखो, जीवन की आवश्यकता क्या है? प्रत्येक मानव में क्रिया, भाव तथा ज्ञान तीनों प्रकार की शक्ति विद्यमान है। क्रिया शक्ति की आसक्ति उसी समय तक रहती है, जब तक विषयों से पूर्ण विराग नहीं होता। विषय-विराग होते ही क्रिया-जन्य रस का कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। जो प्राणी विषयों में आसक्त हैं उनको उन्नति की ओर जाने के लिए विश्व की बाह्य क्रियाओं से सेवा करना परम आवश्यक है, क्योंकि जो दूसरों के दुःख से दुःखी

नहीं होता वह अपने निजी दुःख से बच नहीं सकता, क्योंकि विश्व स्वरूप से एक जीवन है। दुखियों के होते हुए दुःख न हो, यह सर्वदा असम्भव है, अतः विश्व के साथ एकता का भाव करना आवश्यक है। परन्तु जब हम केवल शरीरजन्य व्यापार अर्थात् इन्द्रियों की क्रियाओं से दुखियों का दुःख मिटाने में सफल नहीं हो पाते, तब इन्द्रियों की क्रियाओं से ऊपर आने के लिए मजबूर हो जाते हैं और फिर भाव की पवित्रता से दुखियों के भाव को पवित्र करने में लग जाते हैं। परन्तु भाव ज्ञान के अनुसार ही होते हैं। अतः यथार्थ ज्ञान के बिना पूर्ण पवित्र भाव नहीं हो सकते और भाव की पवित्रता के बिना क्रिया में पवित्रता नहीं आ सकती। अपना तथा दूसरों का सुधार करने के लिए पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान के अनुसार भाव और भाव के अनुसार क्रिया स्वाभाविक हो जाती है। ज्ञान की पूर्णता होने पर भाव और क्रिया बंधन में नहीं डाल सकते। जिस प्रकार सूर्य से अनन्त आँखें देखती हैं, किन्तु सूर्य को अभिमान नहीं होता कि मैं दिखलाता हूँ, अथवा फूल के खिलने से स्वयं गंध फैलती है, परन्तु बेचारा फूल यह प्रकट नहीं करता कि मैं गंध फैलाता हूँ, उसी प्रकार तत्त्ववेत्ताओं से अथवा परम भक्तों से विश्व का कल्याण स्वयं होता है। अन्तर सिर्फ यही होता है कि विश्व उनको नहीं जान पाता कि ये हमारा कल्याण कर रहे हैं, अर्थात् वे भौतिक दृष्टि से 'लीडर' के रूप में नहीं दिखाई देते। प्यारे, गहराई से देखो, हाथ पैर द्वारा पानी खींच कर कितनी जमीन छिड़क सकते हो? अधिक से अधिक बीघा दो बीघा, किन्तु बादल बनकर कितनी छिड़क सकते हो? यह भली प्रकार समझ लो कि जो स्थूल होता है वह परिच्छिन्न अर्थात् सीमित होता है और जो सूक्ष्म होता है वह विभु होता है। क्रिया से भाव सूक्ष्म है और भाव से ज्ञान सूक्ष्म है। क्या आज मीरा, सूरदास, तुलसीदास, अनेक भक्तों को कल्याण नहीं कर रहे हैं और क्या तत्त्ववेत्ता भगवान् शंकर, बुद्ध आदि भी अनेक जिज्ञासुओं का कल्याण नहीं कर रहे हैं! जिज्ञासा अथवा भक्ति भी तो जीवन की आवश्यक वस्तु है। क्या यह किसी प्रकार जीवन से मिट सकती है? तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि भक्तों तथा तत्त्ववेत्ताओं से संसार का कल्याण नहीं होता? यह तो बताओ, कहीं बुराइयों की भी पाठशालाएँ खोली जाती हैं, किन्तु समाज में अपने आप फैल जाती हैं, तो क्या तत्त्ववेत्ताओं का तत्त्वचिन्तन बुराइयों से समान भी शक्ति नहीं रखता? प्यारे, स्थूल शरीर के अभिमान के कारण साधारण प्राणी सूक्ष्म सेवा को देख नहीं पाते, यह उनकी दृष्टि की कमी है। जो अपना कल्याण नहीं कर सकता वह विश्व-कल्याण किसी प्रकार भी नहीं कर सकता। अपना कल्याण ही विश्व का कल्याण है, और विश्व का कल्याण ही अपना कल्याण है क्योंकि दोनों की स्वरूप से एकता है। व्यक्ति का अभिमान लेकर उतना सुधार नहीं कर सकते जितना विश्व का अभिमान लेकर विश्व का सुधार कर सकते हो। विश्व के साथ सच्ची एकता अनुभव करने के लिए बाह्य प्रवृत्ति का त्याग अनिवार्य है, तो फिर निवृत्ति मार्ग व्यर्थ कैसे हो सकता है? समाज के सभी बड़े-बड़े सुधारक

वे ही हुए हैं जिनके जीवन में निवृत्ति प्रधान थी। जब प्रत्येक प्रवृत्ति का अन्त होता है, तब आप स्थायी प्रवृत्ति के लिए कैसे कह सकते हैं? विचार दृष्टि से तो दूसरे के सुधार की धूम केवल कथनमात्र है। हिन्दू लीडर 'मैं हिंदू हूँ' मुसलमान लीडर 'मैं मुसलमान हूँ' यह अपने को मान कर सुधार करते हैं, अर्थात् अपने को व्यक्ति से समाज में परिणत कर देते हैं। समाज का दुःख ही उनका दुःख है। वे बेचारे निरन्तर अपना दुःख मिटाने के लिए प्रयत्न करते हैं। यह बात सिर्फ देखने मात्र को है कि वे दूसरों का सुधार करते हैं। जो नेता अपने को मानव मानते हैं, वे विश्व के मानव के साथ अपने को अभेद करते हैं। यद्यपि वे बेचारे सामाजिक संकीर्ण क्षेत्र के नेताओं से अवश्य महान् हो जाते हैं, परन्तु तत्त्ववेत्ताओं से तो अल्प ही रहते हैं, क्योंकि तत्त्ववेत्ता तो विश्व को अपना स्वरूप जानकर केवल मानकर नहीं, अपना कल्याण करता है। अतः तत्त्ववेत्ताओं से ही सम्पूर्ण विश्व का कल्याण हो सकता है। तत्त्ववित् होने के लिए निवृत्ति आवश्यक है। निवृत्ति की तैयारी के लिए सेवा-भाव अर्थात् दुखियों के दुःख से दुःखी होना अनिवार्य है, क्योंकि जिसका हृदय दुखियों के दुःख से हरा-भरा नहीं रहता वह विषयों की आसक्ति त्यागने में असमर्थ है। अतः दुखियों की सेवा का फल विषय-विराग है, विषय-विराग होने पर भक्त तथा जिज्ञासु का जीवन आरम्भ होता है।

**जीव और ईश्वर का क्या संबंध है और जीव को ईश्वर की उपासना कैसे करनी चाहिए?**

जीव और ईश्वर अंग और अंगी के समान हैं। जब जीव अपनी अल्पज्ञ और ईश्वर की सर्वज्ञ सत्ता स्वीकार करता है, तब उपासना करने की रुचि उत्पन्न होती है, क्योंकि अल्पज्ञ हमेशा सर्वज्ञ होने के लिये प्रयत्न करता है। उपासना अपने से भिन्न किसी प्रतीक में, जो अपनी रुचि के अनुसार हो, सर्वोत्कृष्ट भाव स्थापित करना है, अर्थात् जो अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न है, उसमें अपने भाव के अनुसार अपने को समर्पण कर देना उपासना है। उपासना का वास्तविक तत्त्व यह है कि उपास्यदेव से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है उसका अभाव हो जाय, अथवा उपास्यदेव से भिन्न और किसी की सत्ता शेष न रहे।

**जो स्वरूप ध्यान में दिखाई देता है क्या उससे बातचीत हो सकती है?**

गहराई से देखो, यदि वह स्वरूप केवल ध्यान-जन्य क्रिया के आधार पर ही प्रतीत हुआ है तब तो ध्यान-जन्य रस आ सकता है और कुछ नहीं, परन्तु यदि भाव की प्रबलता से स्वरूप का प्राकट्य हुआ है, तभी तो भाव के अनुसार बातचीत हो सकती है, क्योंकि कुछ सज्जन चित्त के निरोधमात्र के लिए ही ध्यान करते हैं, भाव की कमी होती है। भाव के बिना भगवत्-लीलाओं का साक्षात्कार नहीं हो सकता। भाव में सद्भाव, माने हुए देहभाव के मिटने पर होता है और भाव का सद्भाव होने पर प्रेम या विरह अथवा मिलन का आनन्द अवश्य होता है।

**स्मरण करने से क्या लाभ है?**

नाम तथा मंत्रादि का जप करने से नामी की सत्ता की स्वीकृति हो जाती है और यह नियम है कि सद्भाव पूर्वक सत्ता की स्वीकृति होने पर सद्भाव पूर्वक संबंध हो जाता है, तथा संबंध होते ही प्रेमपात्र का विरह उत्पन्न होता है।

**सब संदेह दूर कब हो जाते हैं?**

यह (संसार) वह (परमात्मा) और मैं इन तीनों का यथार्थ ज्ञान होने पर सभी संदेह निवृत्त हो जाते हैं।

**यथार्थ ज्ञान कैसे हो?**

इन तीनों में से किसी एक का यथार्थ ज्ञान होने पर तीनों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

**'मैं' का यथार्थ ज्ञान कैसे होगा?**

जिन चीजों को अपने में रख लिया है, उनको निकाल दो और जिन चीजों में अपने को रख दिया है उनसे अपने को हटालो, ऐसा होते ही 'मैं' का यथार्थ ज्ञान हो जायेगा।

**संसार का ज्ञान कैसे हो?**

संसार के जानने में वही समर्थ हो सकता है जो अपने को संसार से ऊपर उठा लेता है क्योंकि जिससे माना हुआ संबंध होता है उससे असंग होने पर ही उसका यथार्थ ज्ञान हो सकता है। संसार से माना हुआ संबंध है, जातीय नहीं।

**परमात्मा का ज्ञान कैसे हो?**

जिन चीजों से माना हुआ संबंध होता है उनसे यदि अपने को हटा लिया जाय तो उन चीजों का ज्ञान हो जाता है, परन्तु जिससे जातीय संबंध होता है उससे अपने को अभिन्न कर देने पर उसका ज्ञान होता है। परमात्मा से माना हुआ संबंध नहीं है, बल्कि जातीय संबंध है। सिर्फ मानी हुई दूरी है जो अभेदभाव से मिट जाती है, अर्थात् परमात्मा से अभिन्न होकर ही परमात्मा का पूर्ण ज्ञान हो सकता है।

**सद्भाव होने पर भी यदि प्रेम पात्र का मिलन नहीं होता तो क्या करना चाहिए?**

गहराई से देखो, सद्भावपूर्वक संबंध होने पर प्रेमी को कुछ भी करना शेष नहीं रहता है, फिर तो प्रेम-पात्र की ओर से कर्त्तव्य शेष रहता है। यदि वे नहीं आते तो न आयें। अब हम उनके सिवाय किसी और को देखेंगे नहीं, ऐसी दृढ़ता प्रेमी को स्थायी भाव से रखनी चाहिए। वे इसलिए नहीं आते कि वियोग से ही प्रीति रस की दृढ़ता होती है। जिस काल में प्रीति रसपूर्ण हो जाती है, उसी काल में प्रेमी की रुचि के अनुसार प्रेम-पात्र का प्राकट्य होता है। प्रेमी को प्रेम-पात्र के प्रभाव में तनिक भी संदेह नहीं करना चाहिए। वे दुःखहारी हैं, भयहारी हैं, फिर भला कैसे नहीं आवेंगे? जब कोई भी दुःख हमेशा नहीं रहता तब भला उनके न मिलने का दुःख हमेशा कैसे रह सकता है? अर्थात् वे आने के लिए मजबूर हो जायेंगे। जिस प्रकार फाँसी का कैदी सभी सजाओं से छूट जाता है, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक समर्पण करने वाला करने से छूट जाता है। प्रेम-पात्र ऐसे प्रेमी का ध्यान करते हैं, आते हैं अथवा उससे प्रेम करते हैं। प्रेमी में कुछ करने की शक्ति नहीं रहती। करने की शक्ति शेष रहना प्रेमी की कमी है। करना तब तक है जब तक करने की शक्ति हो। प्रेम की पूर्णता

होने पर करने की शक्ति शेष नहीं रहती, अर्थात् मिट जाती है।

**योग का फल क्या है?**

योग रुचि की पूर्ति के लिए कल्पतरु के समान है, अर्थात् जिस भाव से योग किया जाता है, वही प्राप्त हो जाता है। यही योग का फल है।

**सृष्टि का अन्त कब होता है?**

मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति होने पर तत्त्व दृष्टि, और भाव का सद्भाव होने पर भक्त दृष्टि होती है। तत्त्व-दृष्टि में तत्त्व से भिन्न कुछ नहीं भासता और भक्त-दृष्टि में प्रेम-पात्र से भिन्न कुछ नहीं दिखाई देता। तत्त्व-दृष्टि और भक्ति-दृष्टि दोनों में ही सृष्टि का अन्त हो जाता है। सृष्टि केवल अपने में विषयादिक-भाव को धारण करने से प्रतीत होती है। विषयासक्त बेचारा मानी हुई सत्ता को स्वीकार करता है, अतः यही सृष्टि के प्रतीत होने का कारण है। कारण का नाश होने पर कार्य का नाश अपने आप हो जाता है। अतः विषय-जन्य स्वभाव का अंत होने पर सृष्टि का अंत हो जाता है।

**तुरीयावस्था क्या है?**

यदि तुरीयावस्था का अनुभव करना चाहते हो तो अपने को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से असंग कर लो। गहराई से देखो, तीनों अवस्थायें जाग्रत में भी होती हैं। स्थूल शरीर आदि द्वारा जो अनुभव करते हो वह जाग्रत है, कारण और सूक्ष्म शरीर द्वारा जो अनुभव करते हो वह स्वप्न है, सिर्फ कारण द्वारा जो अनुभव करते हो वह सुषुप्ति है। तुरीयावस्था का अनुभव शरीर द्वारा नहीं कर सकते। तीनों शरीरों से असंग होने पर तुरीयावस्था का अनुभव होता है।

**हम तीनों शरीरों से असंग कैसे हो सकते हैं?**

यदि तीनों शरीरों से असंग होना चाहते हो तो प्रथम जाग्रत अवस्था से अर्थात् इन्द्रिय-विषयों से संबंध-विच्छेद करो और फिर मन आदि से भी किसी विषय का चिन्तन मत करो, अर्थात् अचित हो जाओ। अचित होते ही निर्विकल्प स्थिति अर्थात् जाग्रत में ही सुषुप्ति हो जायेगी। इस निर्विकल्प स्थिति से भी असंग होने पर निर्विकल्प बोध स्वयं होगा जो तीनों शरीरों से असंग करने में समर्थ है। अतः निर्विकल्प बोध होने पर ही तीनों शरीरों से असंगता प्राप्त होगी।

**वर्तमान युद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से क्या अर्थ रखता है?**

राष्ट्र अथवा समाज अथवा व्यक्ति विषयासक्ति के कारण उस सुख को स्वीकार करता है जो किसी का दुःख होता है (अर्थात् किसी को दुःख देकर सुख लेता है) गहराई से देखो तो सही, जिस सुख का जन्म ही दुःख से हुआ है वह अन्त में महादुःख के सिवाय और क्या होगा? राष्ट्रादि में स्वार्थभाव उत्पन्न होते ही उसकी विरोधी सत्ता प्रथम बेचारी दुखियों के मन में संकल्प से उत्पन्न होती है। पशु-बल के अभिमानी राष्ट्र आदि तो उन दुखियों के संकल्प की ओर देखने वाली दृष्टि बन्द कर लेते हैं, परन्तु प्रकृति माता तो प्रत्येक संकल्प की पूर्ति करने में निरन्तर लगी रहती है। अतः उन्हीं दुखियों के संकल्प से पशु बल के अभिमानी राष्ट्र, समाज

तथा व्यक्तियों को मिटाने के लिये शक्ति उत्पन्न हो जाती है। बस यही वर्तमान युद्ध का कारण है।

## २४ मार्च १९४१

क्या शरीर को अमरत्व प्राप्त हो सकता है?

जिसको अमरत्व की अभिलाषा होती है उसको अमरत्व प्राप्त होता है। गहराई से देखो, दो प्रकार की इच्छाएँ मानव-जीवन में दिखाई देती है। भोग की चाह के लिए शरीर आदि मिले हैं और अमरत्व की अभिलाषा भी है जो किसी प्रकार मिटायी नहीं जा सकती। जिस काल में अमरत्व की पूर्ण अभिलाषा जाग्रत हो जाती है, अर्थात् भोग की चाह मिट जाती है, तब अमरत्व की अभिलाषा पूर्ण होने में समर्थ होती है। भोग की चाह मिटते ही विषय इन्द्रियों में, इन्द्रिय मन में, मन बुद्धि में, बुद्धि अहं में, और अहं अमरत्व की अभिलाषा में विलीन हो अमरत्व से अभिन्न हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक अभिलाषा अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाती है। इस दृष्टि से सभी अमरत्व को प्राप्त कर सकते हैं।

**दुःख किसमें होता है?**

गहराई से देखो, जब आप स्वीकार करते हैं कि जड़ को दुःख नहीं होता और चेतन को भी दुःख नहीं होता तथा जड़-चेतन का मेल भी नहीं होता तो फिर दुःख किसको होता है? दुःख उसको होता है जो न तो जड़ है और न चेतन है, परन्तु जो जड़ से मिलकर जड़-सा और चेतन से मिलकर चेतन-सा हो जाता है, अर्थात् वह अहं जो अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता बल्कि अपने में किसी प्रकार के माने हुए स्वभाव को स्वीकार कर लेता है। उस स्वभाव की अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख का अनुभव करता है। अथवा यों कहो कि दुःख उसको होता है जिसको सुख होता है, क्योंकि सुख से ही दुःख का जन्म होता है। जो अहं अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता बल्कि किसी माने हुए स्वभाव के आधार जीवित है, वह स्वरूप से न तो जड़ है न चेतन। जिस प्रकार भोक्ता न जड़ है न चेतन, उसी प्रकार सुख तथा दुःख न जड़ है न चेतन।

**वास्तव में द्वैत है या अद्वैत?**

जब तक चाह है तब तक द्वैत प्रतीत होता है, चाह का अंत होने पर अद्वैत ही शेष रहता है। चाह की उत्पति ही अन्त होने के लिये होती है।

हमने कोई व्यक्ति तत्त्वज्ञ नहीं देखा तत्त्व ज्ञान केवल कल्पनामात्र है।

यदि तत्त्व-ज्ञान कल्पनामात्र है तो तत्त्व क्या है? यदि तत्त्व नहीं बता सकते हो तो फिर तत्त्व-ज्ञान कल्पना कैसे है, यह कथन ही निरर्थक है। तत्त्वज्ञ व्यक्ति नहीं है इसमें कोई संदेह नहीं, वह तो निज स्वरूप है जिसे जिज्ञासु अनुभव करते हैं, व्यक्ति नहीं। जिस प्रकार भक्त ही भगवान का साक्षात्कार करते हैं, उसी प्रकार जिज्ञासु ही तत्त्व का अनुभव करते हैं। व्यक्ति-भाव तो भक्त अथवा जिज्ञासु का भाव आने पर ही निर्मूलहो जाता है। प्यारे नियम यह है कि एक वस्तु मिटने पर ही दूसरी वस्तु बनती है। व्यक्ति-भाव मिट कर जिज्ञासु-भाव और जिज्ञासु-भाव

मिटकर तत्त्ववित् होता है। अतः तत्त्ववित् होकर ही तत्त्व को जान सकोगे और किसी प्रकार नहीं।

**हमारे लिये कौन-सा साधन उपयुक्त है?**

सब प्रकार की चाह का अन्त कर देना ही सर्वोत्तम साधन है। यदि यह नहीं कर सकते तो चाह होते हुए भी चैन से न रहना ही साधन है, क्योंकि बेचैनी ही चाह की पूर्ति में समर्थ है। यदि जीवन में व्याकुलता की कमी हो, अर्थात् चाह होते हुए भी चैन मालूम हो तो दुखियों का पूजन करो, आदर करो और यथाशक्ति सेवा करो, जिससे वे व्याकुलता प्रदान करें, जो उन्नति का मूल है।

**प्रवृत्ति श्रेष्ठ है या निवृत्ति?**

पूर्ण निवृत्ति होने पर पूर्ण प्रवृत्ति और पूर्ण प्रवृत्ति होने पर पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। परन्तु पूर्ण निवृत्ति से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति का प्रभाव कर्त्ता पर कुछ नहीं होता, अर्थात् प्रवृत्ति उस पर शासन नहीं कर पाती, क्योंकि सब उसके हो जाते हैं, वह किसी का नहीं होता।

पूर्ण प्रवृत्ति होने पर स्वार्थ भाव अर्थात् विषयासक्ति का अन्त हो जाता है। विषयासक्ति का अन्त होते ही प्रवृत्ति स्वयं निवृत्ति में बदल जाती है। प्रवृत्ति हो अथवा निवृत्ति परन्तु पूर्ण होनी चाहिए, टुकड़ों की निवृत्ति तथा प्रवृत्ति कुछ मूल्य नहीं रखती।

जिसका जीवन दूसरों की पूर्ति के लिये होता है वही पूर्ण प्रवृत्ति कर सकता है। जो वीतराग होता है, वही पूर्ण निवृत्ति कर सकता है। अतः पूर्ण प्रवृत्ति तथा पूर्ण निवृत्ति दोनों का अर्थ एक है। पूर्ण होने पर दोनों श्रेष्ठ हैं, परन्तु साधनकाल में प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि निवृत्ति के लिए बाह्य संगठन की आवश्यकता नहीं होती। प्यारे, जीवन में दुःख की मात्रा बढ़ जाने पर निवृत्ति सुगम है और सुख की मात्रा बढ़ जाने पर प्रवृत्ति सुगम है। श्रेष्ठता का कथन अधिकारी के प्रति होता है। वास्तव में तो पूर्णता सभी की श्रेष्ठ है।

**क्या व्यक्ति-भाव से उपासना करने में कोई हानि है?**

गहराई से देखो, उपासना करने की आवश्यकता क्यों हुई? जब उपासक अपने में असमर्थता पाता है, तब उसमें पूर्ण समर्थ की उपासना करने के लिए रुचि होती है। जब ज्ञान की कमी पाता है तब अनन्त ज्ञान की उपासना की रुचि होती है, अथवा यों कहो कि जिन-जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उन्हीं गुणों को पूर्ण करने के लिए सर्वगुण-सम्पन्न उपास्य की खोज होती है। उपासना अपनी रुचि की होती है, व्यक्ति की नहीं। व्यक्ति द्वारा उपासना करने का अर्थ यही होता है कि अपने व्यक्तित्व को जीवित रखने का लालच है अथवा यों कहो कि अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने के लिए सर्वोत्कृष्ट तत्त्व में भी व्यक्तित्व-भाव मान लेते हैं। वास्तविक उपासना की पूर्णता तब होती है जब अपने व्यक्तित्व को मिटा दिया जाय। उपासना पूर्ण होने पर व्यक्तित्व शेष नहीं रहता। यदि व्यक्तित्व शेष रहे तो उपासना से लाभ ही क्या? क्योंकि व्यक्तित्व तो था ही। उपासना उसकी करनी है जो सब प्रकार से समर्थ तथा दयालु हो। कोई भी

व्यक्ति सब प्रकार से समर्थ तथा परम दयालु नहीं हो सकता। गहराई से देखो, कोई भी राजा 'राजा' नहीं बना पाता, परन्तु जो व्यक्तित्व से परे हैं, वे सबको अपने से अभिन्न कर लेते हैं। वे इन्कार करना नहीं जानते, क्योंकि सब प्रकार से समर्थ हैं। अतः उन्हीं की उपासना करनी चाहिये जो व्यक्ति-भाव से अतीत है। प्यारे, उपास्य में व्यक्ति-भाव स्वीकार करना परम भूल है। उपास्य के नाम-रूप की कल्पना तो केवल शार्टहैण्ड के चिन्ह के समान है। विचारशील उपास्थ के नाम-रूप में भी व्यक्ति-भाव नहीं देखते।

**सच्ची दीक्षा क्या है?**

जो सब प्रकार समर्थ और परम दयालु हैं, उनसे सद्भावपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करना ही सच्ची दीक्षा है। वही ज्ञान की आवश्यकता के लिये गुरु-भाव से प्रकट होते हैं।

**गुरु क्या करता है और शिष्य क्या करता है?**

शिष्य प्यार करता है और गुरु प्रेम करता है। प्यार और प्रेम में यही अन्तर है कि प्यार दूसरों से और प्रेम अपनों से होता है। गुरु की दृष्टि में शिष्य की सत्ता अपने से भिन्न नहीं होती अतः वह प्रेम करता है। अपना सब कुछ दे देना प्यार; और अपने को दे देना प्रेम है। अतः शिष्य गुरु के प्रेम से गुरु हो जाता है। कामना-युक्त व्यक्ति प्रेम नहीं कर सकता। शिष्य कामना-युक्तहोता है, गुरु कामना रहित होता है। कामना रहित व्यक्ति नहीं होता, अतः गुरु में भूलकर भी व्यक्ति-भाव नहीं करना चाहिये।

## २५ मार्च १९४१

**आप्तकाम किसको कहते हैं?**

जो पूर्णतः चाह-रहित हों। जो भोग और मोक्ष दोनों की कामना से रहित हों, वे आप्तकाम होते हैं।

**आत्मवित् किस प्रकार हो सकता है?**

जब तक माना हुआ सीमित अहंभाव जीवित है, तब तक आत्मवित् नहीं हो सकता। अतः सीमित अहंभाव का अन्त करने पर ही आत्मवित् हो सकता है।

**अज्ञान क्या है? ज्ञान क्या है?**

मानी हुई सत्ता की स्वीकृति ही अज्ञान है। मानी हुई सत्ता का अभाव होने पर जो शेष रहता है वही तत्त्व-ज्ञान है।

विज्ञान क्या है? मोक्ष क्या है?

तत्त्वज्ञानपूर्वक निष्ठा ही विज्ञान है। मानी हुई सत्ता का शासन स्वीकार करना ही बन्धन है। उसके विपरीत मोक्ष है।

**मोक्ष-प्राप्ति का साधन क्या है?**

त्याग, क्योंकि त्याग से मानी हुई सत्ता का शासन नहीं रहता।

**कार्य में सफलता कब होती है?**

हृदय और दिमाग की एकता होने पर कार्य में सफलता होती है, क्योंकि कार्य करते हुए सफलता न होने का कारण हृदय और दिमाग की लड़ाई ही है।

**गुरु तत्त्व क्या है?**

गुरु वह तत्त्व है जो जिज्ञासु की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार से प्रकट होता है। अतः गुरु में

शरीर-भाव नहीं रखना चाहिये। जिस प्रकार निर्गुण ब्रह्म भक्त की रुचि की पूर्ति के लिये लीला-मात्र सगुण विग्रह स्वीकार कर लेता है उसी प्रकार गुरु-तत्त्व जिज्ञासु की पूर्ति के लिये लीला-मात्र शरीर-भाव धारण कर लेता है। वास्तव में तो गुरु-तत्त्व तथा पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन में लेश-मात्र भी भेद नहीं है।

**ध्यान कैसे करना चाहिए?**

ध्यान किया नहीं जाता बल्कि हो जाता है, क्योंकि जिसका ज्ञान नहीं होता उसका ध्यान भी नहीं हो सकता। अतः उसकी खोज करो जिसका ध्यान करना है। उसकी खोज करने के लिये ध्यानकर्त्ता को उन सभी वस्तुओं का त्याग करना होगा जिनके बिना वह किसी प्रकार भी रह सकता है। जिसके बिना किसी प्रकार नहीं रह सकता उसका ज्ञान होते ही ध्यान अपने आप हो जायेगा।

**आत्म-हनन क्या है?**

अपने को शरीर-भाव आदि कल्पनाओं में बाँध लेना ही आत्म-हनन है, अथवा यों कहो कि अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया हो उसके विपरीत क्रिया करना ही व्यावहारिक आत्म-हनन है। प्रथम आत्म-हनन तत्त्व-दृष्टि से है और दूसरा व्यवहार-दृष्टि से।

# २६ मार्च १९४१

**साधन की प्रारंभिक अवस्था में किन-किन गुणों की आवश्यकता है?**

साधक को चाहिये कि वह अपनी सभी आवश्यक प्रवृत्तियों में, जिनका कि वह त्याग नहीं कर सकता तथा जिन-जिन में उसको प्रवृत्त होना हो, अपनी पूर्ति के भाव से प्रवृत्त हो पूर्ति के लिए नहीं, अर्थात् भोक्ता उन्नति तब कर सकता है, जब वह अपना मूल्य भोग से अधिक बना ले। भोक्ता को यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि भोग का सौन्दर्य भी भोक्ता के बिना कुछ मूल्य नहीं रखता। आदर्श भोक्ता वही है जिसकी भोग प्रतीक्षा करता है। भोग की प्रतीक्षा करने वाला बीमार है, अतः वह बेचारा भोग करने में असमर्थ है, उसका तो भोग ही भोग कर लेते हैं।

**साधक को आगे पीछे का व्यर्थ-चिंतन क्यों होता है?**

कार्य-कुशलता न होने से तथा आस्तिकता की कमी से आगे-पीछे का व्यर्थ-चिंतन होता है।

**कार्यकुशलता क्या है?**

- जिस कार्य में प्रवृत्त हो उसका इतनी सुन्दरता पूर्वक करना चाहिए कि वह कार्य स्वयं कार्य-कर्त्ता की प्रतीक्षा करें, अर्थात् कर्त्ता को करते समय अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिये।
- भाव की पवित्रता हो।
- लक्ष्य पर दृष्टि हो।

इन तीनों बातों के होने पर पूर्ण कार्य कुशलता हो जायेगी, क्योंकि ऐसा न होने पर क्रिया, भाव तथा ज्ञान तीनों का उपयोग होगा। ज्ञान से लक्ष्य पर दृष्टि होगी, भाव से पवित्रता होगी और क्रियाशक्ति से कार्य में सुन्दरता होगी।

ऐसे कर्त्ता को आगे-पीछे का व्यर्थ चिंतन नहीं होगा।

**आस्तिकता को कमी क्या है?**

किसी भी सांसारिक परिस्थिति से प्रसन्नता की आशा करना आस्तिकता की कमी है।

ईश्वर की सत्ता का अनुभव साधारण मनुष्यों को कैसे हो?

ईश्वर की सत्ता का अनुभव तो ईश्वर भक्तों को होता है, परन्तु अपनी कमी प्रतीत होने पर अपने से विशेष सत्ता (ईश्वर) की स्वीकृति स्वयं हो जाती है, क्योंकि कमी कोई भी रखना पसन्द नहीं करता। अतः अपनी कमी को मिटाने के लिए ईश्वर की शरण आवश्यक हो जाती है।

पूर्व जन्म की बात याद न रहने के कारण मनुष्य किस प्रकार यह जाने कि उसकी साधना में विच्छेद कहाँ हुआ था?

यदि पूर्व जन्म की स्मृति रहे तो उन्नति करने में विघ्न होगा। अतः विस्मृति भगवतकृपा है, क्योंकि आवश्यक है। वर्तमान जीवन ही पूर्व जीवन के फलस्वरूप है। फल के प्राप्त होने पर वृक्ष को जानने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः वर्तमान जीवन का भलीप्रकार निरीक्षण करो। कमी की अनुभूति अपने आप हो जायेगी।

भगवान् जो कुछ हमारे लिए करता है वही सर्वोत्तम है–यह भाव स्थायी कैसे रहे।

जीवन की प्रत्येक क्रिया राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये स्वाभाविक होती है, परन्तु उन पर विचार न करने से हम यह समझ नहीं पाते। भगवान् दुःख तथा सुख के स्वरूप में प्रकट होकर राग-द्वेष मिटाने की योग्यता प्रदान करते हैं। जीवन सुख-दुःख से भिन्न कुछ नहीं यह सभी मानते हैं। भगवद्भक्त होने पर तो प्रश्नकर्त्ता का यह भाव स्वयं दृढ़ हो जाता है, भाव की कमी सिर्फ इसीलिये शेष है कि 'मैं भक्त हूँ' यह भाव पूर्ण नहीं हुआ। भगवान् सब कुछ करते हैं, यह पूर्ण भक्त की निष्ठा है, क्योंकि भक्त होने पर 'मै कर्ता हूँ' यह भाव मिट जाता है। इस भाव के मिटते ही प्रेम-पात्र की ओर से होने वाली सभी क्रियाएँ कल्याणकारक प्रतीत होती है। अतः सब प्रकार से उनका हो जाने पर यह भाव स्वाभाविक दृढ़ हो जायेगा कि भगवान् जो करते हैं वही सर्वोत्तम है।

**गलत व्यवहार क्यों होता है?**

जिस प्रकार अपने में शरीर भाव धारण करने पर गलत ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार कर्त्ता ने अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया है, उस कल्पना के भूलने पर गलत व्यवहार हो जाता है, क्योंकि कर्त्ता के बदलने पर क्रिया बदलती है।

## २७ मार्च १९४१

**हम साधारण मनुष्यों के लिए भगवान्-प्राप्ति का सुगम उपाय क्या है?**

जिस प्रकार भोगों का अभिलाषी पूजा-पाठ करते हुए भी उस पूजा का अर्थ भोग-प्राप्ति रखता है, क्योंकि उसकी निष्ठा भोग में होती है

और क्रिया पूजा की होती है, उसी प्रकार भगवत्-प्राप्ति के अभिलाषी के लिए सारी आवश्यक क्रियाओं को करते हुए यदि उसकी निष्ठा भगवत्-प्राप्ति में हो तो फिर उसकी अनेक क्रियाओं का भी एक अर्थ हो जायगा, अर्थात् उसकी सभी क्रियायें भगवत्-प्राप्ति के भाव में विलीन हो जायेंगी। इस भाव की पूर्णता होने पर यह ज्ञान में विलीन होगा, अर्थात् उसे भगवत्-प्राप्ति हो जायेगी। अतः जीवन में एकनिष्ठता होनी चाहिए।

**उपासना साकार की की जाय अथवा निराकार की?**

उपासना करने से पहले उपासक को यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि वह अपने को निराकार मानता है या साकार , क्योंकि साकार मानकर निराकार की उपासना नहीं कर सकता और निराकार मानकर साकार की उपासना नहीं कर सकता। उपासना तो वास्तव में साकार तथा सगुण की ही होती है, क्योंकि जिसको इन्द्रियों की अपेक्षा निराकार कहते हो वह बुद्धि की अपेक्षा साकार है। यह उपासना की रुचि है कि वह चाहे किसी साकार प्रतीक में अनन्त गुणों का अनुभव करें अथवा निराकार में, अथवा अपने में। इन तीनों प्रकार की उपासना का फल उपासना के पूर्ण होने पर एक हो जाता है। उपासना का अर्थ ही यह है कि अपने माने हुए स्वभाव को उपास्य के समपर्ण कर दे, अथवा यों कहो कि वास्तविक रुचि को स्थायी कर पूर्ण कर ले। रुचि को स्थायी कर लेना उपासना का आरम्भ है और रुचि का पूर्ण होना उपासना का अंत है, क्योंकि रुचि की पूर्ति के लिए ही उपासना की आवश्यकता होती है।

**अद्वैत तत्त्व की उपासना कैसे हो?**

अद्वैत तत्त्व तो उपासना का फल है। क्रिया फल की अप्राप्ति में होती है, प्राप्ति में नहीं। निगुर्ण तत्त्व की तीव्र अभिलाषा होने पर अभेद भाव की उपासना आरम्भ होती है वही अंत में अद्वैत तत्त्व में विलीन हो जाती है अर्थात् तत्त्व ज्ञान हो जाता है।

**सत्य का वास्तविक स्वरूप क्या है?**

सत्य का अनुभव करने के लिये अपने माने हुए स्वभाव (असत्य) को मिटाना होगा। साधारण मानव अपने स्वभाव के अनुसार ही सत्य का कथन करते हैं, जिस प्रकार पृथ्वी में मिर्च को चरपराहट और गन्ने को मिठास दिखाई देती है। वास्तव में तो पृथ्वी के वास्तविक तत्त्व को जानना चाहे तो उन्हें अपने स्वीकृत स्वभाव को मिटाना होगा। अतः सत्य होकर ही सत्य को जान सकोगे। सत्य के विषय में कथन करना अपने माने हुए स्वभाव का परिचय देने के सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि कथन करने की सत्ता सीमित है और सत्य असीम है।

'असीम' शब्द सत्य का कथन नहीं है, बल्कि संकेत है।

**गुरु करना चाहिए या नहीं?**

यदि गुरु होना चाहते हो तो गुरु चाहिए, क्योंकि गुरु होने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है, शिष्य होने के लिए नहीं। जब तक गुरु नहीं हो, तब तक शिष्य तो हो ही।

**परमात्मा को न मानने से क्या हानि है?**

परमात्मा को मानना अथवा न मानना एक ही अर्थ रखता है, जब तक कि परमात्मा को जाना न जाय। अतः परमात्मा को जानना चाहिए। मानना तो जानने का एक साधन मात्र है। साधन साध्य की अनुभूति में विलीन हो जाता है। अतः न मानने से साधन में कठिनता होगी। यद्यपि सत्य माना नहीं जाता, बल्कि उसकी स्वाभाविक स्वीकृति होती है। परन्तु साधारण व्यक्ति स्वाभाविक स्वीकृति का निराकरण नहीं कर पाते उनको मानना अनिवार्य है, क्योंकि मानने के आधार पर साधन का आरम्भ होगा और फिर साधन से विचार उदय होगा, जो निराकरण करने में समर्थ होगा।

**जिस प्रकार विषयों में मन लगता है, वैसा ईश्वर में मन क्यों नहीं लगता?**

जैसा विषयों में मन लगता है, वैसा ईश्वर में मन इसलिए नहीं लगता कि दुःख की कमी है। प्रत्येक प्रवृत्ति में सुख तथा दुःख का रस आता है। जिस प्रवृत्ति में सुख से दुःख अधिक बढ़ जाता है, वह प्रवृत्ति स्वयं मिट जाती है। यदि ईश्वर में अपने मन को लगाना चाहते हो तो दुःख की कमी को पूरा करो। यदि दुःख की कमी को पूरा करना चाहते हो तो दुखियों की पूजा करो। जब तुम दुखियों का दुःख दूर करोगे, तब तुम्हारा ईश्वर से जातीय संबंध होगा, क्योंकि वे दुःखहारी हैं। जातीय संबंध होने पर एकता अवश्य होती है, यह सभी जानते हैं।

**हम कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को किस प्रकार जानें?**

जो कर्त्तव्य आपको सीमित से हटाकर असीम की ओर ले जाय, अर्थात् महान् बनाने में समर्थ हो वही कर्त्तव्य है और जो सीमित बनाये वही अकर्त्तव्य है।

**आस्तिकता का उदय कब होता है?**

जब क्रिया-जन्य रस अर्थात् केवल कर्म से पूर्ति नहीं होती, तब पूर्णता के अभिलाषी के हृदय में कर्म से अतीत पूर्ण सत्ता की स्वीकृति स्वाभाविक उदय होती है, क्योंकि कर्म बेचारा भोग से भिन्न कुछ नहीं दे पाता।

**सबसे अधिक किसकी सेवा का फल होता है?**

सबसे अधिक फल उसकी सेवा से होता है, जिसका जीवन क्रिया-जन्य रस से ऊपर हो चुका है, क्योंकि वही पूर्ण हो सकता है, जो पूर्ण विरक्त होता है और वही परमतत्त्व में अनुरक्त होता है। अतः उसकी सेवा की प्रतिक्रिया अर्थात् फल पूर्ण की ओर से मिलता है?

**भगवान् कब आते हैं?**

भगवान् तब आते हैं जब हम अपने को बिल्कुल खाली कर लेते हैं, क्योंकि वे तब तक किसी प्रकार नहीं आ सकते, जब तक हम अपने में उनके सिवाय किसी और के लिए स्थान रखते हैं।

करने की अपेक्षा कुछ न करना और गलत करने की अपेक्षा सही करना अधिक महत्त्व रखता है। क्रिया, भाव, ज्ञान तीनों को

समर्पण करने पर वे शीघ्र ही आ जायेंगे। हम एक-एक अर्पण करते हैं तभी नहीं आते।

# २८ मार्च १९४१

**अभिमान आदि मानसिक विकारों का अंत किस प्रकार हो?**

जीवन, ज्ञान, भाव और क्रिया तीनों से मिला हुआ है। अतः इन तीनों का सदुपयोग करो। ज्ञानशक्ति से यह अनुभव करो कि मैं ईश्वर नहीं हूँ। भावशक्ति से यह धारण करो कि मेरे जीवन से किसी को दुःख न हो, अर्थात् हृदय में किसी को दुःख देने का भाव उत्पन्न मत होने दो, क्रियाशक्ति से दूसरों की सेवा करो, किन्तु यह समझ कर करो कि जिनकी सेवा कर रहा हूँ उनकी कृपा से मेरा कल्याण होगा। यह उनकी कृपा है कि उन्होंने मुझे सेवा करने का अवसर दिया। ऐसा करने से क्रिया-जन्य रस नहीं होगा, बल्कि क्रिया भाव में विलीन हो जायेगी और भाव की पूर्णता होने पर भाव ज्ञानतत्त्व का अनुभव होगा। यह भली प्रकार समझ लो कि कुल विकारों का अंत एक साथ होता है। पूर्ण क्रिया, पूर्ण भाव और पूर्ण ज्ञान होने पर ही विकारों का अंत हो सकता है। केवल क्रिया विकारों का अंत करने में असमर्थ है। केवल भाव भी अंत नहीं कर सकता। क्रिया और भाव-जन्य रस की आसक्ति मिटने पर ज्ञान होता है। यथार्थ ज्ञान होने पर ही कुल विकार मिट सकेंगे। क्रिया और भाव के बदलने से विकारों की कमी होती है अंत नहीं होता। साधारण मानव विकारों की कमी को विकारों का अंत मान लेते हैं, इसीलिए क्रिया को भाव में और भाव को ज्ञान में विलीन नहीं कर पाते, बल्कि क्रिया-जन्य रस तथा भाव-जन्य रस में आसक्त हो जाते हैं। अतः इसी कारण बार-बार विकार उत्पन्न होते हैं। पूर्ण तत्त्व का बिना अनुभव किये विकारों का अंत नहीं हो सकता।

**तीर्थों से क्या लाभ है और उनमें जाकर कैसा भाव रखना चाहिए?**

जो प्राणी अपने को केवल स्थूल शरीर मानते हैं, अर्थात् शरीर को ही अपना आप जानते हैं उनके लिए तीर्थ सब से प्रथम साधन हैं, क्योंकि वहाँ जाने पर दान-स्नान आदि का करना अनिवार्य हो जाता है। तीर्थों में लोकान्तर का भाव रखना चाहिए, ऐसा करने से लाभ अवश्य होगा।

**भगवान् क्या हैं और उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है?**

भगवान् क्या है? यह तो भगवान् होकर ही जान सकोगे, क्योंकि सत्य का अनुभव सत्य होकर ही होता है। गहराई से देखो कि आपकी वास्तविक रुचि क्या है? यदि आप अपनी वास्तविक रुचि की पूर्ति के लिये समर्थ है, तब तो कोई प्रश्न ही नहीं होता, क्योंकि प्रश्न आवश्यकता होने पर होता है। यदि संसार आपकी पूर्ति में समर्थ है, तब भी प्रश्न नहीं होता, परन्तु आपका प्रश्न यह स्वयं प्रकट करता है कि मुझे अपनी रुचि की पूर्ति के लिए, अर्थात् अपनी पूर्णता के लिए तत्त्व की आवश्यकता है, अर्थात् भगवान् सब प्रकार से पूर्ण हैं। यदि उनके वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हो तो अपने माने हुए स्वभाव को मिटा दो, अर्थात् अपने आप को खाली कर लो। खाली होते ही भगवान् आ जायेंगे,

तब आप उनके स्वरूप का अनुभव कर सकोगे। भगवान् के वास्तविक स्वरूप का अनुभव करने के लिए आप को अपने सिवाय और किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं हैं, यहाँ तक कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि को भी छोड़ना होगा। जब आप अकेले हो जायेंगे तब भगवान् की कृपा से ही भगवान् को जान लेगें। प्यारे, कोई भी अपने प्रेम-पात्र से किसी के सामने नहीं मिलता, तो फिर जब आप शरीर आदि अनके संबंधियों को साथ लिए हुए हैं, आपका प्रेम-पात्र आपसे कैसे मिल सकता है? भगवान् कैसे हैं? यदि यह जानना चाहते हो तो अकेले हो जाओ।

**बंधन कैसे हुआ?**

यदि वर्तमान में बंधन प्रतीत होता है, तो बंधनकाल में बंधन के कारण को नहीं जान सकोगे, क्योंकि कार्य का अंत होने पर कारण का ज्ञान होता है। अतः मुक्त होने पर बंधन का ज्ञान होगा।

**क्या श्राद्ध जिसके लिए किया जाता है उसको मिलता है?**

गहराई से देखो प्रत्येक कर्म के दो स्वरूप होते हैं एक दृष्ट और दूसरा अदृष्ट। श्राद्धकर्त्ता का संकल्प श्राद्ध का अदृष्ट स्वरूप है। वह संकल्प ईश्वर द्वारा पूर्ण होता है। जिस प्रकार पोस्ट आफिस द्वारा भेजा हुआ मनीआर्डर गवर्नमेंट की सत्ता के द्वारा जिसको भेजा जाता है, उसको मिलता है, यद्यपि भेजने वाले की दृष्टि से वह दूर है, परन्तु गवर्नमेन्ट के शासन के अन्तर्गत है, उसी प्रकार श्राद्ध-कर्त्ता की दृष्टि में, जिसका वह श्राद्ध करता है, वह दूर है, किन्तु ईश्वर की दृष्टि में दूर नहीं है। प्रत्येक संकल्प ईश्वर के द्वारा फल देता है।

**हम कैसे जानें कि ईश्वर है?**

क्या आपने ईश्वर को जानने के लिए जो आप कर सकते थे वह कर लिया है? यदि नहीं किया तो कर डालो। क्या आप ईश्वर को किसी और की सहायता से जान सके हो? यदि नहीं जान सके हो तो दूसरों की सहायता लेना छोड़ दो। जब आप दूसरों की सहायता लेना छोड़ दोगे, अथवा जो कर सकते हो कर डालोगे, अथवा ईश्वर की ही मर्जी पर छोड़ दोगे, तब ईश्वर है यह स्वयं अनुभव हो जायगा।

**हम कैसे जानें कि जो कर सकते हैं वह कर लिया?**

यदि कुछ भी करने का भाव शेष है, तो वह अभी नहीं किया, जो कर सकते हो, क्योंकि क्रिया से भिन्न कर्त्ता का स्वरूप कुछ नहीं है। क्रिया के पूर्ण होने पर कर्त्ता का अंत हो जाता है। कर्त्ता का अंत होते ही भोगत्व मिट जाता है। यह नियम है कि भोग ने ईश्वर से वियोग किया है, अतः भोग का अंत करने पर ईश्वर का अनुभव होगा।

**दूसरों की सहायता छोड़ने का अर्थ क्या है?**

सभी संगठन विषयों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यदि ईश्वर को जानना चाहते हो, तो अपने बनाये हुए संगठन का अंत कर दो, अर्थात् किसी और की सहायता की आशा मत करो। सभी से निराश होने पर ईश्वर का अनुभव होगा, क्योंकि ईश्वर से भिन्न वस्तुओं की आशा सिर्फ

विषयों के लिए की जाती है। यहाँ तक कि बुद्धि आदि भी विषय प्राप्ति ही में समर्थ होते हैं।

**ईश्वर की मर्जी पर छोड़ देने का क्या अर्थ है?**

जब हमारी आवश्यकता की पूर्ति संसार नहीं कर सकता, तब संसार से अरुचि हो जाती है और जब हम स्वयं नहीं कर सकते, तब अपने से अरुचि हो जाती है। बस उसी काल में व्याकुलता पूर्वक समर्पण करने का भाव उत्पन्न होता है। समर्पण की पूर्णता होने पर ईश्वर का अनुभव हो जाता है। गहराई से देखो, संसार से निराश होने पर संसार की चाह नहीं रहती, अर्थात् विषयों का चिन्तन नहीं होता और अपने से निराश होने पर करने का भाव नहीं रहता, अर्थात् ईश्वर का चिन्तन नहीं रहता और अचिन्तता आ जाती है, जो ईश्वर का अनुभव कराने में समर्थ है।

**आत्म-साक्षात्कार क्या है?**

सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाना अर्थात् किसी प्रकार की आवश्यकता शेष न रहे। आत्म-साक्षात्कार होने से पूर्व यदि यह बंधन है, तो वह मुक्ति है, यदि यह दुःख है, तो वह आनन्द है, यदि यह सीमित है, तो वह असीम है, यदि यह जड़ है, तो वह चेतन है और यदि यह मृत्यु है तो वह अमरत्व है।

**आत्म-साक्षात्कार का साधन क्या है?**

यदि आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हो तो अपने में से विचारपूर्वक सभी मानी हुई सत्ताओं को निकाल दो।

**सन्त-वाणी**

सुख से दुःख दब जाता है और आनन्द से मिट जाता है। आनन्द इच्छाओं की निवृत्ति होने पर और सुख इच्छाओं की पूर्ति होने पर होता है। इच्छाओं की पूर्ति के लिए परतंत्रता है, क्योंकि उसके लिए संगठन की आवश्यकता होती है। इच्छाओं की निवृत्ति के लिए स्वतंत्रता है, क्योंकि वह निवृत्ति त्याग से होती है। मन के इधर-उधर जाने का कारण राग-द्वेष है। जिनसे द्वेष है, उनसे प्रेम करो, जिनसे राग है उनका त्याग करो। ऐसा करने से मन शान्त हो जायेगा।

आस्तिकता की योग्यता उसी मानव को होती है, जिसको संसार की कोई भी परिस्थिति शान्ति नहीं दे पाती, अर्थात् विषयों के सभी रस नीरस हो जाने पर आस्तिकता का रस आता है।

जिसकी अस्ति हर काल में है, उसकी स्वीकृति आस्तिकता है। जिसकी अस्ति हर काल में नहीं, उसकी स्वीकृति नास्तिकता है।

चेतन का अनुभव होने पर चेतन से भिन्न किसी भी सत्ता की प्रतीति शेष नहीं रहती।

ज्ञान-योग में त्यागरूप से क्रिया तथा निष्ठारूप से भाव विद्यमान है।

भक्तियोग में सेवारूप से क्रिया और लक्ष्यरूप से ज्ञान विद्यमान है।

कर्मयोग में स्वार्थ-त्याग-रूप से भाव तथा विश्व के साथ एकतारूप से ज्ञान विद्यमान है।

**संसार में जो क्षोभ है उसकी शान्ति का क्या उपाय है?**

जिन साधनों से एक व्यक्ति का क्षोभ मिट सकता है, उन्हीं साधनों से समाज का, राष्ट्र

का अथवा संसार का क्षोभ मिट सकता है। क्षोभ का कारण सीमित भाव है। सीमित भाव का अंत करने पर क्षोभ का अंत हो जाता है। अतः उन क्रियाओं को करो जो असीम की ओर ले जायें, अर्थात् विश्व के साथ एकता करने में समर्थ हो। जब अनेक व्यक्तियों के संकल्प सीमित भाव मिटाने के होंगे तब संसार का क्षोभ मिटाने के लिए भगवत्कृपा से विशेष शक्ति स्वयं उत्पन्न हो जायेगी और क्षोभ का अन्त कर देगी, क्योंकि प्रत्येक जीवन कल्पतरु की छाया में निवास कर रहा है। यह भली प्रकार समझ लो कि जो वस्तु जितनी अधिक अव्यक्त होती है, उतनी ही अधिक विभु तथा शक्तिशाली होती है। संकल्प शक्ति इन्द्रियों की क्रिया की अपेक्षा अधिक अव्यक्त है। जब संकल्प के अनुसार निष्ठा हो जाती है, तब सफलता अवश्य होती है।

**दुष्टों का दमन कैसे हो?**

दुष्टों का आक्रमण निर्बल पर होता है। यदि उनका दमन करना चाहते हो, तो सबल (आत्मिक, सामाजिक और शारीरिक बल सम्पन्न) बनो। सामाजिक बल से शारीरिक बल पर विजय प्राप्त कर सकते हो और आत्मिक बल से सामाजिक बल पर विजय प्राप्त कर सकते हो। सज्जनता बढ़ा लेने पर ही दुर्जनता का अंत कर सकते हो। दुर्जनता से दुर्जनता किसी प्रकार भी मिटायी नहीं जा सकती।

## ३० मार्च १९४१

**यदि आत्मा अविनाशी है और शरीर जड़ है तो फिर मार डालने से क्या पाप है?**

गहराई से देखो, जिन वासनाओं की पूर्ति के लिए उस बेचारे को प्रकृति माता से जो क्षेत्र मिला है, उसके तोड़ देने पर उसकी पूर्ति में विघ्न होगा, इसीलिए हिंसा है और मारने वाले का भाव कठोर होगा। उसके मन पर मारने का संकल्प अंकित हो जायगा, इसलिए वह अपने को अपने संकल्प से बचा नहीं सकेगा, अर्थात् वह संकल्प उसके जीवन का स्वरूप हो जायगा, जिससे वह स्वयं अपनी उन्नति में बाधक होगा। मारने वाले की हानि मरने वाले से कहीं अधिक होगी। इसी कारण अहिंसा व्रत सर्वोत्तम व्रत है।

**अहिंसा क्या है?**

जिसकी प्रसन्नता किसी भी वस्तु के आधार पर जीवित है वह अहिंसा व्रत का पालन नहीं कर सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु की आशा करने पर किसी को दुःख अवश्य होगा। क्योंकि कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिस पर किसी न किसी का अधिकार न हो, अर्थात् किसी न किसी का अधिकार अवश्य होता है। किसी भी वस्तु के आधार पर प्रसन्न न होना ही पूर्ण अहिंसा है।

**किसी को सुख क्यों देना चाहिए?**

यदि किसी से सुख लिया है, तो तुम उसके ऋणी हो, अतः दूसरों को सुख देना अनिवार्य है। जिसने सुख दिया है, उसने सुख देना सिखाया है। सुखदाता को सुख दे नहीं सकते, अतः दुखियों को सुख देना ही सुखदाता के ऋण से छूट जाना है।

**ईश्वर या गुरु को सुख कैसे दें?**

उससे अभिन्न होना ही उसकी सेवा है, अथवा उसके नाते दुखियों की सेवा करना

उसकी सेवा है। वास्तव में तो गुरुतत्त्व अथवा ईश्वर-तत्त्व सब प्रकार से पूर्ण है। उनके शरणापन्न हो जाना, अर्थात् अपने आपको खो देना ही उनकी सेवा है। गुरु के दिये हुए 'गुर' को जीवन का स्वरूप बना लेना परम गुरु-भक्ति है। गुरु के बताये हुए लक्ष्य से भ्रष्ट न होना ही गुरु-दक्षिणा है।

**स्मरण चिन्तन, ध्यान आदि में क्या भेद है?**

जप में क्रिया की प्रधानता है, भाव लेशमात्र है। स्मरण में क्रिया और भाव समान है। चिन्तन में क्रिया की कमी तथा भाव की प्रबलता है। ध्यान में केवल भाव है। समाधि में अनेक भाव एक भाव में विलीन हो जाते हैं।

**सदाचार क्या है?**

सदाचार वही है कि जिसके करने से भय रहित शान्ति प्राप्त हो और किसी का अहित न हो तथा जिसके करने में कर्त्ता सदैव स्वतन्त्र है।

**सचाई की ओर जाना बड़ा कठिन मालूम होता है?**

गहराई से देखो, सचाई कठिन नहीं होती। यदि कठिन प्रतीत होती है, तो समझ लो बुद्धि का प्रमाद है। जितनी अधिक सचाई है, उतनी ही अधिक सुलभ है। झुठाई की ओर जाना वास्तव में कठिन है, क्योंकि अस्वाभाविक है, सीख कर जाना होता है। सचाई से जातीय सम्बन्ध है। झुठाई की आसक्ति के कारण सचाई की चाह नहीं होती। चाह होने पर तो सभी कठिन मालूम होते है। कठिन तो वह है कि चाह हो और न कर सकें। सचाई की चाह होने पर सचाई की ओर जाने के लिए सचाई के अभिलाषी को अपने सिवाय किसी और की आवश्यकता नहीं होती। प्यारे, झुठाई से विमुख होते ही सचाई स्वयं अपना लेती है। अतः सचाई से मत डरो, क्योंकि वह अत्यन्त सुगम तथा स्वाधीन है। चाह होते हुए यदि सचाई कठिन मालूम पड़े तो समझ लो कि उसमें झुठाई अवश्य है। क्योंकि सचाई और कठिन! ऐसा कैसे हो सकता है? अर्थात् सचाई कठिन नहीं हो सकती। या तो चाहते नहीं या झुठाई है। सचाई आकर जाती नहीं, जब आती है तब पूर्ण आती है। सचाई के टुकड़े नहीं हो सकते। सचाई के आने पर कमी शेष नहीं रहती। सचाई जीवन की परम आवश्यक वस्तु है,अतः उसके बिना चैन से रहना परम भूल है। सचाई कठिन है यह समझना दिमाग का रोग है, और कुछ नहीं। भला किसी को अपनी वास्तविकता की ओर जाना कठिन मालूम होता है? कदापि नहीं। कठिनाई उसी में होती है जिसको नहीं कर सकते, परन्तु करते हैं।

गहराई से देखो, विषय-प्राप्ति में स्वतन्त्र हो या परतन्त्र? विषय स्थायी रहते हैं या चले जाते हैं? यदि विषयों के प्राप्त करने में परतंत्र हो तो उनका प्राप्त करना कठिन है। जिसका प्राप्त करना कठिन है उसका त्याग करना अवश्य सुलभ है। प्यारे विषयों का त्याग करते ही सचाई अपने आप आ जाती है। जो त्याग करने वाले का त्याग नहीं करता उसी को सचाई कठिन मालूम होती है। गहराई से देखो, विषय अथवा विषयों के

भोगने की शक्ति ये दोनों आपका त्याग निरन्तर कर रहे हैं। आप इनका त्याग नहीं करते, इसी दोष के कारण सचाई कठिन मालूम होती रहती है।

**ईश्वर प्राप्ति का सरल उपाय क्या है?**

यदि स्वतंत्रतापूर्वक ईश्वर का अनुभव करना चाहते हो तो 'उनके' बिना चैन से न रहो, अर्थात् विरह उत्पन्न करो। विरही को विरह के सिवाय और साधन की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार का अन्त हो जाता है, इसी प्रकार विरह उत्पन्न होते ही सब प्रकार के दोषों का अन्त हो जाता है। दोषों का अन्त होते ही ईश्वर-प्राप्ति अपने आप हो जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि विरहाग्नि में सभी विकार जल जाते हैं। यह नियम है कि विकारयुक्त जीवन निर्विकार तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता। अतः शीघ्र विरह-रूप अग्नि में विकार जला दो। यदि विरह की पूर्णता का अनुभव करना है तो मछली के जीवन से सीखो। देखो कि वह जल के बिना कैसे रहती है और अन्त में क्या करती है?

**क्या ज्ञान से ईश्वर प्राप्ति नहीं होती?**

ईश्वर तो ईश्वर-भक्तों की वस्तु है।

**क्या भक्तों को तत्त्व ज्ञान नहीं होता?**

भक्तवत्सल भगवान अपने भक्तों में किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहने देते, अतः भगवान के प्रसाद से भक्त को ज्ञान भी हो जाता है। जिस प्रकार चोरी करने वाला दण्ड नहीं चाहता, फिर भी उसे दण्ड मिलता ही है उसी प्रकार भक्त ज्ञान की इच्छा न भी करें तब भी भगवत्-कृपा से उसे तत्त्व-ज्ञान होता ही है, क्योंकि तत्त्व-ज्ञान के बिना पूर्ण भक्ति नहीं होती।

तत्त्व-ज्ञान तो ईश्वर-प्राप्ति का फल है। साधारण मानव ज्ञान के साधन को ज्ञान मान लेते हैं, यद्यपि ज्ञान का साधन ज्ञान नहीं। भक्ति तो केवल विरह है, जिसका फल मिलन है। मिलन होने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रहता, अर्थात् भक्ति की पूर्णता ही तत्त्व-ज्ञान है।

ज्ञान का स्वतंत्र साधन विचार है। तत्त्व-ज्ञान होने पर तत्त्व-निष्ठा ही भक्ति है। भक्त को प्रथम भक्ति और फिर तत्त्व-ज्ञान तथा जिज्ञासु को प्रथम तत्त्व-ज्ञान और फिर तत्त्व-निष्ठा होती है।

**सन्त-वाणी**

आत्मा-परमात्मा का भेद तब तक है, जब तक परमात्माकी अप्राप्ति है। अप्राप्ति तब तक है, जब तक विरह अथवा जिज्ञासाकी कमी है। विरह अथवा जिज्ञासा की कमी तब तक है, जब तक अभागे सुख ने अधिकार किया है, अर्थात् दुःख-भगवान् की कृपा नहीं हुई, अथवा यों कहो कि दुखियों का पूजन नहीं किया।

परमात्मा से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है वह अपूर्ण है। अपूर्ण में ही पूर्ण की अभिलाषा होती है। अभिलाषा की पूर्णता होने पर पूर्ण-अपूर्ण अभिन्न हो जाते हैं, अर्थात् अपूर्ण की सत्ता मिट जाती है।

आत्मा-परमात्मा में भेद कराने वाली केवल अभिलाषा है। अभिलाषा का अन्त होने पर

अभेद हो जाता है। अभिलाषा ही जीव का स्वरूप है, अतः अभिलाषा का अन्त होते ही 'जीवत्व' का अन्त हो जाता है, और फिर भेद शेष नहीं रहता।

तत्त्व-ज्ञानपूर्वक तत्त्व-निष्ठा ही जीवन-मुक्ति है। जीवन-मुक्ति जीवन का सर्वोतम आदर्श है।

जिज्ञासा होने पर जिज्ञासा की पूर्ति के साधन बिना बुलाये आ जाते हैं। जिज्ञासा जाग्रत करो, साधन की चिन्ता मत करो।

# ३१ मार्च १९४१

**सन्त-वाणी**

हमारे प्रेम-पात्र को हमारी रुचि का पूर्ण ज्ञान है। यदि उन्हें ज्ञान नहीं तो वे हमारे प्रेम-पात्र हो ही नहीं सकते। सारे संगठनों को छोड़ते हुए हमें उनके समर्पित होना है। कृपा कर्मेन्द्रियों, ज्ञानन्द्रियों एवं मन बुद्धि आदि सभी सम्बन्धियों से कह दो कि अब हम अपने प्रेम-पात्र से मिलेंगे। आप लोंगो की कृपा से विषयों का यथार्थ अनुभव हो गया। अब हम विषयों से तृप्त हो चुके हैं। कृपया आप भी आराम कीजिये।

प्यारे, करना उसी को पड़ता है, जो औरों से काम लेता है। जो किसी से काम नहीं लेता, उससे भी कोई काम नहीं लेता। जो बुद्धि आदि से काम लेते हैं, उनको ही करने का भूत लगा रहता है। यह सभी जानते हैं कि करना लक्ष्य नहीं है, किन्तु औरों से काम लेते हैं। इस दोष के कारण ही करने का अन्त नहीं कर पाते। करना भोगों की प्राप्ति के लिए होता है, प्रेम-पात्र के मिलन के लिए नहीं। जिस काल में हम सभी को छुट्टी दे देंगे, अर्थात् अकेले हो जायेंगे, उसी काल में हमारे प्रेम-पात्र हमें अवश्य अपना लेंगे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। इसमें सन्देह करना प्रेम-पात्र की सत्ता की अस्वीकृति के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता।

**वास्तविक रुचि क्या है?**

गहराई से देखो, शांति और शक्ति सभी को स्वाभाविक प्रिय है। शांति क्या है? अपने में कमी का शेष न रहना। शक्ति क्या है? अनन्त ऐश्वर्य होना। इस रुचि की पूर्ति के लिए बेचारा संसार असमर्थ है। यह रुचि प्रेम-पात्र से छिपी नहीं है। अपने को उनके समर्पित कर देने पर अवश्य मिलेगी। शांति अपने लिए और शक्ति सेवा के लिए होती है। जो कुछ नहीं माँगता उसको दोनों मिलती है और जो माँगता है, उसे वे एक देते हैं। कुछ न मांगना अथवा कुछ न करना समर्पण है। केवल शांति के पुजारी त्याग-पूर्वक तत्त्व-ज्ञान से शांति पाते हैं। केवल शक्ति के पुजारी तप, योग, संयम आदि से शक्ति पाते हैं, परन्तु समर्पित होने पर त्याग तथा तप स्वाभाविक हो जाते हैं। अतः समर्पित होने वाला शक्ति और शांति दोनों पाता है।

**सन्त-वाणी**

'हम उनके बिना किसी प्रकार नहीं रहेंगे' इस भाव के आ जाने पर जिसको चाहते हैं, उनसे मिलने के सभी अधिकारी हो जाते हैं। ऐसे

अधिकारी को भूतकाल याद नहीं आता भविष्य की आशा नहीं होती और वर्तमान में कल नहीं पड़ती। ऐसा जीवन होने पर लक्ष्य की पूर्ति स्वयं हो जाती है।

ऐसा अधिकारी होने के लिए , जीवन में जो सुख की सत्ता है, उसका अन्त कर दो, क्योंकि वह सुख किसी दुःखी का दुःख है। स्वतंत्रापूर्वक संसार में सुख नहीं मिलता। किसी का दुःख ही किसी का सुख होता है। उन्नतिशील मानव दूसरों के दुःख से उत्पन्न होने वाला सुख पसन्द नहीं करते, बल्कि दुखियों के दुःख से जीवन भर लेते हैं, अथवा यों कहो कि दुःख की सत्ता का ही अन्त करना चाहते हैं, क्योंकि जब तक कोई भी दुःखी प्रतीत होगा, तब तक कभी-कभी उसका दुःख हमारा हो जायेगा। इसी भाव से कुल दुःख का अन्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं।

बाह्य साधन न होने पर भी दुखियों के दुःख से दुःखी होने वाला एकान्त में बैठा हुआ दुखियों के दुःख का अन्त कर रहा है, क्योंकि इच्छा-शक्ति लीलामय भगवान् की योगमाया है, जो सब कुछ कर सकती है। ऐसे हितैषी को भोला संसार जान नहीं पाता, किन्तु वह दुखियों के दुःख को जानता है, क्योंकि उसका विश्व-जीवन है, वह सीमित व्यक्ति नहीं है।

संगठन की आवश्यकता सीमित भाव होने पर ही होती है। सचाई की ओर जाने के लिए स्वतंत्रता है। जिसमें परतंत्रता प्रतीत हो वह सचाई का मार्ग नहीं है। जिन साधकों में ज्ञान की कमी होती है, उनको इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होती है। जिनमें इच्छा-शक्ति की कमी होती है, उनको बाह्य संगठन अथवा इन्द्रिय-जन्य क्रिया की आवश्यकता होती है। इन्द्रिय-जन्य क्रिया की आवश्यकता आस्तिकता की कमी के आधार पर जीवित रहती है। आस्तिकता आ जाने पर तो मनुष्य अपना अथवा संसार का सुधार स्वतन्त्रापूर्वक कर सकता है।

**साधक को कैसा भोजन करना चाहिए?**

गहराई से देखो, भोजन किसलिए किया जाता है? भूख का दुःख न हो तथा प्राण अर्थात् जीवनशक्ति काम करती रहे, इसलिए भोजन किया जाता है। विवेकी पुरुष तो भोजन नहीं करता, बल्कि प्राण भगवान् को आहुति देता है। आहुति ऐसी वस्तुओं की देनी चाहिए, जिनसे जीवनशक्ति दैवी स्वभाव की हो, अर्थात् आसुरी स्वभाव न आने पाये। भोजन का शारीरिक स्वभाव से अभेद सम्बन्ध है। भोजन की सामग्री सत्त्वप्रधान हो। सत्त्वप्रधान का अर्थ यह नहीं कि केवल फल, दूध, आदि हो, बल्कि रोटी, साग, दाल, भात आदि सादा आहार हो और अधिक काल का बना हुआ न हो, जो पचने में भी सुगम हो और प्राण को अधिक काल तक शक्ति भी दे सके। भोज्य पदार्थों के प्राप्त करने के लिए धन भी सात्त्विक अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित हो और भोजन बनाने वाला भी सात्त्विक स्वभाव का हो अथवा परिवार-सम्बन्धी हो। कुछ महानुभाव जिनसे भोजन बनवाते हैं, उनको (नौकर आदि को) अपने जैसा भोजन नहीं खिला पाते। भोजन बनाने वाले के मन में भोजन-पान आदि करने

का रस प्रायः बना रहता है, किन्तु उसे मिलता है नहीं। अतः उस भोजन में मानसिक दोष आ जाता है। ऐसा भोजन करने से मानसिक अवनति होती है। नौकर से भोजन उनको बनवाना चाहिए, जो अपने समान उसे खिला सकें, नहीं तो अपने घर के ही लोगों से बनवाना चाहिए, जिससे भोजन में मानसिक अपवित्रता न आने पावे। भोजन बनाने के लिए वही उचित होता, जिसका हृदय माता के समान विशाल हो।

आहुति में अभक्ष्य पदार्थ (अण्डा-मांसादि) बिल्कुल नहीं होना चाहिए। उन पदार्थों के सेवन करने से प्राण में शक्ति-हीनता और स्वभाव में असुरता आती है।

प्रत्येक ग्रास देते हुए हृदय में यह भाव हो कि हम प्राण भगवान् को आहुति दे रहे हैं। प्रधानतया पाँच प्रकार का प्राण है। यह भावना दृढ़ करने के लिए भोजन के आरम्भ-काल में, आचमन करने के पश्चात् प्रत्येक प्राण के नाम से "प्राणाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा,"–ऐसा बोलकर सात्विक पदार्थों के पाँच ग्रास आहुति दें। ऐसा प्रतिदिन करने से 'मैं भोजन नहीं करता, बल्कि प्राण को आहुति देता हूँ' यह भावना दृढ़ हो जायेगी और भोजन में आसक्ति नहीं रहेगी। इससे स्वाद-बुद्धि का अन्त हो जाएगा और स्वाद का अभाव होने पर वीर्य-रक्षा बड़ी सुगमता से हो जाती है। जो भोजन का संयम नहीं कर सकता, वह वीर्य-रक्षा नहीं कर सकता। वीर्य-रक्षा के बिना बुद्धि आदि में सात्विकता नहीं आती। अतः साधक को भोजन समझ-बूझ कर करना चाहिए। देखो, एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से एक-एक कर्मेन्द्रिय का सम्बन्ध है। जो स्वाद को नहीं जीत पाता, वह उपस्थ को नहीं जीत सकता, जैसे जो सुन नहीं पाता, वह बोल भी नहीं सकता, आदि।

**जीव तथा ईश्वर का स्वरूप क्या है?**

गहराई से देखो, प्रश्नकर्त्ता महानुभाव जीव है या ईश्वर, या दोनों से भिन्न? यदि प्रश्नकर्त्ता को स्वयं अपना पता नहीं, तो जीव-ईश्वर का पता कैसे चला सकते हैं? क्या आपने अपने में से शरीर के संग से उत्पन्न होने वाले भाव का अन्त कर दिया है? यदि कर दिया है, तो अब रुचि क्यों शेष है? देखो, शरीर-भाव का अन्त करने पर भोग-इच्छा का अन्त हो जाता है, क्योंकि शरीर भोग के उपभोग करने का क्षेत्र है। भोग-इच्छा का अन्त होते ही वास्तविक अभिलाषा जाग्रत हो जाती है।

वास्तविक अभिलाषा क्या है? क्या आप सर्वदा एक-सा रहना पसन्द नहीं करते? क्या आप जानना नहीं चाहते? क्या आप दुःख का अन्त करना पसन्द नहीं करते? इन अभिलाषाओं के लिए प्रत्येक मानव मजबूर है। जिसको यह रुचि है, वही जीव है। जिससे इस रुचि की पूर्ति होती है, वही ईश्वर है। जीवत्व उसी समय तक जीवित है, जिस समय तक इस रुचि की पूर्ति नहीं हुई। रुचि की पूर्ति होते ही ईश्वर का ईश्वरत्व और जीव का जीवत्व मिट कर एक ही तत्त्व शेष रह जाता है, जो तत्त्वेत्ताओं का निज-स्वरूप तथा भक्तों का भगवान् है।

जो सर्वदा नहीं रहता, उसको यदि असत् कहते हैं, तो सर्वदा रहने वाला सत् है।

जिसमें ज्ञान नहीं है, उसको यदि जड़ कहते हैं, तो जिसमें ज्ञान है, वह चेतन है। जिसमें दुःख नहीं है, वही आनन्द है।

अतः जीव की वास्तविक रुचि क्या हुई? सत्, चित्, आनन्द पाने की। यह रुचि जिसकी है, वही जीव है और जिससे यह रुचि अभिन्न होती है, वही ईश्वर है, अर्थात् ईश्वर से जीव की जातीय एकता और मानी हुई दूरी है तथा शरीर से मानी हुई एकता और जातीय भिन्नता है।

शरीर से संसार की स्वरूप से एकता है? इसी कारण जब तक शरीर-भाव बना रहता है, तब तक संसार की आवश्यकता प्रतीत होती रहती है, अथवा यों कहो कि कुल संसार एक शरीर है। कुल संसार एक शरीर जान लेने पर कुल संसार से असंगता हो जाती है। जिसको असंगता होती है, वह जीव, और असंग होने पर जिससे एकता होती है, वह ईश्वर है। विषय-विराग होने पर जीव-भाव की अनुभूति, और ईश्वर-भाव होने पर ईश्वर की अनुभूति होती है। यदि ईश्वर और जीव का स्वरूप जानना चाहते हो, तो योग्यता सम्पादन करो। यह प्रश्न हल किया जाता है, सीखा नहीं जाता। विषयी संसार को जान पाता है, विषय-विरागी जीव को जान पाता है और जिज्ञासु तथा भक्त ईश्वर को जान पाते हैं।

**जीव का स्थान कहाँ है?**

जो शरीर पर अपना अधिकार मानता है, वही जीव है। गहराई से देखो शरीर में क्रिया-शक्ति और ज्ञान-शक्ति की झलक प्रतीत होती है, इसलिए पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रियो के स्थल है, यद्यपि एक एक कर्मेन्द्रिय एक एक ज्ञानेन्द्रिय से अभेद है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का कार्य ही कर्मेन्द्रियाँ है। जैसे वाणी का कारण कान है, क्योंकि कान के बिना वाणी काम नहीं करती। जिसने सुना नहीं, वह बोलता भी नहीं। ऐसा ही सम्बन्ध आँख और पैर का, रसना और उपस्थ का, घ्राण और गुदा का और त्वचा और हाथ का है। कर्मेन्द्रियों का निरोध करने पर वह ज्ञानेन्द्रियों में विलीन हो जाती है और ज्ञानेन्द्रियाँ मन में। जो ज्ञान तथा क्रिया की झलक दो विभागों में बँटी हुई थी, वह मन में आकर एक हो जाती है, क्योंकि मन में क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति दोनों का प्रकाश है। मन में संकल्प की क्रिया भी होती है और वस्तु का ज्ञान भी होता है। यदि मन का सम्बन्ध इन्द्रियों से न हो, तो इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं कर पाती। इन सब कारणों से मन में दोनों विभागों की एकता सिद्ध होती है। मन भी बुद्धि की सम्मति के बिना कुछ भी नहीं कर पाता, अतः मन बुद्धि में विलीन हो जाता है। बुद्धि में क्रिया-शक्ति लेशमात्र और ज्ञान-शक्ति की विशेष झलक रहती है। बुद्धि इच्छाओं के अनुसार प्रवृत्त होती है। इच्छाएँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं–

- अपने में किसी प्रकार की कमी न रखने की,
- विषयों के भोग की। ये दोनों अहंभाव में रहती है अतः यही जीव का मुख्य स्थान है।

**सन्त-वाणी**

भोगों का भली प्रकार अनुभव होने पर भोग-इच्छा का अन्त हो जाता है और फिर महान

होने की इच्छा जाग्रत हो जाती है, जिसकी पूर्ति तत्त्व-ज्ञान से होती है।

भोग-इच्छा की पूर्ति के लिए संसार है, अथवा यों कहो कि भोग-इच्छा ही संसार है।

महान होने की अभिलाषा की पूर्ति के लिए ही परमात्म-तत्त्व है। भोग-इच्छा की प्राप्ति का साधन इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि है। बाह्य-विषय-विराग होने पर बुद्धि आदि सम हो जाते हैं। तब जीव समाधि के रस का अनुभव करता है। चूँकि समाधि का उत्थान होता है, इस कारण नित्य रस के अभिलाषी को बेचारी समाधि भी सन्तोष नहीं दे पाती। जब समाधि के रस से भी उपराम होकर व्याकुलता जागृत होती है, तब विचार भगवान् प्रकट होकर नित्यरस के अभिलाषी को अपने से अभिन्न कर लेते हैं और किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती, क्योंकि बोध का उत्थान नहीं होता।

**जगत् क्या है?**

गहराई से देखो, जिसे आप जगत् कहते हैं वह सिर्फ 'आप' की प्रतीति है। प्रतीति–कर्त्ता उसी की प्रतीति कर सकता है, जिससे किसी न किसी प्रकार की एकता हो अथवा किसी प्रकार की भिन्नता हो, क्योंकि एकता के बिना प्रतीति नहीं होती और भिन्नता के बिना भी प्रतीति नहीं होती। अब विचार यह करना है कि भिन्नता क्या है और एकता क्या है? गहराई से देखो, प्रतीति किन साधनों से होती है और कितने प्रकार की होती है? इन्द्रियों के द्वारा जो प्रतीति होती है, वही बुद्धि द्वारा भिन्न प्रकार की मालूम होती है, किन्तु उनमें इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि की प्रतीति अधिक माननीय होती है। इन्द्रियों की प्रतीति में सद्भाव सिर्फ विषयों के राग से होता है। बुद्धि की प्रतीति में सद्भाव राग की कमी से होती है। यदि जगत् के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हो, तो राग का अन्त कर दो, क्योंकि राग होने से यथार्थ दृष्टि उत्पन्न नहीं होगी। राग का अन्त होने पर बुद्धि आदि का काम शेष नहीं रहता और फिर विचार-दृष्टि उत्पन्न होती है, जिससे जगत् अपना ही स्वरूप अनुभव होता है। यह भली प्रकार समझ लो कि जिन साधनों से जगत् की प्रतीति करते हो, उनसे जगत् का अनुभव नहीं कर सकते, अर्थात् जगत् के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकते, क्योंकि वे प्रतीति के साधन जगत् से भिन्न नहीं है। यह नियम है कि असत्य सत्ता का यथार्थ स्वरूप असत्य से असंग होने पर जान सकते हैं। अतः अपने को बुद्धि आदि से असंग कर लो। बुद्धि आदि से असंग होते ही जो अनुभव होता है, उसमे अपने से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता, अर्थात् जगत् अपना स्वरूप जान पड़ता है।

आप बुद्धि की ऐनक से अथवा इन्द्रियों की ऐनक से जगत् की प्रतीति करते हो। इन ऐनकों के उतार देने पर अपने से अपने में अपने को अनुभव करते हो।

एकता तत्त्व-दृष्टि से है, अर्थात् स्वरूप से भिन्नता नहीं है। भिन्नता सिर्फ मानी हुई है, अर्थात् अपने में विषय-जन्य स्वभाव को स्वीकार कर लिया है, यही भिन्नता का कारण है।

**जगत् की प्रतीति जगत् रूप से किसको होती है?**

जगत् की प्रतीति जगत् रूप से (अपने स्वरूप से नहीं) उसी को होती है, जिसने अपने में विषय-जन्य स्वभाव धारण कर लिया है। विषय-जन्य स्वभाव का त्याग करने पर जगत् की सत्ता जगत् रूप से शेष नहीं रहती। विषय-जन्य स्वभाव की प्रतीति क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से भिन्न और कुछ नहीं प्रतीत होता।

**जगत् की जगत् रूप से सत्ता क्या है? विषय-जन्य स्वभाव कौन धारण करता है?**

गहराई से देखो, जिसके बिना जो न रह सके वही उसका कारण होता है। जाग्रत और स्वप्न में विषय-जन्य स्वभाव की प्रतीति होती है, किन्तु सुषुप्ति में विषय-जन्य स्वभाव की प्रतीति नहीं होती, अर्थात् सुषुप्तिकाल में विषय-जन्य स्वभाव, जिसमें विलीन होता है, वही विषय-जन्य स्वभाव धारण करता है।

**विषय-जन्य स्वभाव क्यों धारण करता है?**

यह प्रश्न ही गलत है, क्योंकि कार्य के होते हुए कारण का ज्ञान नहीं होता। कार्य का अन्त होने पर कारण का ज्ञान होता है। अतः विषय-जन्य स्वभाव का अन्त करने पर यह प्रश्न स्वयं हल हो जायेगा। प्यारे, यह प्रश्न हल किया जाता है, इसका उत्तर सुना नहीं जाता, क्योंकि प्रश्नकर्त्ता महोदय ने भी तो विषय-जन्य स्वभाव धारण किया है, वह क्यों नहीं जान लेते कि विषय-जन्य स्वभाव क्यों धारण किया।

**प्रार्थना में सफलता क्यों नहीं होती?**

गहराई से देखो, क्या प्रार्थनाकर्त्ता महानुभाव प्रार्थना तब करते हैं, जब करनी चाहिए? यदि प्रार्थना सफल नहीं हुई, तो उसका कारण यही है कि प्रार्थनाकर्त्ता अनधिकार-चेष्टा करते हैं। प्रार्थना करने का अधिकार तब होता है, जब कर्त्ता अपनी सारी शक्ति समाप्त कर दें, क्योंकि शक्ति रहते हुए सच्ची प्रार्थना नहीं होती। प्रार्थना वास्तव में दुःखी हृदय की आवाज है। दुःखी की आवाज सुन कर दुःख-हारी अवश्य दुःख हर लेते हैं, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। किन्तु जो दिमाग से प्रार्थना करते हैं और हृदय में सन्देह रखते हैं कि जब सफल हो जायेगी, तब दुःखहारी की सत्ता स्वीकार करेंगे, अथवा यों कहो कि जिन्हें सर्व समर्थता पर सद्भाव नहीं है, ऐसे प्रार्थी प्रार्थना कर नहीं पाते। यदि उनकी समर्थता पर सद्भाव होता, तो क्या वाणी अथवा दिमाग से प्रार्थना करनी पड़ती? क्या उनको प्रार्थी की रुचि का ज्ञान नहीं है? यदि है, तो प्रार्थी को वाणी से कहने से क्या लाभ? अथवा चिन्तन करने से क्या लाभ? प्रार्थी के बार-बार चिन्तन करने का अर्थ यही हो जाता है कि या तो प्रार्थी अपने का बचाकर प्रार्थना करता है अथवा अपने इष्टदेव की समर्थता पर श्रद्धा नहीं करता। जो प्रार्थी अपनी सारी शक्ति समाप्त कर सर्व समर्थ इष्टदेव से प्रार्थना करता है, उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। प्रार्थना की नहीं जाती बल्कि होती है, क्योंकि जब अभिलाषा मिटा नहीं पाते और उसके पूर्ण करने की शक्ति नहीं होती, तब जो आवाज हृदय से उत्पन्न होती है, वही प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना एक बार उदय होकर इष्ट में विलीन हो जाती है, अर्थात् वह प्रार्थी का स्वरूप हो जाती है, अथवा यों कहो कि प्रार्थी

सर्वसमर्थ इष्ट में विलीन हो जाता है। यही प्रार्थना का वास्तविक स्वरूप है, जो होने पर सफल अवश्य होती है।

**इष्ट-प्राप्ति के लिये क्या करना चाहिए?**

इष्ट के अभिलाषी को प्रथम अपना निरीक्षण करना चाहिए कि हम इस प्राप्ति के लिए क्या कर सकते हैं? प्यारे, अपना सब कुछ देने पर इष्ट का सब कुछ मिलता है और अपने को दे देने पर इष्ट-प्राप्ति होती है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है।

अपना सब कुछ दे देने की शक्ति तब आती है, जब इष्ट में किसी भी प्रकार का दोष अथवा कमी प्रतीत न हो, क्योंकि जिसमें किसी भी प्रकार की कमी है, वह इष्ट हो ही नहीं सकता। अतः प्रथम इष्ट की निर्दोषता का भली प्रकार अनुभव कर लो।

अपना सब कुछ दे देने का अर्थ यही है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि, अर्थात् अपने से भिन्न सभी वस्तुएँ, जिनमें ममत्व है, इष्ट की सेवा के लिये दे दी जायँ।

अपने को दे देने का अर्थ यही है कि अपना जो कतृत्व और भोक्तृत्वरूप माना हुआ स्वभाव है, उसका नितान्त अन्त कर दें, अथवा यों कहो कि 'मैं और मेरा' का दूसरा स्वरूप 'तू और तेरा' हो जाय। जीवन का ऐसा स्वरूप होने पर ही इष्ट-प्राप्ति हो सकती है।

**सन्त-वाणी**

1. जो मानव संसार की सत्ता से भिन्न और किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं, वे बेचारे यदि अपना बड़े से बड़ा लक्ष्य बनाये, तो यही कर सकते हैं कि संसार के दुःख से दुःखी हो जायँ तथा सुख से सुखी हो जायँ। सिर्फ संसार की सेवा करने के लिए इच्छाशक्ति के अनुसार जीवन हो जाने पर अनेक अलौकिक शक्तियाँ आ जाती है, जिनसे क्षणिक शांति, अर्थात् यश का रस, सेवाभाव का रस, क्रिया-जन्य रस, त्यागाभिमान का रस आदि रसों के आधार पर सिसकते से रहते हैं, अर्थात् पूर्ण शान्ति नहीं पाते।
2. जो मानव संसार से भिन्न सत्ता को भी स्वीकार लेते हैं, वे भी संसार के दुःख से दुःखी होकर प्रेम-पात्र के नाते से संसार की सेवा करते हैं, किन्तु उनका लक्ष्य शक्ति और शांति दोनों ही होते हैं, उनके भाव में यही होता है कि सेवा के लिये शक्ति और अपने लिए शांति प्राप्त हो। अपने संसार से भिन्न सत्ता (प्रेम-पात्र) के समर्पण करने पर बिना माँगे शक्ति और शांति मिलती है, क्योंकि वे अपनी पूर्ति के लिए शरीर तथा संसार की आशा नहीं करते, बल्कि एकमात्र प्रेम-पात्र ही उनका जीवन होता है। उनकी अनुभूति के लिए जो कुछ करना चाहिए, करते हैं। सेवा करते हुए भी सेवाभिमान लेशमात्र भी उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक सेवा के अन्त में प्रेम-पात्र का अथवा अभेद-भाव का अनुभव स्वाभाविक होता है। इसी कारण वे परम शान्ति पाते हैं।

3. जो सत्ता संसार से भिन्न है, वहीं प्रेमी का प्रेम-पात्र है, जिसका स्वरूप अनन्त शक्ति तथा अनन्त शान्ति है अथवा यों कहो कि अनन्त ऐश्वर्य तथा अनन्त माधुर्य है।
4. सेवाभिमान का रस, क्रिया-जन्य रस, यश का रस, विषय-जन्य रस आदि का अन्त करना ही समर्पण की योग्यता सम्पादन करना है। कर्तृव्य-भोक्तृत्व-स्वभाव का अन्त कर देना ही सच्चा समर्पण है।
5. जब तक समर्पण न कर सके, तब तक व्याकुलतापूर्वक समर्पण करने के लिए शक्ति प्रदान करने की प्रेम-पात्र से बार-बार प्रार्थना करता है।
6. सब प्रकार से उनके हो जाने पर प्रेमी का कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता।
7. करने का भय उसी समय तक रहता है, जब तक प्रेमी अपने को बचा रखता है।
8. जो करना चाहिए, उसके करते ही करने की शक्ति जीवित नहीं रहती।

**प्रभु में पूर्ण आसक्ति कैसे हो?**

पूर्ण आसक्ति पूर्ण आवश्यकता होने पर होती है, क्योंकि आसक्ति आवश्यकता के अधीन है।

**मुझे क्या जानना चाहिए?**

दुःखी होते हुए भी दुःख का अनुभव न करना अत्यन्त प्रमाद है। उस प्रमाद के कारण ही, मुझे क्या जानना चाहिए, यह प्रश्न हल नहीं हुआ। प्रमाद मिटाने के लिए प्रतिदिन कुछ न कुछ प्रयत्न करो।

सोने से प्रथम कम से कम एक घण्टा सब कार्य समाप्त होने पर एकान्त में बैठो। वहाँ पर कोई और मानव न हो। उस दिन के किए हुए प्रत्येक कार्य पर दृष्टि डालो और देखो कि आज कोई नया कार्य तो नहीं किया। और फिर यह भी विचार करो कि आज कल जो कुछ करते हैं, वह कब तक करते रहेंगे? सब से अन्तिम कार्य क्या होगा? जब करने की शक्ति नहीं रहेगी, तब क्या करेंगे? जो परिस्थिति कुछ काल पहले थी वह न रही, तो क्या यह बनी रहेगी? जीवन का भविष्य क्या होगा? इस प्रकार के अनेक प्रश्न अपने में उत्पन्न कर दो, ऐसे प्रश्न उत्पन्न होने पर हृदय में एक अजीब उथल-पुथल मच जायगी, जो प्रमाद को हटाने में समर्थ होगी।

वर्तमान परिस्थिति से निराश होते ही यथार्थ जिज्ञासा जाग्रत होगी। यदि निराशा इस प्रकार हो गई है कि संसार की प्रत्येक परिस्थिति का समान अर्थ हो गया है, अर्थात् संसार की कोई भी परिस्थिति सन्तुष्ट नहीं कर पाती, तब तो यथार्थ तत्त्व का अनुभव वर्तमान में ही हो जायगा।

विषय-जन्य स्वभाव से सच्ची निराशा होने पर असंगता आ जाती है। पूर्ण असंगता किसी का संग होती है, अर्थात् असंगता ही यथार्थ तत्त्व के साक्षात्कार में पूर्ण समर्थ है। जो जानना चाहिए, उसका अनुभव करना है, सीखना नहीं कि क्या जानना चाहिए। जानना जिज्ञासु का जीवन है, उससे भिन्न जिज्ञासु को कुछ भी करना शेष नहीं है।

**किसी व्यक्ति या समाज पर कैसे अधिकार किया जाय?**

- जिस व्यक्ति या समाज पर अधिकार करना चाहते हो, तो प्रथम उसकी आवश्यकता की पूर्ति करो।
- उससे अपनी पूर्ति की आशा मत करो।
- उसकी ओर से आने वाले आक्रमणों का अपने पर प्रभाव मत होने दो, अर्थात् उसको लीलावत् समझो।
- उसकी प्रतिकूलता पर विश्वास मत करो, बल्कि उसकी अनुकूलता का चिन्तन करो।

**सन्त-वाणी**

करने के अभिमान से न करने का दुःख कहीं अच्छा है, क्योंकि करने का अभिमान फल में बाँध लेता है और न करने का दुःख हृदय का परिवर्तन करने में समर्थ होता है। हृदय का परिवर्तन होने पर जो करना चाहिए, उसे करने की शक्ति उत्पन्न होती है।

अच्छाई का अभिमान बुराई का मूल है। अभिमान रहित अच्छाई पूजन करने योग्य है।

करने का अभिमान तब तक होता है, जब तक करना सीखा जाता है। कर्त्ता को करने का पूर्ण फल तब मिलता है, जब कर्त्तव्यकर्त्ता का स्वभाव हो जाय। स्वभाव होने पर करने का अभिमान नहीं होता, जिस प्रकार फूल के खिलने पर गन्ध स्वाभाविक फैलती है, किन्तु फूल को यह अभिमान नहीं होता कि मैं गन्ध फैला रहा हूँ।

# २ अप्रेल १९४१

**अन्तःकरण की शुद्धि क्या है?**

गहराई से देखो, जिस प्रकार वस्त्र में बाह्य वस्तुओं का मिल जाना वस्त्र की मलिनता कहलाती है और उन वस्तुओं का जो वस्त्र की जाति से भिन्न है, निकल जाना ही वस्त्र की शुद्धता कहलाती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में विषयादिक स्वभाव का प्रभाव हो जाना ही अन्तःकरण की मलिनता है और उससे विषय आदिका प्रभाव निकल जाना ही अन्तःकरण की शुद्धता है। अन्तःकरण की शुद्धता हो जाने पर उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति होने पर प्रवृत्ति-काल से भिन्न अन्तःकरण स्वयं अपने कारण में विलीन हो जाता है, अर्थात् निर्विकल्प स्थिति की अनुभूति होती है।

निर्विकल्प स्थिति शुद्ध अन्तःकरण की स्वाभाविक अवस्था है। इन्द्रियों की क्रिया का प्रभाव क्रिया के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता, अर्थात् इन्द्रियों की चेष्टा निर्जीव मशीन की भाँति होती रहती है।

जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ चेष्टारहित अवस्था में अन्तःकरण में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार आन्तरिक इन्द्रियाँ चेष्टारहित होने पर निर्विकल्प स्थिति में विलीन हो जाती है। यही अन्तःकरण की शुद्धता है।

**अन्तःकरण की शुद्धता का फल क्या है?**

अन्तःकरण शुद्ध होने पर पूर्ण सत्य की जिज्ञासा जाग्रत होती है, और फिर सत्य की कृपा से स्वयं सत्य का अनुभव हो जाता है। सत्य का अनुभव करने के लिये, अथवा यों कहो कि जीवन की पूर्णता के लिये, अन्तःकरण की शुद्धता परम अनिवार्य है।

**सत्य और अहिंसा से क्या राष्ट्र शासन कर सकता है?**

गहराई से देखो, जिस राष्ट्र से सत्य तथा अहिंसा निकल जाती है, वह राष्ट्र किसी प्रकार शासन नहीं कर सकता, क्योंकि सत्य और अहिंसा की रक्षा के लिये ही राष्ट्र की आवश्यकता होती है। जो गुण स्वयं राष्ट्र के जीवन का स्वरूप नहीं है, भला उस गुण की राष्ट्र रक्षा ही कैसे कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता।

साधारण मानव सत्य और अहिंसा को राष्ट्र की आवश्यक वस्तु नहीं मानते, यह वास्तव में भूल है, क्योंकि धर्म और राष्ट्र इन दोनों का परस्पर समान सम्बन्ध है। जिस प्रकार सेना का विभाग राष्ट्र के जान व माल की रक्षा करता है, उसी प्रकार राष्ट्र धर्म की रक्षा करता है। अतः राष्ट्र धर्म का अंग है और धर्म मानव का जीवन है। जो राष्ट्र मानव-जीवन की पूर्ति में असमर्थ है, वह जीवित नहीं रह सकता।

सभी राष्ट्रों का परिवर्तन तब हुआ है, जब उनमें स्वार्थ की अधिकता और सत्य तथा अहिंसा की कमी हुई है। सत्य की कमी से न्याय की कमी हो जाती है और अहिंसा की कमी से प्रजा का दुःख नहीं दिखाई देता।

जो राष्ट्र न्याय नहीं कर सकता अथवा प्रजा के दुःख से दुःखी नहीं होता, वह भला शासन कैसे कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता।

**हिंसात्मक युद्ध और अहिंसात्मक युद्ध में क्या भेद है?**

हिंसात्मक युद्ध किसी प्रकार विजय प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि शरीररूपी क्षेत्र के तोड़ देने से विचारों का समुदाय मिटाया नहीं जा सकता। अतः हिंसात्मक युद्ध से जो राष्ट्र आज छिन्न-भिन्न दिखाई देता है, वही कालान्तर में घोर प्रबलतापूर्वक पुनः युद्ध करने के लिये समर्थ होता है, क्योंकि उसकी युद्ध की भावना नष्ट नहीं हुई थी। मरने वाला प्राणी पुनः मारने के लिये प्रकृति माता से शक्ति लेकर उत्पन्न होता है। अतः हिंसात्मक युद्ध से विजय किसी प्रकार नहीं हो सकती।

अहिंसात्मक युद्ध से शरीररूपी क्षेत्र को नहीं तोड़ा जाता, बल्कि युद्ध की भावना को मिटाया जाता है। अतः अहिंसात्मक युद्ध से विजय प्राप्त हो सकती है।

**सत्याग्रह करने पर क्या दूसरों को दुःख नहीं होता? यदि होता है तो अहिंसा कैसी?**

सत्याग्रह से जो दुःख दिखाई देता है, वह दुःखी की भूल से उत्पन्न होता है, सत्याग्रही से नहीं, क्योंकि सत्याग्रही के हृदय में दुःख देने का भाव नहीं है और न दुःख देने की क्रिया है। जिस प्रकार प्रह्लाद के हृदय में नृसिंह भगवान के अवतार का भाव नहीं था, वह तो केवल अपने

भाव में निष्ठा रखता था। नृसिंह भगवान के स्वरूप में तो हिरण्यकशिपु का दोष प्रकट हुआ था।

जिस रोगी को औषधि लाभ नहीं कर पाती, उसको प्रकृति माता अपने में विलीन कर स्वास्थ्य प्रदान करती हैं। उसी प्रकार जो सत्याग्रह से नहीं बदलता, उसके बदलने के लिये प्रकृति माता नृसिंह भगवान् के समान आसुरी स्वभाव को धारण कर, सुधार-युक्त नवीन जीवन के लिये अपने में विलीन कर लेती हैं।

**क्या प्रायश्चित से पाप मिट जाता है?**

पर्याप्त प्रायश्चित होने पर निसन्देह पाप मिट जाता है। प्रायश्चित करने का वही अधिकारी है जो फिर पाप नहीं करता और जितना रस उस पाप से उत्पन्न हुआ था, उससे कहीं अधिक व्याकुल होता है।

प्यारे, कर्म का जो अदृश्य है, अर्थात् करने का जो संस्कार अंकित हो गया है, प्रायश्चित का संकल्प उस संस्कार को खा लेता है। अतः निसन्देह प्रायश्चित से क्रियमाण मिट जाता है।

**साधन में सफलता क्यों नहीं प्राप्त होती है?**

गहराई से देखो, जिस प्रकार तृषा-युक्त प्राणी को पानी मिलने पर प्यास की शांति स्वाभाविक हो जाती है और वह प्राणी पानी पी लेता है, क्योंकि आवश्यकतानुसार मिला था, उसी प्रकार जब साधन-कर्त्ता के अनुकूल साधन मिल जाता है, तब वह जीवन का स्वरूप भी हो जाता है और उसमें सफलता भी हो जाती है। साधन में सफलता न होने का कारण यही है कि कर्त्ता साधन करने से प्रथम अपना निरीक्षण नहीं करता, अर्थात् अपनी आवश्यकता को नहीं जान पाता। यदि जान भी लेता है, तो उसको स्थायी नहीं कर पाता। यदि स्थायी भी कर लेता है, तो अनुकूल साधन की खोज नहीं करता। इन सब कारणों से ही साधन में सफलता नहीं होती।

कल्पना करो कि नाम तथा मंत्र आदि के जप में मन नहीं लगता। इसका कारण क्या है? या तो वह साधक उससे ऊपर के साधन का अधिकारी है, या उससे नीचे का। यदि जप का अधिकार होता, तो जप में अवश्य मन लग जाता और सफलता भी हो जाती। किन्तु अधिकार के अनुकूल साधन न होने के कारण उसमें सद्भाव तथा प्रवृत्ति नहीं होती। प्रवृत्ति न होने के कारण साधन की प्रतिकूलता है। दोषों का त्याग करते ही गुणों का उदय अपने आप हो जाता है। यदि किसी की अशुभ प्रवृत्ति है, तो उसको प्रथम उसका त्याग करना होगा। उसका त्याग करते ही शुभ प्रवृत्ति स्वयं हो जायगी। अशुभ प्रवृत्ति वाला उपासना का अधिकारी नहीं है, क्योंकि उपासना करने के लिये पूर्ण आस्तिकता होनी चाहिये। पूर्ण आस्तिकता का उदय तब होता है, जब शुभ कर्म भी कर्त्ता को शांति नहीं दे पाते।

विचार-मार्ग का अनुकरण करने का वह अधिकारी है, जो किसी प्रकार की मानी हुई सत्ता की स्वीकृति नहीं करता, अर्थात् सभी मानी हुई सत्ताओं का त्याग करता है, जिसको कोई भी परिस्थिति रस नहीं दे पाती, अर्थात् जिसकी विषय-निवृत्ति स्वाभाविक है तथा जो वर्तमान में ही सत्य का अनुभव करने में समर्थ है, अर्थात्

जिसको भविष्य की आशा नहीं है, यहाँ तक कि जिसे अपने विचारों में भी आसक्ति का लेश नहीं है, बल्कि यथार्थ निर्णय करने का भाव है, और जिसके राग-द्वेष का नितान्त अन्त हो गया है? क्योंकि यथार्थ निर्णय करने के लिये राग-द्वेष रहित बुद्धि चाहिये। राग, दोष नहीं देखने देता तथा द्वेष, गुण नहीं देखने देता। अतः जो सत्य में प्रवृत्ति और असत्य की निवृत्ति में सर्वदा उद्यत है, वह विचार मार्ग का अधिकारी है।

अनुकूल साधन मिलने पर भी यदि प्रमाद-वश साधक साधन को जीवन का स्वरूप नहीं बनाता और साधन में सद्भाव नहीं करता तथा अपने को बचाता है, अर्थात् पूरी शक्ति नहीं लगाता अथवा अदृश्य की मलिनता के कारण, कोई विक्षेप होने के कारण, साधन का त्याग कर देता है, तो भी सफलता नहीं पाता। अतः साधक को प्रमाद से तथा विक्षेप के भय से साधन का त्याग नहीं करना चाहिये।

साधन का परिवर्तन करना भी साधक की ही कमी है, जैसे एक मंत्र को छोड़कर दूसरे मंत्र का जप करना आदि।

साधन की खोज करने के लिए साधक के हृदय में सच्ची व्याकुलता होनी चाहिये, क्योंकि व्याकुलता की आवाज सद्गुरु के हृदय को मजबूर कर देती है। अधिकारी की अधिकार उसी प्रकार प्रतीक्षा करता है, जिस प्रकार अधिकारी अधिकार की करता है। सच्चे साधक को अनुकूल साधन अवश्य ही प्राप्त होते हैं। अतः साधक को कभी निराश नहीं होना चाहिये। बल्कि व्याकुलता बढ़ाते रहना चाहिये।

**कर्त्तव्य का जन्म कैसे होता है?**

अहं के अनुसार कर्त्तव्य का विधान होता है, क्योंकि अहं के परिवर्तन से कर्त्तव्य का परिवर्तन हो जाता है। कर्त्तव्य और अहं का एक स्वरूप होने पर कर्त्ता आदर पाता है और अन्त में उस कर्त्तव्य से मुक्त भी हो जाता है। अहं का अन्त होने पर कर्त्तव्य का अन्त हो जाता है। अतः कर्त्तव्य माने हुए अहं की रक्षा करता है और माना हुआ अहं कर्त्तव्य का विधान करता है।

**सन्त-वाणी**

प्रथम शरीर को देखो कि वह क्या है? फिर संसार को देखो, अपने को देखो और ईश्वर को देखो।

## ३ अप्रेल १९४१

**मल-दोष क्या है?**

अपनी पूर्ति के लिये शरीर तथा संसार की आशा करना ही मल-दोष है।

**मल-दोष की निवृत्ति कैसे होती है?**

प्रेम-पात्र के नाते से सेवाभाव पूर्वक नियमानुसार कर्म करने पर मल-दोष की निवृत्ति होती है।

**भेद उपासना तथा अभेद उपासना में क्या अन्तर है?**

भेद उपासना करने वाला भक्त अपने प्रेम-पात्र को अपने से भिन्न किसी प्रतीक में अनुभव करता है, इसी कारण तन्मयता आदि भाव-जन्य रस का अनुभव होने पर भी उसमें वियोग रस रहता है तथा उसे स्वभाव से ही निरन्तर स्मरण, चिन्तन और ध्यान भी होता रहता है। परन्तु अभेदोपासक अपने प्रेम-पात्र को अपने में ही अनुभव करता है, अर्थात् शरीर-भाव का अन्त कर देता है। इसी कारण चिन्तन-रहित स्थिति को प्राप्त कर अभेद के आनन्द का अनुभव करता है। उसके लिये करने का तथा वियोग का नितान्त अन्त हो जाता है।

**कृपापात्र कौन हो सकता है?**

गहराई से देखो, कृपा-पात्र वही है जो सिर्फ एक ही कृपालु की कृपा की आशा करता है और जो अपनी सारी शक्ति समर्पण कर केवल कृपा पर ही पूर्ण भरोसा करता है। अतः एकमात्र जिसका कृपा ही सहारा है, वही कृपापात्र है। ऐसे कृपापात्र पर कृपा करने के लिए कृपालु मजबूर हो जाते हैं। कृपा-पात्र में करने की शक्ति शेष नहीं रहती, क्योंकि उसके सभी साधन कृपा में विलीन हो जाते हैं। कृपा का सहारा वही लेते हैं, जो अपने प्रेम-पात्र के प्रभाव को पूर्णतया जानते हैं।

**सन्त-वाणी**

साधन ही साधक का जीवन है। साध्य की अनुभूति होने पर ही साधक तथा साधन का अन्त होता है। साधक का जीवन होते हुए साधन का अन्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये दोनों अभेद हैं। जो साधन साधक का जीवन नहीं होता वह वास्तव में साधन नहीं है।

**राग और द्वेष क्या है?**

गुण होते हुए भी अपना न सके, यही द्वेष है, और दोष होते हुए भी त्याग न सके यही राग है।

**राग किससे करते हैं और द्वेष किससे करते हैं?**

साधारण प्राणी शरीर आदि में अनेक दोष होते हुए भी शरीर आदि का त्याग नहीं करते। यद्यपि अभिलाषा निर्दोष तत्त्व की है, किन्तु राग के कारण जिसका त्याग करना चाहिये, नहीं कर पाते। सत्य (ईश्वर) में अनन्त गुण होते हुए भी साधारण प्राणी उससे अभिन्न नहीं हो पाते, अर्थात् उससे द्वेष करते हैं, यद्यपि चाहिये प्रेम करना। शरीर आदि का त्याग और सत्य का प्रेम वास्तव में पूर्ण जीवन है।

**पाप क्या है?**

- अपनीप्रसन्नता, अपने से भिन्न किसी अन्य के आश्रित जीवित रहे, यही पाप है। यद्यपि यह बात सुनने में अजीब सी मालूम होती है, किन्तु है सब प्रकार से सत्य। गहराई से देखो, पापयुक्त प्रवृत्ति कब होती है? जब हमको अपने से भिन्न की आवश्यकता होती है। अपने से भिन्न की आवश्यकता कब होती है? जब हम अपने में सीमित भाव (शरीर आदि) मान लेते हैं। सीमित भाव मानते ही आस्तिकता का अन्त हो जाता है, क्योंकि जिसकी (निज-स्वरूप) सत्ता हर काल में है और जो स्वाभाविक परम प्रिय है,

उसका त्याग कर हम अपने को अनेक कल्पनाओं में बाँधकर, अनन्त वासनाओं के जाल में फँस जाते हैं। भला बताओ तो सही, इससे बड़ा पाप और क्या होगा?

- अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया हो उसके विपरीत करना पाप की प्रवृत्ति है, क्योंकि संस्कार-युक्त (वर्णाश्रम के अनुकूल) अहं की रक्षा करना कर्त्तव्य है। उसकी रक्षा न करना, की हुई कल्पना के विपरीत है, अतः पाप है, क्योंकि अहं के अनुसार क्रिया करने पर ही उस अहं से पार हो सकता है, अतः इस दृष्टि से भी अहं के विपरीत क्रिया करना पाप है।
- जो सीमित की ओर ले जाय वही पाप है।

**पुण्य क्या है?**

- अपनी प्रसन्नता केलिये अपनेसे भिन्न किसीकी ओर न देखना अर्थात् अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना, यही परम पुण्य है।
- जिसको अपनी ओर से जैसा मान लिया है, उसके प्रति उसके हित के लिये अपने माने हुए भाव के अनुसार सेवा करना पुण्य है।
- जिससे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति हो वही पुण्य है।

**सन्त-वाणी**

यदि कोई कार्य ऐसा हो जिससे शारीरिक उन्नति होती हो, किन्तु मानसिक अवनति, तो ऐसी अवस्था में मानसिक उन्नति का अधिक ध्यान रखना चाहिये और मानसिक उन्नति की अपेक्षा आत्मिक उन्नति का अधिक ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि आत्मिक उन्नति होने पर और किसी उन्नति की आवश्यकता नहीं रहती और मानसिक उन्नति होने पर शारीरिक उन्नति की आवश्यकता नहीं रहती।

विषयासक्त होने पर जीवन की जो अवस्था होती है, वही पशु जीवन है, क्योंकि उस अवस्था में स्वतंत्रता लेशमात्र भी शेष नहीं रहती। पराधीनता जीवन का स्वरूप हो जाती है।

जिसका जीवन दूसरों की पूर्ति के लिये है, अर्थात् जिसने शरीर को संसार के हित में लगा दिया है, उसका जीवन मानव जीवन है, क्योंकि ऐसा जीवन होने पर ही विषयासक्ति का अन्त हो जाता है।

शरीर संसार के लिये और अपने को सत्य के लिये समर्पण करने पर ईश्वरीय जीवन का आरम्भ होता है। इस जीवन का स्वरूप क्या है? उसका कथन सिर्फ संकेतमात्र है, क्योंकि वाणी आदि में कथन करने की शक्ति नहीं है। सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि ईश्वरीय जीवन से ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है।

राग-द्वेष-युक्त जीवन अपूर्ण है। त्याग-प्रेम-युक्त जीवन पूर्ण है। त्याग करने योग्य वस्तुओं का त्याग न करने पर राग उत्पन्न होता है। प्रेम-पात्र से (जो निर्दोष तत्त्व)प्रेम न करने पर द्वेष उत्पन्न होता है। राग त्याग से और द्वेष प्रेम से मिट जाता है। त्याग से असंगता और प्रेम से अभिन्नता होती है। प्रेम प्रेम-पात्र से तथा त्याग संसार का होता है। जो इसके विपरीत करते हैं,

वे बेचारे दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलते रहते हैं।

प्रेम प्रेम-पात्र का स्वरूप है, संसार का नहीं, क्योंकि चाह-युक्त प्राणी प्रेम नहीं कर सकता।

विषयी विषयों की पूजा करता है, इसलिए दीन होता है। प्रेमी प्रेम-पात्र की पूजा करता है, इसलिए पूर्ण होता है, क्योंकि प्रेम-पात्र स्वतंत्र और विषय परतंत्र हैं। परतंत्र का पुजारी परतंत्रता और स्वतंत्रता का पुजारी स्वतंत्रता पाता है।

जो शरीर आदि वस्तुएँ निरन्तर त्याग कर रही हैं उनका त्याग करने पर उनकी ओर (प्रेम-पात्र की ओर) अपने आप ही हो जाओगे। अथवा यों कहो कि वह स्वयं अपना लेंगे। त्याग क्रिया नहीं है, बल्कि असंगता है। क्रिया रूप से तो सभी का त्याग हो ही जाता है, किन्तु राग के कारण स्वरूप से त्याग होने पर भी त्याग नहीं होता। सच्चा त्याग जीवन में ही हो सकता है, क्योंकि राग अविचार से उत्पन्न हुआ, अतः विचार से मिट जाता है।

दुःखी तथा दीन में काफी भेद है। दीन वर्तमान परिस्थिति पर सन्तुष्ट सा रहता है, अर्थात् उसे बदलने में भय करता है और दुःखी वर्तमान परिस्थिति बदलने के लिये सब कुछ करता है, अर्थात् उस परिस्थिति को किसी प्रकार रहने नहीं देता। अतः दीन हीनता की अग्नि में जलता रहता है और दुःखी आनन्द पाता है।

## ३ दिसम्बर १९४१

सत्य का अनुभव असत्य के त्याग से होता है। त्याग वर्तमान में और कर्म भविष्य में फल देता है। कर्म से संसार में बड़े से बड़े पद प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु सत्य का अनुभव किसी प्रकार नहीं हो सकता। यद्यपि संसार से किसी काल में भी स्वरूप से एकता नहीं होती, सिर्फ मानी हुई एकता के आधार पर संसार का अनुभव करते हैं। मानी हुई एकता विचारपूर्वक त्याग करने से मिट जाती है, क्योंकि स्वरूप से होती नहीं और उसी काल में फिर स्वयं सत्य का अनुभव हो जाता है। त्याग करने के लिये कर्त्ता सर्वकाल में स्वतन्त्र है, क्योंकि जो करना चाहिये उसकी शक्ति कर्त्ता में सर्वकाल विद्यमान रहती है। कर्त्तव्य पूरा करने पर कर्त्ता का अन्त हो जाता है। कर्त्ता का अन्त होते ही अपने आप सत्य का अनुभव हो जाता है। सच्चा समर्पण जीवन में एक बार होता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

इच्छा रहित होने पर व्यक्तित्व का अभिमान गल जाता है, अर्थात् फिर अपने से बड़ा तथा छोटा कोई दिखलाई नहीं देता और फिर हृदय आनन्द से भर जाता है और सुख तथा दुःख की अग्नि सदा के लिये शान्त हो जाती है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

इच्छाओं का कम हो जाना कुछ भी अर्थ नहीं रखता, क्योंकि जिस प्रकार एक बीज में अनन्त वृक्ष छिपे रहते हैं, उसी प्रकार एक इच्छा में अनन्त इच्छाएँ छिपी रहती है। गहराई से देखो, इच्छाओं का मूल आधार स्वरूप का प्रमाद अर्थात् अज्ञान है, जो संसार की प्रतीति का कारण

है। यह सभी जानते हैं कि कारण से कार्य भिन्न नहीं होता।

## १५ दिसम्बर १९४१

आपका कर्त्तव्य वही है, जो आप कर सकते हैं। जो आप नहीं कर सकते, वह आपका कर्त्तव्य नहीं है। कर्त्तव्य पालन करने पर वही मिल जाना चाहिये, जो आप चाहते हैं। मिटाने की अभिलाषा उसी वस्तु की होती है, जो मिट सकती है और पाने की अभिलाषा उसी वस्तु की होती है, जो मिल सकती है। मिट वही सकती है जो स्वरूप से न हो। मिल वही सकती है, जो स्वरूप से हो। मिटाना उसी को चाहते हैं, जिसकी आवश्यकता न हो। और प्राप्त उसी को करना चाहते हैं जिसकी आवश्यकता हो। अज्ञान को मिटाने की और ज्ञान को पाने की आपने अपनी रुचि प्रकट की है। अज्ञान यदि स्वरूप से होता तब तो न तो मिटाने की रुचि होती और न मिट सकता था। मिटाने की रुचि होती है, इसलिये यह भली प्रकार समझ लो कि अज्ञान स्वरूप से कोई वस्तु नहीं है, सिर्फ मानी हुई वस्तु है। मानी हुई वस्तु अविचार के आधार पर प्रतीत होती है और विचार से मिट जाती है। आपने विचार करने की शक्तिहीनता भी लिखी है, परन्तु यह आपके दिमाग की बात है, हृदय की नहीं। जो प्राणी अपने हृदय में निर्बलता का अनुभव करता है, उसको बड़ी व्याकुलता होती है, क्योंकि अपनी दृष्टि से अपने को निर्बल अनुभव करते ही सबसे अधिक दुःख होता है। दुःखी की विचार करने की शक्ति स्वयं जाग्रत हो जाती है। दुःखी की कमी उसी समय तक रहती है, जब तक प्राणी अपनी दृष्टि से अपने में कमी का अनुभव नहीं करता। प्यारे, करने की शक्ति का अन्त होने पर तो सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, क्योंकि जो 'कुछ नहीं करता' वह सबसे बड़ा है, यहाँ तक कि वह ईश्वर का भी ईश्वर तथा गुरुओं का गुरु, प्रेमियों का प्रेम, ज्ञानियों का ज्ञान, अर्थात् सबका सब कुछ है। कुछ न करने के लिये ही सब कुछ किया जाता है। यदि करने की शक्ति न होती, तो कुछ अभिलाषा भी न होती। जिसमें अभिलाषा होती है उसमें करने की शक्ति अवश्य होती है। अब विचारदृष्टि से देखो, आपको कभी भी गवर्नर होने की अभिलाषा नहीं होती, परन्तु आनन्द पाने की अभिलाषा अवश्य होती है। गवर्नर होने की अभिलाषा इसलिए नहीं होती कि उसके साधन आपके पास विद्यमान नहीं है। आनन्द पाने के साधन आप में विद्यमान हैं, इसलिए आनन्द पाने की अभिलाषा आपको होती है। अतः आनन्द से निराश होना परम भूल है। आनन्द आपकी प्रतीक्षा कर रहा है। आप एक बार उसकी ओर देखिये तो सही। ऐसा करते ही आप उसके और वह आपका हो जायगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जिसको देखना आता है, वह अपनी रुचि के अनुसार इधर से उधर देख सकता है। वह संसार से विमुख होकर आनन्द की ओर देख सकता है। जो राग-द्वेष कर सकता है, वह त्याग-प्रेम भी कर सकता है। अतः यह बात बिल्कुल भूल जाओं कि 'मैं कुछ नहीं कर सकता'। आप अपनी सद्भावपूर्वक की हुई सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में सर्वदा समर्थ है।

## ४ जनवरी १९४१

'कुछ न करना' अथवा 'सब कुछ करना' इन दोनों का अर्थ एक है, परन्तु 'कुछ' करने से बड़ी अवनति होती है, क्योंकि कुछ करने से 'कुछ' की ओर जाना पड़ता है, जो 'सब कुछ' से विमुख कर देता है। 'कुछ न' होने पर तो 'सब कुछ' मिल जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। सच्ची शक्तिहीनता होते ही अनन्त शक्ति बिना बुलाये आ जाती है, अथवा बिना माँगे मिल जाती है, क्योंकि सीमित शक्तियों का अभाव होते ही असीम शक्ति से संग हो जाता है। अपनी कमी का ज्ञान होना बड़े सौभाग्य की बात है। कमी का ज्ञान होने पर कमी से और संसार का ज्ञान होने पर संसार से सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि अनुकूलता का ज्ञान होने पर संग और प्रतिकूलता का ज्ञान होने पर असंग स्वयं हो जाता है। 'कुछ नहीं' कर सकते तो कोई बात नहीं, किन्तु 'करने' की अभिलाषा भी मत करो, क्योंकि प्रेमी की चाह को प्रेम-पात्र भली प्रकार जानता है। उनके दरवाजे की ओर देखने के सिवा भला प्रेमी कर भी क्या सकता है? क्योंकि बेचारे प्रेमी के लिये तो और सभी दरवाजे बन्द हो जाते हैं। उनके दरवाजे का भिखारी भिखारी नहीं रहता, बल्कि वही हो जाता है। प्यारे, प्रेम-पात्र का संग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना बेकार है।

## ८ जनवरी १९४१

प्रेम-पात्र का संग कर अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है, जो किसी भी प्रेमी को शोभा नहीं देता। चिन्तन, ध्यान आदि अथवा संग में बड़ा भेद है। ध्यान आदि से माना हुआ अहंभाव दब जाता है, क्योंकि चिन्तन, ध्यान आदि से कुछ न कुछ दूरी अवश्य रहती है और संग से किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता। चिन्तन, ध्यान आदि अनेक बार करना पड़ता है और संग सिर्फ एक बार करना पड़ता है अर्थात् फिर करने का अन्त हो जाता है। जब प्राणी सज्जनता का अभिमानी (अर्थात् साधन जनित सुख में आसक्त) होकर अपने जीवन को संतोष जनक पाता है, तब चिन्तन ध्यान आदि करता है और उस जीवन अर्थात् अवस्था से अरुचि होने पर प्रेम-पात्र के समर्पित हो उससे संग करता है, जिसके होते ही प्रेमी प्रेम होकर प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है, बस यही संग और चिन्तन-ध्यान आदि में भेद है। जीवन का स्वरूप क्या है, यह भली प्रकार यथार्थ जान लेने पर जीवन से अरुचि अपने आप हो जाती है गुण युक्त जीवन से सुख तथा दोषयुक्त जीवन से दुःख जीवन के अभिमानी को ही होता है–यह सभी जानते तथा मानते हैं परन्तु इतने ही से जीवन के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होता। सुखी जीवन से भी दूसरों को दुःख होता है। यह बात सुनने में तो अजीब सी मालूम होती है, परन्तु विचारदृष्टि से देखिए कि दुःख का जन्म

कब होता है? जब प्राणी अपने से किसी विशेष व्यक्ति को सुखी देखता है, तब उसके हृदय में दुःख का जन्म होता है, क्योंकि यदि निर्धन को कोई धनी दिखाई न दे, तो निर्धनता का दुःख कुछ नहीं होता। अतः सुखी जीवन ने दुःख को जन्म दिया। सुखी जीवन न तो दूसरे को सुखी बना सकता है, न दूसरे की उन्नति कर सकता है। पूर्ण दुःखी (अधूरा दुःखी नहीं) अपनी उन्नति तथा दूसरे को सुख प्रदान करने के लिए सर्वथा समर्थ है, क्योंकि दुखियों के बिना सुखियों की सत्ता कुछ नहीं रहती। इस दृष्टि से प्यारा दुःखी पूजन करने के योग्य है। दुखियों का पूजन करने पर, जीवन की दोषरहित अवस्था में भी दुःख का अनुभव हो जाता है, जो उन्नति का मूल है। पूर्ण दुःख होने पर दोषयुक्त जीवन का अन्त हो जाता है। अधूरा दुःख अर्थात् सुख की आशा के आधार पर दोषयुक्त जीवन जीवित रहता है। दोषयुक्त प्राणी अपने को दुःखी करता है तथा दूसरे को भी दुःखी करता है, और गुण युक्त प्राणी अपने को सुखी करता है तथा दूसरे को दुखी करता है। इस दृष्टि से गुण युक्त प्राणी दोषयुक्त प्राणी की अपेक्षा श्रेष्ठ है, परन्तु गुणों का अभिमानी प्रेम-पात्र से विमुख अवश्य रहता है। विचार दृष्टि से देखो, सुखी जीवन से दूसरों को दुःख और मृत्यु से भी दूसरों को दुःख (मृत्यु भी जीवन की एक अवस्था है, क्योंकि मृत्यु से शरीर का संग नहीं छूटता), इस दृष्टि से जीवन का स्वरूप क्या है? केवल दुःख। इस प्रकार जीवन का स्वरूप जान लेने पर जीवन से अरुचि अवश्य हो जाती है। अरुचि होने पर जीवन तथा संसार से असंगता होती है, जो उन्नति का मूल है, क्योंकि किसी की असंगता से ही किसी का संग होता है। अतः प्रेम-पात्र का संग करो। प्रेम-पात्र वही है जो सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् जिसके समान दूसरा नहीं है। वह सभी प्राणियों का एक है, अनेक नहीं। उससे संग करने के लिए अभिलाषा होने पर सभी प्राणी समर्थ हैं, क्योंकि वह किसी का तिरस्कार नहीं करता। उसके सिवा दुःखी को अपनाने के लिए सभी असमर्थ हैं, अथवा यों कहो कि उससे भिन्न सभी दुःखी हैं। दुःखी को दुःखी कैसे अपनायेंगे? अर्थात् नहीं अपना सकते। प्रेम-पात्र का संग न करना ही दुःख का मूल है, जो दुःखी की अपनी भूल से हुआ है। दुःखी का दुःख उसी समय तक जीवित है जब तक अभागा दुःखी सुख की आशा में सुखियों की ओर देखता है। सुख तथा सुखियों से असंग होते ही दुःख का सदा के लिये अन्त हो जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

## ९ जनवरी १९४१

जीवन का सदुपयोग क्या है? हृदय में जो अविचार के कारण दीनता तथा अभिमान की अग्नि जलती है उसका अन्त कर देना ही वास्तविक जीवन का सदुपयोग है। दीनता कब आती है? जब अपने से किसी विशेष को देखते हैं। अभिमान कब आता है? जब अपने से छोटा देखते हैं। छोटा-बड़ा कब दिखाई देता है? जब अपने को शरीर समझते हैं। अतः अपने को शरीर से ऊपर उठा लेना ही जीवन का सदुपयोग है। ऐसा करने से दुःख का अन्त हो

जायगा, हृदय शुद्धप्रेम से भर जायगा, सब कुछ अपने में ही अनुभव होगा, अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न किसी और की आवश्यकता न रहेगी और सारा विश्व अपनी अवस्था के सिवा और कुछ न रहेगा।

प्यारे, ब्रज तो वास्तव में प्रेमी का हृदय है, क्योंकि उसमें ही प्रिया-प्रीतम निवास करते हैं। व्याकुलतापूर्वक प्यारे से मिलने की जो रुचि है, वही प्रिया का स्वरूप है और वह रुचि जिसमें विलीन हो जाती है, वही प्रीतम का स्वरूप है। प्रिया-प्रीतम का मिलन ही जीवन का परम लक्ष्य है।

उनकी कृपा पर निर्भर हो जाना भक्ति-भाव की दृष्टि से सर्वोतम साधन है। परन्तु उनके संग के बिना चैन से रहना परम भूल है। संग कैसे हो? इस पर विचार करो। करना कब तक है? जब तक करने की शक्ति है। करने की शक्ति मिटने पर संग, तथा संग होने पर करने की शक्ति मिट जाती है। करने का जन्म कब होता है? जब किसी प्रकार की चाह (प्रेम-पात्र तथा संसार की) होती है। चाह कब तक होती है? जब माने हुए स्वरूप पर विश्वास करते हैं। 'मैं भक्त हूँ' यह भी माना हुआ स्वरूप है, अथवा 'मैं स्त्री हूँ' 'मैं अमुक हूँ' यह सभी माने हुए स्वरूप हैं। वास्तव में 'मैं क्या हूँ' इसका पता लगाना है। माने हुए 'मैं' के अनुसार करने का भाव अपने आप उत्पन्न होता है। अहंभाव के बदलने से कर्त्तव्य बदल जाता है और अहंभाव के मिटने से कर्त्तव्य मिट जाता है। जबसे यह भाव हुआ है कि 'मैं उनकी हूँ' तबसे उनकी कृपा का सहारा हो गया, परन्तु उनकी होकर उनसे दूर रहना प्रेम का अधूरापन है, जो प्रेमी को शोभा नहीं देता। चिन्तन, ध्यान, सज्जनता तथा भाव के रस के आधारपर 'मैं' को जीवित मत रक्खो, जो दौड़ता फिरता है। प्रेम-पात्र वही करते हैं, जो प्रेमी चाहता है, उनकी कृपा अभिलाषा की पूर्ति करती है। अभिलाषा का अन्त होने पर संग होता है। ध्यान आदि से समीपत्व होता है, एकता नहीं। एकता संग से होती है, संग माने हुए अहंभाव के मिटाने पर होता है। मिलना पतंग-दीपक जैसा और वियोग जल-मछली जैसा होना चाहिये। वियोग का बढ़ा हुआ दुःख स्वयं योग हो जाता है, क्योंकि वियोगी की सत्ता दुःख की अग्नि में जल जाती है।

जीवन की सुन्दरता स्वाधीनता में है, जो सभी से असंग होने पर मिलती है। चिन्तन, ध्यान अनेक बार और संग एक बार होता है। संग होने पर करने का अन्त हो जाता है। वे करा रहे हैं, यह भी भाव नहीं रहता। यह हो रहा है, इसमें भी सद्भाव नहीं रहता। क्या होता है? वही जाने। क्या जानना है? जो अभिलाषा थी। अभिलाषा क्या थी? दुःख न हो। दुःख कब होता है? जब अपने से किसी विशेष को देखता है, अर्थात् संग होने पर अपने से भिन्न अपने प्रीतम को नहीं पाता। प्रीति-रस की दृढ़ता के लिए प्रेम-पात्र का वियोग आवश्यक है।

# १४ जनवरी १९४१

जिस प्रकार खेत में अनेक प्रकार के बीज बोये जाते हैं, प्रत्येक बीज अपने स्वभाव के अनुसार खेत के स्वभाव का कथन करता है। यद्यपि सभी सत्य कहते हैं, किन्तु फिर भी एक दूसरे से भिन्नता मालूम होती है। उसी प्रकार अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक जिज्ञासु सत्य के स्वरूप का कथन करते हैं। जब सत्य एक है, तो ऐसा क्यों प्रतीत होता है? इस पर यदि विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि अपने स्वभाव के अनुसार सत्य के स्वभाव को देखते हैं, यद्यपि सत्य अनन्त प्रकार के स्वभाव की पूर्ति करते हुए भी स्वभाव से अतीत है। विचारदृष्टि से देखो, जैसे खेत मिर्च को चरपराहट और ईख को मिठास देता है, यद्यपि खेत न मीठा है न चरपरा, वह तो सिर्फ ईख के मिठास की और मिर्च के चरपराहट की पूर्ति करता है, उसी प्रकार सत्य विषय-युक्त प्राणियों के स्वभाव के अनुसार प्रकट हो उसकी पूर्ति कर, उनको उस स्वभाव से ऊपर उठा, अपने अनन्त स्वभाव में विलीन कर, अपने से अभिन्न कर लेता है। प्यारे, अपनी रुचि की खोज करो। जो तुम्हारी रुचि है तुम उसी को जान सकोगे। यदि रुचि का अन्त कर दो तो स्वयं सत्य से अभिन्न हो जाओगे। क्या तुम कभी दुःखी होना चाहते हो? यदि यह कहो कि नहीं, तो इसका अर्थ यही होगा कि सत्य वही होगा जिसमें दुःख न हो। दुःख कब होता है? जब आप अपने से किसी विशेष वस्तु को देखते हैं अर्थात् आपकी रुचि यही कहती है कि हम सबसे विशेष होना चाहते हैं। संसार आपको सबसे विशेष करने के लिये असमर्थ है, परन्तु जब आप संसार को त्याग 'मेरी' ओर देखेंगे तो 'मैं' उस रुचि की पूर्ति करने के लिए समर्थ हूँ। यही 'मेरा' स्वरूप है। आपका काम सिर्फ 'मेरी' ओर देखना है, इसके सिवा जो कुछ करना होगा, वह स्वयं 'मैं' करूँगा। जो 'मेरी' ओर नहीं देखता उसकी ओर 'मैं' कभी नहीं देखता। परन्तु आप जिसकी ओर देखते हो 'मैं' उसी स्वभाव को धारण कर आपकी पूर्ति करता हूँ, परन्तु ऐसी दशा में आप 'मेरे' पूर्ण स्वरूप को नहीं जान सकोगे। 'मेरे' पूर्ण स्वरूप को तब जान सकोगे जब आप अपने विषय-जन्य स्वभाव को त्याग कर अकेले हो सिर्फ 'मेरी' ओर देखोगे। सच्चे जिज्ञासु मुझसे 'अभिन्न होकर' ही 'मुझे' जानते हैं, 'मुझसे' भिन्न होकर 'मुझे' नहीं जान पाते। अतः मेरे जानने के लिए अपने बनावटी स्वभाव को मिटा दो।

जो अपने को समर्पित कर देता है वही कृपा का अधिकारी है। कामना-युक्त प्राणी समर्पण कर नहीं पाता। अतः कामनाओं का त्याग कर कृपा-पात्र बनो, कृपा स्वयं आपके पैर पलटेगी। रुचि के स्थायी होने पर व्याकुलता उत्पन्न होगी, व्याकुलता बढ़ जाने पर कामनाओं का अन्त होगा, कामनाओं का अन्त होते ही सफलता स्वयं हो जायेगी। इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

## १६ जनवरी १९४१

जो जिसका हो जाता है, वह उसके बिना रह नहीं सकता, अर्थात् फिर वियोग कहाँ? वियोग मिटने पर मिलने की अभिलाषा कैसी? मिलने की अभिलाषा तो न मिलने को सिद्ध करती है और न मिलना तब तक जीवित है जब तक हम उनके नहीं हो जाते।

जब हम वह करते हैं, जो करना चाहिये, तब क्या वे वह नहीं करते जो उसको करना चाहिये? यदि वे ऐसे हैं तो उनसे मिलने से क्या लाभ? जिसमें करने की शक्ति नहीं होती, उसमें कोई अभिलाषा भी नहीं होती, जिसमें अभिलाषा होती है, उसमें करने की शक्ति अवश्य होती है। अभिलाषा होते हुए 'मैं कुछ नहीं करता' ऐसा कहना अपने आपको धोखा देने के सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता। अपने आपको धोखा देना सबसे बड़ा पाप है। अपने को समर्पित करने पर किसी प्रकार की भी कमी शेष नहीं रहती, ऐसा भली प्रकार अनुभव हुआ है।

## १७ जनवरी १९४१

साधन करने से पहले साधक को यह विचार करना चाहिए कि हम साधन किसलिये करते हैं, अर्थात् हम क्या चाहते हैं। जो प्राणी अपनी चाह का पता लगा लेता है उसका मन साधन में अपने आप लग जाता है, क्योंकि बेचारा मन तो आपकी चाह के अनुसार काम करता है। आपकी आज्ञा के बिना आपका मन कभी कुछ नहीं करता। जिन कामों में आपको रस आता है, उन कामों में आपका मन लग जाता है। इसलिये उस रस को मिटाओ, जो काम करने में प्रवृत्त करता है, विचार तो करो कि जिन कामों को अनेक बार किया है फिर भी वे काम आपको वह नहीं दे सके, जो आप चाहते हैं। इससे यह मालूम होता है कि अब तक जो हम कर चुके हैं, उससे भिन्न अभी हमें करना है। उसका पता तब चलेगा, जब जो आप करते हो उसका त्याग करोगे।

देखो बुराई का त्याग होने पर अच्छाई उत्पन्न होती है। अच्छाई किसी से सीखी नहीं जाती। सीखी हुई अच्छाई अच्छाई नहीं होती, क्योंकि ठहरती नहीं। जो तुम चाहते हो, उसके न होने का दुःख बढ़ाओ, क्योंकि दुःख के बिना विकार मिट नहीं सकते। प्रत्येक प्राणी चाह उत्पन्न होने पर जब चाह पूरी नहीं होती, तब स्वयं अपने आप दुःखी होता है। अतः अपनी अभिलाषा को स्थायी करो। अभिलाषा स्थायी होने पर दुःख अपने आप स्थायी हो जायगा। जो दुःख कभी-कभी होता है वह आपका नहीं है। वह तो सिर्फ बाहर की सीखी हुई अच्छाई है।

कोई भी प्रेमी प्रेम-पात्र के बिना चैन से नहीं रहता। प्रेमी के लिए प्रेम-पात्र का दरवाजा सर्वदा खुला रहता है। प्रेम-पात्र प्रेमी से कहीं अधिक प्रेम करता है। अभागा प्रेमी तो एक बार भी प्रेम-पात्र की ओर नहीं देखता, क्योंकि एक बार देखने पर तो प्रेमी का प्रेम-पात्र से अभेद हो

जाता है। विचारदृष्टि से देखो, प्रेम-पात्र के बिना मिले जो प्रेम-पात्र की याद आती है, वह तो उनकी कृपा है, क्योंकि मिलन सिर्फ एक बार होता है। देखो, मिलन होने पर याद नहीं आती। जब याद आती है, तो इसका अर्थ यही है कि वे आपको बुलाते हैं। साधारण प्राणी उनके बुलाने पर भी उनकी ओर नहीं देखते, परन्तु परम दयालु फिर भी बुलाना बन्द नहीं करते।

देखो, प्रत्येक प्राणी आनन्द की अभिलाषा करता है। आनन्द प्रेम-पात्र का स्वरूप है। सच्चा भजन जीवन में सिर्फ एक बार होता है। संसार से विमुख होकर प्रेम-पात्र की ओर जाना ही सच्चा भजन है। जप आदि के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है तथा अपने को धोखा देना है। प्रेमी के हृदय में मिलने का भाव उत्पन्न होने पर मिलने पर ही अन्त होता है। जब तक मिलना नहीं होता तब तक लगातार हृदय व्याकुलता की अग्नि में जलता है। व्याकुलता के सिवाय प्रेम-पात्र से मिलने का और कोई मार्ग नहीं है। व्याकुलता होने पर हृदय का दरवाजा खुल जायगा, भय मत करो। सच्चाई प्राप्त करने का सभी को अधिकार है, परन्तु पाता वही है, जो सच्चाई के बिना किसी प्रकार नहीं रह सकता, ऐसा मेरा अनुभव है।

## २४ जनवरी १९४१

विचारदृष्टि से देखो, मानव-जीवन क्या है? दो प्रकार की चाह में फँसा हुआ प्राणी, आनन्द तथा विषय-सुख की इच्छा करता है, विषय-सुख की पूर्ति के लिये कर्म करता है, परन्तु आनन्द के लिए कर्म दिखाई नहीं देता। सभी कर्म सीमित फल देकर असमर्थ हो जाते हैं, आनन्द तक नहीं पहुँचाते। दुःख जो होता है उसका कारण तो सुख है। शुभ कर्म का फल सुख है और सुख दुःख में बदलता है। इस दृष्टि से तो कर्म ही दुःख का मूल हुआ। विचारों तो सही, प्रत्येक कर्म का जन्म कामना से होता है, कामना गलत ज्ञान से होती है और गलत ज्ञान शरीर तथा संसार में सद्भाव होने से होता है। क्या आप आनन्द का अनुभव करने के लिये कोई कर्म बता सकते हैं? क्या संसार आनन्द देने के लिए समर्थ है? क्या कोई भी कर्म संसार से पार कर सकता है? अतः इन सब विषयों पर काफी विचार करने के बाद आनन्द का अभिलाषी संसार से विमुख हो, आनन्दघन भगवान् के शरणागत होने के लिए मजबूर हो जाता है। भोगों का गुलाम कर्म के जाल में फँसना पसन्द करता है। दूसरी दृष्टि से देखिये, दुःख तथा दुखियों को देखकर हृदय में जो नास्तिक-भाव उत्पन्न हुए हैं, यह सिर्फ विचार की कमी है। गहराई से देखो, कि दुःख का होना तो आनन्दघन भगवान् की परम कृपा है, क्योंकि यदि दुःख न हो, तो विषय-सुख से अरुचि किसी प्रकार नहीं हो सकती, बल्कि दुःख होने पर भी साधारण प्राणी विषयों की लालसा करते हैं। जरा हृदय को तो देखो, यदि संसार की वस्तुओं की वासना न हो तो दुःख ही क्या है? आपको जो दुःख दिखाई देता है, वह सिर्फ संसार-सुख की वासना का फल है। दयानिधि की दया से ही गलत ज्ञान अर्थात् अहंभाव मिट सकता है। कुछ दिन पहले आपका कथन था कि मुझको सत्य के

सिवाय और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, जिसकी पूर्ति के लिए संसार से अरुचि होना अनिवार्य था। जब ऐसी घटना हुई तब संसार से अरुचि के अतिरिक्त सत्य से अरुचि उत्पन्न हुई। आपको उस ईश्वर की प्रार्थना करना पसन्द है, जो आपकी रुचि के अनुसार संसार की वस्तुएँ आपको भेंट करता रहे। जो आपको संसार से पार कर अनन्त आनन्द की ओर बुलाता है, उससे निहोरा करने में हृदय को संकोच मालूम होता है। क्या यही पवित्र प्रेम है? क्या यही सत्य की अभिलाषा है? क्या आपका यह अनुभव नहीं है कि जब-जब दुःख हुआ है, तब-तब आपकी उन्नति हुई फिर भी दुःख का इतना निरादर करते हो। यही बड़ी भूल है। भगवान् जब विशेष कृपा करते हैं, तब उसके यहाँ दुःख के स्वरूप में प्रकट होते हैं। सुखी जीवन अपनी तथा दूसरे की उन्नति के लिए सर्वदा असमर्थ है। अतः दुःख को भगवान् की परम कृपा समझ कर बार-बार आनन्दघन भगवान् को बुलाओ। दुःख की कृपा से संसार की वासनाओं का पता चल गया, अब उनको निकाल दो।

★ ★ ★

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। करना वही उचित है जिसकी रुचि हो, परन्तु ध्यान यह रखना कि क्रिया-शक्ति से भाव-शक्ति अधिक हो, परन्तु साधारण प्राणी क्रिया इतनी अधिक बढ़ा लेते हैं कि भाव क्रिया ही में रह जाता है, लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। क्रिया भाव में और भाव लक्ष्य में विलीन होना चाहिए, क्योंकि प्यारे से मिलन अक्रिय होने से होता है। साधन में एकनिष्ठता हो। अनेक मन्त्र अपना कोई विशेष अर्थ नहीं रखते। व्याकुलतापूर्वक चिन्तन करने पर सभी मंत्र लक्ष्य की पूर्तिमें समर्थ हैं। प्रणव में अनन्त विद्याएँ विद्यमान हैं, ऐसा सभी विद्वानों का मत है। निरन्तर उसका ही चिन्तन हो। मन का निरोध होने पर प्राण का निरोध स्वयं हो जाता है। भाव तथा विचार की प्रबलता से मन का निरोध सुगमतापूर्वक होता है। प्राणायाम आदि की आवश्यकता भाव की कमी होने पर होती है। भाव जाग्रत होने पर स्थूल साधन आवश्यक नहीं है। आसन आदि स्थूल शरीर के सुधार में समर्थ है। स्थूल शरीर की वासना सूक्ष्म शरीर को शुद्ध नहीं होने देती। सूक्ष्म शरीर का सुधार भाव तथा विचार से ही हो सकता है।

★ ★ ★

संसार की चाह करने वाला प्राणी, सच्ची आस्तिकता को नहीं पाता और न उसके हृदय में प्रीति उत्पन्न होती है, क्योंकि कामनायुक्त प्राणी प्रेम नहीं कर सकता। प्रीति का जन्म होते ही व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र का स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा समाधि सभी अवस्थाएँ अपने आप आ जाती हैं, परन्तु प्रेमी का हृदय तब तक सन्तुष्ट नहीं होता, जब तक किसी प्रकार की दूरी शेष रहती है। समाधि आदि अवस्थाओं से उत्थान होता है। प्रेमी में वियोग सहने की शक्ति नहीं रहती, अतः समाधि के रस का भी त्याग करके प्रीति प्रीतम से अभिन्न हो उनका स्थायी संग करती है। प्रीति प्रेम-पात्र की कृपा से उत्पन्न होती है। कृपा यद्यपि सभी पर होती है, परन्तु उस

कृपा का अनुभव तब होता है, जब हम सब प्रकार से उनके हो जाते हैं। प्रेम-पात्र के सिवा किसी सत्ता को स्वीकार न करना, यही उनका हो जाना है। असमर्थ को समर्थ करने में उसकी कृपा ही समर्थ है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। पूर्ण असमर्थ होते ही शरीर आदि का अभिमान नहीं रहता, अथवा पूर्ण समर्थ होते ही प्रेम-पात्र से भिन्न सभी सत्तायें निकल जाती हैं। इन दो अवस्थाओं से भिन्न और सभी अवस्थाएँ निरर्थक हैं। आस्तिक प्राणी की इन दो के सिवा और अवस्थाएँ नहीं होती। विचारदृष्टि से देखो, एक काल में, एक हृदय में दो स्वतन्त्र सत्तायें नहीं ठहर सकतीं। प्रेम-पात्र के आते ही प्रेमी की सत्ता का अन्त हो जाता है। प्रेमी के रहते हुए प्रेम-पात्र आ नहीं पाता, सिर्फ माने हुए नाते के आधार पर हृदय कभी-कभी भावावेश से भर जाता है, जो वास्तव में प्रेम नहीं कहा जा सकता। साधारण प्राणी भाव-जन्य रस के आधार पर सिर्फ जीवित रहते हैं। यदि कुछ कहा जाय तो आस्तिकता के बहाने उत्तर दे देते हैं। करने की शक्ति होते हुए भी करने से अपने को बचाते हैं। भला देखें, कब तक बचोगे? करने की शक्ति तो सिद्ध अवस्था में नहीं रहती, क्योंकि तब माना हुआ अहंभाव गल जाता है। अहंभाव होते हुए कुछ न कुछ करने की सूझती ही रहती है। अहंभाव का बदल देना संसार की दृष्टि से अच्छा-बुरा कहा जा सकता है। आस्तिक-भाव से तो अहंभाव का न रहना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि अहंभाव के होते हुए प्रेम-पात्र के ठहरने के लिए स्थान नहीं मिलता। वह अनेक बार आये और स्थान न मिलने के कारण चले गये। वे निरन्तर बुलाते हैं, किन्तु जाने की फुर्सत नहीं।

विचारो, आनन्द की अभिलाषा सदैव रहती है। निरन्तर याद उन्हीं की आ सकती है कि जो हमारी निरन्तर याद करते हैं। इस दृष्टि से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि आनन्दघन प्रेम-पात्र निरन्तर बुला रहे हैं। दुःख की कमी सच्ची आस्तिकता नहीं आने देती। पूर्ण दुःख आने पर संसार की सत्ता हृदय में ठहर नहीं सकती। साधारण प्राणी दुःखी संसार को देख हमारे प्यारे पर आक्षेप करते हैं, यह उनकी भूल है, क्योंकि उनमें दुःख तो है ही नहीं, भला देंगे कहाँ से? दुःख तो सुख से मिला है, सुख संसार की सत्ता स्वीकार करने से मिला है। संसार की सत्ता विषयों में राग होने से प्रतीत होती है। यह भली प्रकार समझ लो कि संसार जिसको प्रतीत होता है उसकी ही एक अवस्था है। अवस्था सुख के आधार पर जीवित है। पूर्ण दुःख होने पर अवस्था भंग हो जाती है, ऐसा अनुभव है।

## ५ फरवरी १९४१

अपने से भिन्न मानी हुई सत्ता का शासन स्वीकार करना ही बन्धन है। मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति ही विचार है। मानी हुई सत्ता का अभाव ही यथार्थ ज्ञान है। स्वतन्त्रता प्रदान करने में यथार्थ ज्ञान ही समर्थ है। जिस प्रकार औषधि का पूर्ण प्रभाव होने पर रोग की सत्ता मिट जाती है और औषधि भी शेष नहीं रहती, उसी प्रकार पूर्ण विचार होने पर अविचार मिट

जाता है, और विचार-शक्ति भी शेष नहीं रहती। भूख भोजन को और भोजन भूख को खा लेता है, उसी प्रकार भोक्ता भोग की और भोग भोक्ता को खा लेता है। भोग और भोक्ता की सत्ता, स्वरूप से एक है। पूर्ण भोग होने पर दोनों की दूरी मिट जाती है। एक ही दो होकर दो होते हैं अर्थात् अनन्त संख्याओं की सत्ता सिर्फ एक की सत्ता से है, क्योंकि अनन्त संख्या एक से ही प्रतीत होती है। एक न हो तो अनन्त संख्या प्रतीत नहीं हो सकती। माने हुए अहं से संसार की प्रतीति और बिना माने हुए अहं से परमात्म-तत्त्व का अनुभव होता है।

एक माने हुए अहं से संसार की अनेक सत्ताएँ प्रतीत होती हैं। एक माने हुए अहं के मिटने से संसार की अनेक सत्ताएँ मिट जाती हैं। बिना माना हुआ अहं नहीं मिटता, अतः परमात्म-तत्त्व नहीं मिटता। इकाई पर ज्यों-ज्यों शून्य बढ़ाते जाओ, मूल्य बढ़ता जाता है, यह सभी गणित वाले जानते हैं। इकाई-रहित शून्य का मूल्य कुछ नहीं रहता। इकाई का अर्थ क्या है– एक, शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं', ऐसा होने पर अहं का अनन्त मूल्य हो जाता है। जिस प्रकार एक ही सत्ता के बिना अनन्त की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, उसी प्रकार एक अहं के बिना(इस संसार और उस परमात्मा की) सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, अर्थात् अहंभाव की सत्ता से ही सभी सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं, यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध है।

## ९ फरवरी १९४१

मानव-जीवन क्या है? भोग अर्थात् विषयों की चाह, मोक्ष अर्थात् आनन्द की चाह, इन दो प्रकार की चाहों से भिन्न जीवन क्या है? कुछ भी पता नहीं चलता। विषयों की चाह की पूर्ति के लिए संसार की आवश्यकता होती। यद्यपि बेचारा संसार पूर्ति कर नहीं पाता, परन्तु भोग के लिए और कोई स्थान नहीं। अतः भोग का अभिलाषी संसार की गुलामी का त्याग करने में असमर्थ हो जाता है। कुछ विचारशील भोगी धर्मानुसार भोग प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि वे भोगी भोगियों की दृष्टि में श्रेष्ठ हैं, परन्तु शान्ति वे भी नहीं पाते। भोग दो वस्तुओं के मिलने पर होता है। दूसरे के काम आ जाना धर्मानुसार भोग है और दूसरों को अपने काम में लाने की चेष्टा करना धर्म-विपरीत भोग है। जो प्राणी धर्म नहीं जानते उनके हृदय में यह भाव जीवित रहता है कि संसार मेरे काम आ जाय। यही दोनों भाव अच्छाई तथा बुराई के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह अच्छाई तथा बुराई दुःख से बचा नहीं पाती, बल्कि सच्चे दुःख को प्रकट करती है। बुराई से पवित्र दुःख नहीं हो पाता। हृदय में ईर्ष्या की आग जलती है। ईर्ष्या-युक्त प्राणी दूसरे के काम आने में असमर्थ हो जाता है। वह बेचारा भी अपनी उन्नति नहीं कर सकता, क्योंकि उसे ईर्ष्या की आग से फुरसत नहीं मिलती। पवित्र दुःख होने पर संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। संसार का ज्ञान होते ही भोग की चाह का अन्त हो जाता है। भोग की चाह का अन्त होते ही व्याकुलतापूर्वक आनन्द की चाह उत्पन्न होती है। असह्यय व्याकुलता बढ़ जाने पर आनन्दघन

आनन्द की चाह पूर्ण कर देते हैं। दोनों प्रकार की चाह का अन्त होने पर जीवन ही में जीवन का अन्त हो जाता है, जो प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य है।

जीवन यद्यपि किसी काल में स्थिर नहीं है, फिर भी जीवन की आशा शेष क्यों रहती है? यदि इस पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि जीवन जीवन का अन्त करने के लिए मिला है। जो बेचारे जीवन में जीवन का अन्त नहीं कर पाते वही जीवन की आशा में फँस जाते हैं। जीवन की आशा दुःख की कमी में अच्छी मालूम होती है। दुःख की कमी अविचार से होती है। विचार का जन्म होते ही हृदय दुःख से भर जाता है। पूर्ण दुःख होते ही दुःखहारी हरि दुःख हर लेते हैं। जिस स्थान पर दुःख नहीं पहुँचता वहीं कुछ विकार रह जाता है। अतः पूर्ण दुःख आनन्द के लिए परम आवश्यक है।

★ ★ ★

जीवन का निरादर करना परम भूल है। चाह रहते हुए चैन से रहना जीवन का निरादर है। सब प्रकार की चाह का अन्त कर देना ही जीवन का सच्चा आदर है। दुःख की कमी होने पर तथा केवल अपने के` दुःख से दुखी होने पर अभागी चाह जीवित रहती है। दूसरों के दुःख से दुःखी होने पर सच्चा दुःख होता है और दुःख मिटाने में शरीर तथा संसार असमर्थ है। व्याकुलता उन्नति के लिए परम साधन है, क्योंकि यही भगवान् की योगमाया है। यह सब कुछ कर सकती है। यह सभी विकार मिटाने के लिए अग्नि के समान एवं सभी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कल्पतरु के समान है। व्याकुलता वह शक्ति है जिसकी समानता करने के लिए भगवान् भी असमर्थ हैं, क्योंकि उनके यहाँ व्याकुलता नहीं है। गोपियों की व्याकुलता में फँसकर वे अपने अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य को भूल गये, यह सभी भक्त जानते हैं। विचारों, प्रीतम को मिलने की रुचि ही प्रिया का स्वरूप है और वह रुचि जिसमें विलीन हो जाती है वही प्रीतम है। प्रिया-प्रीतम का मिलन ही जीवन का परम लक्ष्य है। भक्त का हृदय ही वृन्दावन है, जिसमें प्रिया-प्रीतम अनेक लीलाएं करते हैं, अर्थात् भक्त का हृदय विरह के दुःख तथा मिलन के आनन्द से हरा-भरा रहता है। इस रस का आस्वादन करने में सच्चा दुःखी समर्थ है। यह रस सुखी प्राणी को कभी नहीं मिलता। दुःखी के लिए संसार में कोई स्थान नहीं है ऐसा सभी दुखियों का अनुभव है।

संसार उस पर ही शासन करता है, जो संसार की ओर देखता है। यदि संसार पर शासन करना चाहते हो, तो संसार की ओर मत देखो। जो संसार की ओर नहीं देखता, संसार उसके पीछे दौड़ता है, ऐसा विचारशीलों का अनुभव है। विचारशील संसार से अपनी पूर्ति का कभी अनुभव नहीं करता, बल्कि यथाशक्ति संसार के काम आ जाता है। संसार के काम आ जाना ही सच्ची सेवा है, जिससे हृदय शुद्ध हो जाता है। हृदय शुद्ध होने पर व्याकुलता उत्पन्न होती है। व्याकुलता उत्पन्न होने पर कुछ भी शेष नहीं रहता।

★ ★ ★

ज्ञान की जिज्ञासा होने पर ज्ञान स्वयं हो जाता है। इंद्रिय, मन, बुद्धि, आदि ज्ञान की पूर्ति में असमर्थ हैं। इन सबका त्याग ज्ञान की चाह होने पर अपने आप हो जाता है। सिर्फ विषयों की चाह की पूर्ति में बुद्धि आदि साधन है। बुद्धि जिस सत्ता का निश्चय करती है उसको स्वयं नहीं जानती। बुद्धि के बिना विषयों की चाह की पूर्ति में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। बुद्धि की सहायता के बिना करने का भाव दृढ़ नहीं होता। सत्य की अभिलाषा दृढ़ होने पर बुद्धि महारानी चुप बैठ जाती है। विषयों की चाह होने पर बुद्धि महारानी विषयों पर शासन करती है। विचार करो, स्थूल तत्त्वों, जैसे पृथ्वी तथा जल पर कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के आश्रित रह कर काम करती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, गंध आदि विषयों को मन, इन्द्रिय आदि से विषय करते हैं और आकाश को केवल बुद्धि से ही विषय करते हैं, उसे किसी बाह्य इन्द्रिय से नहीं जानते हैं। प्रत्येक विषय में करने का कार्य कर्मेन्द्रियों द्वारा और तत्संबधी ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। कर्म ज्ञान की अपेक्षा स्थूल है, इस कारण कर्मेन्द्रियां ज्ञानेन्द्रियों के अधीन ही काम करती हैं, परन्तु आकाश को तो किसी भी बाह्य इन्द्रिय द्वारा विषय नहीं कर पाते, उसे तो बुद्धि द्वारा ही विषय करते हैं। पृथ्वी, जल अग्नि, वायु आदि तत्त्वों की अपेक्षा आकाश में सुक्ष्मता तथा व्यापकता विशेष है, अतः बुद्धि से आकाश जाना जाता है। इसके आगे बेचारी बुद्धि जा नहीं पाती। जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, उतनी अधिक विभु अर्थात् व्यापक होती है। इसी कारण पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि से आकाश अधिक बड़ा और सब में व्यापक है, क्योंकि ये सब उसी में स्थित हैं। इसी कारण जब बुद्धि सम हो जाती है, तब समाधि में सबसे बड़ा रस आता है। वह रस भी स्थायी आनन्द नहीं दे पाता। स्थायी आनन्द का अभिलाषी अपने को बुद्धि से ऊपर उठा लेता है। बुद्धि महारानी संसार की सभी वस्तुओं में श्रेष्ठ है, परन्तु प्रीतम (सत्य) से अभेद करने में असमर्थ है। प्रीति का स्वयं प्रीतम से अभेद होता है। सब प्रकार की चाह का अंत होने पर प्रीति का जन्म होता है। चाह युक्त प्राणी प्रीति का अनुभव कर नहीं पाता। प्रीति प्रीतम की परम शक्ति है। प्रीति तथा प्रीतम का मिलन ही यथार्थ ज्ञान है, जो प्रेम, योग, आनन्द आदि नाम से प्रसिद्ध है। अभागी चाह ने प्रीति को ढक लिया है। विचारो, प्रीतम से मानी हुई दूरी तथा संसार से माना हुआ संबंध है। दोनों की चाह मिट जाने पर मानी हुई दूरी तथा माना हुआ संबंध मिट जाता है, क्योंकि विषयों की चाह होने पर संसार से संबंध होता है। संसार से संबंध होने पर संसार प्रतीत होता है। संसार की सत्ता केवल प्रतीति मात्र है, क्योंकि वह किसी के पकड़ने में नहीं आई। संसार से संबंध-विच्छेद होते ही सत्य की चाह सत्य की कृपा से ही पूर्ण होती है। भोग तथा आनन्द दोनों की चाह का अंत होते ही बनावटी माने हुए जीवन का अंत हो जाता है। बनावटी जीवन का अंत होते ही अनन्त नित्य जीवन का अनुभव होता है। यह जीवन प्रत्येक मानव को प्राप्त हो सकता है, इसमेंतनिक भी सन्देह नहीं। इसलिए नित्य जीवन के लिए

भविष्य की आशा तथा किसी प्रकार की बाह्य संगठन का करना परम भूल है।

★ ★ ★

जो प्राणी अपनी वास्तविक अभिलाषा का पता लगा लेता है, वह उन्नति अवश्य कर लेता है। वास्तविक अभिलाषा की पूर्ति के लिए बेचारा संसार असमर्थ है। अतः संसार की सहायता से उन्नति की खोज करना परम भूल है। प्रेम-पात्र से मिलने के लिए व्याकुलता ही परम साधन है। भोग की चाह ही वास्तव में संसार है, क्योंकि भोग की चाह न रहने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध न रहने पर माना हुआ अहं-भाव प्रेम-पात्र से अभिन्न हो जाता है, अतः प्रत्येक मानव आनन्दघन का अनुभव करने के लिए सर्वथा समर्थ है। आनन्द उसको नहीं मिलता जो आनन्द से निराश होता है। आनन्द से मानी हुई दूरी तथा संसार से माना हुआ संबध है। सब प्रकार की चाह का अंत होने पर मानी हुई दूरी तथा माना हुआ संबंध मिट जाता है। अभिलाषा रहते हुए चैन से रहना महान् पाप है।

साधारण प्राणी न जानने के कारण आनन्द अनुभव करने के लिए संसार की सहायता की खोज क्यों करते हैं? इस पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि वे बेचारे अपने को शरीर समझकर संसार के गुलाम बन जाते हैं क्योंकि शरीर संसार का जुज है। यदि वह प्राणी विचार पूर्वक शरीर को संसार की सेवा में लगा दे, तो वह आनन्द अनुभव करने के लिए समर्थ हो सकता है, क्योंकि सेवक का हृदय दुखियों के दुःख से हरा-भरा रहता है। यह नियम है कि जब जीवन में सुख नहीं रहता तब जीवन का राग मिट जाता है। राग मिटते ही त्याग अपने आप आ जाता है। अतः या तो दुखियों की सेवा करो अथवा एक से प्रेम करो, अथवा कुल का त्याग करो, इसके सिवा और किसी प्रकार आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। दुखियों की सेवा वह कर सकता है जिसको अपने लिए संसार की आवश्यकता नहीं होती। एक से प्रेम वह करता है जिसका अनेक से संबंध नहीं रहता। कुल का त्याग वह कर सकता है जो माना हुआ अहंभाव मिटा देता है। साधारण प्राणी एक-एक क्रिया को बदल कर कालान्तर में अहंभाव को बदलते हैं। विचारशील प्राणी अहंभाव को बदल कर सारी क्रिया को एक साथ बदल देते हैं और सच्चा प्रेमी अहंभाव को मिटाकर प्रेम-पात्र को पा लेता है। मैं भक्त हूँ अथवा मैं जिज्ञासु हूँ ये दो प्रकार के अहंभाव ऐसे होते हैं कि जिनसे प्राणी शीघ्र उन्नति कर सकता है।

(अभिलाषा एक और चाह अनेक होती हैं, क्योंकि अभिलाषा अभिलाषी का स्वरूप है जो वास्तव में लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। गहराई से देखो, लक्ष्य की अप्राप्ति में लक्ष्य की अभिलाषा होती है। अभिलाषा किसी प्रवृत्ति की नहीं होती, बल्कि अभिलाषी जिसक अभिलाषा करता है, वह (लक्ष्य) उसका स्वरूप हो जाता है और फिर किसी प्रकार की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति शेष नहीं रहती।)

# १४ फरवरी १९४१

अभिलाषा के शेष न रहने पर सर्वोत्कृष्ट जीवन का अनुभव होता है, क्योंकि उससे ऊँचा और कोई जीवन नहीं हो सकता। यही जीवन की पराकाष्ठा है। आवश्यक अभिलाषा की पूर्ति और अनावश्यक इच्छाओं की निवृत्ति करना ही परम पुरुषार्थ है। विचार की कमी से अभिलाषा तथा इच्छाएँ शेष रहती है। पूर्ण विचार होने पर अभिलाषा की पूर्ति तथा इच्छाओं का अंत होता है, अथवा यों कहो कि विचार का उदय होते ही अभिलाषा शेष नहीं रहती। अभिलाषा रहते हुए चैन से रहना महापाप है, क्योंकि व्याकुलता ही अभिलाषा को पूर्ण करने में समर्थ है। प्रत्येक प्राणी व्याकुलता का ऋणी है, क्योंकि व्याकुलता ही प्रेम-पात्र से अभेद करती है। प्रेम-पात्र से अभेद होने पर करने का भाव शेष नहीं रहता। अतः व्याकुलता के प्रति मानव प्रत्युपकार कर नहीं पाता। इस दृष्टि से व्याकुलता का ऋणी होना भली प्रकार सिद्ध हो जाता है। व्याकुलता-रहित जीवन जीवन नहीं। मानव-जीवन पूर्ण आनन्द के लिए मिला है। आनन्द व्याकुलता से ही मिल सकता है और किसी प्रकार नहीं। जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मीठापन चीनी का होता है, उसी प्रकार सभी अच्छाइयों में अच्छापन व्याकुलता का होता है। त्याग, प्रेम, ज्ञान यह सभी व्याकुलता के बच्चे हैं।

# १४ फरवरी १९४१

**सन्त-वाणी**

जो दोष जिस समय मालूम हो उसके अतिरिक्त दोष का दूसरे काल में सद्भाव रखना परम दोष है, क्योंकि जिसको हम अपने में मान लेते हैं उसका निकलना असम्भव हो जाता है। अतः मैं दोषी हूँ इस भाव को स्थान मत दो, बल्कि यह भाव करो कि मैं निर्दोष होने के लिए प्रयत्न कर रहा हूँ! दोषों का संबंध तथा सद्भाव दोषों को निमन्त्रण देकर बुलाने का अर्थ रखता है। अपने प्रेम-पात्र की पवित्रता पर पूरा विश्वास करो। कपूत पूत भी माता की ओर जाने में भय नहीं करता। इस भाव के अनुसार अपवित्र होने पर भी पतितपावन की ओर निर्भयतापूर्वक शीघ्र जाने के लिए प्रयत्न करो, अर्थात् उनके बिना चैन से न रहो, यही प्रयत्न है। पूर्ण पवित्रता तो उनसे अभेद होने पर मिलेगी। सच्चा एकान्त तिब्बत की कन्दराओं में नहीं है। प्रेमी और प्रेम-पात्र के सिवा किसी तीसरे को स्थान न देना ही सच्चा एकान्त है, जो बाजार में भी हो सकता है। जीवन में एकनिष्ठता की कमी है। उस कमी को सच्चे संबंध से पूरा करो। जप से मन का निरोध नहीं होता, बल्कि मन की सफाई होती है। जिस प्रकार गन्दी नाली साफ करते समय बदबू अधिक आती है। उसी प्रकार साधन करते हुए मन में ठहरा हुआ विकार निकलता है। मनोराज्य विरह की अग्नि में जलता है, अथवा विचार से मिटता है। शुभ कर्म में तो सिर्फ सच्चा संबंध उत्पन्न होता है। प्यारे, सच्चाई सबको मिलती है, इसलिए सच्चाई से निराश नहीं होना चाहिए। सच्चाई निरन्तर प्रतीक्षा कर रही है। एक बार

सबसे विमुख होकर उसकी ओर देखो। आगे पीछे का चिन्तन मत करो। आगे पीछे का चिन्तन मिटते ही वर्तमान में व्याकुलता उत्पन्न होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

## ९ फरवरी १९४१

(१) जिस प्रकार मिट्टी का ज्ञान करने के लिए घड़े को तोड़ना आवश्यक है, उसी प्रकार स्वरूप-ज्ञान के लिए वृत्तियों का अभाव अर्थात् पूर्ण निरोध तथा निरोध से असंगता आवश्यक है। मिट्टी का यथार्थ ज्ञान होने पर अनन्त घड़ों के स्वरूप में भी मिट्टी ही प्रतीत होती है। प्यारे, भली प्रकार सीख लो कि ज्ञान होने से पहले ज्ञान का अर्थ सीखना परम भूल है। सत्पुरुष तथा सत्शास्त्र साधन के अतिरिक्त कुछ नहीं कहते। साधन जिज्ञासु की खुराक है, दिमाग का राग नहीं। सभी साधन जीवन का स्वरूप हो जाने पर उसी प्रकार मिट जाते हैं जिस प्रकार खा लेने पर भोजन। भोजन के मिटते ही भूख भी नहीं रहती, यह सभी जानते हैं, अर्थात् जिज्ञासु तथा साधन दोनों का अंत हो जाता है। तत्पश्चात् स्वरूप से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता। संसार भी अपने से भिन्न कुछ नहीं होता। क्रिया और ज्ञान का प्रश्न भी निरर्थक हो जाता है।

(२) अनित्य की चाह मिटने पर माने हुए अहंभाव की सभी टाँगें टूट जाती हैं। सिर्फ नित्य की अभिलाषा के आधार पर वह बेचारा सिसकता है, जिसे व्याकुलता की अग्नि जला देती है। बस, उसी काल में माना हुआ अहंभाव निर्मूल हो जाता है। साधारण प्राणी व्याकुलता का काम दिमाग से ले लेते हैं, इसलिए विवेक और अविवेक की क्रियाओं का निरन्तर रहना स्वीकार करते हैं। क्रिया का जन्म अविवेक से होता है, इस दृष्टि से क्रियाएँ सभी अविवेक हैं। आप यह जानते हैं कि बड़वानल जल में उत्पन्न हो जल को खा लेता है और स्वयं भी मिट जाता है।

(३) साक्षात्कार होने पर, क्या है, उसका अनुभव होगा। अविवाहित कन्या विवाहिता के अनुभव को किसी प्रकार नहीं जान सकती। वृत्तियों की असंगता वृत्ति से नहीं होती, बल्कि पूर्णतया राग-रहित होते ही स्वरूप की कृपा से ही होती है। राग व्याकुलता की अग्नि से ही पूर्णतया जलता है, और किसी प्रकार नहीं। तो फिर रजोगुणी अथवा सत्त्वगुणी वृत्ति का कथन ही बेकार है। सत्त्वगुणी वृत्ति रजोगुणी वृत्ति पर शासन करती है। सविकल्प समाधि में राग होने से सत्त्वगुणी वृत्ति का आदर रहता है। बोध में किसी प्रकार की आसक्ति शेष नहीं रहती। आसक्ति-रहित अवस्था में वृत्ति आदि का कथन करना असम्भव सा है। ब्रह्माकार वृत्ति उपासना की बढ़ी हुई अवस्था है, बोध नहीं। वृत्ति का अभाव समाधि की अवस्था है, बोध नहीं।

(४) अहंवृत्ति रोग है और अहंस्फूर्ति औषधि है। औषधि रोग का निवारण कर स्वयं नष्ट हो जाती है, अथवा यों कहो कि आरोग्य से अभिन्न हो जाती है। जो शेष रहता है, वही साक्षात्कार है, उसमें क्रिया नहीं होती। अहंस्फूर्ति जीवन में सिर्फ एकबार होती है, अनेक बार नहीं। तो फिर ज्ञान और क्रिया की एकता कैसी? ज्ञान में क्रिया और क्रिया में ज्ञान यही तो अज्ञान

था। फिर चेतन में क्रिया कैसे शेष रहती है? जड़ न होने का अर्थ सिर्फ इतना है कि अपने में किसी प्रकार का अवस्था भेद नहीं रहता, क्योंकि अवस्था भेद जड़ में होता है। जड़ और चेतन दोनों का वृत्ति के बिना एक समय में कथन नहीं कर सकते। कथन अनुपस्थिति में होता है। चेतन के प्रमाद में वृत्ति द्वारा चेतन का कथन होता है, अनुभव नहीं। चेतन का अनुभव होने पर जड़ के कथन की आवश्यकता नहीं रहती। आवश्यकता रहित क्रिया नहीं होती, यह सभी जानते हैं।

(५) विराग राग को और विवेक अविवेक को हटाता नहीं, बल्कि खा लेता है। खाते ही स्वयं भी मर जाता है। अतः राग रहित होने पर क्रिया शेष नहीं रहती। राग तथा अविवेक को हटाना दुःख की कमी में रहता है। ऐसी क्रिया वह प्राणी करता है जिसके हृदय और दिमाग में एकता नहीं है। दिमाग के बल से राग मिटाया नहीं जा सकता, दबाया जाता है, इसलिए बार-बार हटाना पड़ता है। दुःख की कमी को पूरा कर दो, राग विराग दोनों मिट जायँगे। राग-विराग मिटते ही स्थिति स्वाभाविक है, यद्यपि स्थिति भी बोध नहीं है, क्योंकि वह भी एक अवस्था है।

(६) स्वरूप का निश्चय नहीं होता, बल्कि स्वरूप का बोध होता है। यह निश्चय वाली बात अज्ञान काल में ज्ञान को बढ़ाने के लिए कहते हैं। प्यारे, शास्त्र साधन है, सिद्धान्त नहीं। जिसने शास्त्र नहीं सुना वह बोध काल में अबोध काल का कुछ नहीं जानता। बोध में अबोध और अबोध में बोध का मिलाना यह सस्ते छापेखाने की महिमा है। शास्त्र गुरु के द्वारा यदि पढ़ा होता, तो अज्ञान काल में ज्ञान सीखना नहीं होता बल्कि साधन करना होता है।

(७) वैराग्य काल में स्वरूप निश्चय करने की फुर्सत नहीं होती, क्योंकि स्वरूप का निश्चय तो अनुभव से होता है। वैराग्य फाँसी की सजा है। बोध अमरत्व है। फाँसी काल और अमरत्व में कोई संधि का कथन नहीं हो सकता। सिर्फ यही संकेत किया जा सकता है कि फाँसी काल का पूर्ण होना अमरत्व का उदय है। वैराग्य की सत्ता राग आधार पर जीवित है। वैराग्य अग्नि और लकड़ी के समान है। राग का अंत होते ही वैराग्य कुछ नहीं।

(८) चाह की पूर्ति तथा निवृत्ति में बड़ा भेद है। पूर्ति होने पर उत्पत्ति आवश्यक है, परन्तु निवृत्ति होने पर उत्पत्ति नहीं हो सकती। नित्य की चाह तब होती है, जब अनित्य की चाह निवृत्त हो जाती है, पूर्ण नहीं। नित्य की चाह निवृत्त होने पर बोध होता है, जो चाह से परे है। नित्य और अनित्य की चाह के आधार पर ही मानव-जीवन अथवा माना हुआ अहंभाव निर्भर है। दोनों प्रकार की चाह निवृत्त होने पर माने हुए अहंभाव अथवा जीवन में जीवन का अंत हो जाता है, अर्थात् अनन्त जीवन का अनुभव होता है।

(९) यदि बुद्धि में स्वरूप-निश्चय अथवा संसार से निराशा पहले से ही मान ली जायगी तो पूर्ण व्याकुलता नहीं होगी। संसार से निराशा होने पर हृदय में पूर्ण व्याकुलता की अग्नि जलेगी। उसी अग्नि में से एक ऐसी चीज उत्पन्न होगी, जो नित्य की जिज्ञासा जाग्रत कर उसे पूरा कर देगी

और वह अग्नि आनन्द में विलीन हो जायगी। निराशा मानी नहीं जाती, हो जाती है। स्वरूप निश्चय नहीं किया जाता, बोध होता है। बुद्धि संसार से भिन्न का कुछ भी व्यापार नहीं कर सकती, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। कृपया बुद्धि को अब आप आराम करने दीजिये।

(१०) सत्य की अभिलाषा सत्य को मानकर नहीं की जाती, बल्कि मानी हुई अहम् की कामनाओं से सत्य की अभिलाषा ढक जाती है। माना हुआ अहंभाव अथवा विषयों की रुचि इन दोनों का स्वरूप एक है। संसार से निराश होते ही विषयों की रुचि मिटती है। उस काल में सत्य की अभिलाषा शेष रहती है। उस अभिलाषा के आधार पर ही अहंभाव सिसकता है। उसको दुःखी देख दुःखहारी हरि विचार के स्वरूप में प्रकट हो दुःख को सदा के लिए हर लेते हैं। संसार माना जाता है, आस्तिकता जानी जाती है, मानी नहीं जाती। मरने का डर विषयी को होता है। संसार से निराश होने पर जीवन ही में मृत्यु का अनुभव होता हे परन्तु जो वास्तविक रुचि अर्थात् लालसा है, वह मिट नहीं पाती। जब वह मिटती अर्थात् पूरी होती है, तब आस्तिकता का अनुभव हो जाता है। मानी हुई आस्तिकता तो आस्तिकता का निरादर करना अर्थात् उसका स्वांग बनाना है।

(११) अभाव उसका होता है, जो स्वरूप से न हो और प्रतीत हो। क्या मानी हुई सत्ता अर्थात् प्रतीति के प्रतीत होने पर भी कोई अपने को शरीर स्वीकार करता है, कदापि नहीं। सब यही कहते हैं "मेरा शरीर है।" शरीर "अपने" को कोई नहीं कहता। तो फिर विचार उदय होने पर तो मानी हुई सत्ता अर्थात् प्रतीति का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं हो सकता। अतः वह बोध रूप ही है, जिस प्रकार दर्पण में प्रतीत होने वाली आकृति दर्पण से भिन्न नहीं है अर्थात् मानी हुई सत्ता किसी भी काल में नहीं थी। अभाव विचाररूप तथा निर्विचाररूप दोनों से अतीत है। विचार-कर्त्ता विचार नहीं कर पाता, बल्कि प्रेम-पात्र ही विचार के रूप में प्रकट हो कर्त्ता-भोक्ता का अन्त कर उनको अपने से अभेद कर लेते हैं।

व्याकुलता से मत डरो। दिमाग से अधिक काम मत लो। दुःख की कमी को शीघ्र पूरा करो। दुःखहारी हरि दुःखहरण करने के लिए प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

प्यारे देखो, आनन्द की अभिलाषा कोई मिटा नहीं पाता। अभिलाषा अप्राप्त दशा में होती है, अतः आनन्द को देखा भी नहीं, फिर भी आनन्द की अभिलाषा होती है। इससे भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि आनन्दघन भगवान् प्रत्येक मानव को बुला रहे हैं। देर न करो। शीघ्र इधर से उधर देखो। ऐसा करते ही वे स्वयं अपना लेंगे।

## १२ फरवरी १९४१

साधारण प्राणी विचारमार्ग में भी विश्वासमार्ग के उसूलों को मिलाते हैं। विचारमार्ग में ज्यों-ज्यों विचार बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों क्रिया की कमी होती जाती है। पूर्ण विचार होने पर पूर्ण

अक्रियता, पूर्ण अक्रिय होने पर पूर्ण अनुभव और पूर्ण अनुभव से पूर्ण आनन्द स्वयं हो जाता है, अर्थात् फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तो विश्वामार्ग के आधार पर होते हैं, विचारमार्ग से तो प्रेम-पात्र का संग होता है। संग और ध्यान आदि में भेद है। ध्यान आदि से अवस्था होती है और संग से स्वरूप। संग एक बार और ध्यान अनेक बार। संग होने से पूर्व, विचार से पूर्ण असंगता होती है। क्रिया उसकी अनुभूति कराती है, जो करने के काल से प्रथम नहीं था। क्रिया से उत्पन्न होने वाली सत्ता अनन्त काल तक नित्य नहीं रह सकती। इसीलिए प्रत्येक क्रिया का रस, कभी न कभी नीरस हो जाता है। सत्य क्रिया तथा भाव का विषय नहीं, बल्कि भाव तथा क्रिया सत्य के विषय हैं। सत्य से ही सभी की सत्ताएँ प्रतीतिमात्र सत्य हैं। यह बात भी सत्य का अनुभव होने से पूर्व स्वीकार करना भूल है, क्योंकि विचारमार्ग वर्तमान परिस्थिति के अनुभव से आरम्भ होता है। प्यारे, भोग की रुचि का अन्त होने पर बुद्धि महारानी की क्या आवश्यकता रहती है, बताओ तो सही। बुद्धि महारानी का संग छूटते ही स्वरूप-स्थिति में

क्या सन्देह है? कहो तो सही। इन दोनों प्रश्नों को स्वयं हल कर लो। संसार की सभी वस्तुओं से बुद्धिदेवी श्रेष्ठ हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, किन्तु सत्य तक जाने में असमर्थ हैं, यह परम सत्य है। विचार की पूर्णता क्रिया और ज्ञान का विभाग करती है, विभाग होते ही माना हुआ अहंभाव क्रिया का संग छोड़ ज्ञान का संग करता है। उसका संग करते ही बेचारे की मृत्यु हो जाती है। जब वह बेचारा क्रिया का संग करता था तब तक परमप्रिया बुद्धि महारानी अपने अनेक चमत्कार दिखाकर उसे जीवित रखती थीं। इसी कारण माना हुआ अहंभाव बुद्धि में विशेष आसक्त रहता है इस आसक्ति को व्याकुलता की अग्नि ही जला सकती है। विचारका उदय पूर्ण व्याकुलता के बिना किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः शीघ्र से शीघ्र व्याकुलता की शरण लो। व्याकुलता बढ़ने पर बुद्धि महारानी अनेक बार धोखा देती है। इनकी बातों में मत आओ। पूर्ण जिज्ञासा अधिक काल तक जीवित नहीं रहती, अर्थात् जिज्ञासु को चैन से नहीं रहना चाहिये। विश्वासमार्ग काल आदि की अपेक्षा करता है। विचारमार्ग में किसी की अपेक्षा नहीं है। जो जिज्ञासु चैन से रहता है वह जिज्ञासु नहीं है। जिज्ञासु के जीवन में सुख लेशमात्र नहीं रहता। सुखी प्राणी किसी प्रकार भी जिज्ञासु नहीं हो सकता। सुख से निराशा होते ही बेचारा संसार अपना मुँह फेर लेता है।

## १९ फरवरी १९४१

यह भली प्रकार समझ लो कि सत्य भाषा तथा भाव दोनों से परे है। कथन उसका होता है जो अपना पूर्ण स्वरूप नहीं होता। ज्ञान और क्रिया का विभाग जो 'विचार' है वह 'विचार' निश्चय नहीं है, वरन् अनुभव है। निश्चय बुद्धि महारानी की क्रिया है। विभाग होने पर तो अपरोक्ष-बोध होना चाहिये। बोध में स्वाभाविक प्रीति होने से मानी हुई सत्ता का अभाव स्वयं हो

जाता है। विचार तथा अविचार दोनों अवस्थायें हैं, अर्थात् कार्य-कारण के समान हैं क्योंकि अविचार-जनित वेदना ही विचार को जाग्रत करती है। अविचार अर्थात् विचार की कमी, विचार-जन्य क्रिया को उत्पन्न कर सकता है, परन्तु (विचार का)'अभाव' क्रिया उत्पन्न करने में असमर्थ है। अभाव तो बोध होने पर होता है। ज्ञान और क्रिया का विभाग होने वाला 'विचार' बुद्धि-जन्य क्रिया नहीं है, क्योंकि बुद्धि महारानी का संग न होने पर विभाग होता है। विभाग करने वाले विचार के स्वरूप में दुःखहारी हरि प्रकट होते हैं। व्याकुलता की अग्नि में जब राग जल जाता है, भोक्ता और माने हुए स्वभाव का वध कर प्रेम-पात्र अपने से अभिन्न कर लेते हैं। इस दृष्टि से विभाग होने पर परोक्ष ज्ञान नहीं कहा जा सकता। परोक्ष ज्ञान की आवश्यकता तो विश्वासमार्ग के पथिक को होती है। विचार मार्ग तो बोध कराता है, क्रिया नहीं। बोध में स्वाभाविक प्रीति विचार-मार्गी का अखण्ड ध्यान है। ज्यों-ज्यों प्रीति गाढ़ी होती जाती है, त्यों-त्यों मानी हुई सत्ता का अभाव स्वरूप से होता जाता है। बोध होते ही प्रतीति होने पर भी तत्त्व-दृष्टि ही रहती है। उस दृष्टि पर ही सन्तोष करना प्रीति की कमी है। यद्यपि प्रीति में बोध बढ़ नहीं जाता, परन्तु अनन्त शक्ति और शान्ति दोनों के लिये बोध में प्रीति आवश्यक है। विभाग होने पर बोध स्वयं हो जाता है।

संग क्रिया का विषय नहीं, किन्तु अक्रिय होने पर अपने आप होता है। अक्रियता राग मिटने पर होती है और राग व्याकुलता से मिटता है। व्याकुलता भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर होती है। संसार वास्तविक रुचि की पूर्तिमें असमर्थ है, यह जान लेना ही भोग का यथार्थ ज्ञान है। बुद्धि महारानी अधिक से अधिक यही कार्य कर सकती है। संसार की आवश्यकता का अन्त होते ही बुद्धि महारानी आनन्द भवन में सोती हैं, अर्थात् निर्विकल्प-समाधि हो जाती है। निर्विकल्प बोध के लिये विचार भगवान् ही समर्थ हैं, जो स्वयं प्रकट होते हैं। क्रिया-जन्य रस नीरस है, इसको तो आप भली प्रकार समझ चुके हैं, उस पर अधिक लिखना उचित नहीं मालूम होता। अभागा राग, करने को मजबूर करता है। राग-रहित अवस्था में तो स्वरूप-स्थिति स्वयं हो जाती है। केवल राग मिटने पर स्वरूप-बोध नहीं होता। स्वरूप-स्थिति अथवा स्वरूप-बोध में सिर्फ इतना अन्तर है कि स्वरूप-स्थिति का उत्थान होता है, परन्तु बोध का उत्थान नहीं होता। बोध और स्थिति दोनों का अभेद होना ही प्रीति तथा प्रीतम की अभिन्नता है। यद्यपि प्रीति प्रीतम से भिन्न किसी और में हो ही नहीं सकती, परन्तु जिज्ञासा आदि कामनाओं के कारण प्रीति और प्रीतम में भेद सा प्रतीत होता है। सभी कामनाओं का अन्त होने पर अथवा ज्ञान और क्रिया का विभाग होने पर प्रीति प्रीतम में है, यह भली प्रकार बोध हो जाता है। कामनाओं का अन्त होने पर विभाग और विभाग होने पर कामनाओं का अन्त हो जाता है। विश्वासमार्गी भाव की प्रबलता के कारण अपने आपको समर्पित कर कामनाओं का अन्त करता है और फिर विचार का अधिकारी हो प्रीति प्रीतम का

मिलन कर निजानन्द में छक जाता है। अतः विभाग अथवा समर्पण बुद्धि-जन्य क्रिया नहीं। भाव की प्रबलता होने के कारण समर्पण, और विचार की प्रबलता होने के कारण विभाग, रुचि की पूर्ति के लिये, स्वयं होता है।

वास्तविक रुचि का स्थायी ज्ञान करना ही व्याकुलतापूर्वक जिज्ञासा है। रुचि की पूर्ति होने से प्रथम किसी सत्ता को स्वीकार करना विश्वासमार्गी के लिये अनिवार्य है। परन्तु विचारमार्गी रुचि के पूर्ण होने पर अनुभव कर सत्ता स्वीकार करता है। स्वीकार करने का काल, अस्वीकृति की भूल मिटाने के लिए अहंस्फूर्ति के रूप में अनुभव होता है। स्वाभाविक अहं में प्रीति ही स्फूर्ति है। प्रीति की पूर्णता होने पर स्फूर्ति की कल्पना करना बेकार है। अहं की चेतना तथा आनन्द अहं से अभिन्न हैं अतएव स्फूर्ति आदि कल्पनाओं से अहं अतीत है।

प्यारे, भाषा तथा भाव दोनों से परे रहो। भाषा तथा भाव किसी की सत्ता प्रकाशित नहीं करते, किन्तु संकेत करते हैं। संकेत की सत्ता तब तक आवश्यक है जब तक प्रीति तथा प्रीतम अविचल भाव से अभिन्न नहीं हो जाते। असंगता प्रीतम का संग कब कराती है? इसके लिए किसी भी काल की कल्पना हो नहीं सकती। बस, यही कहा जा सकता है कि पूर्ण असंगता से संग हो जाता है। जिस प्रकार नींद की अभिलाषा होने पर निद्रा का अभिलाषी यह नहीं जान पाता कि किस काल में सो गया, उसी प्रकार प्रेम-पात्र के संग का अभिलाषी पूर्ण असंग होने पर यह नहीं जान पाता कि संग किस काल में हो गया। असंगता जीवन की वास्तविक सुन्दरता है, जो व्याकुलता की कृपा से मिलती है। व्याकुलता की पूर्णता का अर्थ असंगता और असंगता का अर्थ इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के दरवाजों का बन्द होना, अर्थात् निजानन्द से भर जाना है।

## २० फरवरी १९४१

(१) वृत्तियों का निरोध यद्यपि एक अवस्था है, किन्तु अवस्था से परे होने के लिए निरोध आवश्यक है। क्रिया-जन्य निरोध और स्वाभाविक निरोध में अन्तर है। असंग होने पर स्वाभाविक निरोध होता है और भाव के आवेश में आकर क्रिया-जन्य निरोध होता है। क्रिया-जन्य निरोध किसी प्रकार की शक्ति देने वाला अवश्य है, पर शान्ति देने में असमर्थ है। असंगतापूर्वक स्वाभाविक निरोध शक्ति तथा शान्ति दोनों के लिए समर्थ है। जिस प्रकार फल का मूल्य देने से बगीचे की छाया तथा वायु बिना मूल्य मिलती है, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञानपूर्वक तत्त्व-निष्ठ होने से निरोध अर्थात् योग स्वाभाविक हो जाता है। विश्वासमार्गी प्रथम निरोध का और फिर कृपासाध्य विचार उत्पन्न होने पर असंगता तथा अभेद का अनुभव करता है। इस दृष्टि से हृदय तथा दिमाग की एकता-वाला विचार (साधन) अवश्य है। बोध के लिए जिस विचार की आवश्यकता है, वह तो रागरहित होने पर अर्थात् भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर होता है तथा तीव्र

व्याकुलता बढ़ने पर दुःखहारी हरि विचार के स्वरूप में प्रकट होते हैं। साधारण प्राणी विचार के साधन को विचार, ज्ञान के साधन को ज्ञान अथवा निरोध के साधन को निरोध मान लेते हैं। राग से कामना उत्पन्न होती है, कामनाओं के आधार पर ही माने हुए अहंभाव में क्रिया होती है। कामना-रहित होते ही अहंभाव की सत्ता तथा क्रिया शेष नहीं रहती। उस काल में विचार भगवान् गुरुदेव के स्वरूप में प्रकट होते हैं। वह विचार सिर्फ जीवन में एक बार होता है। जो विचार प्रयत्न पूर्वक किया जाता है वह वास्तव में विचार नहीं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होते ही अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार विचार का उदय होते ही अविचार शेष नहीं रहता। यदि फिर अन्धकार न हो तो प्रकाश की कल्पना की नहीं जा सकती, उसी प्रकार यदि अंधकार न हो तो फिर विचार की कल्पना की नहीं जा सकती।

(२) वृत्ति कभी चेतन नहीं होती, चाहे रजोगुणी हो अथवा सत्त्वगुणी। क्रिया पर अक्रियता शासन करती है। इस दृष्टि से सत्त्वगुणी वृत्ति रजोगुणी से आदरणीय है। जिस प्रकार बहुत बढ़िया शीशे के अन्दर लैम्प की रोशनी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत्त्वगुणी वृत्ति में चैतन्य प्रतीत होता है। वास्तव में सत्त्वगुणी वृत्ति में चैतन्य लेशमात्र भी नहीं है, जैसे शीशे में प्रकाश लेशमात्र नहीं रहता।

(३) अहंस्फूर्ति अज्ञान नाश करने में समर्थ है, परन्तु स्फूर्ति की संज्ञा निरर्थक है, क्योंकि स्फुरण वृत्ति-जन्य ज्ञान है। सत्य कल्पनातीत है। जब तक प्रमाद होता है, तब तक अहं-स्फूर्ति आदर-योग्य है। प्रमाद-रहित तत्त्व-निष्ठा होने पर अहं से भिन्न कुछ है ही नहीं, अतः उसमें स्फूर्ति की कल्पना करना अपना कोई अर्थ नहीं रखता। जिस प्रकार दो की अपेक्षा एक गणना है, एक की अपेक्षा एक नहीं, उसी प्रकार अहं वृत्ति की अपेक्षा अहं-स्फूर्ति बोध है।

(४) जब तक असत् जड़ दुःखरूप की सत्ता स्मृति में शेष है तब तक अहं में सत्-चित्-आनन्द की निष्ठा अनिवार्य है। आत्मा का प्रकाश, आनन्द तथा सत्ता अभिन्न हैं, अर्थात् उनमें भिन्नता नहीं की जा सकती, क्योंकि जो सत् है वही चित् है, वही आनन्द है।

(५) अनुभव से पूर्व जिज्ञासा काल में चेतन का कथन होता है, बस यही उसकी अनुपस्थिति है, वास्तव में तो "है" का अभाव है ही नहीं। 'चेतन है' ऐसा कथन तब होता है, जब चेतन की जिज्ञासा होती है। जब तक किसी प्रकार की दूरी न हो तब तक जिज्ञासा बन नहीं सकती, अर्थात् सभी कथन अभिलाषा होने पर होते हैं। जिस प्रकार भोग की चाह होने पर संसार की प्रतीति तथा संसार का कथन होता है, उसी प्रकार चेतन (योग) की अभिलाषा होने पर चेतन आदि का कथन होता है। चाह आवश्यकता होने पर अथवा सुनने पर होती है। आवश्यकता होने पर सच्ची चाह तथा सुनने पर बनावटी चाह भी होती है। सच्ची चाह अधिक काल तक ठहर नहीं पाती, पूर्ण हो जाती है और बनावटी चाह अधिक काल तक ठहरती है उसी चाह के आधार पर जड़ होकर चेतन का कथन करते हैं। भला अन्धकार ने कहीं सूर्य को और

सूर्य ने कहीं अन्धकार को देखा है? प्यारे, जड़ होकर जड़ का अनुभव करते हो, चेतन होकर चेतन का। चेतन की चाह होने पर तीव्र व्याकुलता से भिन्न कुछ नहीं होना चाहिये। इस दृष्टि से जड़ और चेतन का कथन एकमात्र वृत्ति के सिवाय और क्या है?

जड़ में अवस्था-भेद होता है, चेतन में नहीं। इसकी विशद व्याख्या सुलझे को उलझाने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखती, क्योंकि जड़ और चेतन का विभाग भी जिज्ञासु को समझाने के लिए कल्पनामात्र है। तत्त्व-दृष्टि से सच्चिदानन्दघन से भिन्न कुछ है ही नहीं। प्रतीति की सत्ता को स्वीकार करना ही जड़ को स्थापित करना है। प्रतीति का अभाव होकर चेतन का अनुभव होते ही चेतन से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता। प्रतीति के साधन बदलने पर प्रतीति बदल जाती है, इस दृष्टि से जड़ में अवस्था भेद सिद्ध होता है।

(६) हृदय तथा दिमाग की एकता होने पर निरर्थक भाव ठहर नहीं पाते, अर्थात् वही भाव उत्पन्न होते हैं जो जीवन का स्वरूप हो जाते हैं। हृदय और दिमाग के एक होने पर सच्चाई का व्यवहार होता है। वह प्राणी अपने आपको धोखा नहीं दे पाता, उसको आगे-पीछे का बेकार चिन्तन करने की फुर्सत नहीं मिलती, वह बेचारा असत् होकर सत् की बातें नहीं करता। वह प्रीतम की प्रशंसा सुनकर ही सन्तोष नहीं करता।

(७) विषय-राग उसी समय तक जीवित है, जब तक दुःख की कमी पूर्ण नहीं होती। दुःख की कमी पूर्ण होने पर विषयों में राग लेशमात्र भी शेष नहीं रहता। दुःख की कमी पूर्ण करने के लिए विश्व के साथ नाता स्थापित करना अनिवार्य है। संसार से भिन्न होकर जो दुःख है, वह तो सिर्फ दुःख का ज्ञान कराने के लिए समर्थ है। दुःख का ज्ञान होने पर विश्व का दुःख अपना दुःख होना चाहिये, यही दुःख का पूर्ण होना है।

(८) अनुभव से भिन्न कथन करना ही बोध में अबोध और अबोध में बोध का मिलाना है। प्यारे, विचारो तो सही कथन तो तब करते हो जब प्रतीति नहीं करते। प्रतीति-काल में कथन नहीं होता, सिर्फ प्रतीति की स्मृत्ति धारण कर कथन करते हो। स्मृत्ति भी राग के कारण होती है। यह भाव सूक्ष्म अधिक है, अतः गहराई से देखो, तब यथार्थ मालूम देगा। जब प्रतीति का ही कथन नहीं कर सकते तब अनुभव का कथन किस प्रकार कर सकते हो? क्योंकि अनुभव होने पर अपने से भिन्न कुछ शेष नहीं रहता, फिर कौन किसका कथन करे?

प्रतीति भी पकड़ने में नहीं आती, फिर स्मृति के आधार पर कथन करना कहाँ तक सत्य है?

(९) यदि ज्ञान की बातें सुन नहीं रक्खी होती, तो वैराग्य-काल में स्वरूप-निश्चय करने की फुरसत नहीं मिलती। गहराई से देखो, राग के आधार पर बेचारा अहंभाव जीवित रहता है। जब राग रहा नहीं, तब सिर्फ रुचि (अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त माधुर्य) की अपूर्ति के आधार पर बेचारा माना हुआ अहंभाव सिसकता रहता है। उसको घोर दुःख में देख विचार-भगवान् प्रकट होकर रुचि को पूर्ण करते हैं, क्योंकि स्वरूप का निश्चय

नहीं किया जाता, अनुभव होता है। निश्चय करना तो बुद्धिदेवी का व्यापार है। स्वरूप तो बुद्धि अथवा चाह से परे है। प्यारा स्वरूप भाषा तथा भाव से अतीत है।

(१०) जो विचार घोर व्याकुलता होने पर उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न होते ही अपना कार्य पूर्ण करता है, अर्थात् मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति कर स्वयं बोध कराता है। यदि मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति के लिए बार-बार प्रयत्न करना पड़ता है तो दोनों विचारों में भेद हो सकता है, नहीं तो कुछ नहीं। पूर्ण व्याकुलता होने पर नैन-बैन आदि की क्रिया रुक जाती है। केवल जिज्ञासा के आधार पर प्राणमात्र शेष रह जाता है। घर में वन और जीवन में मृत्यु प्रतीत होती है। सुख की सत्ता मिट जाती है। बेचैनी की एकनिष्ठता हो जाती है। यह भली प्रकार समझ लो कि एकनिष्ठता होने पर सफलता अवश्य होती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अतः पूर्ण व्याकुलता होने पर पूर्णता अनुभव होती है, यही व्याकुलता की पूर्णता है।

(११) विचार तथा निर्विचार इनके विषय में क्या कहा जाय? विचार होते ही अविचार नहीं रहता और न विचार रहता है। तो फिर निर्विचार की सत्ता क्या है? यदि अविचार के अभाव को निर्विचार कहा जाय, तो उचित नहीं मालूम होता, क्योंकि अविचार का अभाव होते ही बोध होता है।

(१२) अभाव को निर्विचार से अतीत यों कहा कि जो विचार अनेक बार होता है, उस विचार की थकावट निर्विचारता है। यदि विचार होने पर फिर विचार नहीं होता तो निर्विचारता तथा अभाव एक हैं।

(१३)कर्त्ता वही होता है, जो भोक्ता होता है अथवा कर्त्ता विचार नहीं कर पाता। विचार भगवान् तो व्याकुलता बढ़ जाने पर स्वयं उत्पन्न होते हैं।

प्यारे, जब सच्चाई भाव तथा भाषा से परे है, तो उसकी व्याख्या ही क्या हो सकती है? सत्य से जातीय एकता है और असत्य से मानी हुई एकता है। मानी हुई एकता मिटाने के लिये व्याकुलता परम औषधि है।

## ५ मार्च १९४१

1. संग होनेसे पूर्व विचार से पूर्ण असंगता होती है। असंगता का पूर्ण होना ही संग हो जाना है, क्योंकि असंगता और संग के बीच में कोई जगह खाली नहीं रहती। यद्यपि अनात्मा की स्वरूप से सत्ता नहीं है, परन्तु ज्ञान और क्रिया का विभाग होने पर स्वीकार की हुई सत्ता से असंगता हो जाती है। असंगता का कथन असंगता होने से पूर्व ही रहता है, क्योंकि पूर्व असंग होने पर अनात्म-भाव का अन्त हो जाता है। जब अनात्म-भाव ही नहीं रहा तो असंगता किससे और कैसी? अविचार के बिना विचार की सिद्धि नहीं हो पाती, जिस प्रकार रोग के बिना औषधि। रोगी को ओषधि की सत्ता स्वीकार करना परमावश्यक है। अतएव अविचार काल

में विचार की सत्ता स्वीकार करना परमावश्यक है।

2. 'क्रिया उसकी अनुभूति करती है जो करने के काल से प्रथम नहीं थी', इस वाक्य के लिखने का भाव सिर्फ यह था कि क्रिया-जन्य रस तथा भाव-जन्य रस में आसक्ति न हो, अथवा यों कहो कि क्रिया से सत्य को खरीदने का प्रयत्न न किया जाय, जो असम्भव है। कुछ विचारमार्गी विश्वासमार्गी के समान ज्ञान के चिन्तन को ज्ञान मानकर चिन्तन-जन्य रस में आसक्त हो विशेष अवस्थाओं में सन्तुष्ट हो जाते हैं, यद्यपि बेचारे स्थायी नित्य शान्ति नहीं पाते, फिर भी ज्ञानाभिमान के रस में फँसकर अपने को ज्ञानी मान बैठते हैं अर्थात् अहंग्रह उपासना आदि को ही ज्ञान मान लेते हैं। अहंग्रहोपासना से अन्तःकरण आदि अनात्म वस्तुओं में विशेष शक्तियाँ रुचि के अनुसार आ जाती हैं। उनमें फँसकर निर्मल शुद्ध बोध से विमुख हो जाते हैं।

3. क्रिया और भाव बुद्धि आदि के विषय हैं। विषय-राग होने पर बुद्धि आदि साधनों की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जिन साधनों से विषयों की ओर जाते हैं, उन साधनों से सत्य की ओर नहीं जा सकते, ऐसा अखण्ड नियम है। बोध का प्रधान हेतु राग-रहित होना है, क्योंकि राग ही अबोध का कारण है। विचार राग को खा लेता है। इस दृष्टि से विचार को क्रियारूप से नहीं माना, यद्यपि साधारण प्राणी की दृष्टि में विचार भी एक पवित्र क्रिया है, परन्तु यह क्रिया सभी क्रियाओं का अन्त अर्थात् ज्ञान और क्रिया का विभाग है। ज्ञान में क्रिया और क्रिया में ज्ञान माना हुआ प्रतीत होता है। वास्तव में तो ज्ञान में क्रिया और क्रिया में ज्ञान स्वरूप से हो ही नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान अनन्त, विभु एवं स्वयं-प्रकाश है। बेचारी क्रिया पर-प्रकाश्य, जड़ तथा सीमित है। सीमित से असीम तथा जड़ से चेतन, मिल नहीं सकता। सीमित का त्याग असीम के अनुभव का साधन अवश्य है।

1. जगत्केस्वरूपमेंभीनिज-स्वरूपकाअनुभवहोनाबोधहै, ऐसा होते ही तत्त्व-दृष्टि होती है। जगत् के स्वरूप में निज-स्वरूप का अनुभव होना यद्यपि बोध है, परन्तु प्रीति की कमी इसलिये कथन की कि तत्त्व-ज्ञान होने पर निर्विकार स्वरूप में क्रियारूप विकार (जगद्ध का प्रतीत होना, जो वास्तव में स्वरूप से नहीं है, ज्ञान-निष्ठा की कमी से ही है। निष्ठा की कमी ही प्रीति की कमी है। प्रीति क्रिया नहीं है, बल्कि पूर्ण अक्रियता है, क्योंकि क्रिया का जन्म कामना से होता है, और कामना-युक्त दशा में प्रीति हो नहीं पाती। अतः प्रीति का जन्म तब होता है जब कामना नहीं रहती, अथवा यों कहो कि प्रीति प्रीतम का स्वभाव है, अतः प्रीति को प्रीतम में ही विलीन करना आवश्यक है।

2. भेद-भाव से तो प्रीति होती ही नहीं, अथवा प्रीति होने पर भेद-भाव रहता नहीं। गहराई से देखो, प्रीति जिससे होती है, उसका त्याग नहीं किया जा सकता। त्याग किसका नहीं किया जा सकता? यदि इस पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि कोई भी 'अपना' त्याग नहीं कर पाता। अतः प्रीति 'अपने' में हुई, तो फिर बताओ कि वह भेद तथा दूरी

कैसे बढ़ा सकती है, अर्थात् नहीं बढ़ा सकती, बल्कि वह तो दूरी एवं भेद को मिटाती है। बिना प्रीति के ज्ञान तो सभी को प्राप्त है, क्योंकि ज्ञान की ही सत्ता से अज्ञान (संसार आदि) की सत्ता प्रकाशित होती है। प्रीति से ज्ञान की निष्ठा दृढ़ होती है।

3. बोध होते ही 'प्रतीति' शेष रहने पर भी तत्त्व-दृष्टि रहती ही है। इस तत्त्व-दृष्टि का अर्थ संसार के स्वरूप में निज स्वरूप का अनुभव होना है। विश्वासमार्गी जिस प्रकार 'यह जो कुछ है, वह प्रेम-पात्र का है' अनुभव करता है, इसी प्रकार विचार मार्गी' यह जो कुछ है, मेरा ही स्वरूप है', ऐसा अनुभव करता है। निष्ठा बढ़ जाने पर यह जो कुछ भी मिट जाता है।

4. बोध में प्रीति 'आवश्यक' निष्ठा के लिये है और किसी लिये नहीं। यद्यपि बोध स्वयं निष्ठा है परन्तु निजानन्द से अन्तःकरण का छक जाना, सुन्दरता को श्रृंगार के समान है।

5. निर्वासनिक होने पर प्रीति का उदय होता है। प्रीति क्रिया नहीं है, अतः वह अभेद नहीं होने देगी, ऐसी शंका बन नहीं सकती।

6. विश्वासमार्गीप्रिम-पात्र की सत्ता पर विश्वास कर प्रयत्न पूर्वक निरोध करता है, परन्तु ज्ञान और क्रिया का विभाग करने में असमर्थ होता है। उस विभाग के करने की शक्ति का उदय कृपा-साध्य है, क्योंकि यदि क्रिया-साध्य कहा जाय तो विश्वास मार्ग ही कैसा? विश्वास-मार्ग का अनुसरण भाव की प्रबलता तथा विचार की कमी में होता है। भाव-प्रधान प्राणी कृपा पर भरोसा करता है, क्रिया पर नहीं। गहराई से देखो, विचार तो क्रिया-साध्य है भी नहीं। विचार तो कृपा-साध्य ही है, क्योंकि क्रिया बुद्धि आदि से होती है और विचार बुद्धि से असंग करता है। अतः विचार क्रिया-साध्य नहीं हो सकता। विचारमार्गी स्वरूप की कृपा का अनुभव करता है और विश्वासमार्गी अपने इष्टदेव की।

7. अनात्म-भाव को त्यागकर आत्म-भाव का अनुभव करना ही तत्त्वज्ञान का अर्थ है।

## १० मार्च १९४१

*(ओलों की वर्षा होने पर प्रकृति द्वारा जनता के अहित होने का प्रश्न उपस्थित होने पर समाधान–)*

1. प्रकृति प्राणी की माता के समान है। जिस प्रकार माता अपने बालक की इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की रचनाएँ करती है, उसी प्रकार प्रकृति प्राणी की इच्छाओं की पूर्ति के लिये अनेक रचनाएँ करती है। माता की कोई भी क्रिया बालक के अहित के लिये नहीं होती, यह सभी बालक जानते हैं, तो फिर 'प्रकृति माता अहित करती है' यह बात कहने के लिये स्थान नहीं रहता। कोई भी दण्ड ऐसा नहीं होता कि जिससे सुधार न हो, तो फिर प्रकृति का न्याय गलत कैसे हो सकता है? यदि प्रकृति की सारी क्रियाएँ दुःख का कारण हैं तो फिर हित का कारण किसकी क्रियाएँ है? जो बुद्धि प्रकृति की भूल निकालती है, क्या वह प्रकृति की नहीं है? प्रकृति से ही प्रकृति की भूल निकालना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? अपने शरीर का मोह

धारण कर दूसरे शरीरों के सुख-दुःख से सुखी-दुःखी होकर अपने शरीर के मोह को जीवित रखने का प्रयत्न सज्जनता, उदारता आदि के नाम से कथन किया जाता है। प्रकृति की स्वाभाविक क्रियाएँ अहितकारी किसी प्रकार नहीं हो सकती, क्योंकि कोई भी अपने साथ अहित नहीं करता। शरीर आदि प्रकृति के हैं, अतः उनके सुधार में प्रकृति भूल नहीं कर सकती। प्रकृति की भूल सिर्फ राग-द्वेष के कारण दिखाई देती है।

2. जगत् नाना रूपवाला है। यह बात सिर्फ इतना ही बता पाती है कि 'जगत् में रहकर जगत् के विषय में बात करना।' जगत् क्या है? यह तो तब कहा जा सकता है जब हम जगत् से अलग हों। जगत् से अलग होकर जगत् एक वस्तु है, अनेक नहीं, क्योंकि जगत् का नानात्व जगत् होकर प्रतीत करते हो, जगत् होकर जगत् को जान नहीं पाते, अतः जगत् में नानात्व है, यह बात किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। जगत् की प्रतीति करने वाला, प्रतीति के साधन तथा प्रतीति ये तीनों वस्तुएँ एक हैं, क्योंकि प्रतीति और प्रतीति के साधन इन दोनों से असंग होने पर प्रतीति करने वाला शेष रहता है। उसका अनुभव होने पर जगत् का अनुभव नहीं रहता, बल्कि जगत् उसको अपनी एक अवस्था मालूम होती है। अवस्था अवस्थावाले से भिन्न नहीं होती, अतः जगत् मेरा ही स्वरूप है, यह बात भली प्रकार सिद्ध हो जाती है। जल का ज्ञान होने पर लहर जल से भिन्न नहीं है उसी प्रकार जगत् का यथार्थ ज्ञान होने पर जगत् निज-स्वरूप से भिन्न नहीं है। जल-दृष्टि होने पर लहर-दृष्टि शेष नहीं रहती, फिर लहर में नानात्व है, यह कैसे कहा जा सकता है।

एक जीवन से भिन्न और कुछ विचार-दृष्टि से देखने में नहीं आता। आपको जो कुछ प्रतीत होता है वह केवल आपका राग है। राग-रहित होने पर जगत् क्या है, इस पर विचार करो। राग-रहित होते ही बुद्धि आदि की चेष्टा सम हो जाती है फिर किन साधनों से जगत् का नानात्व अनुभव करते है? शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध से भिन्न प्रतीत किसकी होती है? वह प्रतीति विषयों के राग के सिवाय और क्या अर्थ रखती है? राग-युक्त बुद्धि जगत् के स्वरूप को कैसे जान सकती है? राग बिना जगत् की प्रतीति कहाँ है? इन सब कारणों पर विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि जिसको जो प्रतीत होता है, वह उसकी एक अवस्था है, अर्थात् जगत् मेरा ही स्वरूप है।

3. सुख'थकावट' है, यह बात सब प्रकार से सत्य है। प्यारे, जिस काल में जिस सौन्दर्य का अनुभव करते हो, क्या उस काल में उससे और विशेष सौन्दर्य की कल्पना नहीं हो सकती, यदि हो सकती है तो फिर वह सौन्दर्य कैसा? अर्थात् वह सुन्दरता सुन्दरता नहीं रह जाती। परन्तु फिर भी सुन्दरता मानकर (जानकर नहीं) सुख का रस चखते हो। क्या किसी भी काल में सुन्दरता स्थिर है? यदि स्थिर नहीं तो सुन्दरता की सत्ता क्यों स्वीकार करते हो? यदि सत्ता स्वीकार नहीं करते तो सुन्दरता का रस क्यों चखते हो? यदि रस नहीं चखते हो तो सुख कहाँ? यदि सुन्दरता का ज्ञान है तो सुन्दरता की स्थिरता कहाँ? क्योंकि परिवर्तन

प्रवाहवत् निरन्तर है। जब प्रतीति की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती, तो फिर सुख की सत्ता सिद्ध कैसे हो सकती है? तो सुख थकावट नहीं तो क्या है? संसार को देखने की दृष्टि बन्द करके सुख का अनुभव करते हो। विषयों की सुन्दरता तत्त्व-वेत्ता को प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्वरूप से नहीं है। विषयी बेचारा स्वरूप को जान नहीं पाता, अतः विषयी का कथन विषयों के विषय में माननीय नहीं हो सकता, क्योंकि इस बेचारे को विषयों का ज्ञान तो है नहीं। भूला हुआ सुखी जिस काल में सुख की सत्ता का अनुभव करता है, क्या उस काल में वह सुख के स्वरूप को जानता है? अर्थात् नहीं जानता।

प्यारे, जिसकी सत्ता तुम स्वीकार कर लेते हो वही शासन करता है। अतः अपने से भिन्न किसी भी काल में किसी की सत्ता को स्वीकार न करो।

## २१ मार्च १९४१

यदि बुद्धि महारानी से ऊपर उठने में कुछ भय मालूम होता है, तो उसका अर्थ यही होता है कि अभी बुद्धि की आवश्यकता है। यह आवश्यकता तब तक रहती है, जब तक बुद्धि महारानी से वह काम नहीं करते जो करना चाहिए। गहराई से देखो, जो साधन विषयों में प्रवृत्त कराने में समर्थ हैं, वे सत्य का अनुभव कराने में असमर्थ हैं।

१. बुद्धि आदि द्वारा प्रकृति की भूल पकड़ना यही अर्थ रखता है कि 'कुल' भूल करता है और जुज भूल पकड़ता है, यद्यपि जुज हर काल में कुल के आश्रित है, अर्थात् परतंत्र है। जुज को जो कुछ हानि दिखाई देती है वह जुज का दोष है, कुल का नहीं। गहराई से देखो, क्या आँख सूरज का दोष पकड़ सकती है? क्या आँख सूरज से अधिक देख सकती है? आँख बिगड़ जानेपर भले ही सूरज को गालियाँ देती रहे, वास्तव में तो सूरज बेचारा अनन्त आँखों को देखने की शक्ति प्रदान करता है। शक्ति प्रदान करते हुए भी बिगड़ी हुई आँख नहीं देख पाती यह आँख का दोष है। आँख में आसक्त बुद्धि सूर्य की व्यर्थ आलोचना करती है। भोक्ता को भोग प्रकृति ही प्रदान करती है। जब भोक्ता भोग करने के योग्य नहीं रहता, तब छीन लेती है। छीनते समय भोक्ता भोग-दाता माता पर आक्षेप करता है यह उसका राग है और कुछ नहीं।

प्रकृति माता पूर्णता देने में असमर्थ हैं, क्योंकि वह स्वयं पूर्णता की ओर दौड़ रही है। विषयी प्रकृति पर आक्षेप नहीं कर पाता, क्योंकि उसके बिना रह नहीं पाता और वीतराग का उससे संबंध नहीं रहता, अतः वह भी कुछ नहीं कह सकता। दैवी आपत्तियों से बचाने का अभिमानी यूरोप आज किस दशा में है? देखो तो सही, प्रकृति बेचारी अपनी अपूर्णता का परिचय देकर अपने (पूर्ण) प्रीतम की ओर जाने के लिए निरन्तर संकेत करती है। अतः सभी दृष्टियों से यही भली प्रकार ज्ञात होता है कि कुल से जुज की हानि नहीं होती। यदि यह स्वीकार करते हो कि कुल जुज की हानि करता है, तो जुज कुल से अलग क्यों नहीं हो जाता? जब तक जुज कुल से

अलग नहीं हो पाता तब तक कुल पर जुज का आक्षेप करना शोभा नहीं देता। जुज कुल से अलग होने से सर्वदा असमर्थ है, क्योंकि कुल से भिन्न जुज की कोई सत्ता ही नहीं। बीमारी आदि की कपोलकल्पना तो सिर्फ इसलिए की थी कि ओलों द्वारा हानि देखने का तो प्रयत्न किया, किन्तु वह हानि भविष्य में क्या अर्थ रखती है, इस पर दृष्टि नहीं की। वर्तमान की क्रिया पर ही दृष्टि रखना दृष्टि की संकीर्णता है। 'टुकड़ों' को देखकर 'कुल' पर आक्षेप करना क्या कपोलकल्पना नहीं? अनन्त संसार अनन्त भोगों को भोग रहा है, क्या वह प्रकृति से नहीं मिले हैं? गहराई से देखो, जो जानवर गर्म स्थान से बर्फ के स्थान पर चला जाता है वह बेचारा सर्दी से बचने के लिए कपड़े नहीं बनवा पाता, तो प्रकृति माता अपने उस दीन बालक के शरीर पर बड़े-बड़े बाल उत्पन्न कर सर्दी से बचा लेती हैं। भोग-दृष्टि से प्रकृति माता भोक्ता का सर्वस्व है, अर्थात् भोगी को प्रकृति का आदर करना ही होगा। जो भोगी प्रकृति का विरोध करते हैं, उनमें भोगने की शक्तिहीनता आ जाती है, जिस प्रकार बिजली के आविष्कार से आँख की दुर्बलता हो गई है, ऐसा डाक्टर मानते हैं।

प्यारे, प्रकृति से लड़ने के लिए भी तो प्रकृति की ही सहायता लेते हो, किन्तु प्रकृति सहायता देने के लिए इन्कार नहीं करती। विषयी के लिए प्रकृति कल्पतरु है। विषय-पूर्ति के लिए प्रकृति अनुकूल साधन प्रदान करती है, यही प्रकृति का हित करना है। क्या आप यह नहीं मानते कि दुःख से सुधार होता है? जब दुःख से सुधार होता है तब दण्ड से सुधार हुआ, इसमें क्या संदेह है? कमी को जीवित रखने के समान और क्या अपराध होगा? क्या यह अपराध उन प्राणियों का नहीं है जो दैवी घटनाओं से दुःख का अनुभव करते हैं? क्या पूर्ण होने पर यह कमी मिट नहीं जाती? अतः कमी का जीवित रखना महान् अपराध है और कमी न रहना सुधार है। इस दृष्टि से दण्ड तथा सुधार दोनों ही ज्ञात हैं। कोई प्राणी सब प्रकार के दैवी विघ्नों से बच नहीं सकता, जब तक तत्त्वनिष्ठ न हो जाय। अतः विघ्नों से बचने का अभिमान कथन मात्र है। प्यारे, व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध करो। तत्त्वनिष्ठ होने के लिए निरन्तर प्रयत्न है। जातीय अभिलाषा की पूर्ति के लिए माना हुआ संबंध असमर्थ है। मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति जातीय अभिलाषा पूर्ण करने के लिए परमावश्यक है।

(२)'जगत् मेरा ही स्वरूप है' यह तत्त्व-दृष्टि है, अर्थात् ज्ञान है। ज्ञान से जगत् की सत्ता का अभाव है। स्वरूप का अर्थ सत्ता है न कि जगत्। जगत् एक मेरी ही अवस्था है, यह विवेक दृष्टि है। विवेक दृष्टि से असंगता होकर निज-स्वरूप का बोध होता है, अर्थात् तत्त्व-दृष्टि हो जाती है। 'जगत् मेरा ही स्वरूप है' इस दृष्टि से ही जगत् का अभाव होता है और विज्ञान अर्थात् तत्त्व-निष्ठा हो जाती है।

सिनेमा के समान विराट् संसार को देखना ही राग है। इस राग से तत्त्व-ज्ञान नहीं हो पाता। सिनेमा और उसका देखने वाला इन दोनों का विभाग करना विवेक है। विवेक होने पर तत्त्व

निष्ठा होती है और फिर सिनेमा की सत्ता शेष नहीं रहती।

सिनेमा की सत्ता स्वीकार करने पर सिनेमा की वासना मिट नहीं सकती। विराट् भगवान् को सिनेमा के भाव से कथन करना, कथन करने के सिवाय और कुछ सार्थक अर्थ नहीं रखता। सिनेमा-भाव से विषयों का उपभोग करना विषयी की चतुरता है। प्यारे, विचारशील को तो विषयों का अंत करना है। सिनेमा की दृष्टि से तो विषयों की रक्षा होती है, अतः इस दृष्टि से तो विषयों का नितान्त अंत कर दो।

## २६ मार्च १९४१

- जगत्का अभाव होने परही जगत् मेरा ही स्वरूप है' यह अनुभव होता है, क्योंकि जगत् की सत्ता न रहने पर अहं की सत्ता शेष रहती है, स्वरूप का अर्थ सत्ता है।
- जगत् एक है, यह बात विवेक-काल की है जगत् अनेक है, यह बात अविवेक-काल की है। विवेक ज्ञान का नहीं, बल्कि अविवेक का अंत करने में समर्थ होता है।
- यदि बोध है तो मनन क्यों करते हो? क्योंकि मनन तो बोध होने से पूर्व होता है। अवस्था का अनुभव जिन साधनों से हो वह साधन तथा अवस्था दोनों एक हैं, किन्तु अनुभवकर्त्ता साधन और अवस्था इन दोनों से भिन्न है, यह बात भी विवेककाल की है, अथवा यों कहो कि साधन है।
- अनन्त संख्यायें एक ही इकाई से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि इकाई की सत्ता निकलने पर संख्या कुछ नहीं रहती। अतः एक इकाई की संख्या ही संख्यारूप से प्रतीत होती है, और ज्ञान होने पर इकाई ही शेष रहती है अर्थात् जगत् का नानात्व एकत्व में विलीन होता है। गहराई से देखो, 1 से 9 तक गणना होने पर अंत में फिर एक ही शेष रहता है।

★ ★ ★

1. वेदान्त की बात तो वेदान्त वाले जानें, अनेक ज्ञाता और अनेक ज्ञेय यह दोनों एक है, अर्थात् दोनों ही ज्ञेय हैं, क्योंकि जिसको ज्ञाता कहते हो वह ज्ञेय की प्रतीति कराता है। प्रतीति क्या है, इसको प्रतीतिकर्त्ता नहीं जानता। प्रतीतिकर्त्ता स्वरूप से एक होते हुए भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। जिस प्रकार मिट्टी, साधारण काँच अथवा दूरबीन का काँच तीनों का कारण एक ही है, अथवा यों कहो कि तीनों एक हैं। इन्द्रियाँ जिसको कुछ दिखाती हैं उसको बुद्धि महारानी कुछ और ही दिखाती हैं। इन्द्रियाँ तथा बुद्धि के बदल जाने पर प्रतीति भी बदल जाती है। इन्द्रियों तथा बुद्धि की चेष्टा में सिर्फ प्रतीति का अन्तर होता है। साधारण मानव प्रतीति के अन्तर को ज्ञान मान लेते हैं। अतः वे बेचारे नाना ज्ञेय और नाना ज्ञाता स्वीकार कर लेते हैं। प्रतीति ज्ञान नहीं होती, बल्कि विषय होती है। विषय का भोक्ता विषय को जान नहीं पाता। प्रतीति को स्वीकार करना

ही प्रतीतिकर्त्ता का प्रतीति को भोग करना है। भोग तथा भोक्ता दोनों स्वरूप से एक होते हैं, क्योंकि यदि भिन्न हों तो संबंध नहीं हो सकता। अतः अनेक प्रतीतियाँ और अनेक प्रतीतिकर्त्ता ये दोनों ज्ञेय हैं। अथवा यों कहो कि भोक्ता और भोग दोनों एक हैं। भोक्ता और भोग दोनों से परे बोध स्वरूप ज्ञाता हैं, इस दृष्टि से ज्ञाता एक है, अनेक नहीं।

2. समाज-भाव की एकता सिर्फ कल्पना मात्र है, क्योंकि व्यक्ति भेद होता है विराट्-भाव तो अनेक व्यक्तियों का एक शरीर है, जिस प्रकार अनेक अंग एक शरीर है।
3. दुःख का भोक्ता होता है, ज्ञाता नहीं। भोक्ता कभी ज्ञाता नहीं होता और ज्ञाता कभी भोक्ता नहीं होता। भोग और भोक्ता दोनों अनित्य हैं, ज्ञाता नित्य है। भोक्ता अनेक हैं, ज्ञाता एक है। गहराई से देखो, यदि शरीर के दुःख-भोक्ता को ज्ञाता मान लिया जाये तो भोक्ता कौन होगा? प्यारे, शरीर में अनेक कीटाणु अपनी रुचि के अनुसार भोग करते हैं, क्या शरीर के दुःख का भोक्ता उन कीटाणुओं के सुख-दुःख का ज्ञाता होता है? यदि दुःख-भोक्ता और ज्ञाता एक होते तो प्रत्येक कीटाणु के सुख-दुःख का ज्ञाता भी शरीर का दुःखभोक्ता होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं होता। जिसमें ममत्व का भाव होता है वह ज्ञाता नहीं होता, बल्कि भोक्ता है। ज्ञाता तो सर्वथा असंग है।
4. सर्व शरीर-भाव होने पर समाज भाव आता है, विराट् भाव से सिर्फ एक शरीर होता है। सर्व शरीर का एक अभिमानी यह कथन कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि शरीर के संग से ही अभिमानी की कल्पना होती है। शरीर एक है, सर्व नहीं, क्या शरीर के कीटाणुओं का अभिमान प्रश्नकर्त्ता को होता है? क्या सब कीटाणुओं को निकाल देने पर शरीर की सत्ता शेष रहती है? जिस प्रकार अनेक कीटाणुओं की एकता ही एक शरीर है, उसी प्रकार अनेक शरीरों की एकता ही एक विराट् शरीर है। विराट् और शरीर इन दोनों का स्वरूप एक है। इस दृष्टि से विश्व एक जीवन है, अनेक नहीं।

★ ★ ★

तत्त्व बुद्धि से परे है, उसको बुद्धि प्रमाणित नहीं करती, बल्कि संकेत करती है। बुद्धि महारानी तो सिर्फ चाह के अनुसार क्रिया में प्रवृत्त होती है। जब चाह-पूर्ति नहीं कर पाती तब चुप हो जाती हैं, अर्थात् सम हो जाती हैं। बुद्धि के सम होते ही विचार-भगवान् प्रकट होते हैं, जो ज्ञान और क्रिया का विभाग कर अपने से अभिन्न कर लेते हैं। बुद्धि महारानी सिर्फ प्रतीति के परिवर्तन को प्रकट करती हैं, प्रतीति क्या है, इसको नहीं जानती। यदि जानने में समर्थ होती तो समाधि का कोई मूल्य नहीं होता। यह सभी जानते हैं कि समाधि-जन्य रस बुद्धि-जन्य रस से श्रेष्ठ है। अतः बुद्धि महारानी अनन्त रस तक पहुँचाने में असमर्थ हैं। प्यारे, मनन कुल का होता

है, टुकड़ों का नहीं। टुकड़ों का मनन तो कर्म है। कर्म ज्ञान का साधन नहीं होता, बल्कि भोग का दाता होता है। मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति के लिए जो प्रयत्न है, वही मनन है। मानी हुई सत्ता में विचरण करना मनन से विमुख होना है, अथवा व्याकुलता से बचने का उपाय है, क्योंकि बुद्धि-जन्य क्रिया के आधार पर जीवित रहना जिज्ञासु को उचित नहीं है। जब व्याकुलता की अग्नि में मानी हुई सत्ता जल जाती है, तब विचार भगवान् आकर जली हुई अग्नि को शान्त कर देते हैं, अर्थात् फिर आनन्द की गंगा लहराती है। विश्वास-मार्गियों की भाँति भविष्य की आशा पर जीवित मत रहो, बल्कि वर्तमान में ही पूर्ण जीवन का अनुभव करो।

## २९ मार्च १९४१

1. यदिजुजकोअपनेव्यक्तित्व से मोह न हो तो क्या यह भाव उत्पन्न हो सकता है कि प्रकृति अहित करती है?
2. कुल का हित होने पर क्या जुज का हित होना शेष रहता है, जब कि जुज और कुल स्वरूप से अभिन्न हैं?
3. जुजरूप में कर्त्ता भोक्ता जो प्रतीत होता है, क्या वह प्रकृति से उत्पन्न नहीं हुआ? वह भी उसी प्रकृति का अंग है, भिन्नता देखना दृष्टि की कमी है।
4. जुज में कर्त्तापन और भोक्तापन होता है, कुल में दातृत्व नहीं है तो फिर जुज में दीनत्व कैसे आता है? दीन का होना ही दाता को सिद्ध करता है। यदि प्रकृति दाता नहीं है तो यज्ञादि द्वारा लोकान्तर की प्राप्ति व्यर्थ सिद्ध होगी, कर्मवाद की सत्ता शेष नहीं रहती। प्रकृति का मूल्य जिज्ञासु अथवा तत्त्ववेता की दृष्टि में कुछ न हो, किन्तु भोगवादी तथा कर्मवादी के लिए तो प्रकृति ही सब कुछ है। जुज-बुद्धि तथा जुज-अहं का कुल ईश्वर की माया और ईश्वर है, क्योंकि बुद्धि माया से अभिन्न है और अहं ईश्वर से, इनसे केवल मानी हुई दूरी है। जुज अहं कुल के अहं ईश्वर में विलीन होता है। और बुद्धि माया में विलीन होती है यह तत्त्व-वेत्ता को प्रत्यक्ष है।
5. भोक्ता और भोग दोनों ही प्रकृति हैं। चैतन्य को भोग की आवश्यकता नहीं होती। बुद्धि महारानी भी प्रकृति ही है। यदि प्रकृति जड़ है, तो क्या बुद्धि चेतन है? क्या बुद्धि अनेक बार प्रकृति के सामने दीन नहीं हुई है? क्या थकावट दूर करने के लिए सुषुप्ति में विलीन नहीं होती है? क्या 'अज्ञान' प्रकृति नहीं है, जिसमें बुद्धि विलीन होती है? 'प्रकृति जड़ है' यह जड़ बुद्धि थोड़े ही कह सकती है? यदि कहती है, तो वह स्वयं जड़ है, जड़ को जड़ कैसे कह सकती है? यदि कहती है तो अपने आपको धोखा देती है। हाँ 'आप' भले ही कह सकते हो, क्योंकि चैतन्य हो। प्रकृति 'है' मात्र है। यह सत्ता तो प्रकृति को आपने दी है, न कि बुद्धि ने। भला आप अपनी दी हुई सत्ता का कैसे तिरस्कार कर सकते हो? यह अवश्य कर सकते हो कि उसको अपने

ही में विलीन कर लो। यह बेचारी तो आपकी ओर निरन्तर दौड़ रही है।

6.

क. बुद्धि के न देख सकने से क्या भविष्य में लाभ नहीं होता? क्या वर्तमान की मृत्यु भविष्य जीवन की दाता नहीं होती?

ख. विषय की अरुचि से तो वर्तमान में ही लाभ है, परन्तु भविष्य में तो भौतिक लाभ होगा, क्योंकि प्रकृति इच्छाओं की पूर्ति के अनुकूल क्षेत्र प्रदान करती है। क्या वर्तमान में गला हुआ बीज अपने स्वभाव के अनुसार अपनी अनन्त सत्ता प्रकृति से नहीं पाता?

ग. यह तो बीज से पूछो कि प्रकृति उदार है या संकीर्ण।

घ. मोह का अंत तो ज्ञान से होता है और किसी प्रकार नहीं। अथवा मोहवाली बात इस प्रसंग में लिखना व्यर्थ एवं असंगत है।

7. यदि सूरज जड़ है, तो आँख क्या चेतन है? आँख बुद्धिपूर्वक देखती है, अथवा बुद्धि आँख द्वारा देखती है? अथवा बुद्धि और आँख दोनों के द्वारा अहं देखता है? अहं की दृष्टि से सूरज जड़ है या आँख और बुद्धि की दृष्टि से सूरज जड़ है? सूरज को जड़ अहं की दृष्टि से कह सकते हो। आँख की दृष्टि से सूरज आँख का देवता है।

8. जुज को जो हानि दिखाई देती है, वह इसलिए कि वर्तमान परिस्थिति से जुज की आसक्ति है। गहराई से देखो प्रत्येक जुज जब अपने को अत्यन्त शक्ति-हीन पाता है, तब स्वयं मृत्यु का आवाहन करता है, अर्थात् कुल में विलीन होना चाहता है। जुज की आन्तरिक दृष्टि में कुल हितैषी है। जब तक जुज में दुःख की कमी रहती है, तब तक कुल पर आक्षेप करता है। 'अहित' जुज की भूल दृष्टि है। और 'हित' जुज की यथार्थ दृष्टि है यहाँ 'हित' का अर्थ भोग-दाता से है, ज्ञान से नहीं।

9. जब दैवी आपत्तियों से नहीं बच सकते, तो बचने का प्रयत्न ही निरर्थक है।

10. क्या आप यह नहीं जानते कि संकल्प करने की आवश्यकता ही अप्राप्त दशा में होती है? जुज का संकल्प करने का अर्थ कुल से भिक्षा माँगना है।

11. थोड़ी आपत्ति से बचने पर बड़ी आपत्ति आती है। अतः विचारशील को कुल आपत्तियों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। धारा-प्रवाह शरीर काल-अग्नि में जल रहा है, किसी आविष्कार से बचाओ। यदि आविष्कार से नहीं बचा सकते तो प्रकृति के समर्पण कर अपना पल्ला छुड़ा लो। प्रकृति की वस्तु पर अपना अधिकार करना क्या ईमानदारी है?

12. यदि हित करना व्यर्थ है, तो क्या अहित करना सार्थक है? तो बेचारे विषयी प्राणियों के लिये कौन सा स्थान है? कर्मवादी किस आधार पर जियेंगे? स्वर्ग तक कौन ले जायेगा? यज्ञ की सामग्री कौन पहुँचावेगा?

चन्द्रमा के बिना अन्न आदि में रस कौन देगा? सूर्य के बिना अन्ना कौन पकावेगा?

★ ★ ★

- देखनेवाला जब तक देखने की अभिलाषा करता है तब तक देखनेका राग है, दीखने वाली सत्ता सत् हो अथवा असत्। असत् सिनेमा की आसक्ति भी बंधन है। विषय और भोक्ता दोनों स्वरूप से एक हैं। केवल असत् समझना रागरहित होना नहीं है, बल्कि अपने से भिन्न किसी की भी आवश्यकता का न होना यही निष्ठा राग-रहित है। किसी और की आवश्यकता का होना ही राग है।
- राग-रहित निष्ठा से भिन्न सब कुछ राग है।

## ५ अप्रेल १९४१

प्रकृति-हितवाद की कल्पना प्रकृति-अहितवाद के लिए थी। वर्तमान स्थूल सृष्टि पर ही भरोसा करना बेचारे विषयी प्राणियों के लिए सीमित क्षेत्र कर देने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। हिन्दुओं का यज्ञवाद आदि जो आपके शब्दों में रूढ़िवाद आदि है, विषयी लोगों को वर्तमान विषय से विरक्त कराने में समर्थ है और बड़े-बड़े विशेष भोगों में प्रवृत्ति का कारण है। इसके सिवाय उसका और कुछ मूल्य नहीं।

प्यारे, किसी भी पत्र में मानने के लिए आग्रह नहीं किया और कोई भी उत्तर विषयान्तर नहीं दिया। बिना पूछे अपनी ओर से प्रकृति के विषय में कभी नहीं लिखा, पूछने पर जो भाव उत्पन्न हुआ प्रकट कर दिया।

भोग इच्छा संसारवाद को स्वीकार करती है, अथवा यों कहो कि भोग-इच्छा ही संसार है।

मोक्ष की इच्छा ईश्वरवाद को सिद्ध करती है। ईश्वर-भक्त ईश्वर का वही अर्थ लेते हैं, जो जिज्ञासु निज स्वरूप का लेते हैं।

कोई भी शब्द अपना अर्थ आप तो प्रकाशित करते नहीं, इसलिए जो बात जिस भाव से कही हो उसको उसी भाव से देखो। शब्दों पर मत जाओ। दुःखी को संसार में स्थान नहीं मिलता और सुखी को ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती। विचार-मार्ग का अनुसरण करने पर किसी भी प्रकार का लेशमात्र भी संशय शेष नहीं रहता किन्तु उसका अधिकारी होना चाहिए। कुछ कल्पनाओं को मानना और कुछ को न मानना यह तो विचार-मार्ग है नहीं। सभी कल्पनाओं का अंत होने पर बुद्धि की क्या आवश्यकता शेष रहती है? अर्थात् कुछ नहीं। बुद्धि आदि के सम होने पर क्या स्वयं-प्रकाश तत्त्व का अनुभव नहीं होता? अर्थात् अवश्य होता है, क्योंकि बुद्धि की सम और विषम इन दोनों अवस्थाओं का बोध क्या निर्विकल्प बोध अथवा स्वयं-प्रकाश को नहीं है?

निर्विकल्प बोध में क्या सृष्टि की सत्ता शेष रहती है? अर्थात् नहीं रहती। जाग्रत, स्वप्न

और सुषुप्ति तो शरीराभिमानी अहं की होती है, स्वयं-प्रकाश की नहीं।

माना हुआ अहं मिटाकर क्या किसी प्रकार की चाह उत्पन्न कर सकते हो? अर्थात् नहीं कर सकते। चाह-रहित होने पर क्या भोग तथा मोक्ष का प्रश्न शेष रहता है? अर्थात् नहीं रहता। भोगेच्छा शेष रहते हुए संसारवाद मिट नहीं सकता और न मोक्षेच्छा शेष रहते हुए ईश्वरवाद (अध्यात्मवाद) ही मिट सकता है। दोनों प्रकार की इच्छाओं के आधार पर माना हुआ अहं जीवित है। अतः उस माने हुए अहं का अंत होते ही दोनों वाद तत्त्वज्ञान में विलीन हो जाते हैं।

शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना शरीर के स्वभाव से विपरीत है, क्योंकि जिस प्रकार दिन और रात दोनों से ही काल की सुन्दरता होती है, उसी प्रकार रोग-आरोग्य दोनों से ही शरीर की वास्तविकता प्रकाशित होती है।

(प्रकृति द्वारा जनता का अहित होने के प्रश्न के समाधान की समाप्ति)

## ४ अप्रेल १९४१

- सच्चाई जीवन की परम आवश्यक वस्तु है, परन्तु झुठाई की आसक्ति के कारण सच्चाई कठिन सी मालूम होती है, यद्यपि सच्चाई का अनुभव अत्यन्त सुगमता पूर्वक हो सकता है, क्योंकि सच्चाई का अभिलाषी उसका अनुभव करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। गहराई से देखो, विषय तथा विषयों के उपभोग करने के साधन ये दोनों किसी को भी स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं मिलते, क्योंकि विषयों का उपभोग बिना संगठन के नहीं हो सकता। परन्तु विषयों की रुचि का त्याग करने में तो स्वतंत्रता है। विषयों की रुचि का त्याग करते ही कर्त्ता का मूल्य बढ़ जाता है। ऐसे भोक्ता को भोगों का चिन्तन नहीं होता, बल्कि भोग स्वयं अपनी सार्थकता के लिए उसकी शरण में आते हैं। ऐसी प्रवृत्ति सिर्फ वर्तमान में प्रतीतिमात्र है? क्योंकि ऐसे भोक्ता को प्रवृत्ति-जन्य रस नहीं होता। रस के बिना अवस्था में सद्भाव नहीं होता। अतः ऐसे भोक्ता की प्रवृत्ति केवल प्रतीतिमात्र है। यह नियम है कि प्रत्येक प्रवृत्ति का अंत अपने आप होता है। प्रवृत्ति के अतंकाल में पूर्ण निवृत्ति होकर स्वरूप-स्थिति स्वयं हो जाती है। यद्यपि स्वरूप-स्थिति सच्चाई का अनुभव नहीं है, परन्तु अन्य सभी अवस्थाओं से श्रेष्ठ है। इस अवस्था के आने पर मल-विक्षेप का अंत हो जाता है। सभी अवस्थाओं का उत्थान होता है। जब सच्चाई का अभिलाषी उत्थान का दुःख सहन नहीं करता, तब स्वरूप की कृपा से पूर्ण सच्चाई का अनुभव हो जाता है, अर्थात् अवस्था-भेद मिट जाता है, अथवा यों कहो कि अपने से भिन्न कुछ भी शेष नहीं रहता।
- विचार मार्ग का अनुसरण वह कर सकता है जो सच्चाई का अनुभव वर्तमान में ही करने का प्रयत्न करता है, अर्थात् जिसको सच्चाई के बिना किसी प्रकार भी चैन नहीं पड़ती। सच्चाई के बिना उसी को चैन पड़ती है जिसके जीवन में किसी न किसी प्रकार का

राग-द्वेष है। पूर्ण राग-द्वेष मिटने पर सभी मानी हुई सत्ताओं का अंत हो जाता है। मानी हुई सत्ताओं का अंत होते ही पूर्ण सत्य का अनुभव होता है।

- विषय-जन्य स्वभाव मिटने पर राग-द्वेष का अंत जीवन की सभी परिस्थितियों में हो जाता है। किन्तु विषय-जन्य स्वभाव शेष रहने पर किसी भी परिस्थिति में राग-द्वेष का अंत नहीं होता। अतः जिज्ञासु को परिस्थिति-परिवर्तन करने की ओर विशेष ध्यान नहीं देना चाहिए, बल्कि पूरी शक्ति लगाकर विषय-जन्य स्वभाव मिटाने का घोर प्रयत्न करना चाहिए। जो अपनी पूरी शक्ति लगा देता है उसकी रक्षा ईश्वर, गुरु तथा सच्चाई स्वयं करती है, क्योंकि जो सच्चाई के बिना नहीं रह सकता उसके लिए सच्चाई स्वयं गुरु तथा ईश्वर के रूप में प्रकट होती है, क्योंकि सच्चाई ईश्वर तथा गुरु सब स्वरूप से एक हैं, तीन नहीं। वही जिज्ञासु को गुरु के स्वरूप में भक्त को ईश्वर के स्वरूप में और विचारशील को सत्य के स्वरूप में अनुभव होता है। भक्त, जिज्ञासु, विचारशील जब अपने को खो देते हैं तब अन्त में सब एक होते हैं, अर्थात् तत्त्व-ज्ञान में किसी प्रकार का भेद नहीं रहता।
- तत्त्व-ज्ञान पूर्वक निष्ठा होने पर शक्ति और शान्ति दोनों निरन्तर सेवा करती हैं।

## १२ अप्रेल १९४१

- अच्छाई के अधिकारी को अच्छा होने के लिये शरीरादि सभी वस्तुओं से ऊपर उठना होगा।
- शरीर-भाव मिटाने के लिये निरन्तर आत्म-भाव करना होगा।
- नवीन जीवन का भाव धारण कर मानी हुई कल्पनाओं का त्याग करना होगा।
- भूतकाल का सद्भाव मिटाकर वर्तमान में ही असंगतापूर्वक अपने में ही अपने परम प्रेमास्पद का अनुभव करना होगा।

जिसमें स्वाभाविक प्रीति है, उसमें ही अपने माने हुए अहंभाव को विलीन करना होगा।

## १४ अप्रेल १९४१

दीर्घकाल के अभ्यास के कारण जब अस्वाभाविक भाव में स्वाभाविक भाव धारण हो जाता है, तब किसी न किसी कल्पना में अहं फँस जाता है। उसी कल्पना के अनुसार जीवन होने पर उस माने हुए अहंभाव की सद्भावपूर्वक प्रतिष्ठा हो जाती है। यह नियम है कि कल्पना के अनुसार पूर्ण होने पर कल्पित अहंभाव से वैराग्य हो जाता है, अर्थात् कल्पनातीत की रुचि उत्पन्न हो जाती है। प्यारे, रुचि के स्थायी होने पर रुचि प्रेम-पात्र से स्वयं अपने अनुकूल सामग्री ले लेती है। प्रेम-पात्र परम दयालु तथा समर्थ हैं। वह अपने को भी दे देते हैं।

## २२ अप्रेल १९४१

- जिन दोषोंको मिटाना है उनका सद्भाव मिटा दो।
- वर्तमान परिस्थिति को सँभालने का ही प्रयत्न करो, क्योंकि वर्तमान के सँभल जाने से बिगड़ा हुआ भूत तथा भविष्य अपने आप सँभल जाता है।
- जिस प्रकार सूखी मिट्टी अपने आप झड़ जाती है उसी प्रकार क्रिया-शक्ति का अन्त होने पर शरीर-भाव अपने आप गल जाता है।
- करने का अभिमान सच्चाई से मिलने नहीं देता।
- 'भोग का रस' करने का अभिमान मिटने नहीं देता।
- योग की तीव्र अभिलाषा होने पर, भोग का रस मिट जाता है और जब केवल योग की अभिलाषा शेष रहती है, तब प्रेम-पात्र की कृपा से योग स्वयं हो जाता है और फिर कभी वियोग नहीं होता।
- भोग से अरुचि प्रत्येक भोगी को होती है, किन्तु जो भोगी उस अरुचि को स्थायी नहीं कर पाता, उसकी ही प्रवृत्ति भोगों में अनेक बार होती है। प्यारे, प्रत्येक प्रवृत्ति स्वाभाविक कुछ काल के लिये निवृत्ति में विलीन होती है। जिनको उस निवृत्ति-काल के रस का अनुभव हो जाता है, वे विचारशील प्रवृत्ति का अन्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं। यद्यपि भोग में जो रस है, वह भी निवृत्ति का ही है, परन्तु साधारण व्यक्ति उसे भोग का रस मान लेते हैं। प्यारे, योग की प्राप्ति के लिये भोग की अभिलाषा तथा प्रवृत्ति नहीं रहती, अर्थात् निवृत्ति होती है। उस क्षणिक-निवृत्ति के रस को योग का रस मान लेते हैं।

## २७ मई १९४१

अस्वाभाविक में जो स्वाभाविक भाव हो गया है, विचारशील ने उसी का नाम माना हुआ अहं रक्खा है। उस माने हुए अहं का जन्म केवल श्रवणमात्र से तथा प्राकृतिक क्रिया करने की आदत से हुआ है। प्राकृतिक क्रिया करने की जो आदत है, वह भी नित्य नहीं, क्योंकि अक्रिय-अवस्था प्रत्येक क्रिया की होती है, जिस प्रकार बोलने पर न बोलना होता है, क्योंकि यदि न बोलना न हो, तो फिर बोलने की शक्ति नहीं आ सकती। इस युक्ति से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि करने की आदत भी नित्य नहीं है। जो नित्य नहीं है, उससे अहं का जातीय सम्बन्ध नहीं हो सकता। जब क्रिया से तथा मानी हुई कल्पना से, जो श्रवण से उत्पन्न हुई है, जातीय-सम्बन्ध नहीं है, तो फिर उसे माने हुए सम्बन्ध के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं? प्यारे, जातीय-सम्बन्ध का प्रमाद हो सकता है, अभाव नहीं और माने हुए सम्बन्ध की प्रतीति हो सकती है, स्वरूप नहीं। इसी कारण माने हुए अहं का, प्रतीतिमात्र के सिवाय स्वरूप कुछ नहीं है।

यदि उस माने हुए अहं के स्वरूप पर विचार किया जाय तो यही मालूम होता है कि

वास्तविक अहं का जो स्वरूप है, माने हुए अहं की वही रुचि अर्थात् अभिलाषा है। प्यारे, अभिलाषा के स्वरूप में 'पूर्ण' ही 'अपूर्ण' प्रतीत होता है, अथवा यों कहो वही कभी तो पूर्ण की अभिलाषा है और कभी पूर्ण है, जैसे किसी का मित्र कभी याद के स्वरूप में आता है और कभी मिलन के स्वरूप में। गहराई से देखो, अभिलाषा से भिन्न अभिलाषी का स्वरूप कुछ नहीं, क्योंकि अभिलाषा के पूर्ण होने पर अभिलाषी की सत्ता शेष नहीं रहती है, किन्तु अभिलाषा से एकता हो जाती है, अर्थात् अभिलाषी स्वयं अभिलाषा को अपने स्वरूप में अनुभव करता है, जिस प्रकार एम° ए° का अभिलाषी एम° ए° होने पर 'मैं एम° ए° हो गया' ऐसा अनुभव करता है, अर्थात् प्रेमी प्रीतम को अपने से भिन्न नहीं पाता। प्यारे, प्रीतम जब रुचि के स्वरूप में होता है, तब प्रेमी कहलाता है। रुचि के पूर्ण होने पर प्रेमी 'प्रीतम' हो जाता है। प्रेमी और प्रीतम के समान ही 'अपूर्ण' तथा 'पूर्ण' को समझो।

आप जिसे अल्पज्ञ कहते हैं, वह तो सर्वज्ञ की ही रुचि है। सर्वज्ञ अल्पज्ञ कैसे हो गया? यह प्रश्न ही नहीं बनता, क्योंकि अल्पज्ञ ने सर्वज्ञ के बिना जाने सत्ता कैसे स्वीकार कर ली? जानना बिना अभेद हुए होता नहीं। अभेद-रहित होन पर तो केवल मानना होता है। मानना, यथार्थ-ज्ञान से होता नहीं यह सभी जानते हैं। इस युक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि यह प्रश्न सर्वदा गलत है कि सर्वज्ञ कैसे अल्पज्ञ हो गया। जिज्ञासु बेचारा कभी भी बिना जाने स्वीकार नहीं करता। सर्वज्ञ अल्पज्ञ कैसे हो गया? यह प्रश्न जिज्ञासु का नहीं हो सकता। यह प्रश्न सस्ते छापेखाने ने उत्पन्न कर दिया है। जिज्ञासु का प्रश्न तो केवल यही हो सकता है कि वास्तविक रुचि की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है, अथवा यों कहो कि मेरी अपूर्णता मिटकर पूर्णता का अनुभव कब होगा?

प्यारे, जितना ऊँचा प्रश्न हो, उतनी ही ऊँची दृष्टि से देखना चाहिये। उसके लिये उतनी ही ऊँची योग्यता सम्पादन करना चाहिये। जब पूर्ण की अभिलाषा ही अपूर्णता है तो फिर विचार यह करो कि अभिलाषा उत्पन्न कब होती है? अभिलाषा उत्पन्न होने के दो कारण दिखाई देते हैं। क्योंकि सभी अभिलाषाएँ केवल दो विभागों में बँट जाती हैं, किन्तु एक काल में प्रबलतापूर्वक एक ही की अभिलाषा होती है। गहराई से देखो, विषयों की इच्छा होने पर विषयों से भिन्न और कोई सत्ता प्रतीत ही नहीं होती, तो फिर उसे स्वीकार ही क्यों किया जाय? ऐसा कहना उचित है, किन्तु विचार यह करना है कि क्या कभी विषयों से पूर्ति का अनुभव होता है? जब पूर्ति का अनुभव नहीं होता, तब पूर्ति की अभिलाषा विषयों से परे सत्ता को स्वीकार करने के लिये बाध्य करती है।

प्यारे, विषयों की इच्छा होने पर ही तो विषयों की सत्ता मानते हो। इसी दृष्टि से पूर्ति की अभिलाषा होने पर पूर्ण सत्ता मान लो। पूर्ण सत्ता मानने का अर्थ यह नहीं है कि मानकर ही सन्तोष कर लो, बल्कि मानकर जान लो।

विषयों की इच्छा की तो पूर्ति होती ही नहीं, क्योंकि विषय तथा विषय की इच्छा स्वरूप से कुछ नहीं है, केवल प्रतीतिमात्र हैं। विषयों की

प्रवृत्ति में जो क्षणिक-पूर्ति की प्रतीति होती है वह तो केवल प्रवृत्ति न होने पर शक्ति-हीनता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। देखो, अनेक बार देखा-सुना, पर फिर भी देखने तथा सुनने आदि की रुचि शेष है, यद्यपि सुनते-सुनते कान तथा देखते-देखते आँख बन्द हो जाती है, परन्तु फिर भी देखने आदि की रुचि शेष रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि विषयों की प्रवृत्ति में शक्ति-हीनता होती है, पूर्ति नहीं। उसी कारण विचारशील विषयों की इच्छा का त्याग करते हैं। पूर्णता की अभिलाषा, पूर्ण होने पर ही मिट सकती है। पूर्ण होने से पूर्व, पूर्णता की अभिलाषा का त्याग नहीं हो सकता है, वह तो पूर्ण होती है, पूर्ण की सत्ता है। विषयों की सत्ता नही हैं क्योंकि शक्ति-हीनता को पूर्णता मान लेना केवल विषयों का राग है।

'शरीर मेरा है' यह आवाज स्वाभाविक है। उस स्वाभाविक आवाज को मिटाकर जब हम यह धारण कर लेते हैं कि 'मैं शरीर हूँ' तब विषयों से मानी हुई एकता हो जाती है। यह नियम है कि अभेद-भाव की एकता होने पर 'करना' शेष नहीं रहता, बल्कि एकता के अनुसार प्रतीति तथा स्थिति होती है। इसी कारण 'मैं शरीर हूँ' यह मानी हुई एकता की स्थिति स्वाभाविक हो गई है, जिसका जन्म केवल प्रमाद अर्थात् भूल के आधार पर है। इस भूल को मिटाने के लिए 'यह शरीर, मैं नहीं' यह आवाज काफी है। जब यह भाव कि 'मैं शरीर नहीं' जीवन का स्वरूप हो जाता है, तब सद्भावपूर्वक यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'मैं क्या हूँ।' यह प्रश्न सभी प्रश्नों को खाकर उत्पन्न होता है। इस प्रश्न की तीव्र जिज्ञासा होना ही आस्तिकता का उदय है। इस जिज्ञासा के पूर्व तो आस्तिकता केवल कल्पनामात्र है।

स्वाभाविक शरीर-भाव है प्रवृत्ति। यह उसी समय तक जीवित रहती है जब तक कि क्रिया के जगत् से, भाव के जगत् में प्रवेश नहीं होता। भाव के जगत् में प्रवृत्ति तब तक रहती है जब तक ज्ञान के जगत् में प्रवेश नहीं होता। स्वाभाविक इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति होना 'क्रिया का जगत्' है। वर्णाश्रम आदि भावनाओं के अनुसार नियम-बद्ध प्रवृत्त होना 'भाव का जगत्' है। 'मैं क्या हूँ' इस भाव के जाग्रत होने पर इसकी पूर्ति होना ही 'ज्ञान का जगत् है'। क्रिया के जगत् में आसक्ति होने के कारण शरीर-भाव अनन्त-काल से जीवित है। शरीर-भाव मिटने पर क्रिया की आसक्ति मिट जाती है और क्रिया की आसक्ति मिटने पर शरीर-भाव से ऊपर उठने की रुचि उत्पन्न होती है।

वास्तविक अहं का स्वरूप वास्तविक रुचि से भिन्न कुछ नहीं है। माने हुए अहं के दो स्वरूप हैं–(१) विषयी अहं (२) जिज्ञासु अहं।

अहं जिससे मिला दिया जाता है, उसी को सत्ता देता है, उसी को प्रकाशित करता है, उसी में प्रियता दे देता है। सत्ता का अर्थ सत् है, प्रकाशित का अर्थ चैतन्य है और प्रियता का अर्थ आनन्द है। अहं का वास्तविक स्वरूप सत्, चित्, आनन्द से भिन्न कुछ नहीं।

## १२ जून १९४१

(१) जो रोग औषधि से ठीक नहीं होता, उसका कारण अदृश्य की मलिनता होती है। अदृश्य की मलिनता शुभ कर्म आदि से दूर होती है, औषधि से नहीं। रोग-निवृत्ति का एक सर्वोतम उपाय यह है कि यदि रोगी रोगी भाव का सद्भाव अपने में से निकाल दे तो फिर रोग बेचारा निर्जीव हो जाता है, क्योंकि 'मैं' की सत्ता से सभी सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं। यह उपाय सूक्ष्म बुद्धिवाले तथा वीतराग पुरुष कर सकते हैं, क्योंकि विषय-विराग बिना, शरीर-भाव त्याग करने की शक्ति जाग्रत नहीं होती। शरीर-भाव मिटने पर रोगी-भाव मिटना सुलभ हो जाता है। जो वस्तु जिस काल में जैसी प्रतीत है, उसको उसी काल में उसी प्रकार का मानना, मानी हुई सत्ता में सद्भाव कराने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। सद्भाव से प्रतीति मे सत्यता आ जाती है, जो दुःख का मूल है।

(२) जब तक अपनी पूर्ति न हो, तब तक जो कुछ मालूम होता हो, उससे अपने को ऊपर उठाते रहना चाहिये, जिससे पूर्ति हो जाय और जिसका त्याग न कर सके, उसमें ही अपने आपको विलीन कर अचिन्त हो, परमानन्द का अनुभव करना चाहिये। आनन्द की अभिलाषा, अपने सिवाय और सभी इच्छाओं को खा जाती है। उसके सद्भावपूर्वक जाग्रत होने पर विषयों की प्रवृत्ति स्वाभाविक मिट जाती है। विषयों की निवृत्ति होते ही, योग अपने आप हो जाता है। योग से अभिलाषा-पूर्ति की शक्ति आ जाती है।

(३) जो मानव अपनी अनुभूति का अपने पर पूरा प्रभाव स्वीकार कर लेता है, वही मानव सत्य का अनुभव करने में समर्थ होता है। अतः अपनी अनुभूति का सदा आदर करना चाहिये। अपनी अनुभूति का निरादर करना परम भूल है। जैसी अनुभूति हो, वैसा ही जीवन हो, यही वास्तव में ईमानदारी है। इस ईमानदारी के बिना विचार-मार्ग का अनुसरण कर नहीं सकता, क्योंकि अनुभूति के आधार पर ही विचार-मार्ग का आरम्भ होता है। जब अनुभूति के अनुसार जीवन हो जाता है, तब आवश्यक अनुभूति फिर बढ़ जाती है। यहाँ तक कि वह अनुभूति उस समय तक निरन्तर बढ़ती रहती है, जब तक कि पूर्णता प्राप्त न हो जाय।

विषयासक्ति के कारण प्राणी अनुभूति का निरादर करता है। विषयासक्ति मिटने पर अनुभूति तथा जीवन दोनों का एक स्वरूप हो जाता है। अथवा यों कहो कि अनुभूति ही जीवन है, क्योंकि सभी क्रियाओं के अन्त में अनुभूति ही शेष रहती है और प्रत्येक क्रिया की उत्पत्ति अनुभूति के ही आधार पर होती है। जिससे उत्पत्ति हो और जिसमें विलय हो, वही वास्तव में सर्वाधार हैं। प्यारे, अनुभव-सत्ता ही सभी मानी हुई सत्ताओं को प्रकाशित करती है। मानी हुई सत्ताओं को त्याग करने पर शुद्ध अनुभव-सत्ता ही शेष रहती है, जो आनन्द का भण्डार है। जो प्राणी मानी हुई सत्ता को स्वीकार कर लेता है, उसकी ही करने में प्रवृत्ति होती है। जब करने से पूर्ति नहीं होती, तब जिज्ञासा जाग्रत होती है। तीव्र जिज्ञासा होने पर जिज्ञासा की पूर्ति के साधन जिज्ञासु में स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। अतः केवल जिज्ञासा अपनी पूर्ति में स्वयं समर्थ है। पूर्ति न

होने का कारण केवल जिज्ञासा की कमी है। जिस प्रकार जीवन पूर्ण होने पर मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार जिज्ञासा पूर्ण होने पर अनुभव हो जाता है।

## १७ अगस्त १९४१

जो स्वयं-प्रकाश है, उसको किसी बाह्य तथा अन्तः इन्द्रियों से नहीं जाना जाता, ऐसा सभी मानते हैं। उसके लिये सिर्फ इतना संकेत किया जा सकता है कि सभी क्रियाओं का प्रकाशक स्वयं-प्रकाश है।

क्रियाएँ इच्छाओं के आधार पर जीवित हैं, इच्छाएँ अभिलाषा के आधार पर। अभिलाषा सिर्फ पूर्ण होने की है, अथवा यों कहो कि पूर्णता की अभिलाषा ही पर-प्रकाश्य की सत्ता का स्वरूप है। यह सत्ता ज्ञान-दृष्टि से काल्पनिक और न्याय-दृष्टि से जड़ है। इस सत्ता से असंग होने पर विवेक की पूर्णता और बोध का आरम्भ हो जाता है। इसी अवस्था में अभ्यास की कमी के कारण जो विवेकी सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे कर्त्तापन के भाव से रहित अर्थात् क्रियाओं के साक्षी होकर निजानन्द का अनुभव करते हैं। ऐसा होने पर सभी क्रियाओं के प्रभावों से छूट जाता है। जिस प्रकार वृक्ष कट जाने पर भी कुछ काल तक हरा-हरा दिखता है, उसी प्रकार कर्त्तापन शेष न रहने पर भी क्रियाएँ प्रतीत होती रहती हैं। परन्तु जिसको निजानन्द से सभी इन्द्रियों के दरवाजे रोकना पसन्द है, उसको केवल साक्षी-भाव में सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। उसको तो भावातीत-स्वभाव में पर-प्रकाश्य सत्ता को जिसका कि वह साक्षी था, गला देना चाहिये। यह रस अनन्त तथा अपार है। ऐसे महापुरूष के दर्शन तथा स्पर्श मात्र से ही जीवन बदल जाता है।

*आप छकी नैना छके, अधर रहे मुसकाय।*

*छकी दृष्टि जापर परे, रोम-रोम छकि जाय।।*

## २९ अगस्त १९४१

साधारणतया विषय-विराग का अर्थ विषयों में दीनता का अभाव है, विषयों का स्वरूप से त्याग नहीं। ऐसे वैराग्य से अहंभाव का रूपान्तर होता है, वह गलत नहीं है। अथवा यों कहो कि ऐसे भोक्ता का मूल्य भोग से अधिक बढ़ जाता है। ऐसे भोक्ता का कभी अपमान नहीं होता, बल्कि वहा सम्मान पाता है। विषय-निवृत्ति होने पर इन्द्रियों के दरवाजे रुक जाते हैं। गहराई से देखो, बाह्य इन्द्रियों का ज्ञान अन्तःइन्द्रियों की अपेक्षा अज्ञान हो जाता है। और अन्तः इन्द्रियों का ज्ञान अनुभव-ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान हो जाता है। ज्ञान के अनुसार निष्ठा और निष्ठा के अनुसार भाव तथा भाव के अनुसार प्रतीति होती है। जो प्रतीति भाव में और भाव ज्ञान में विलीन नहीं होता, उस प्रतीति का प्रभाव विचारशील पर कुछ नहीं होता, अर्थात् वह निरर्थक होती है। विषय-निवृत्ति ज्ञान से होती है क्रिया से नहीं, क्योंकि विषय की उत्पत्ति अज्ञान से हुई है, स्वरूप से

नहीं। प्यारे, जो वस्तु स्वरूप से होती है उसका अभाव नहीं होता।

अस्वाभाविक अहंभाव समाधि तक जीवित रहता है। कर्मवादी विश्व-प्रेम के नाते कर्म करने पर स्थूल कर्मों की पराकाष्ठा करता है। वह जीवन स्थूल जगत् में श्रेष्ठ माना जाता है। अन्य साधक अपने प्रेम-पात्र के साथ दास्य, सख्य आदि भावों के अनुसार रमण करते हुए गोलोकादि लोकान्तर का अनुभव करते हैं। यह जीवन स्थूल जगत् से भले ही श्रेष्ठ हो, किन्तु अस्वाभाविक अहंभाव यहाँ भी जीवित रहता है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर के बिना कोई भी लोकान्तर में गमन नहीं कर सकता और कारण-शरीर के बिना समाधि का रस नहीं ले सकता। अतः तीनों शरीरों से असंग होने पर ही अस्वाभाविक अहंभाव मिट सकता है। असंगता कर्म नहीं, बल्कि प्रयत्न है। कर्म और प्रयत्न में भेद है। प्यारे, कर्म के आधार पर कर्त्ता, क्रिया तथा सीमित फल जीवित हैं। कर्त्ता आदि के मिटने पर अनन्त-जीवन अर्थात् पूर्णता का अनुभव होता है। प्यारे, पूर्णता होने पर क्रिया तथा प्रक्रिया का प्रश्न शेष नहीं रहता। क्रिया का अन्त करने के लिए निष्क्रियता साधन है, जीवन का लक्ष्य नहीं।

अस्वाभाविक अहंभाव के अनुसार क्रिया करने पर उस परिस्थिति से अरुचि उत्पन्न होती है, अरुचि से जिज्ञासा तथा जिज्ञासा की पराकाष्ठा होने पर असंगता से यथार्थबोध स्वयं हो जाता है।

अहंभाव के परिवर्तन से क्रियाओं का परिवर्तन और अहंभाव के मिटने से क्रियाओं का अन्त होता है। क्रियाओं का निरोध होने पर अहंभाव जीवित रहता है और अहंभाव के मिटने पर कर्त्ता आदि शेष नहीं रहते। अनुभव बुद्धि द्वारा कथन नहीं किया जा सकता केवल संकेत किया जा सकता है। गीता आदि भी संकेत ही करती हैं।

प्रकाश ने अन्धकार को नहीं देखा और अन्धकार ने प्रकाश को नहीं देखा। अस्वाभाविक जीवन में स्वाभाविक जीवन की कल्पना बच्चों के बहकाने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखती। अस्वाभाविक जीवन अपूर्ण है। अपूर्णता में पूर्णता की अभिलाषा स्वाभाविक होती है। अथवा यों कहो कि अस्वाभाविक जीवन जीवन की अभिलाषा का नाम है। इसके सिवाय अस्वाभाविक जीवन का स्वरूप कुछ नहीं। प्यारे, जो स्वाभाविक है वही जीवन है, अस्वाभाविकता उस जीवन की अभिलाषा है। यह सभी जानते हैं कि अभिलाषा से भिन्न, अभिलाषी का स्वरूप कुछ नहीं होता और अभिलाषा पूर्ण होने पर अभिलाषी शेष नहीं रहता। शेष वही रहता है कि जिसकी अभिलाषा थी। स्वाभाविक जीवन का स्वरूप वही है जो अभिलाषा है। अभिलाषा एक है, अनेक नहीं और जिसकी अभिलाषा है, वह भी एक है, अनेक नहीं। इस दृष्टि से एक और एक मिलकर एक हो जाते हैं तथा जिज्ञासु अनेक को एक में और एक को अनेक में अनुभव कर, अनेक और एक की कल्पनाओं का अन्त करके कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् कल्पनातीत का अनुभव कल्पनाओं का अन्त होने पर ही हो सकता है।

## १० सितम्बर १९४१

भक्त अधम नहीं होते और अधम भक्त नहीं होते, क्योंकि भक्त का स्वरूप विरह तथा मिलन के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।

मिलन की अभिलाषा विषय-इच्छा को खा लेती है। विषय-इच्छा निवृत्त होने पर करने की रुचि शेष नहीं रहती। अहं के बदलने पर क्रियायें बदल जाती हैं और मिटने पर मिट जाती है। मेरा भक्त परम पवित्र है, अधम नहीं। अहं तथा मन की सभी लीलाओं को मेरे निज स्वरूप से ही सत्ता मिलती है। जो भक्त मेरे को अपने में ही अनुभव करते हैं उनका मन तथा अहं मेरे निजानन्द से ही छक जाते हैं। छका हुआ मन स्वयं अविषय हो जाता है, अविषय होते ही मन की सत्ता स्वयं कुछ नहीं रह जाती। जब देश काल आदि की दूरी है ही नहीं तो फिर दरवाजा बन्द कैसा? दूरी का भाव निकाल दो। अहं में मेरे को देखो। मन को अहं बड़ा प्यारा है। जब अहं को मेरे में देखोगे, तब मन मेरा हो जायगा। मन अहं का मित्र है, शत्रु नहीं क्योंकि अहं से ही मन को जीवन मिलता है। भला कोई भी जीवन-दाता से शत्रुता कर सकता है? कदापि नहीं। अहं अपनी रक्षा के लिये मन का बहाना बतलाता है।

व्याकुलता से बचने के लिये करने की सूझती है। व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध होने पर अभेदभाव के भक्तों को आनन्द और भेदभाव के भक्तों को व्याकुलता स्वयं आ जानी चाहिये। व्याकुलता से बचो मत, बल्कि बढ़ाओ। सूक्ष्मरूप से जो भेद का भाव जीवित है, उसके मिटाने में व्याकुलता ही समर्थ है। उपाय यही है कि चिन्ता छोड़ दो। जो कर सकते हो करो। जो नहीं कर सकते, वह अपने आप होगा। यदि चिन्ता आती है, तो समझ लो कि अभी वह नहीं किया, जो करना चाहिये। क्रिया का रस मत लो, ऐसा करने से आवश्यक क्रियाएँ अपने आप हो जायेंगी और व्यर्थ-चेष्टाओं का निरोध भी हो जायेगा। क्रिया का रस व्यर्थ-चेष्टाओं का निरोध नहीं होने देता। उस रस को व्याकुलता जलायेगी।

अपनी परम पवित्रता पर पूरा विश्वास करो। भक्त प्रतीक्षा नहीं करते, बल्कि भगवान् भक्त की प्रतीक्षा करते हैं।

## २ अक्टूबर १९४१

एक ही में अनेक का अन्त करना एकान्त है, अकर्त्तव्य के त्याग से तो केवल बुद्धि आदि सम हो जाते हैं, बुद्धि आदि का सम होना कर्त्तव्य है, क्योंकि सभी प्रकार की शक्तियों का संचय निर्विषय होने पर ही होता है। विषय-प्रवृत्ति अस्वाभाविक जीवन है, जो आसक्ति के कारण स्वाभाविक सा हो गया है। उसका शेष न रहना कर्त्तव्य-पालन है। कर्त्तव्य-पालन साधन है, साध्य नहीं। रोग यही है कि 'मैं रोगी हूँ।' औषधि यही है कि 'मैं सर्वदा आरोग्य हूँ।' क्योंकि आरोग्य से जातीय एकता है। प्यारे, जातीय एकता का अभाव नहीं होता, प्रमाद होता है। इसी कारण आरोग्य के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता है। यदि एक बार

भी अपनी पूरी शक्ति से यह आवाज लगा दो कि 'मैं आरोग्य हूँ' तो रोग भाग जायेगा।

अपने जातीय स्वरूप का आदर करो। जो निज-स्वरूप का आदर करता है वह गुरु, ईश्वर तथा संसार आदि को अपने ही में पाता है, क्योंकि इन सबका अधिष्ठान तो एक ही है। आदर करने वाले का निरादर कोई नहीं कर सकता और निरादर करने वाले का आदर कोई नहीं करता। यदि गहराई से देखो, तो यह अनुभव होगा कि सबसे अधिक प्रियता अपने में है।

जो नहीं कर सकते, उसे करने के लिए कोई नहीं कहता, और न किसी को उसे करने की चिन्ता होती है। किसी प्रकार की भी चिन्ता का जीवित रहना यह सिद्ध करता है कि जो कर सकते है, वह नहीं करते। चिन्ता नास्तिक को होती है, आस्तिक को नहीं, क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार एक स्थान में नहीं रह पाते, उसी प्रकार आस्तिकता और चिन्ता एक स्थान में नहीं रह पाते। सर्वदा अभय रहो।

## १२ अक्टूबर १९४१

अपने में निर्दोषता का भाव स्थापित करने पर सभी दोष स्वयं मिट जाते हैं। दोषों का सद्भाव दोषों को निमन्त्रण देकर बुलाने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। विषयी संसार को, भक्त भगवत् तत्त्व को और जिज्ञासु यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है। अहंभाव का परिवर्तन होने पर क्रिया तथा भाव का परिवर्तन स्वयं हो जाता है और अहंभाव के मिटने पर सब कुछ मिल जाता है। भविष्य की आशा वर्तमान में सफल नहीं होने देती, क्योंकि आशा के आधार से व्याकुलता दब जाती है। अनुभव उसका ही करना है, जो वर्तमान में मिल सकता है। भोग के लिए भविष्य की आशा आवश्यक है, क्योंकि वह कर्म से प्राप्त होता है। प्रेम-पात्र के लिए भविष्य की आशा आवश्यक नहीं, क्योंकि वह त्याग से प्राप्त होता है। अपना मूल्य बढ़ाओ। जो आपका है, वह आपके बिना नहीं रह सकता।

अतः कृपा में संदेह करना परम भूल है। शरणागति-भाव भक्तियोग का अन्तिम साधन है, जो सिर्फ जीवन में एक बार आता है। उसके आते ही भक्त भगवान् से अभिन्न हो जाता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

## २५ अक्टूबर १९४१

जिस अभिलाषी को अपनी अभिलाषा पर सद्भावपूर्वक दृढ़ता होती है, उसकी वह अभिलाषा स्वयं पूर्ण हो जाती है।

प्रेमी प्रथम अपने स्वभाव के अनुसार प्रेम-पात्र से संबंध करता है, इस अवस्था के आ जाने पर अपनी सीमित वस्तुओं का सदुपयोग करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। परन्तु प्रेम-पात्र की प्रसन्नता तो तब होती है, जब प्रेमी अपने स्वभाव को मिटाकर प्रेम-पात्र से अभिन्न होता है। प्रेम-पात्र के स्वभाव का अनुकरण करते ही प्रेमी

सभी चेष्टाओं से मुक्त हो जाता है, बल्कि यों कहो कि प्रेम-पात्र प्रेमी और प्रेमी प्रेम-पात्र हो जाता है।

.....

किसी को बुलाओ मत, क्योंकि जो आपका है, वह आपके बिना रह नहीं सकता, अर्थात् अपने प्रेम-पात्र को निरन्तर अपने में ही अनुभव करो। अतः इन्द्रिय आदि को निजानन्द से भर दो। अपने सिवाय अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं है, ऐसी धारणा होने पर हृदय आनन्द से स्वयं छक जायेगा, अर्थात् स्थान खाली होने पर आनंद स्वयं आ जायेगा। जो आकर नहीं जाता वही आनंद है।

जो जा रहा है उसको मत रोको, क्योंकि उससे जातीय भिन्नता है। गहराई से देखो, शरीर आदि सभी वस्तुऐं निरन्तर जा रही है। जाने वाली वस्तुओं से विमुख हो जाना ही स्वाभाविक नित्य-जीवन की ओर जाना है। जाने वाली वस्तुओं को रोकने का प्रयत्न करना ही अस्वाभाविक को जीवित रखने का उपाय, अर्थात् माने हुए अहं की रक्षा करना है, जो विचारशील को नहीं करना चाहिए।

जो स्वयं आया है, उसे हटाओ मत, बल्कि उसको पूरा स्थान दो, क्योंकि वह कुछ सिखाने के लिए आया है। गहराई से देखो, जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग करने पर वह परिस्थिति उन्नति का साधन हो जाती है। अतः आई हुई परिस्थिति का स्वागत करते हुए उसका सदुपयोग करने का प्रयत्न करो। यह भली प्रकार समझ लो कि आने वाली सभी वस्तुएँ स्वयं चली जाती हैं। उनके हटाने का प्रयत्न शक्ति को क्षीण करने के सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता। अपने में अविचल भाव से रहने का स्वभाव बनाओ, आने-जाने वाले की ओर लेशमात्र भी न देखो।

व्यक्तिभाव से किसी के गुण तथा दोष मत देखो, क्योंकि ऐसा करने में अपने में व्यक्ति-भाव आ जाता है, जो परम भूल है। अपने से व्यक्ति-भाव निकाल देने पर विश्व से एकता अनुभव होती है।

सर्वथा अचिन्त तथा अभय रहो। सभी चिन्ताओं को विचार की अग्नि में जला दो। स्वधर्म-निष्ठा बढ़ती रहनी चाहिए। अपनी समर्थता तथा परम पवित्रता पर सर्वदा विश्वास करो। दीनता तथा दुर्बलता का अंत कर दो। राग-द्वेष का नितान्त अंत होने पर व्यक्ति-भाव मिट जाता है। त्याग तथा प्रेम के आ जाने पर मानी हुई सत्ता से असंगता तथा जातीय सत्ता से अभिन्नता हो जाती है।

## २ फरवरी १९४२

आपके लिए यदि 'नित्य जीवन' कल्पनामात्र है, तो फिर वर्तमान जीवन का स्वरूप क्या है? गहराई से देखो, अनित्य-जीवन अर्थात् वर्तमान जीवन नित्य जीवन की अभिलाषा से भिन्न और क्या हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। वर्तमान जीवन, नित्य जीवन की अभिलाषा है। अभिलाषा जीवित इसलिए है क्योंकि पूर्ण नहीं हुई। पूर्ण इसलिए नहीं हो पाती, क्योंकि क्रिया तथा भाव की खुराक मिल जाती है। अथवा यों कहो कि अनित्य जीवन की खुराक क्रिया तथा

भाव का रस है। परम-प्रेम अपने में हो सकता है, भिन्न में नहीं। अतः प्रेम को अपनाओ। प्रेम क्रिया तथा भाव से परे है। क्रिया तथा भाव से कुछ माँगना होता है, और प्रेम में देना होता है। माँगने की आदत लोभी को होती है, प्रेमी की नहीं, इसी कारण लोभी बेचारा प्रेम का रस चख नहीं पाता। देना सीखो। यदि दे दिया तो बोझ कैसा? कमी कैसी? अपनी कमी का बोझ अपने ऊपर रख लेना अपने भाव को दुर्बल करना है। भाव तथा क्रिया अनेक बार इसलिए आते हैं, क्योंकि पूर्ण नहीं हो पाते। अतः भाव के पूर्ण होने पर भाव मिट जायेगा। भक्त की कमी भक्त की नहीं होती, बल्कि उसकी होती है जिसका भक्त है। जिसमें कमी हो, उसका भक्त होना नहीं चाहिए। फिर न मालूम भक्त को अपने में कमी कहाँ से दिखाई देती है। पूर्ण से विभक्त होने पर कमी का अनुभव होता है। भक्त होने पर विभक्त हो नहीं पाता। अतः भक्त में कमी शेष नहीं रहती, यह निर्विवाद सिद्ध है।

कमी किसी गुण के आधार पर जीवित है, क्योंकि कमी बेचारी इतनी निर्बल है कि अकेली रह नहीं पाती। जो प्राणी अपनी कमी को देख लेता है, उससे कमी निकल जाती है। प्यारे कमी चोर के समान है उसे कोई देख नहीं पाया, क्योंकि वह देखते ही भाग जाती हैं सभी प्राणी यह जानते हैं कि सूर्य ने अंधकार देखा नहीं, किन्तु कथन यह करते हैं कि सूर्य ने अंधकार मिटा दिया। प्यारे, क्या सूर्य में कभी अंधकार था? अर्थात् नहीं था। किसी गुण की आसक्ति है, जिसके आधार पर कमी का कथन होता है।

वियोग जीवन की आवश्यक वस्तु है, अथवा यों कहो कि प्रेम-पात्र का अंतिम संदेश है।

## १० फरवरी १९४२

अनेक क्रियाओं तथा भावों को ही एक ही अर्थ में विलीन कर दो, अर्थात् कुल जीवन में एक निष्ठा हो जाय। प्रथम विचारपूर्वक शान्त चित्त से यह भली प्रकार समझ लो कि विषय-प्रवृत्ति पूर्ति का साधन नहीं, अथवा यों कहो कि संसार से पूर्ति की आशा करना परम भूल है, क्योंकि विषय-प्रवृत्ति से भिन्न संसार कुछ नहीं।

प्यारे, स्वाभाविक अभिलाषा की पूर्ति के लिए स्वाभाविक जीवन को अपना लेना आवश्यक है। गहराई से देखो, निवृत्ति के समान जीवन में और कुछ स्वाभाविक नहीं दिखाई देता, क्योंकि अनेक प्रयत्न करने पर भी प्रत्येक प्रवृत्ति स्वयं निवृत्ति में बदल जाती है, ऐसा प्रायः सभी प्राणियों का अनुभव है। परन्तु निज अनुभव का आदर न करने के कारण बेचारे प्राणी मार्ग की खोज में भटकते रहते हैं। प्रेम-पात्र के नित्य रस तक पहुँचाने के लिए एकमात्र निवृत्ति ही परम साधन है। प्रवृत्ति का सूक्ष्म स्वरूप क्या है? करने का भाव। अथवा यों कहो कि करने के आधार पर स्थायी प्रसन्नता के लिए भविष्य की आशा। गहराई से देखो, यदि भविष्य की आशा न हो, तो किसी प्रकार की प्रवृत्ति जीवित नहीं रह सकती। भविष्य की आशा प्रत्येक प्रवृत्ति का मूल कारण है। भविष्य की अभागी आशा पूर्ण व्याकुलता

होने नहीं देती। अतः भविष्य की आशा निकाल दीजिये, व्याकुलता अपने आप आ जायेगी। व्याकुलता प्रत्येक प्रवृत्ति के मिटाने में सर्वदा समर्थ है।

व्याकुलता बढ़ जाने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी निर्जीव मशीन की भाँति हो जाते हैं, अर्थात् इन सबकी क्रियाओं का प्रभाव कुछ नहीं रहता।

यह समझने पर भी कि प्रवृत्ति पूर्ति का साधन नहीं है, प्रवृत्ति बनी ही रहती है, उससे किस प्रकार छुटकारा मिले? उस छूटकारे के लिए ही धर्म के प्रथम अंग का अनुसरण करना है। धर्म का प्रथम अंग क्या है? 'मैं सबका हूँ' अर्थात् जिसने मुझे जो माना है मैं उसके लिए वही हूँ ऐसा मानकर माने हुए के अनुसार जो कर सकते हो कर देना चाहिए।

करते समय कर्त्ता को बचाना नहीं चाहिए, किन्तु क्रिया का अंत होने पर उससे संबंध भी नहीं रखना चाहिए। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति के अंत में पूर्ण त्याग का अनुभव होगा। प्रवृत्ति-काल में हृदय पूर्ण प्यार से लहराता रहेगा, जो व्यवहार में प्रेम के नाम से कहा जाता है। वास्तव में तो प्रेम ज्ञान का दूसरा नाम है, अतः जीवन का स्वरूप त्याग तथा प्रेम हो जायेगा। इस भाव केा इतना बढ़ाओ कि प्रत्येक प्रवृत्ति में पूर्ण रस आवे, अर्थात् सभी छोटी-बड़ी प्रवृत्तियों का एक अर्थ हो जाय और निवृत्ति में भी प्रवृत्ति के समान ही रस बना रहे। ऐसा करने से प्रवृत्ति-निवृत्ति का भेद मिट जायेगा। प्रवृत्ति-निवृत्ति का भेद मिटते ही अपने से भिन्न की प्रतीति न होगी, अर्थात् मानी हुई सत्ता की स्वीकृति मिट जायेगी।

साधारण प्राणी प्रवृत्ति काल में निवृत्ति का चिन्तन और निवृत्ति काल में प्रवृत्ति का चिन्तन करते रहते हैं। वास्तव में चिन्तन नहीं करना चाहिए, बल्कि प्रवृत्ति काल में पूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्ति काल में पूर्ण निवृत्ति होनी चाहिए और उन दोनों का अर्थ भी समान होना चाहिए। किसी का भी चिन्तन करना विचारशील को शोभा नहीं देता, क्योंकि चिन्तन व्यर्थ चेष्टा है। चिन्तन करने की व्यर्थ-चेष्टा उसी समय तक जीवित रहती है, जब तक हृदय तथा दिमाग में भिन्नता होती है।

धर्म का दूसरा अंग माने हुए को निकाल देना है। प्रथम अंग का पालन करने पर विश्व से एकता और दूसरे अंग का पालन करने पर सत्य का अनुभव हो जाता है। प्रथम अंग का पालन करने पर हृदय निर्वैरता से भर जाता है और दूसरे अंग का पालन करने पर विश्व की सत्ता अपने में ही विलीन हो जाती है, अर्थात् अपने से भिन्न शेष नहीं रहता।

## ८ अप्रेल १९४२

संयोग की अपेक्षा वियोग सबल तथा स्वतंत्र है, अतः उसको अपनाइये। जो प्राणी संयोग में ही पूर्ण वियोग का अनुभव कर लेते हैं और वियोग होने पर सत्ता स्वीकार नहीं करते, वे वर्तमान में ही तत्त्व-साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाते हैं। संयोग में वियोग अनुभव करने से तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है और वियोग होने वाली वस्तुओं की सत्ता स्वीकार न करने से तत्त्व-निष्ठा

हो जाती है। तत्त्व-साक्षात्कार होने पर शान्ति और तत्त्व-निष्ठा होने पर शक्ति अपने आप आ जाती है।

संयोग में वियोग अनुभव करने की दो अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्था यह है कि संयोग-काल में भी ऐसा भाव उदय हो, कि यह सब कुछ मिट रहा है। इस भाव के उदय होने पर पवित्र व्याकुलता आ जाती है, जो संयोग से पूर्ण वियोग कर नित्य योग कर देती है पहली अवस्था में बुद्धि का व्यापार जीवित रहता है। और दूसरी अवस्था में बुद्धि आदि से असंगता होती है, अथवा यों कहो कि बुद्धि का सदुपयोग होने से बुद्धि छूट जाती है।

प्यारे, प्रवृत्ति वही जीवित है जो पवित्रतापूर्वक पूर्ण नहीं हुई। पवित्रतापूर्वक की हुई सभी प्रवृत्तियाँ स्वयं निवृत्ति में विलीन हो जाती हैं। बार-बार मिलने का भाव न मिलने को सिद्ध करता है, ऐसा निरादर कब तक करते रहोगे? क्या कोई भी प्रेमी प्रेम-पात्र से दूरी पसन्द करता है, अथवा कोई भी प्रेमी प्रेम-पात्र से अपने को बचाता है? प्यारे, जो अपने को नही बचाता, वह अपने में ही प्रेम-पात्र का अनुभव करता है। गहराई से देखो, अपने समान और कोई प्रिय नहीं। उस अत्यन्त प्रिय अपने में ही अपने प्रेम-पात्र अनुभव करना सच्चा संबंध है। क्रिया तथा भाव द्वारा किया हुआ संबंध केवल व्यापार है। अथवा यों कहो कि मानी हुई अहंता के जीवित रखने का उपाय है।

## १४ अप्रेल १९४२

प्रवृत्ति-काल में पूर्ण प्रवृत्ति का अर्थ– कुशलता है, अर्थात् संसार में रहने का सबसे अच्छा ढंग है। ऐसा करने से निवृत्ति काल में प्रवृत्ति का चिन्तन नहीं होता। जिस प्राणी को प्रवृत्ति का चिन्तन नहीं होता, उसको निवृत्ति-काल में योग स्वयं हो जाता है। योग से शक्ति संचय होती है, तत्त्व-साक्षात्कार नहीं। शक्ति कल्पतरु है, अर्थात् इच्छाओं की पूर्ति में समर्थ होती है। परन्तु तत्त्व-साक्षात्कार कल्पतरु का भी कल्पतरु है, क्योंकि शक्ति को भी शक्ति देता है। अथवा यों कहो कि तत्त्व-साक्षात्कार से इच्छाओं की निवृत्ति होती है और योग से इच्छाओं का निरोध होता है।

संयोग में ही वियोग का अनुभव करने से, वर्तमान में ही तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है। संयोग में ही वियोग का अनुभव वह प्राणी नहीं कर सकता, जो प्रवृत्ति काल में पूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्ति काल में पूर्ण निवृत्ति नहीं रखता।

प्यारे, निवृत्ति तथा प्रवृत्ति अवस्थाएँ हैं। निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों से वियोग का अनुभव करना ही संयोग में वियोग का अनुभव करना है। निवृत्ति तथा प्रवृत्ति का अभिमान मानी हुई अहंता के आधार पर जीवित है। प्रवृत्ति-काल में मानी हुई अहंता कार्यक्रम में होती है और निवृत्ति काल में मानी हुई अहंता कारणरूप में होती है। निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों से ही संयोग होता है। उस संयोग से अपना वियोग कर लेना तत्त्व-

साक्षात्कार का सर्वोतम साधन है। जिस प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का वियोग हो जाय, उसकी सत्ता को स्वीकार न करना तत्त्व-निष्ठा का सर्वोतम साधन है।

तत्त्व-साक्षात्कार तथा तत्त्व-निष्ठा हो जाने पर शक्ति तथा शान्ति स्वयं आ जाती है।

# १४ अप्रेल १९४२

प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने स्वभाव के अनुरूप होकर प्रत्येक वस्तु प्रथम विकास पाती है और फिर वह विकास स्वाभाविक ही विलीन होने लगता है, यहाँ तक कि अंत में उसका अभाव हो जाता है। परन्तु यदि विकास काल में किये हुए उपभोग का रस जीवित रहे, तो वह वस्तु फिर अव्यक्त तत्त्व से शक्ति पाकर उत्पन्न होती है। अतः रस की आसक्ति के कारण उत्पत्ति तथा लय का चक्र निरन्तर चलता रहता है। इस नियम को देख विचारशील तत्त्व-वेत्ताओं ने जीवन को चार विभागों में विभक्त कर दिया है।

प्रथम, रुचि के अनुसार गुणों को एकत्र करना, फिर रुचि की पूर्ति के लिए एकत्रित किये हुए गुणों का उपभोग करना, तदनन्तर भोग का यथार्थ-ज्ञान कर उदासीनता पूर्वक भोग को योग में बदल देना और फिर योग से अंसग होकर अर्थात् योग तथा भोग दोनों का अभाव कर निर्विशेष अर्थात् कल्पनातीत सर्वोत्कृष्ट निर्दोष तत्त्व से अभिन्न हो जाना, यही क्रम प्रत्येक क्रिया में होना चाहिए जो क्रिया की जाय, अंत में उससे उदासीन होकर उसके अभाव का अनुभव करना अनिवार्य है। प्रथम माने हुए भाव के अनुसार करना सीखो फिर प्रत्येक क्रिया से उदासीन होकर योग का अनुभव करो तथा योग से शक्ति-संचय कर, त्याग के शरणापन्न हो, क्रिया का अभाव कर, अपने ही में अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करो।

जीवन में उलझन तब आती है, जब हम प्राकृतिक नियम का तिरस्कार करते हैं। गहराई से देखो, किसी भी परिस्थिति की किसी भी काल में स्थिति नहीं होती, परिवर्तन का क्रम ही उत्पत्ति तथा लय के नाम से कहा जाता है, क्योंकि किसी का लय होना ही किसी की उत्पत्ति तथा किसी की उत्पत्ति ही किसी का लय होना है। स्थिति की भावना तो बुद्धि का पूर्ण उपयोग न करने पर प्रतीत होती है। उत्पत्ति भी राग के आधार पर प्रतीत होती है, क्योंकि इच्छा बिना राग के नहीं होती और इच्छाशक्ति के बिना किसी भी वस्तु की उत्पत्ति तथा प्रतीति नहीं होती। राग वस्तुओं की स्थिति स्वीकृत होने पर होता है। वस्तुओं की स्थिति को स्वीकार करना बुद्धि का प्रमाद है। अतः उसके विपरीत करना बुद्धि का सदुपयोग है। बुद्धि का सदुपयोग होते ही प्राकृतिक संस्कृति का अनुसरण हो जाता है, प्राकृतिक संस्कृति का अनुसरण करते ही वस्तुओं,

अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से अरुचि हो जाती है, अर्थात् उसको फिर परिस्थिति आदि का बंधन नहीं रह जाता।

परिस्थिति आदि से मुक्त होते ही अपने ही में अपने प्रेम पात्र का अनुभव स्वयं होता है। प्यारे, सच्चाई सुगमतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है, किन्तु झुठाई में सच्चाई की भावना करने पर सच्चाई किसी प्रकार नहीं मिल सकती।

## १४ मई १९४२

भक्त अपनत्व करता है और प्रेम-पात्र प्रेम करते हैं। अपनत्व की पूर्णता होने पर सभी क्रियाओं का अभाव अपनत्व के भाव में विलीन हो जाता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

## २९ मई १९४२

यदि भिखारी बनना पसन्द है, तो ऐसे भिखारी बनो कि दाता को ही भिक्षा में ले लो, जिससे बार-बार माँगना शेष न रहे। दृष्टि को दृश्य से हटा लो। चित्त को निराधार कर दो। परतंत्रता पूर्वक जीवित रहने से स्वतंत्रतापूर्वक मर जाना अच्छा है। जो आपके बिना किसी प्रकार भी रह सकता है, उसकी ओर मत देखो। आप उसके दर के भिखारी हैं, जो निरन्तर आपकी प्रतीक्षा करता है। प्यारे, प्रेम-पात्र को प्रेमी के सिवाय और कही स्थान नहीं मिलता, क्योंकि प्रेम-पात्र वहाँ निवास करते हैं जहाँ स्थान खाली हो। प्रेमी का स्वरूप प्रेमपात्र की अभिलाषा है, और कुछ नहीं। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि प्रेमी के बिना प्रेम-पात्र किसी प्रकार नहीं रह सकते।

## १२ जून १९४२

जो नहीं करना चाहिए उसके न करने से जो करना चाहिए वह स्वतः होता है। गहराई से देखिये, प्राकृतिक नियम के अनुसार आँख देखने में स्वतंत्र तथा सुनने में परतंत्र है। आँख को कभी सुनने की अभिलाषा नहीं होती, जब होती है तब देखने की होती है। अतः प्रत्येक कर्त्ताकर्त्तव्य पालन में स्वतंत्र है। परतंत्रता जीवन में तब आती है, जब प्राणी आसक्ति के कारण दूसरे के कर्त्तव्य को अपना कर्त्तव्य बनाता है। उन क्रियाओं का त्याग करो, जिनके करने में लेशमात्र भी परतन्त्रता अनुभव होती हो। जीवन में स्वाधीनता आ जाने पर सच्चाई और सच्चाई आ जाने पर स्वाधीनता आ जाती है। परतंत्रता पूर्वक सच्चाई प्राप्त नहीं की जा सकती। परतन्त्रापूर्वक तो वही मिलती है कि जिससे जातीय एकता नहीं होती, क्योंकि परतंत्रतापूर्वक प्राप्त की हुई सभी वस्तुएँ अपने आप चली जाती हैं।

## १६ जून १९४२

अपने में से विषयी भाव को निकाल दो। अहंता के विपरीत प्रवृत्ति नहीं होती। अपने में ही अपने प्रेम-पात्र की स्थापना कर लो। यही परम भजन है। जो प्राणी अपने में से भिन्न में अपने प्रेम-पात्र को देखते हैं, उनका प्रेम-पात्र से योग नहीं होता बल्कि संयोग होता है। संयोग तथा योग में भेद है। संयोग का वियोग अनिवार्य है, योग का वियोग नहीं होता। योग एक बार और संयोग अनेक बार होता है। दृष्टि को दृश्य के बिना स्थिर कर लो, व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही दृश्य है। दोनों प्रकार के दृश्यों से असंग होते ही अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव होगा। निराधार हो जाने पर ही चित्त पूर्ण स्वतः होगा। सुख का अंत कर दो। व्याकुलता की शरण लो। व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध करो। ऐसा करने से व्याकुलता अथवा शान्ति स्वयं आ जायेगी। आगे-पीछे का चिन्तन मत करो। संसार में संसार के लिए रहो, अपने लिए नहीं, जिसको संसार में रहना आ जाता है, वह अवश्य संसार से पार हो जाता है।

## प्रेमी तथा प्रेम-पात्र

प्रेम, प्रेम-पात्र करते हैं, प्रेमी नहीं, क्योंकि प्रेम वह कर सकता है, जिसको अपने लिए कुछ भी आवश्यकता न हो। प्रेमी को प्रेम-पात्र की आवश्यकता होती है, अतः प्रेमी बेचारा प्रेम नहीं कर पाता।

प्रेमी केवल प्रेम-पात्र से अपनत्व करता है। अपनत्व परम पवित्र तथा सबल भाव है, क्योंकि अपनत्व हो जाने पर और किसी प्रकार की योग्यता सम्पादन करना शेष नहीं रहता। अपनत्व वह बल है, जिसके आ जाने पर प्रेम-पात्र प्रेमी का स्मरण, चिन्तन और ध्यान करते हैं, अथवा यों कहो कि प्रेमी को प्रेम-पात्र प्यार करते हैं। प्रेम-पात्र के प्यार के सिवाय और किसी का प्यार स्वीकार न करना प्रेमी का परम कर्त्तव्य है।

जब तक प्रेमी को प्रेम-पात्र का प्रेम नहीं मिलता, तब तक प्रेमी असह्य व्याकुलता का अनुभव करता है। पवित्र व्याकुलता प्रेमी का स्वरूप है। उस व्याकुलता को अखंड आनन्द में विलीन कर देना प्रेम-पात्र का प्रेम है, अतः यह भी भली प्रकार सिद्ध हो जाता है, कि प्रेम-पात्र प्रेम करते हैं और प्रेमी अपनत्व करता है।

पूर्ण अपनत्व करने के लिए अस्वाभाविक संयोग अर्थात् माने हुए संयोग काल में ही वियोग अनुभव करना परम अनिवार्य है, क्योंकि सद्भावपूर्वक पूर्ण अपनत्व दो विरोधी सत्ताओं में नहीं हो सकता है।

अनेक माने हुए संयोगों में से जब कभी किसी एक संयोग का वियोग होता है, तब प्राणी घोर व्याकुलता का अनुभव करता है। यदि सभी संयोगों का वियोग हो जाय, तब कितनी उत्कट व्याकुलता होगी, वह कहने में नहीं आती। जो प्राणी उस अनन्त व्याकुलता से बचने का प्रयत्न करता है, वह सच्चा प्रेमी नहीं हो सकता। जिस प्रकार सभी का वियोग होने पर घोर व्याकुलता

का अनुभव होता है, उसी प्रकार स्वाभाविक नित्य योग होने पर अपार असीम अखण्ड आनन्द का अनुभव होता है।,

स्वाभाविक नित्य योग प्राप्त करने में प्राणी सर्वदा स्वतंत्र है, क्योंकि अस्वाभाविक संयोग का वियोग तो बिना ही प्रयत्न हो जाता है। साधारण प्राणी वियोग-काल में भी संयोग का भाव केवल मानते रहते हैं। उस मानी हुई भावना में सद्भाव होने के कारण वियोग से उत्पन्न होने वाली परम पवित्र व्याकुलता प्रकाशित नहीं हो पाती। व्याकुलता के बिना स्वाभाविक नित्य-योग सर्वथा असम्भव है। अतः अस्वाभाविक संयोग में वियोग का अनुभव करना प्रेमी के लिए आवश्यक है। अस्वाभाविक संयोग दो प्रकार के होते हैः- 'यह मैं हूँ' अथवा 'यह मेरा है' अर्थात् कुछ वस्तुओं को अपने में रख लिया जाता है और कुछ वस्तुओं में अपने को रख लिया जाता है। जिन वस्तुओं में अपने को रख दिया जाता है, उन वस्तुओं के प्रति ये मेरी हैं' ऐसा भाव रहता है और जिन वस्तुओं को अपने में रख लिया जाता है, उनमें 'यह मैं हूँ' ऐसा भाव रहता है।

प्रथम अपने को जिन वस्तुओं में रख दिया है, उनसे हटा लो, क्योंकि अपने में वस्तुभाव अथवा सीमित भाव अथवा अवस्थाभाव आने पर ही संसार की अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यदि अपने में से वस्तु आदि का भाव निकाल दिया जाय तो फिर किसी भी वस्तु की आवश्यकता शेष नहीं रहती।

अपने में से वस्तु आदि का भाव निकल जाने पर प्राणी का जीवन प्रेम-पात्र के रहने योग्य हो जाता है, क्योंकि प्रेम-पात्र निरन्तर उसी में निवास करते हैं, जिसने अपने में से सभी को निकाल दिया हो तथा अपने को सभी से हटा लिया हो। अथवा यों कहो कि संबंध-भाव अथवा मानी हुई अहंता का भाव शेष न रहने पर प्रेम-पात्र स्वयं निवास करते हैं।

प्रेम-पात्र आने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्योंकि वह केवल स्थान न मिलने के कारण नहीं आ पाते। प्यारे, प्रेमी से अधिक प्रेम-पात्र को प्रेमी की आवश्यकता है, क्योंकि प्रेमी के सिवाय और कहीं संसार में प्रेम-पात्र को स्थान नहीं मिलता।

प्रेमी, प्रेम-पात्र में और प्रेम-पात्र प्रेमी में निरन्तर निवास करते हैं।

ॐआनन्द! ॐआनन्द!! ॐआनन्द!!!

## हमारी आवश्यकता

'अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता कदापि नहीं हो सकती'; क्योकि भिन्नता से एकता होना सर्वदा असम्भव है। जिस प्रकार श्रवण ने शब्द से भिन्न कुछ नहीं सुना, नेत्र ने रूप से भिन्न किसी भी काल में कुछ नहीं देखा तथा त्वचा ने स्पर्श से भिन्न, रसना ने रस से भिन्न एवं नासिक ने गन्ध से भिन्न किसी का अनुभव नहीं किया; क्योंकि श्रवण की आकाश तथा शब्द से, नेत्र की अग्नि तथा रूप से, त्वचा की वायु तथा स्पर्श से, रसना की जल तथा रस से और नासिका की पृथ्वी तथा गन्ध से जातीय एकता है। मन-बुद्धि आदि आन्तरिक इन्द्रियों की श्रवण-नेत्र

आदि बाह्य इन्द्रियों से एवं प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की प्रत्येक कर्मेन्द्रिय से जातीय एकता है।

यदि ऐसा न होता, तो आन्तरिक इन्द्रियों के अनुरूप बाह्य इन्द्रियाँ चेष्ट न करतीं। आन्तरिक एवं बाह्य इन्द्रियों का कारण-कार्य सम्बन्ध है। प्रत्येक कार्य अपने कारण में विलीन होता है। कारण कार्य के बिना भी रह सकता है, किन्तु कार्य कारण के बिना नहीं रह सकता। कारण में स्वतन्त्रता अधिक होती है और कार्य में गुणों की विशेषता होती है। कारण सूक्ष्म एवं अव्यक्त होता है और कार्य स्थूल एवं व्यक्त होता है। जो सूक्ष्म एवं अव्यक्त होता है, वह स्थूल एवं व्यक्त की अपेक्षा अधिक विभु होता है। इसी कारण आन्तरिक इन्द्रियों की प्रेरणा से ही बाह्य इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं।

उसी प्रकार हमारी अपने निज-स्वरूप, नित्य-जीवन से एकता है। अतः हमारे लिए नित्य-जीवन का अनुभव करना परम अनिवार्य है। शरीर विश्व से भिन्न नहीं हो सकता और हमारी शरीर से काल्पनिक सम्बन्ध के अतिरिक्त जातीय एकता कदापि नहीं हो सकती अर्थात् 'शरीर विश्व से और हम विश्वनाथ से ही अभिन्न हो सकते हैं'; क्योकि हम स्वभविक रूप से यही कथन और चिन्तन करते हैं कि शरीर हमारा है; 'हम शरीर हैं', ऐसा कोई भी प्राणी कथन नहीं करता।

काल्पनिक सम्बन्ध भी दो प्रकार होते हैं—भेद-भाव का सम्बन्ध तथा अभेद-भाव का सम्बन्ध। माना हुआ 'मैं' अभेद भाव का सम्बन्ध है और माना हुआ 'मेरा ' भेद-भाव का सम्बन्ध है। अभेद भाव सम्बन्ध केवल अपनी स्वीकृति के आधार पर जीवित रहता है और भेद-भाव का सम्बन्ध माने हुए सम्बन्ध के अनुरूप चेष्टा करने पर प्रतीत होता रहता है। प्रतीति निज-सत्ता के बिना किसी और की सत्ता के आधार पर भी किसी कारणवश हो सकती है जैसे, मृग-तृष्णा का जल।

जिस प्रकार प्रत्येक मित्र अपने मित्र के दुःख-सुख से मैत्री सम्बन्ध के कारण दुःखी-सुखी होकर अपने को दुःखी-सुखी समझने लगता है, उसी प्रकार हम शरीर के सुख-दुःख आदि स्वभावक को अपने में आरोपित करने लगते हैं। किन्तु हमारी स्वाभाविक अभिलाषा शरीर-सम्बन्ध से पूर्ण नहीं हो पाती। अतः हमको अपने लिए अपने प्रेमपात्र अर्थात् नित्य-जीवन की आवश्यकता शेष रहती है। उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमको अनित्य जीवन से भिन्न नित्य-जीवन की ओर जाना अनिवार्य हो जाता है।

अब हम अपने नित्य-जीवन को कैसे जानें? यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है। यद्यपि प्रत्येक प्राणी अपनी स्वीकृति करता है, परन्तु अपने वास्तविक निज-स्वरूप, नित्य-जीवन को जानने से इन्कार करता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है! 'स्वाभाविक अभिलाषा से भिन्न अभिलाषी का निज-स्वरूप कुछ नहीं हो सकता'।

अब विचार यह करना है कि हमारी स्वाभाविक अभिलाषा क्या है? प्रत्येक प्राणी अपने में किसी प्रकार की कमी रखना नहीं चाहता; क्योंकि कमी का अनुभव होते ही दुःख का अनुभव होता है। यद्यपि दुःख किसी भी प्राणी को प्रिय नहीं है, फिर भी अपने-आप आता है।

जो अपने-आप आता है , उससे हमारा हित अवश्य होगा, यदि उसका सदुपयोग किया जाय। क्योंकि यदि दुःख न आता, तो हम अस्वाभाविक अनित्य जीवन से विरक्त नहीं हो सकते थे। अथवा यों कहो कि हमारी स्वाभाविक अभिलाषा, जो अस्वाभाविक इच्छाओं द्वारा दबाकर निर्बल बना दी गई थी, सबल न हो पाती। अतः दुःख की कृपा से हम जाग्रत हो जाते हैं। इस दृष्टि से दुःख आदरणीय अवश्य है।

कोई भी प्राणी तब तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक उसे स्वयं अपनी दृष्टि से अपनी कमी का अनुभव न हो। विचारशील प्राणी कमी का अनुभव कर उसका नितान्त अन्त करने लिए घोर प्रयत्न करते हैं। अतः हमको अपनी कमी का अन्त करने के लिए अखण्ड प्रयत्न करना चाहिए।

हम कब तक दुखी होते रहते हैं? जब तक हम किसी को भी अपने से सबल, स्वतन्त्र तथा श्रेष्ठ पाते हैं। अतः हमारी पूर्ण स्वतन्त्र, सबल तथा श्रेष्ठ होने को स्वाभाविक अभिलाषा है। जो स्वतन्त्र है, वही सबल तथा श्रेष्ठ है। यह नियम है कि 'क्रिया से भिन्न कर्ता का स्वरूप कुछ नहीं होता'। जैसे, देखने की क्रिया से भिन्न नेत्र कुछ नहीं है। अभिलाषा क्रिया है। अतः जो हमारी अभिलाषा है, वही हमारा स्वरूप है। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्धहो जाता है कि हम पूर्ण स्वतन्त्र, सबल तथा श्रेष्ठ हो सकते हैं, क्योंकि अपने को अपने स्वरूप से कोई भी भिन्न नहीं कर सकता। अतएव स्वाभाविक अभिलाषा का पूर्ण होना अनिवार्य है।

क्या हमारी स्वाभाविक अभिलाषा की पूर्ति के लिए यह संसार, जो प्रतीत होता है, समर्थ है? यदि बेचारा संसार समर्थ होता, तो क्या हम इसके होते हुए भी निर्बलता एवं परतन्त्रता आदि बन्धनों में बँधे रहते ? कदापि नहीं। 'हमको परतन्त्रता, निर्बलता आदि बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए केवल अपनी ओर देखना होगा। हम उसी दोष का अन्त कर सकते हैं, जो हमारा बनाया हुआ है; क्योंकि किसी और की बनाई हुई वस्तु को कोई और नहीं मिटा सकता।

जब हम विचार करते हैं, तो यही ज्ञात होता है कि हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति हमारी स्वीकार की हुई अहंता के अनुरूप ही होती है; क्योंकि बेचारी प्रवृत्ति तो अन्त में केवल स्वीकार ही हुई अहंता को ही पुष्ट करती है। अतः अहंता से भिन्न प्रवृत्ति नहीं हो सकती। 'जब तक हम दोष-युक्त अहंता को स्वीकार करते रहेंगे, तब तक दोष-युक्त प्रवृत्ति होती ही रहेगी अर्थात् मिट नहीं सकती। स्वीकृत की हुई अहंता को अपने से अतिरिक्त और कोई परिवर्तित नहीं कर सकता,अर्थात् अस्वाभाविक काल्पनिक सदोष स्वीकृति को हम स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक मिटा सकते हैं। दोष-युक्त अहंता के मिट जाने पर दोष-युक्त प्रवृत्ति शेष नहीं रहती; क्योंकि कारण के बिना कार्य किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हम अपने बनाये हुए दोष का स्वयं अन्त कर सकते हैं, अर्थात् किसी और के बनाये हुए दोष को कोई और नहीं मिटा सकता।

जब हम अपने बनाये दोष का अन्त कर डालेंगे, तब आनन्दघन भगवान् एवं जगत् हमारे साथ अवश्य होंगे, क्योंकि 'निर्दोषता सभी को प्रिय होती है। 'अथवा यों कहो कि इस प्रतीत होने वाले जगत् और उस परमात्मा को, जिसकी खोज जगत् करता है, हम अपने में ही पाएँगे; क्योंकि स्वाभाविक अभिलाषा है (अस्ति) की ही होती है। अस्ति-तत्त्व ही ईश्वर-भक्तों का ईश्वर, जिज्ञासुओं का ज्ञान, तत्त्ववेत्ताओं का निज-स्वरूप तथा प्रेमियों का प्रेमपात्र है; क्योंकि 'सच्चाई में कल्पना-भेद भले ही हो, वस्तु-भेद नहीं हो सकता।'

अपनी ओर देखने का प्रयत्न क्या है? अपनी ओर देखने के लिए प्राणी का सबसे प्रथम अपनी स्वाभाविक अभिलाषा को स्थायी करना होगा। ज्यो-ज्यों स्वाभिविक अभिलाषा स्थायी होती जाएँगी जिस प्रकार बर्फ गलकर जल हो जाती है। जिस प्रकार बर्फ गलकर नदी हो, स्वयं अपने प्रेमपात्र समुद्र से मिलकर अभिन्न हो जाती है, उसी प्रकार सब अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वाभाविक नित्यानन्द की अभिलाषा में बदल जाती हैं और स्वाभाविक अभिलाषा अपने प्रेमपात्र आनन्द से अभिन्न हो जाती है। उसको अपने प्रेमपात्र तक पहुँचने के लिए अपने से भिन्न किसी और की सहायता की आवश्यकता कदापि नहीं होती। अर्थात् वह स्वतन्त्रतापूर्वक परम स्वतन्त्र तत्त्व से अभिन्न हो जाती है, क्योंकि स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन कभी परतन्त्रता नहीं हो सकती।' अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन भी स्वतन्त्र है, क्योंकि स्वतन्त्रता प्राणी की निज की वस्तु है। वह हमारा त्याग कर ही नहीं सकती।

हमारा त्याग वही करता है, जो वास्तव में हमारा नहीं है, अर्थात् जिससे जातीय भिन्नता है। यदि आनन्द से जातीय भिन्नता होती, तो हमको आनन्द की स्वाभाविक अभिलाषा किसी प्रकार नहीं हो सकती थी। और यदि परतन्त्रता अर्थात् दुःख से जातीय भिन्नता न होती, तो हमको उससे अरुचि न होती। आनन्द की स्वाभाविक अभिलाषा आनन्द से जातीय एकता सिद्ध करने में स्वयं समर्थ है। स्वाभाविक अभिलाषा स्वयं अपनी अनुभूति के बिना नहीं होती और अनुभूति जातीय एकता के बिना नहीं होती। अतः आनन्द अर्थात् स्वतन्त्रता से आनन्द के अभिलाषी को जातीय एकता स्वीकार करना परम अनिवार्य है।

केवल प्रमाद के कारण बेचारा प्राणी स्वतन्त्रता से निराश हो जाता है, जो वास्तव में नहीं होना चाहिए, क्योंकि परतन्त्रतायुक्त जीवन मानवता के विरुद्ध पशुता है। वास्तव में तो परतन्त्रता आदि सभी दोष अपने बनाए हुए खिलौने हैं, जिन्हें जब चाहें स्वयं तोड़ सकते है। पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिए प्राणी स्वेच्छापूर्वक सर्वदा स्वतन्त्र है, क्योंकि परतन्त्रता को सबलता अपनी ही दी हुई है। 'यदि हम परतन्त्रता स्वीकार न करें, तो बेचारी परतन्त्रता किसी भी प्रकार जीवित नहीं रह सकती'—यह सिद्धान्त नितान्त सत्य है। अतः हमको सत्य का आदर करना चाहिए।

जब हम अपने को किसी-न- किसी सीमित भाव में बाँध लेते हैं, तब हमारे उस

सीमित अहंभाव से अनेक प्रकार की अस्वाभाविक इच्छाएँ उत्पन्न होने लगती हैं और फिर हम उन्हीं इच्छाओं के अनुरूप अपने को वस्तुओं में, अवस्थाओं में एवं परिस्थितियों में बाँध लेते हैं। बस, उसी काल से हमारे हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि जलने लगती है।यदि हम शरीर तथा वस्तु आदि में अपने को न बाँध लेते, तो हमको अपने लिए किसी भी वस्तु की आवश्यकता न होती। वस्तुओं के दासत्व ने हमको नित्य-जीवन से विमुख कर अनित्य जीवन में बाँध दिया है।

जिस प्रकार परतन्त्रता वास्तव में स्वतन्त्रता की अभिलाषा है, उसी प्रकार अनित्य जीवन नित्य-जीवन की अभिलाषा है, और कुछ नहीं। गहराई से देखिए कि निर्धनता क्या है? धन की अभिलाषा। वैसे ही अस्वाभाविक अनित्य जीवन क्या है? स्वाभाविक नित्य-जीवन की अभिलाषा। यदि हम अपने स्वीकार किए हुए सीमित अहंभाव का अन्त कर डालें, तो हम वर्तमान में ही नित्य -जीवन का अनुभव सुगमतापूर्वक कर सकते हैं। भविष्य की आशा तो हमको केवल तब करनी पड़ती है, जब हम अस्वाभाविक परतन्त्रता-युक्त जीवन का भोग करते है, अथवा यों कहो कि भविष्य की आशा तब करनी पड़ती है, जबकि हम संगठन से उत्पन्न होने वाले परिवर्तनशील रस का पान करते हैं। 'जो नित्य-आनन्द केवल 'त्याग' सें प्राप्त होता है, उसके लिए भविष्य की आशा करना एकमात्र प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखता।'

हम पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिए परतन्त्र नहीं हैं। हमारे निज-स्वरूप की, जो सर्वकाल में है, यह महिमा है कि बेचारी परतन्त्रता को भी सान्निध्यमात्र से सत्ता मिल जाती है। यह नियम है कि जिसकी सत्ता भासित होने लगती है, उसमें प्रियता उत्पन्न हो जाती है और प्रियता आते ही अस्वाभाविक परिवर्तनशील जीवन में आसक्ति हो जाती है। बस, यही परतन्त्रता की सत्ता है, और कुछ नहीं। 'यदि हम स्वयं अपने ऊपर अपनी कृपा करें, तो निर्जीव परतन्त्रता 'स्वतन्त्रता' में विलीन हो सकती है।'

हम सबसे बड़ी भूल यही करते हैं कि जो हमसे भिन्न हैं, उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। भला, जिन बेचारों का जीवन केवल हमारी स्वीकृति के आधार पर जीवित है, उनमें हमारे ऊपर कृपा करने की शक्ति कहाँ ? हम अपनी की हुई स्वीकृति को स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक मिटा सकते हैं। सभी परिवर्तनशील क्रियाओं का जन्म हमारी अस्वाभाविक काल्पनिक स्वीकृति के आधार पर होता है। अतः मानी हुई अहंता अर्थात् सीमित अहंभाव का अन्त होते ही, सभी चेष्टाओं का अन्त हो जाता है। चेष्टाओं का अन्त होने पर हम अपने में ही अपने प्रेमपात्र का अनुभव कर परम स्वतन्त्र हो जाते हैं। क्योंकि हमारी सभी चेष्टाएँ उसी समय तक जीवित रहती हैं, जब तक हम अपनी पूर्ति के लिए अपने से भिन्न शरीरादि वस्तुओं की आशा करते हैं और वस्तुओं की आशा तब तक करते हैं, जब तक स्वाभाविक अभिलाषा अस्वाभाविक इच्छाओं को खा नहीं लेती। स्वाभाविक अभिलाषा पूर्णरूप से

जागृत हो जाने पर अस्वाभाविक इच्छाएँ अर्थात् विषय-वासनाएँ भस्मीभूत हो जाती हैं। वस्तु आदि की वासनाएँ निवृत्त होने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। क्योंकि इन्द्रिय, मन आदि यन्त्रों की आवश्यकता तभी तक रहती है, जब तक हम शरीरादि वस्तुओं का दासत्व करते रहते हैं। अर्थात् मन, इन्द्रिय आदि वस्तुओं का संगठन हमको हमारे प्रेमपात्र का अनुभव नहीं होने देता, प्रत्युत संसार के दासत्व की ओर ही ले जाता है।

जब हम मन, इन्द्रिय आदि के संगठन से अपने को असंग कर लेते हैं, तब वे बेचार अचेष्ट होकर हमारे में ही सम हो जाते हैं और हम अपने परम स्वतन्त्र नित्य-जीवन में विलीन हो, अभेदता का अनुभव करते हैं। यह नियम है कि सर्व वासनाओं का अन्त होने पर सर्व चेष्टाओं का, जो कर्ता-भोक्ता-भाव से उत्पन्न होती हैं, अन्त हो जाता है। सर्व चेष्टाओं का अन्त होने पर सर्व वासनाएँ एक ही स्वाभाविक अभिलाषा में विलीन हो जाती हैं। अभिलाषा की पूर्णता, अर्थात् उसकी पूर्ण जागृति, स्वयं अभिलाषी को उसके लक्ष्य से अभिन्न कर देती है। अतः हम चेष्टाओं का अन्त होते ही प्रेमपात्र का अनुभव कर लेते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार समूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्वाभाविक अभिलाषा की पूर्ण जागृति होते ही परतन्त्रतादि सर्व दोष निर्मूल हो जाते हैं।

यद्यपि प्रवृत्तियों के बदलने से भी अहंता बदल जाती है, परन्तु अहंता के बदलने से प्रवृत्ति समूल बदल जाती है; क्योंकि प्रवृत्ति-परिवर्तन द्वारा अहंता बदलना, अहंता-परिवर्तन द्वारा प्रवृत्ति बदलने की अपेक्षा अधिक कठिन है। प्रवृत्तियों के निरोध से तो स्वीकृत किया हुआ सीमित अहंभाव स्वाभाविक परम पवित्र स्वतन्त्र निर्विकार नित्य-तत्त्व में वैसे ही स्थित हो जाता है, जैसे कि बीज अपना स्वभाव जीवित रखते हुए भी गलकर पृथ्वी, जल आदि सभी तत्त्वों में स्थित हो जाता है।अपने में स्थित हुए बीज को पृथ्वी, जल आदि सभी तत्व उसके स्वभावानुसार सर्वदा सत्ता देकर विकसित करते रहते हैं, उसी प्रकार निर्विकार नित्य-तत्त्व अपने में स्थित सीमित अहंभाव को सत्ता देकर सर्वदा उसके अस्वाभाविक अनित्य जीवन को उसी के स्वभावानुसार प्रकाशित करता रहता है।

यदि मानी हुई अहंता को स्वीकार न किया जाय, तो सीमित अहंभाव निर्विकार नित्य-तत्त्व से उसी प्रकार अभिन्न हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि से दग्ध बीज अपने स्वभाव को मिटाकर पृथ्वी इत्यादि तत्त्वों से अभिन्न हो जाता है। 'अतः हमको लेशमात्र भी नित्य-जीवन से निराश नहीं होना चाहिए। नित्य-जीवन तो हमारी निज की सम्पत्ति है, क्योंकि वही हमारे काम आती है।'

गहराई से देखिए, अस्वाभाविक जीवन की ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है, जिसके बिना हम नहीं रह सकते, अर्थात् हम अनित्य जीवन की सभी अवस्थाओं के बिना रह सकते हैं। हम उसी का त्याग करते है, जो हमारी निज की वस्तु नहीं है।

जब हम अपनी अनुभूति का निरादर करते हैं, तब निजानन्द से विमुख हो, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति आदि अवस्थाओं मे फँस जाते हैं। इन सभी अवस्थाओं के बिना हम रह सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक अवस्था के अभाव तथा परिवर्तन का हम सर्वदा अनुभव करते हैं। यदि ऐसा न होता, तो न तो हम जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं की गणना कर सकते और न अवस्थाओं के परिवर्तन को ही जान पाते। हम गणना उसी की कर सकते हैं, जो हमसे भिन्न हो, अर्थात् हम जिसके साक्षी हों। अतः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं के बिना हम सर्वदा स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकते हैं। यह अखण्ड नियम है कि भिन्नता से एकता होना सर्वदा असम्भव है। अतः हमको अपने लिए जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि किसी भी अवस्था की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अवस्थाओं से तो केवल हमारी मानी हुई एकता है। परन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि ये अवस्थाएँ, जिनकी सत्ता केवल हमारी स्वीकृति के आधार पर जीवित है, हमारी सत्ता से ही सत्ता पाकर ऊपर ही शासन करने लगती हैं ! मानी हुई एकता अस्वीकृत होते ही मिट जाती है। अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही हम सुगमतापूर्वक नित्य -जीवन का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाते हैं।

अतः निजानन्द के लिए अपनी अनुभूति का आदर हमारे लिए परम अनिवार्य है। ज्यों-ज्यों हम अपनी अनुभूति का आदर करते जाएँगे, त्यों-त्यों अनुभूति स्वयं बढ़ती जाएगी। अनुभूति का आदर करने से मस्तिष्क और हृदय की एकता हो जाएगी। 'जब बुद्धि और हृदय एक हो जाते हैं, तब सारा जीवन ही साधन हो जाता है, साधन जीवन का अंगमात्र नहीं रहता। जीवन साधन होने पर क्रिया-भेद होने पर भी लक्ष्य-भेद नहीं होता और न प्रीतिभेद होता है। जैसे, शरीर के सभी अंगों के साथ क्रिया -भेद होने पर भी प्रीति समान ही होती है।शरीर के सभी अंगएक काल में एक ही संकल्प के अनुसार क्रिया करते हैं, अर्थात् दृढ़-संकल्प होने पर इन्द्रियादि कोई भी अङ्ग संकल्प का विरोध नहीं करते, बल्कि सब मिलकर कर्ता के अनुरूप ही कार्य करते हैं। वैसे ही जब हमारा जीवन ही साधन हो जाएगा, तब हमारी सारी चेष्टाएँ हमारे परम प्रेमास्पद निज-स्वरूप के लिए ही होगी। यद्यपि कर्ता एक है और उसका लक्ष्य भी एक है, परन्तु जीवन साधन न होने के कारण हमारी सभी क्रियाएँ एक ही लक्ष्य में विलीन नहीं हो पातीं अर्थात् भिन्न-भिन्न अर्थ रखती हैं, जिससे हम अनेक वासनाओं में बँधकर भटकते रहते हैं।

हम आरम्भ में ही कह चुके हैं कि हमको अपने से भिन्न की आवश्यकता किसी प्रकार नहीं हो सकती। परन्तु हमनें अपने को शरीर से बाँध लिया है और वह शरीर विश्व की वस्तु है; अतःउसे प्रसन्नतापूर्वक विश्व को दे देना चाहिए। हम जब विश्व की वस्तु को किसी काल्पनिक समाज, राष्ट्र एवं सम्प्रदाय को दे देते हैं, तब विश्व में घोर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। इस अशान्ति का मूल कारण यही है कि जो विश्व की वस्तु है, उसे हम विश्व को नहीं देते। हम स्वयं बन्धन में पड़कर विश्व के प्राणियों को भी बन्धन

में डालते हैं। यदि हमारे में किसी प्रकार का दासत्व न होता, तो हम किसी को भी परतन्त्र करने का प्रयत्न न करते। जो स्वयं स्वतन्त्र है, वह किसी को परतन्त्र नहीं करता।

हम कोई भी बुराई दूसरों के साथ ऐसी नहीं कर सकते, जो प्रथम अपने साथ नहीं कर लेते। अर्थात् कर्ता बुरा होकर बुराई करता है, क्योंकि क्रिया कर्ता का कार्य है। यद्यपि दोष-युक्त प्रवृत्ति से भी कर्ता में दोष आ जाता है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से तो यही ज्ञात होता है कि दोष-युक्त अहंता होने पर दोष-युक्त प्रवृति होती है अर्थात् प्रवृत्ति से पूर्व अहंता बदल जाती है। अतः दोष-युक्त व्यक्ति ही विश्व में दोष-युक्त प्रवृति उत्पन्न करते रहते हैं। यद्यपि हमको अहंभाव अत्यन्त प्रिय है, परन्तु दोष-युक्त प्रवृत्ति की आसक्ति के कारण हम परम प्रिय अहंभाव को सदोष बना देते हैं अर्थात् हम अपने आप ही अपने पर अत्याचार करते हैं।

हमको स्वयं अपनी दृष्टि से अपने को देखना चाहिए कि हम स्वयं दुःखी होकर दूसरों को दुःख देते हैं। यह नियम है कि 'जो हम देते हैं, वह कई गुना अधिक होकर फिर प्रति-क्रिया रूप में हमारे पास आ जाता है।' अतः ज्यों-ज्यों हम दूसरों को दुःख देते रहते हैं, त्यों-त्यों स्वयं अधिक दुःखी होते रहते हैं और ज्यों-ज्यों दुःखी होते रहते हैं, त्यों-त्यों समाज को पुनः दुःख देते रहते हैं। जिस प्रकार बीज और वृक्ष का चक्र चलता ही रहता है। उसी प्रकार हमारे दुःख का चक्र भी चलता ही रहता है। हम प्रमादवश सुखासक्ति के कारण दूसरों को दुःख देते हैं। भला, जिस सुख का जन्म किसी के दुःख से होगा, वह अन्त में हमको दुःख के अतिरिक्त और क्या दे सकता है! क्योंकि यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्त में उसमें ही विलोन हो जाती है। अतः किसी के दुःख से उत्पन्न होनेवाला सुख अन्त में दुःख में ही विलीन होगा। इसी कारण विचारशील उस सुख का भोग नहीं करते, जो किसी का दुःख हो, प्रत्युत् उस दुःख को प्रसन्नतापूर्वक अपना लेते हैं, जो किसी का सुख हो।

हमारे दुःखी होने से केवल हमीं को दुःख नहीं होता, बल्कि हम विश्व में भी दुःख उत्पन्न करते रहते हैं। यदि हम दुःखी न रहेंगे, तो हमारे जीवन से किसी को भी दुःख न होगा। अतः हमको अपने दुःख का अन्त करना परम अनिवार्य हो जाता है। विचार से उत्पन्न होने वाला दुःख उन्नति का कारण होता है, क्योंकि वह पूर्ण दुःख होता है और सुख के लालच से उत्पन्न होनेवाला दुःख अवनति का कारण होता है, क्योंकि वह अधूरा दुःख होता है। पूर्ण दुःख यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ होता है। पूर्ण दुःखी किसी दूसरे को दुःख नहीं देता। इन्द्रिय-लोलुप, सुखासक्त प्राणी ही दूसरों को दुःख देता है।

जब हम अपने को अपने प्रेमपात्र को और शरीर विश्व को दे डालेंगे, तो बस, दुःख का अन्त हो जाएगा।' विश्व को शरीर की आवश्यकता है, क्योंकि शरीर विश्व की वस्तु है। प्रेमपात्र हमारी प्रतीक्षा करते हैं, क्योंकि हम प्रेमपात्र के हैं।यदि वे हमारी प्रतीक्षा न करते, तो

हमको आनन्दघन प्रेमपात्र की स्वाभाविक अभिलाषा न होती। यह नियम है कि हमको स्वतः उसी का स्मरण होता है, जो हमको प्यार करता है। अतः हमारे प्रेमपात्र हमको अपनाने के लिए हमारी प्रतीक्षा करते हैं। यद्यपि वे हमारे बिना भी सब प्रकार से पूर्ण हैं, किन्तु हमें अपनाने के लिए सदा हमारी प्रतीक्षा करते रहना उनकी अहैतुकी कृपामात्र है।

भला, क्या हमको यह शोभा देता है कि हम अपने प्रेमपात्र की ओर नहीं देखते, जो हमारी निरन्तर प्रतीक्षा कर रहे हैं? हम इसीलिए दुःखी हैं कि हमारे प्रेमपात्र हमारे बिना दुःखी हैं। उनको हमारे बिना और हमको उनके बिना चैन मिल ही नहीं सकता। विश्व की वस्तु जब हम विश्व को दे डालेगे, तो विश्व भी हमसे प्रसन्न हो जाएगा। दोनों के प्रसन्न होने से हम भी प्रसन्न रहेंगे अर्थात् हम सर्वदा के लिए निश्चिन्त, निर्भय तथा आनन्दित हो जाएँगे।

हमको जो कुछ करना चाहिए, वह हम कर सकते हैं। यदि न कर सकते होते , तो करने की रुचि न उत्पन्न होती। करने की रुचि स्वयं करने की शक्ति प्रकाशित करती है। यह नियम है कि जब तक कारण रहता है, तब तक कार्य अवश्य रहता है। आवश्यकता कारण है और कर्तव्य पालन कार्य है। आवश्कता के होते हुए यदि हम यह कहते है कि हम कुछ नहीं कर सकते, तो हम स्वयं अपनी दृष्टि में अपने को धोखा देते हैं।

विश्व हमसे वही आशा करता है और ईश्वर वही आज्ञा देता है, जो हम कर सकते हैं। जो हम नहीं कर सकते, उसके लिए न तो विश्व हमसे आशा कर सकता है और न ईश्वर की आज्ञा हो सकती है। अतः हमको अपने में से यह बिल्कुल निकाल देना चाहिए कि हम कुछ नहीं कर सकते। 'हम जो कुछ कर सकते हैं, उससे ही हमारा अभीष्ट प्राप्त हो सकता है।'

यह निर्विवाद सत्य है कि जो कुछ हम कर सकते हैं, उसे न करना, इसके सिवाय अकर्तव्य और कुछ नहीं हैं। क्योंकि जब हम वह नहीं करते, जो करना चाहिए, तब उसके विपरीत करते हैं। कर्तव्य से विपरीत करना ही अकर्तव्य है। आवश्यकता होते हुए हम कुछ-न-कुछ अवश्य करते रहेंगे। हाँ, यह अवश्य है कि आवश्यकता शेष न रहने पर करने की शक्ति नहीं रहती, क्योंकि क्रिया भाव में और भाव लक्ष्य में विलीन हो जाता है। करना साधन है, साध्य नहीं। साध्य मिलने पर साधन शेष नहीं रहता, क्योंकि फिर साधन साध्य से अभिन्न हो जाता है।

अतःहमको जो कुछ करना चाहिए, उसकी शक्ति तथा ज्ञान हममें विद्यमान है। हमको अपने में से हीअपनी छिपी हुई शक्ति को विकसित करना है। वह हम तब कर सकते हैं, जब अपनी योग्यतानुसार अपना अध्ययन कर लें। जब तक हम अपना अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक शास्त्रों का अध्ययन केवल हमारी बुद्धि का व्यायाम होगा, और कुछ नहीं। जिस प्रकार रोग का यथार्थ निदान होने पर ही उचित औषधि निर्धारित की जा सकती है, उसी प्रकार शास्त्र, आचार्य आदि हमारे अनुकूल तब हो सकते हैं, जब हम अपना यथार्थ अध्ययन कर लें।

अपना अध्ययन करने के लिए सबसे प्रथम हमको मानी हुई सत्ता को अस्वीकार करना होगा अथवा माने हुए भाव के अनुरूप स्वधर्म -निष्ठा करनी होगी। मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार करने से अनित्य जीवन निर्जीव हो जाएगा और माने हुए भाव के अनुरूप जीवन होने पर मानी हुई सत्ता से असंगता तथा विरक्ति आ जाएगी अर्थात् मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार करने की शक्ति आ जाएगी; क्योंकि भाव का जीवन क्रिया के जीवन से ऊपर उठा देता है और भाव का जीवन पूर्ण होने पर ज्ञान का जीवन आरम्भ हो जाता है। क्रिया का जीवन ही पशु-जीवन है, भाव का जीवन ही मानव-जीवन है और ज्ञान का जीवन ही ऋषि -जीवन है।

जब हम मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार नहीं कर सकते, तब हमको माने हुए भाव के अनुरूप जीवन धारण करना अनिवार्य हो जाता है, जिससे मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार करने की शक्ति आ जाती है। मानी हुई सत्ताएँ सभी सीमित तथा अनित्य होती हैं। हमारी स्वाभाविक अभिलाषा नित्य जीवन की है। अतः नित्य जीवन के लिए अनित्य जीवन का अन्त करना परम आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार शेष नहीं रहता अथवा यों कहो कि प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार अनित्य जीवन का अन्त होते ही नित्य जीवन का अनुभव हो जाता है। नित्य-जीवन से मानी हुई दूरी और अनित्य जीवन से मानी हुई एकता है। यदि अनित्य जीवन से मानी हुई एकता न होती, तो उससे अरुचि न होती और नित्य जीवन से आत्मीय एकता और मानी हुई दूरी यदि न होती, तो उससे नित्य-निरन्तर रुचि न होती; क्योंकि नित्यता सर्वदा सभी को प्रिय है। रुचि तथा अरुचि किसी-न-किसी प्रकार की एकता और किसी-न किसी प्रकार की भिन्नता होने पर ही होती है।

गहराई से देखिए, अस्वाभाविक अनित्य जीवन केवल दो प्रकार की-भोग और अमरत्व की इच्छाओं का समूह है। अनित्य जीवन परिवर्तनशील विषयों की ओर ले जाता है इसलिए उस जीवन का नाम अनित्य जीवन है। बेचारा अनित्य जीवन विषयों की ओर ले तो जाता है, परन्तु विषयों को प्राप्त नहीं करा पाता, क्योंकि विषयों में प्रवृत्त होने पर शक्तिहीनता तो होती है, प्राप्त कुछ नहीं होता। हमको शक्तिहीन देखकर विषय हमारा स्वयं त्याग कर देते हैं। हम आसक्तिवश विषयों के तिरस्कार-युक्त व्यवहार को सहन करते रहते हैं। हमारा तिरस्कार वही करता है, जो हमारा नहीं है। हमारे तिरस्कार को देख, हमारा प्रेमपात्र- नित्य-जीवन-निवृत्ति द्वारा हमें अपना लेता है। उसके अपनाते ही हमको पुनः शक्ति मिल जाती है। हम विषयों के दासत्व के कारण बार-बार विषयों में प्रवृत्त होते रहते हैं और ठुकराए भी जाते हैं। हमने अपना मूल्य कम कर दिया है और अपने प्रेमपात्र-नित्य-जीवन-का निरादर किया है, क्योंकि उसके अपना लेने पर भी विषयों की ओर दौड़ते हैं। इसी महापाप के कारण अपने को स्वयं अपनी दृष्टि में निन्दनीय पाते हैं। यह बड़े दुःख की बात है।

नित्य-जीवन अनित्य जीवन पर शासन नहीं करता, प्रत्युत प्रेम करता है। शासन वह करता है, जो सीमित होता है। नित्य-जीवन असीम है। अथवा यों कहो कि शासन वह करता है, जिसकी सत्ता किसी संगठन से उत्पन्न होती है। जो अपने-आप अपनी महिमा में नित्य स्थित है, वह सर्वदा स्वतन्त्र है, पूर्ण है और असीम है। वह किसी पर शासन नहीं करता; प्रेम करता है। यदि नित्य-जीवन प्रेम न करता, तो स्वयं निवृत्ति द्वारा अपनाता नहीं और यदि शासन करता, तो हमको हमारी रुचि के अनुसार शक्ति देकर विषयों की ओर न जाने देता।

जब हम अपनी दृष्टि से प्रेमपात्र के प्रेम को, और विषयों की ओर से होने वाले तिरस्कार को देख लेते हैं, तब हमको विषयों से अरुचि और प्रेमपात्र की रुचि हो जाती है। बस, उसी काल में प्रेमपात्र हमको अपने से अभिन्न कर लेते हैं।

विचार-दृष्टि से देखिए कि प्रत्येक प्रवृत्ति की निवृत्ति बिना ही प्रयत्न स्वतः होती है। अतः स्वयं आने वाली निवृत्ति, जो प्रवृत्ति की अपेक्षा सबल एवं स्वतन्त्र है, अनित्य जीवन की वस्तु नहीं हो सकती। शक्तिहीन होने पर अनित्य जीवन शक्ति-संचय के लिए कुछ कर नहीं सकता। अतः शक्ति भी अनित्य जीवन की वस्तु नहीं हो सकती; क्योंकि निवृत्ति काल में किसी प्रकार प्रवृत्ति शेष नहीं रहती। यह हमको अनेक घटनाओं से अनुभव होता है कि निवृत्ति के बिना पुनः प्रवृत्ति के लिए शक्ति नहीं आती। बेचारा अनित्य जीवन तो केवल शक्ति का दुरुपयोग ही करता है, और कुछ नहीं कर पाता, क्योंकि बेचारे को विषय-सत्ता भी प्राप्त नहीं होती। विषयों की प्रवृत्ति विषयों से दूरी सिद्ध करती है, क्योंकि प्रवृत्ति एक प्रकार की क्रिया है।क्रिया लक्ष्य के अप्राप्ति -काल में हीं होती है।

बेचारा अनित्य जीवन, न मालूम कब से विषयों की ओर दौड़ता है, परन्तु पकड़ नहीं पाता! जब हम पूछते हैं कि क्यों दौड़ते हो? तो हमको यही उत्तर मिलता है कि दौड़ने की आदत पड़ गई है। 'आदत' अभ्यास-जन्य आसक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अभ्यास का जन्म अस्वाभाविक माने हुए अहंभाव से होता है। अस्वाभाविक अहंभाव का अन्त कर देने पर अभ्यास-जन्य आसक्ति समूल नष्ट हो जाती है; क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। अभ्यास-जन्य आसक्ति अस्वाभाविक सीमित अहंभाव में अर्थात् अनित्य जीवन में सद्भाव के सिवाय और कुछ नहीं है, क्योंकि यदि परिवर्तन में अपरिवर्तन-भाव न हो तो आसक्ति कदापि नहीं हो सकती। सीमित अहंभाव से कामनाओं का जन्म होता है।

जिस प्रकार बीज में अनन्त वृक्ष छिपे रहते हैं, उसी प्रकार सीमित अहंभाव में अनन्त कामनाएँ छिपी रहतीं हैं। कामनाओं की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। यहाँ पूर्ति का अर्थ प्राप्ति नहीं, बल्कि प्रवृत्ति है, क्योंकि जब कामना प्रवृत्ति का स्वरूप धारण करती है, तब कर्ता को सुख प्रतीत होता है। प्रतीति समोपत्व सिद्ध करती है , एकता नहीं। अत्यन्त

समीपता होने पर भी कुछ न कुछ दूरी शेष रहती है। अतः प्रवृत्ति प्राप्ति नहीं हो सकती।

कामनाओं की निवृत्ति में आनन्दघन नित्य-जीवन का अनुभव होता है। कामनाओं की पूर्ति कर्म अर्थात् संगठन से होती है और कामनाओं की निवृत्ति यथार्थ-ज्ञान अर्थात् तत्व-ज्ञान से होती है, क्योंकि कामनाओं की उत्पति का मूल कारण अज्ञान अर्थात् ज्ञान की कमी है। पूर्ति और निवृत्ति में यही भेद है कि पूर्ति से कामनाओं की पुनः उत्पति होती है, पर निवृत्ति से नहीं। यथार्थ ज्ञान त्याग और प्रेम से होता है। दुःखी प्राणी में त्याग और प्रेम विचार से, और सुखी प्राणी में त्याग और प्रेम सेवा से होते हैं, क्योंकि जो स्वयं दुःखी है, वह सेवा नहीं कर सकता, किन्तु विचार कर सकता है। बेचारे सुखी प्राणी में सुखासक्ति के कारण विचार का उदय नहीं होता, प्रत्युत वह सेवा कर सकता है।

कर्म देहाभिमान को जाग्रत करता है, और सेवा स्वाभिमान को। देहाभिमान अनित्य जीवन की ओर, और स्वाभिमान नित्य-जीवन की ओर ले जाता है। बड़े से बड़ा कर्म भी छोटी से छोटी सेवा के समान नहीं हो सकता, क्योंकि बेचारा कर्माभिमानी तो सर्वदा फल के लिए दीन रहता है। प्रत्येक कर्म सीमित अहंभाव की पुष्टि के लिए होता है, क्योंकि कर्म के आरम्भ में कर्ता जिस अहंता को स्वीकार करता है, कर्म अन्त में उसी अहंता को सिद्ध करता है। मानी हुई सभी अहंताएँ सीमित तथा परिवर्तनशील होती हैं। अतः इस दृष्टि से बेचारे कर्म का फल अनित्य ही होता है।

सेवा विश्व की पूर्ति के भाव से होती है। यह नियम है कि जो क्रिया दूसरों की पूर्ति के भाव से की जाती है, उसका राग कर्ता पर अंकित नहीं होता; और जिस क्रिया का राग कर्ता पर अंकित नहीं होता, उसकी कामना नहीं होती। अतः 'सेवा' त्याग और प्रेम को उत्पन्न करने में समर्थ है। कर्माभिमानी में सर्वदा कामनाएँ निवास करती हैं। बेचारा कामना-युक्त प्राणी विषयों के दासत्व से छुटकारा नहीं पाता। सेवक में सर्वदा ऐश्वर्य तथा माधुर्य निवास करते हैं, क्योंकि ऐश्वर्य तथा माधुर्य के बिना सेवा हो ही नहीं सकती। ऐश्वर्य तथा माधुर्य सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्दधन भगवान् का स्वरूप है। ज्यों-ज्यों सेवा-भाव सबल होता जाता है, त्यों-त्यों विषयासक्ति अर्थात् विलासिता गलती जाती है; और ज्यों-ज्यों विलासिता मिटती जाती है, त्यों-त्यों ऐश्वर्य- माधुर्य का प्राकट्य होता जाता है। फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती, अर्थात् दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होकर, परम पवित्र आनन्दघन नित्य -जीवन का अनुभव होता है।

जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार को खा लेता है, उसी प्रकार विचार अविचार को खा लेता है। अविचार के मिटते ही अविचार का कार्य अर्थात् 'राग-द्वेष' त्याग और प्रेम में बदल जाता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं रहता।

जैसे भूख भोजन को खा लेती है, या जिस प्रकार आयु की पूर्णता आयु नहीं, बल्कि मृत्यु होती है, उसी प्रकार त्याग और प्रेम की पूर्णता यथार्थ-ज्ञान होता है। यह नियम है कि

नित्य-जीवन से भिन्न उत्पन्न होने वाली सभी सत्ताएँ उसी समय तक जीवित रहती हैं, जब तक पूर्ण नहीं होतीं। पूर्ण होने पर उनसे अरुचि होकर स्वाभाविक अभिलाषा जागृत हो जाती है।

सुख और दुःख दोनों ही अनित्य जीवन की वस्तुएँ हैं। सुख प्राणी को परतन्त्रतारूप सुदृढ़ श्रृंखला में बाँध लेता है। गहराई से देखिए, ऐसा कोई सुख नहीं होता कि जिसका जन्म किसी के दुःख से न हो। इस दृष्टिसे सभी सुखी दुखियों के ऋणी हैं, क्योंकि सुख दुखियों की दी हुई वस्तु है। यदि हम सुखी प्राणी दुखियों की दी हुई वस्तु दुखियों को सम्मान-पूर्वक भेंट न करेंगे, तो हम दुखियों के ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। भला, कहीं ऋणी प्राणी को शक्ति तथा शान्ति मिल सकती है? कदापि नहीं।

जब हम यह विचार करते हैं, तो हमको यही ज्ञात होता है कि हमको सुख भी दुखियों की कृपा से मिला था और सुख के बन्धन से हम दुखियों की सेवा से ही छुटकारा पा सकते हैं। इस दृष्टि से दुःखी हमारे लिए परम आदरणीय है। यदि कोई यह कहे कि सुख तो हमारे कर्म का फल है, तो भला, बताओ तो सही कि आप जिस अंश में किसी दूसरे को दुःखी नहीं पाते, क्या उस अंश में आप सुख का अनुभव करते है? कदापि नहीं

गहराई से देखिए, कर्म से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक परिस्थिति तथा अवस्था दुःखमय व अपूर्ण है। उस दुःखमय अवस्था में भी आप अपने से अधिक दुखियों को देखकर सुख का रस ले लेते हैं। तो भला बताओ, वह सुख आपके कर्म का फल हुआ, अथवा दुखियों का दिया हुआ प्रसाद?

हम परम प्रिय दुखियों की सत्ता से ही सुखरूप थकावट का रस ले लेते हैं। क्या हम अपनी दृष्टि में तब तक ईमानदार हो सकते हैं, जब तक परम प्रिय दुखियों को न अपना लें? कदापि नहीं। सुख की सार्थकता यही है कि दुखियों के काम आ जायँ। क्या यही हमारी योग्यता है कि जिन सुखियों से हम दुःखी होते हैं, उनका दासत्व स्वीकार करें, और जिन दुखियों की कृपा से सुख तथा आनन्द दोनों ही पाते हैं, उनको तिरस्कार कर अपने को अभिमान की अग्नि में जलाएँ? हमारी इस योग्यता को अनेक बार धिक्कार है!

हम अपनी निर्बलता छिपाने के लिए बेचारे दुःखी प्राणियों पर पशुबल से शासन करते हैं और अपने से अधिक शक्तिशालियों का दासत्व स्वीकार करते हैं। हमारा पशुबल न तो हमारी निर्बलता को ही छिपा सकता है और न दुखियों को छिन्न-भिन्न कर सकता है, क्योंकि जिस निर्बलता को हम अपने से ही नहीं छिपा सकते, भला उसे विश्व से कैसे छिपा सकते हैं? जैसे पृथ्वी में छिपा हुआ बीज बृहत् रूप धारण कर लेता है। वैसे ही हममें छिपी हुई बुराई बृहत् रूप धारण कर लेती है।

निर्बलता मिटाई तो जा सकती है, परन्तु छिपाई नहीं जा सकती। दुखियों के शरीर आदि वस्तुओं को छिन्न-भिन्न कर देने से उनका अन्त नहीं हो जाता, क्योंकि सूक्ष्म तथा कारण शरीर शेष रहते हैं। यदि हम किसी के स्थूल शरीर को

नष्ट भी कर दें, तो भी वह प्राणी जिस भाव को लेकर स्थूल शरीर का त्याग करता है, उसी भावना के अनुरूप प्रकृति माता से अथवा यों कहो कि जगत्-कारण से शक्ति संचय कर, हमसे अधिक शक्तिशाली हो, हमारा विरोध करने के लिए हमारे सामने आ जाता है। अतः हम पशुबल से दुखियों को छिन्न-भिन्न भी नहीं कर सकते और न अपनी निर्बलता को छिपा या मिटा सकते हैं। हमारे इस पशुबल को बार-बार धिक्कार है!

अब विचार यह करना है कि हमारी निर्बलताएँ किस प्रकार मिट सकती हैं। जिस प्रकार बालक के रोने से ही चोर भाग जाता है, उसी प्रकार निर्बलता को 'निर्बलता' जानने पर निर्बलता भाग जाती है, क्योंकि वह हममें उसी समय तक निवास करती है, जब तक हम उसे अपनी दृष्टि से देख नहीं पाते। यदि निर्बलता हमारी निज की वस्तु होती; तो उसके मिटाने का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता। यदि उसके मिटाने का प्रश्न उत्पन्न हो रहा है, तो इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि उससे हमारी जातीय भिन्नता है, एकता नहीं है। एकता तो केवल प्रमादवश स्वीकार कर ली गई है। यह स्वीकृति कब से है और क्यों है, इसका कुछ पता नहीं। परन्तु जिससे जातीय भिन्नता है, उसका अन्त हम अवश्य कर सकते हैं।

सभी अस्वाभाविक संयोग, जो केवल स्वीकृति से जीवित हैं, निरन्तर स्वाभाविक वियोग की अग्नि में जल रहे हैं। यदि हम संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव कर लें, तो संयोग से उत्पन्न होने वाला रस हम पर अपना अधिकार न कर सकेगा। उसके अधिकार न करने से भोगत्व नष्ट हो जाएगा और हमें स्वाभाविक नित्य-योग प्राप्त हो जाएगा। शक्ति-संचय करने के लिए योग कल्पतरु के समान है। यदि सब प्रकार की निर्बलताओं का अन्त करने के लिए सद्भावपूर्वक हमारी अभिलाषा उत्पन्न हो गई है, तो हमको अपने प्रेमपात्र निज-स्वरूप से योग द्वारा वह शक्ति अवश्य मिल जाएगी, जिससे सभी निर्बलताओं का नितान्त अन्त हो जाएगा।

भोग से अरुचि होने पर योग और भोग का अन्त होने पर तत्वज्ञान अर्थात् नित्य-जीवन का अनुभव होता है। 'योग' स्थिति है, 'ज्ञान' स्वरूप है। स्थिति का उत्थान होता है, पर स्वरूप का उत्थान नहीं होता। निर्विकल्प-स्थिति आदि सभी अवस्थाएँ हैं। हाँ, निर्विकल्प-स्थिति' जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं सविकल्प-स्थिति आदि सभी अवस्थाओं से श्रेष्ठअवश्य है। परन्तु निर्विकल्प-ज्ञान होने पर हम अपने में किसी प्रकार का अवस्था-भेद नहीं पाते अर्थात् सभी अवस्थाओं से अतीत हो जाते हैं। निर्विकल्प ज्ञान स्वरूप है और निर्विकल्प-स्थिति अवस्था है। स्वरूप का उत्थान नहीं होता, क्योंकि तीनों प्रकार के शरीरों -स्थूल, सूक्ष्म, कारण-से पूर्ण असंगता होने पर स्वरूप-ज्ञान होता है। निर्विकल्प-स्थिति में कारण शरीर से लेशमात्र सम्बन्ध रहता है, इसी कारण दीर्घकाल समाधिस्थ रहने पर भी उत्थान सम्भव है।

यह नियम है कि अवस्थाओं से सम्बन्ध बने रहने पर किसी प्रकार भी सीमित अहंभाव

का अन्त नहीं होता, जो निर्बलता, परतन्त्रता आदि सभी दोषों का मूल है। विचार-दृष्टि से देखने पर यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि बड़ी से बड़ी अवस्था भी किसी अवस्था की अपेक्षा ही श्रेष्ठहोती है। अवस्था-भेद मिटते ही हम नित्य-जीवन एवं नित्य-जागृति का अनुभव कर अमरत्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् हम अपने परम प्रेमास्पद को अपने से भिन्न नहीं पातें ; वियोग का भय लेश-मात्र भी नहीं रहता। विश्व केवल हमारी एक अवस्था के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः विश्व तथा विश्वनाथ दोनों को हम अपने में ही पाते हैं।

ऊँ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

# शरणागति-तत्त्व

### शरण—

'शरण' सफलता की कुँजी है, निर्बल का बल है, साधक का जीवन है, प्रेमी का अन्तिम प्रयोग है, भक्त का महामन्त्र है, आस्तिक का अचूक अस्त्र है, दुःखी की दवा है, पतित की पुकार है। वह निर्बल को बल, साधक को सिद्धि, प्रेमी को प्रेमपात्र, भक्त को भगवान्, आस्तिक को अस्ति, दुःखी को आनन्द, पतित को पवित्रता, भोगी को योग, परतन्त्र को स्वातन्त्र्य, बद्ध को मुक्ति, नीरस को सरसता और मर्त्य को अमरता प्रदान करती है।

### आवश्यकता की पूर्ति—

प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी के शरणापन्न रहता है, अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक एक के और नास्तिक अनेक के। आस्तिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और नास्तिक इच्छाओं की। आवश्यकता एक और इच्छाएँ अनेक होती हैं। आवश्यकता की पूर्ति होने पर पुनः उत्पत्ति नहीं होती, इच्छाओं की पूर्ति होने पर पुनः उत्पत्ति होती है। इच्छाकर्ता बेचारा तो प्रवृत्ति द्वारा केवल शक्तिहीनता ही प्राप्त करता है। अतः 'शरणागत' शरण्य की शरण हो, इच्छाओं की निवृत्ति एवं आवश्यकता की पूर्ति कर कृतकृत्य हो जाता है।

आवश्यकता उसी की होती है, जिसकी सत्ता है, और इच्छा का जन्म प्रमादवश आसक्ति से होता है, इसी कारण उसकी निवृत्ति होती है, पूर्ति नहीं होती। साधारण प्राणी इच्छा और आवश्यकता में भेद नहीं जानते। परन्तु विचारशील जब अपने जीवन का अध्ययन करता है, तब उसे इच्छा और आवश्यकता में भेद स्पष्ट प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि आवश्यकता और इच्छा में भेद न होता, तो आस्तिकता उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि इच्छायुत्त प्राणी विषय-सत्ता से भिन्न कुछ नहीं जानता।

### शरणागति भाव है, कर्म नहीं—

शरणागत होते ही, सबसे प्रथम अहंता परिवर्तित होती है। 'शरणागति' भाव है, कर्म नहीं। भाव और कर्म में यही भेद है कि भाव वर्तमान में ही फल देता है और कर्म भविष्य में। भावकर्ता भाव स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है, किन्तु कर्म संगठन से होता है।

संगठन अनेक प्रकार के होते है, क्योंकि अनेक निर्बलताओं का समूह ही वास्तव में 'संगठन' है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से, अपने से भिन्न की सहायता की खोज करना 'संगठन' है।

## भेदभाव और अभेद-भाव–

शरणागति दो प्रकार की होती है–भेदभाव की तथा अभेदभाव की। भेदभाव की शरणागति शरण्य, अर्थात् प्रेमपात्र की स्वीकृति मात्र से ही हो सकती है, किन्तु अभेद-भाव की शरणागति शरण्य के यथार्थ-ज्ञान से होती है। अभेद भाव का शरणागत, शरणागत होने से पूर्व ही निर्विषय हो जाता है, केवल लेशमात्र अहंता शेष रहती है, जो शरण्य की कृपा से निवृत्त हो जाती है। भेदभाव का शरणागत, शरणागत होते ही अहंता का परिवर्तन कर देता है अर्थात् जो अनेक का था, वह एक का होकर रहता है।

शरणागत के हृदय में यह भाव, कि मैं उनका हूँ, निरन्तर सद्भावपूर्वक रहता है। यह नियम है कि जो जिसका होता है, उसका सब कुछ उसी का होता है तथा वह निरन्तर उसी के प्यार की प्रतीक्षा करता है। प्रेमपात्र के प्यार की अग्नि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों शरणागत की अहंता उसी प्रकार तद्रूप होती जाती है, जिस प्रकार लकड़ी अग्नि से अभिन्न होती जाती है। अहंता के समूल नष्ट होने पर भेद-भाव का शरणागत भी अभेद-भाव का शरणागत हो जाता है।

भेदभाव का शरणागत भी शरण्य से किसी भी काल में विभक्त नहीं होता, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पिता के घर भी पति से विभक्त नहीं होती। भेद तथा अभेद भाव के शरणागत में अन्तर केवल इतना ही रहता है कि भेदभाव का शरणागत विरह एवं मिलन दोनों प्रकार के रसों का आस्वादन करता है, और अभेद-भाव का शरणागत अपने में ही शरण्य का अनुभव कर नित्य एक रस का अनुभव करता है। अनुभव का अर्थ उपभोग नहीं है। उपभोग तो संयोग से होता है। उपभोग-काल में कर्ता में भोक्त-भाव शेष रहता है। परन्तु मिलन का रस ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों भोक्ता की सत्ता मिटती जाती है। इसी कारण उपभोग-कर्ता कभी निर्वासना को प्राप्त नहीं होता। परन्तु शरणागत निर्वासना को प्राप्त नहीं होता है। वासनायुक्त प्राणी शरणापन्न नहीं हो सकता अथवा यों कहो कि शरणागत में वासना शेष नहीं रहती।

यदि कोई यह कहे कि शरण्य की वासना भी वासना है। तो विचार दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि शरणागत की शरण्य आवश्यकता है, वासना नहीं; क्योंकि वासना का जन्म भोगासक्ति एवं प्रमाद से होता है और आवश्यकता भोगासक्ति मिटने पर जागृत होती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय एवं अन्धकार की निवृत्ति युगपत् है, उसी प्रकार भोगासक्ति की निवृत्ति और आवश्यकता की जागृति युगपत् है। अतःयह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शरण्य की आवश्यकता वासना नहीं है। यद्यपि आवश्यकता की सत्ता कुछ नहीं, परन्तु प्रेमास्पद को न जानने की दूरी के कारण प्रेमपात्र ही आवश्यकता के रूप में प्रतीत होता है, जिस

प्रकार धन की आवश्यकता ही निर्धनता है। इसी कारण विरही शरणागत भक्त विरह के रस में मुग्ध रहता है।

शरणापन्न की सार्थकता तब समझनी चाहिए, कि जब शरण्य शरणागत हो जाय, क्योंकि प्रेमी की पूर्णता तभी सिद्ध होती है, जब प्रेमपात्र प्रेमी हो जाता है। प्रेमपात्र के प्रेमी होने पर प्रेमी प्रेमपात्र के माधुर्य से छक जाता है। शरण्य के माधुर्य का रस इतना मधुर है कि शरणागत, शरणागत-भाव का त्याग न करने के लिए विवश हो जाता है। बस, यही भेद-भाव की शरणागति है। जब भेदभाव की शरणागति सिद्ध हो जाती है,तब शरण्य शरणागत को स्वयं बिना उसकी रुचि के उसी प्रकार अपने अभिन्न कर लेते हैं, जिस प्रकार चोर बिना ही इच्छा के दण्ड पाता है।

## वास्तविक जीवन और अभिनय-

शरणागत होने से पूर्व प्राणी की अहंता अनेक भागों में विभक्त रहती है। शरणागत होने पर अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं। जब अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं, तब प्राणी को एक जीवन में दो प्रकार के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एक तो उसका वास्तविक जीवन होता है, दूसरा उसका अभिनय। शरणागत का वास्तविक जीवन केवल शरण्य का प्यार है। शरणागत का अभिनय धर्मानुसार विश्व -सेवा है, अर्थात् विश्व शरणागत से न्यायपूर्वक जो आशा रखता है, शरणागत विश्व की प्रसन्नता के लिए वही अभिनय करता है।

यह नियम है कि अभिनय में सद्भाव नहीं होता, क्रिया -भेद होने पर भी प्रीतिभेद नहीं होता है। अभिनयकर्ता अपने आपको नहीं भूलता तथा उसकी अभिनय में जीवन-बुद्धि नहीं होती। अभिनय के अन्त में उस स्वीकृत भाव का अत्यन्त अभाव हो जाता है। बस, उसी काल में शरणागत सब ओर से विमुख होकर शरण्य की ओर हो जाता है।

## अनन्त शक्ति में विलीनता-

प्राकृतिक नियम के अनुसार अनन्त शक्ति निरन्तर प्रत्येक प्राणी को स्वभावतः अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है, परन्तु स्वतन्त्रता नहीं छीनती और न शासन करती है।यदि वह स्वतः आकर्षित न करती, तो प्राणी के सीमित प्यार को निरन्तर छिन्न-भिन्न न करती रहती। यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्त में उसी में विलीन होती है। अतः अनन्त शक्ति से उद्भूत प्रेम की पवित्र धारा अनन्त शक्ति ही में विलीन होगी। उसे वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों में बाँधने का प्रयत्न व्यर्थ चेष्टा है। शरणागत-भाव होने पर प्रेम की पवित्र धारा शरण्य ही में विलीन होती है।

## अपने केन्द्र की शरणापन्नता -

प्राणी की स्वाभाविक प्रगति अपने केन्द्र के शरणापन्न होने की है। अब विचार यह करना है कि हमारा केन्द्र क्या है। केन्द्र वही हो सकता हैं कि जिसकी आवश्यकता हो। आवश्यकता

नित्य-जीवन, नित्य-रस एवं सब प्रकार से पूर्ण और स्वतन्त्र होने की है। अतःहमारा केन्द्र वही हो सकता है, जो सब प्रकार से पूर्ण एवं स्वतन्त्र हो। हमें उसी के शरणापन्न होना है।

हम सबसे भारी भूल यही करते हैं कि अपने केन्द्र तक पहुँचने के पूर्व, मार्ग में अनेक इच्छाओं की पहाड़ियाँ स्थापित कर, स्वाभाविक प्रगति को रोक देते हैं; यद्यपि अनन्त शक्ति उन पहाड़ियों को उसी प्रकार प्यारपूर्वक छिन्न-भिन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करती है, जैसे माँ बालक को सिखाने का प्रयत्न करती है।

हम उस अनन्त शक्ति का विरोध करने का विफल प्रयास करते रहते हैं, यह परम भूल है। महामाता प्रकृति हमको निरन्तर यह पाठ पढ़ा रही है कि सीमित सत्ता अनन्तता के शरणापन्न होती है; जिस प्रकार नदी समुद्र की ओर और बीज वृक्ष की ओर निरन्तर प्रगतिशील है। कोई भी वस्तु एवं अवस्था ऐसी नहीं है, जो निरन्तर परिर्वन न कर रही हो,मानो हमें सिखा रही हो कि हमको किसी भी सीमित भाव में आबद्ध नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत अपने परम स्वतन्त्र केन्द्र की ओर प्रगतिशील होना चाहिए, जो शराणागत होने पर सुगमतापूर्वक हो सकता है।

यह अखण्ड नियम है कि कोई भी भाव तब तक सजीव नहीं होता, जब तक कि वह विकल्प-रहित न हो जाय। जिस प्रकार बोए हुए बीज को किसान बोकर विकल्परहित हो जाता है, अर्थात् बीज को बार-बार निकाल कर देखता नहीं है और न संदेह करता है, तब बीज पृथ्वी से घुल -मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है। उसी प्रकार शरणागत अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न सत्ता से घुल-मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है और सीमित स्वभाव को मिटाकर उससे अभिन्न भी हो जाता है। किन्तु उसका शरणागतभाव निर्विकल्प होना चाहिए, क्योंकि सद्भाव में विकल्प नहीं होता है।

जो प्राणी उस अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न नित्य-तत्व के शरणापन्न नहीं होते, वे बेचारे अनेक वस्तुओं एवं परिस्थितियों के शरणापन्न रहते हैं; जैसे, कामी कामिनी के, लोभी धन के, अविवेकी शरीर के; क्योंिक स्वीकृतिमात्र से उत्पन्न होने वाली अहंता अनेक भावों में विभक्त होती रहती है। वह जब-जब जिस-जिस भाव को स्वीकार करती है, तब-तब उसी के शरणापन्न होती है। सत्य के शरणापन्न होने वाला प्राणी अपने को स्वीकृतिजन्य अंहता से मुक्त कर लेता है।

## सीमित अहंभाव का निःशेष– वास्तविक मानव -जीवन–

शरणागत की अहंता निर्जीव, अर्थात् भुने हुए बीज की भाँति केवल प्रतीति मात्र रहती है, क्योंकि उसमें-से सीमित भाव एवं स्वीकृति -जन्य सत्ता मिट जाती है। जब प्राणी सीमित भाव एवं स्वीकृति को ही अपनी सत्ता मान बैठता है, तब अनेक प्रकार के विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं। गहराईसे देखिए,यद्यपि प्रत्येक प्राणी में प्यार उपस्थित है, परन्तु स्वीकृति -मात्र को सत्ता मान लेने से प्यार जैसा अलौकिक-तत्व भी सीमित हो

जाता है। सीमित प्यार संहार का काम करता है, जो प्यार के नितान्त विपरीत है। जैसे देश के प्यार ने अन्य देशों पर, सम्प्रदाय के प्यार ने अन्य सम्प्रदायों पर,जाति के प्यार ने अन्य जातियों पर अत्याचार किया है, जो मानव-जीवन के सर्वथा विरुद्ध है। आस्तिकतापूर्वक शरणागत होने से स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट जाती है। स्वीकृति-जन्य सत्ता के मिटते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। सीमित अहंभाव के निःशेष होते ही अलौकिक प्यार विभु हो जाता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

शरणागत में मानव-जीवन स्वभावतः उत्पन्न होता है। जब शरणागत शरणापन्न हो जाता है, तब ऋषि -जीवन का अनुभव कर, अपने ही में अपने शरण्य को पाता है। शरणागत और शरणापन्न में अन्तर केवल यही है कि शरणागत शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है, और शरणापन्न प्रेम का आस्वादन करता है।

## शरणागति अभ्यास नहीं, सद्भाव और सर्वोत्कृष्ट साधन है –

शरणागति अभ्यास नहीं है, प्रत्युत सद्भाव है। शरणागतिभाव का सद्भाव होने पर प्राणी का समस्त जीवन शरणागतिमय हो जाता है अर्थात् शरणागत केवल मित्र के लिए मित्र, पुत्र के लिए पिता, पिता के लिए पुत्र, गुरु के लिए शिष्य, शिष्य के लिए गुरु,पति के लिए पत्नी, पत्नी के लिए पति, समाज के लिए व्यक्ति और देश के लिए ही देशीय होता है। जो-जो व्यक्ति उससे न्यायानुसार जो-जो आशा करता है, उसके प्रति शरणागत वही अभिनय करता है। अपने लिए वह शरण्य से भिन्न और किसी की आशा नहीं करता, अथवा यों कहो कि शरणागत सबके लिए सब कुछ होते हुए भी, अपने लिए शरण्य से भिन्न किसी अन्य की ओर नहीं देखता। जब शरणागत अपने लिए किसी भी व्यक्ति, समाज आदि की अपेक्षा नहीं करता, तब अभिनय के अन्त में शरणागत के हृदय में शरण्य के विरह की अग्नि अपने-आप प्रज्वलित हो जाती है।

अतः शरणागत सब कुछ करते हुए भी शरण्य से विभक्त नहीं होता। गहराई से देखिए, कोई भी ऐसा अभ्यास नहीं है, जिससे साधक विभक्त न हो, क्योंकि संगठन से उत्पन्न होने वाला अभ्यास किसी भी प्रकार निरन्तर हो ही नहीं सकता। परन्तु शरणागति से परिवर्तित अहंता निरन्तर एक रस रहती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि शरणागत कभी तो शरण्य के नाते विश्व की सेवा करता है तथा कभी शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है एवं कभी शरण्य से अभिन्न हो जाता है। वह साधन पूर्ण साधन नहीं हो सकता, जिससे साधक विभक्त हो जाता है, क्योंकि पुर्ण साधन तो वही है, जो साधक को साध्य से विभक्त न होने दे। अतः इस दृष्टि से शरणागति-भाव सर्वोत्कृष्ट साधन है।

## शरणागत शरण्य का शरण्य–

विचार दृष्टि से यह भली-भाँति सिद्ध होता है कि अहंता के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। पतित-से-पतित अहंता भी शरणागत होते ही परिवर्तित हो जाती है। अहंता परिवर्तित होते ही

अहंता में जो दोषयुक्त संस्कार अंकित थे, वे मिट जाते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के बिना बीज का उपजना असम्भव है, उसी प्रकार दोषयुक्त अंहता के बिना दोषयुक्त संस्कारों का उपजना असम्भव है। अतः यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पतित-से पतित प्राणी भी शरणागत होते ही पवित्र हो जाता है। जिस भाँति मिट्टी कुम्हार की शरणागत होकर, कुम्हार की ही योग्यता और बल से कुम्हार के काम आती है और कुम्हार का प्यार पाती है, उसी भाँति शरणागत शरण्य के ही अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य से शरण्य के काम आता है एवं उसका प्यार पाता है। यह नियम है कि जो जिसके काम आता है, वह उसका प्रेमपात्र हो जाता है। अतः इसी नियमानुसार शरणागत शरण्य का शरण्य हो जाता है। भला, इससे अधिक सुगम एवं स्वतन्त्र कौन-सा मार्ग है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक साधक को शरण्य का शरण्य बना देता है?

### शरणागत में अभिमान निःशेष एवं शरण्य से अपनत्व –

शरणागत में किसी भी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता। दीनता का अभिमान भी अभिमान है। शरणागत दीन नहीं होता, क्योंकि उसका शरण्य से पूर्ण अपनत्व होता है। अपनत्व और दासता में भेद है। दासता बंधन का कारण है, और अपनत्व स्वतन्त्रता का कारण है। अपनत्व होने से भिन्नता का भाव मिट जाता है। भिन्नता मिटते ही स्वतन्त्रता अपने-आप आ जाती है। भिन्नता का भाव उत्पन्न होने पर ही प्राणी में किसी-न-किसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न होता है। शरणापन्न होने पर अभिमान गल जाता है। अभिमान गलते की भिन्नता एकता में विलीन हो जाती है। एकता होने पर भय शेष नहीं रहता। अतः शरणागत सब प्रकार से अभय हो जाता है।

### भिन्नता का नितान्त अन्त–

भिन्नता 'द्वेष' और एकता 'प्रेम' है। ऐसा कोई दोष नहीं है, जो भिन्नता से उत्पन्न न हो। ऐसा कोई गुण नहीं है, जो एकता से उत्पन्न न हो अर्थात् सभी दोषों का कारण भिन्नता एवं सद्गुणों का कारण एकता है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रवृत्ति भी सीमित अहंता के बिना नहीं हो सकती, परन्तु शरणापन्न होते ही प्रवृत्ति की आवश्यकता शेष नहीं रहती; अतः प्रवृत्ति निःशेष हो जाती है। प्रवृत्ति का अभाव होते ही सीमित अहंता उसी प्रकार गल जाती है, जिस प्रकार सूर्य की उष्णता से बर्फ गल जाती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि शरणागत होने के अतिरिक्त कोई भी ऐसा उपाय नहीं है, जिससे भिन्नता का नितान्त अन्त हो जाय।

### अधिकारी और अधिकार –

शरणागत होने का वही अधिकारी है, जो वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, अपने लिए नित्य-जीवन एवं नित्य-रस की आवश्यकता का अनुभव करता है। जो प्राणी प्रतिकूल परिस्थिति के साथ-साथ अपना भी मूल्य घटाता जाता है तथा अनुकूल परिस्थिति की आसक्ति में फँसता जाता है; एवं जो परिस्थिति से हार स्वीकार करता है तथा लक्ष्य से निराश हो जाता

है, वह न तो आस्तिक हो सकता है और न शरणागत।

स्वीकृतिमात्र को ही अपने को आप समझ लेना, तात्त्विकदृष्टि से अपना मूल्य घटाना है। प्रेमपात्र में अपूर्णता का भास अथवा अपने स्वीकृत भाव में विकल्प का होना, आस्तिक-दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है। स्वीकृत के अनुरूप प्रवृत्ति का न होना, अथवा किसी भी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति की ओर आकृष्ट होना, अथवा ऐसी प्रवृत्ति करना, जो किसी की पूर्ति का साधन न हो, व्यावहारिक-दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है।

यद्यपि शरण निर्बल का बल है, परन्तु जो प्राणी हार स्वीकार कर लेता है, उसके लिये शरण असम्भव हो जाती है। निर्बल के बल का अर्थ केवल इतना ही है कि शरणागत बिना किसी अन्य की सहायता के, स्वयं केवल शरणागति-भाव से ही सफलता प्राप्त करता है। भाव करने में प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। जब शरणागत होने पर अहंता परविर्तित हो जाती है, तब शरणागत का मूल्य संसार से बढ़ जाता है, अर्थात वह अपनी प्रसन्नता के लिए संगठन की ओर नहीं देखता। बस, उसी काल में शरणागत के जीवन में निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि सद्गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। शरणागत किसी भी गुण को निमत्रण देकर बुलाता नहीं है, और न सीखने का ही प्रयत्न करता है। अतः इस दृष्टि से अनेक विभागों में विभाजित अहंता को, 'मैं उनका हूँ' इस भाव में विलीन करना परम अनिवार्य है, जो शरणागति-भाव से सुगमतापूर्वक अपने-आप हो जाता है।

अब विचार केवल यह करना है कि शरणागत होने का अधिकार कब प्राप्त होता है? जब प्राणी अपनी सीमित शक्तियों का जो अनन्त से प्राप्त हैं, सदुपयोग कर लेता है, और अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता, ऐसी दशा में शरणागत होने का भाव स्वतः उत्पन्न होता है। जिस प्रकार बालक जब अपनी इच्छित वस्तु को अपने बल से नहीं पा सकता, तब विकल हो, माँ की ओर देखकर रोने लगता है, बस उसी काल में माँ अपने ऐश्वर्य एवं माधुर्य से बच्चे की इच्छित वस्तु प्रदान करती है; उसी प्रकार हमें यही करना है कि बालक की भाँति अपनी सारी प्राप्त शक्ति का पवित्रतापूर्वक ईमानदारी से सदुपयोग करें और लक्ष्य से निराश न हों, प्रत्युत अपनी अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न नित्य-सत्ता के शरणापन्न हो जाएँ। ऐसा करते ही प्राणी अपने उस स्वभावानुसार कि जिसे मिटाने में वह असमर्थ है, विधान के अनुरूप विकास पा जाएगा।

यह अखण्ड सत्य है कि जब तक हम अपने-आपको सीमित विकास से संतुष्ट करने का प्रयत्न करते रहेंगे, तब तक असीम शक्ति उस विकास का यथार्थ-ज्ञान कराने के लिए उसका ह्रास करती रहेगी, क्योंकि वह हमारी अपने से किसी भी प्रकार की भिन्नता सहन नहीं कर सकती। हमको उस असीम सत्ता का असीम प्यार देखना चाहिए, जो हमारे बिना किसी प्रकार नहीं रह सकती। यह कैसा वैचित्र्य है कि जो विषय-सत्ता हमारा निरन्तर तिरस्कार कर रही है,

हम प्रमादवश उसी की ओर दौड़ते रहते हैं और जो असीम-सत्ता निरन्तर प्रेमपूर्वक हमें अपनाने का प्रयत्न करती है, हम उससे विमुख रहते है! विचारशील प्राणी को इस प्रमाद-युक्त प्रगति का नितान्त अन्त कर देना चाहिए, जो शरणागति-भाव से स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है।

### उपसंहार

अपनी न्यूनता का अनुभव करना तथा उसे मिटाने का प्रयत्न करना, 'मानवता' है। जो अपनी न्यूनता का अनुभव नहीं करता, वह मानव नहीं और जो अनुभव कर उसे मिटाने का प्रयत्न नहीं करता, वह भी मानव नहीं एवं जिसमें किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं है, वह भी मानव नहीं। अर्थात् न्यूनता होते हुए चैन से न रहना ही मानवता है। इसी कारण मानवता में उपार्जन के अतिरिक्त उपभोग के लिए कोई भी स्थान नहीं है। उपार्जन ही मानव-जीवन का सदुपयोग है। उस मानव-जीवन की सार्थकता के लिए शरण्य के शरणापन्न होना परम अनिवार्य है क्योंकि ऐसा कोई दुःख नहीं है, जो शरणागत होने से न मिट जाय अर्थात् स्वभावानुसार विकास तथा नित्य-जीवन शरण्य के शरणागत होते ही सुलभ हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'शरण' सफलता की कुन्जी है।

## परिस्थिति का सदुपयोग

परिवर्तनशील सीमित सौन्दर्य में सन्तुष्ट होने का स्वभाव 'काम' उत्पन्न करता है। काम के उत्पन्न होते ही प्राणी अपने को किसी-न-किसी सीमित स्वीकृति में आबद्ध कर लेता है। सीमित स्वीकृति में आबद्ध होते ही,स्वीकृति के अनुरूप अनेक संकल्प होने लगते हैं। संकल्प उत्पन्न होते ही, इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति होने लगती है। यद्यपि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के अन्त में शक्तिहीनता से भिन्न कुछ नहीं मिलता, परन्तु प्रवृत्ति की प्रतीति एवं प्रवृत्ति-जन्य रस की अनुभूति की प्रतीति अवश्य होती है। बस, उसी प्रतीति का नाम परिस्थिति है।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन नित्य-जीवन का साधन है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी उन्नति के लिए सर्वदा स्वतन्त्र है। विधाता का विधान (Natural Law) न्यायपूर्ण है। प्रत्येक परिस्थिति किसी अन्य परिस्थिति की अपेक्षा श्रेष्ठतथा अश्रेष्ठदेखने में आती है। वास्तव में तो सभी परिस्थितियाँ स्वरूप से ही अपूर्ण है। यह नियम है कि अपूर्णता प्राणी को स्वभाव से ही अप्रिय है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि परिस्थिति प्राणी का जीवन नहीं है, प्रत्युत् वास्तविक नित्य-जीवन का साधनमात्र है। साधन में साध्य-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद है। साधन का तिरस्कार करना, उसको अपने पतन का कारण मान लेना, अथवा उससे हार स्वीकार करना, साधक की असावधानी और भूल ही है।

प्राकृतिक विधान प्रेम तथा न्याय का भंडार है। अतः वह दंड नहीं देता, परन्तु उसके सिखाने के अनेक ढंग है। साधारण प्राणी

परिस्थिति-मात्र में जीवन- बुद्धि स्थापित कर, प्राकृतिक विधान को दंड मान लेते है। प्रत्येक परिस्थिति का अर्थ सुख तथा दुःख है। प्रत्येक प्राणी सुख तथा दुःख के बन्धन में ही अपने को बाँध लेता है। किन्तु स्वाभाविक रुचि आनन्द की होती है। आनन्द तथा आनन्द के अभिलाषी प्राणी के बीच में सुख तथा दुःख का ही पर्दा है। सुख-दुःख का सदुपयोग करने पर सुख-दुःख नहीं रहता। अतः इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि परिस्थिति अर्थात् सुख-दुःख न तो प्राणी का जीवन है और न पतन का कारण है।

सुख-दुःख का दुरुपयोग ही पतन का कारण है, जो प्राणी की अपनी बनाई हुई वस्तु है। जब हम अपने को अपने दोष का कारण नहीं मानते, तब हमको अपनी दृष्टि से अपने दोष नहीं दिखाई देते। ऐसी अवस्था में हम उन्नति से निराश होने लगते हैं। हम समझने लगते हैं कि हमको तो पतन के लिए ही उत्पन्न किया गया है। हमारी परिस्थिति प्रतिकूल है, हम उन्नति में असमर्थ हैं। प्यारे! गम्भीरतापूर्वक देखिए, प्रत्येक परिस्थिति विश्व का अंगमात्र है। कोई भी अंगी अपने अंग का पतन नहीं करता, प्रत्युत सुधार करता है; जिस प्रकार माँ शिशु के हित के लिए शिशु के दूषित अंगको चिरवा देती है। माँ के हृदय में शिशु के प्रति अगाध प्यार है, किन्तु शिशु वर्तमान पीड़ा को देख कर, माँ का अन्याय देखने लगता है। बस, इसी प्रकार हम सुख का वियोग तथा दुःख का संयोग होने पर प्राकृतिक विधान का अन्यायपूर्ण तथा कठोर समझने लगते है। यह हमारी शिशु के समान बाल-बुद्धि का प्रभाव है, और कुछ नहीं।

प्राकृतिक विधान को न्यायपूर्ण स्वीकार करते ही,प्राणी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने लगता है। ज्यों-ज्यों सदुपयोग की भावना दृढ़ हो जाती है, त्यों -त्यों प्रतिकूलता अनुकूलता में स्वतः परिवर्तित होती जाती है। जिस प्रकार कटु औषधि का सेवन करने पर, ज्यों-ज्यों रोग निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों रोगी को औषधि के प्रति प्रियता उत्पन्न होती जाती है, अर्थात् कटु औषधि मधुर से भी अधिक मधुर प्रतीत होने लगती है। इसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति के सदुपयोग करने पर प्रतिकूलता अनुकूलता से भी अधिक अनुकूल मालूम होने लगती है। इस दृष्टि से केवल परिस्थिति का दुरुपयोग करना ही प्रतिकूलता है। परिस्थिति वास्तव में प्रतिकूल नहीं होती। इसका अर्थ यह नहीं है कि परिस्थिति जीवन है अथवा परिस्थिति को ही सुरक्षित रखना है अथवा उससे ऊपर नहीं उठना है। प्यारे! परिस्थिति जल-प्रवाह के समान बिना ही प्रयत्न निरन्तर परिवर्तित हो रही है। हमें तो उसका सदुपयोग कर उससे अतीत अपने प्रेमपात्र की ओर जाना है।

इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति हमारे मार्ग का स्थान है अथवा खेलने का मैदान है। कोई भी विचारशील खेलने के मैदान में तथा मार्ग के स्थान में सर्वदा रहने का प्रयत्न नहीं करता, क्योंकि खेलना मन में छिपी हुई आसक्ति का यथार्थ ज्ञान कराने का साधन है और मार्ग प्रेमपात्र तक पहुँचने का साधन है।

प्रत्येक परिस्थिति की उत्पत्ति कर्म से होती है और कर्म कर्ता के अनुरूप होता है, अर्थात् कर्ता स्वयं कर्म के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है; परन्तु साधारण दृष्टि से कर्ता और कर्म में भेद प्रतीत होता है। वास्तव में तो कर्ता का विकसित स्वरूप ही कर्म है। जिस प्रकार सूर्य का विकसित स्वरूप किरण तथा धूप आदि हैं, उसी प्रकार क्रिया और फल प्रवृत्ति-कर्ता के विकसित स्वरूप हैं।

कर्म का प्रत्येक साधन कर्ता के पश्चात् उत्पन्न होता है, अर्थात् कर्म से कर्ता की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत कर्ता से कर्म की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कर्म कर्ता से उत्पन्न हो, उसकी असावधानी के कारण कभी-कभी उसी पर ही शासन करने लगता है। परन्तु यह अवश्य है कि कर्ता से कर्म की उत्पत्ति होने पर भी कर्ता कर्म से अतीत ही रहता है। कर्म कर्ता के बिना नहीं रह सकता, किन्तु कर्ता कम के बिना भी रह सकता है। जिस प्रकार नेत्र के बिना देखने की क्रिया नहीं हो सकती, देखने की क्रिया नेत्र के आश्रित रहती है; किन्तु नेत्र स्वतन्त्र हैं न देखने के लिए भी, क्योंकि देखने की क्रिया न होने पर भी नेत्र अपने को नेत्र के स्वरूप में जीवित रखता है, अर्थात् देखने, न देखने में नेत्र अपने को स्वतन्त्र पाता है। इसी प्रकार कर्ता अपने को करने, तथा न करने में स्वतन्त्र पाता है। मूल रूप से कर्ता सफेद वस्त्र के समान है, किन्तु जिस रंग में उसको रंग दिया जाता है, उसी रंग को वह प्रकाशित करने लगता है। रंग के स्वीकार करने में कर्ता स्वतन्त्र है।

'विश्व' कर्ता के सामने अनेक प्रकार की स्वीकृतियों के रंग भेंट करता है, किन्तु कर्ता अपनी रुचि तथा विश्वास के अनुसार विश्व की दी हुई भेट को स्वीकार करता है। साधारण दृष्टि से तो स्वीकृति ही कर्ता की सत्ता प्रतीत होती है, किन्तु स्वीकृति को परिवर्तित कर लेने पर, वह निर्जीव यन्त्र के समान जान पड़ती है और कर्ता उससे अतीत प्रतीत होता है। अतः कर्ता जिस प्रकार की स्वीकृति स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार की प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो जाता है।

कर्ता शरीर-भाव के सम्बन्ध से अपने में भोग-वासनाओं को पाता है, किन्तु फिर भी उसमें नित्य-जीवन तथा नित्य-रस की आवश्यकता विद्यमान रहती है। भोग-वासनाएँ नित्य-जीवन तथा नित्य-रस की आवश्यकता को ढक लेती है, मिटा नहीं पातीं। वियोग के भय से तथा कमी के अनुभव एवं दुःख से जब कर्ता को भोग-प्रवृत्ति की अपूर्णता का बोध होता है, तब स्वाभाविक आवश्यकता जागृत होने लगती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी परिस्थितियाँ असमर्थ हैं, किन्तु वे साधनमात्र अवश्य हैं। परिस्थिति बेचारी यन्त्रवत् है, उसका सदुपयोग करने पर प्रत्येक परिस्थिति सहायक मित्र है। विचारशील को न तो परिस्थिति की दासता स्वीकार करनी चाहिए और न उससे शत्रुता। दासता नित्य-जीवन की आवश्यकता नहीं जागृत होने देती और शत्रुता सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होने देती, इस कारण विचारशील को केवल परिस्थिति का सदुपयोग करना है। यह अखंड

सत्य है कि परिस्थिति का सदुपयोग करने पर परिस्थिति स्वयं मिट जाती है।

परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिए कर्ता को कार्य-कुशलता, भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखना परम अनिवार्य है। कार्य-कुशलता के लिए ईमानदारी, योग्यता एवं परिश्रमी होना आवश्यक है। ईमानदारी आने पर उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त हो जाता है, जिनसे कर्ता तथा अन्य प्राणियों का अहित होता है, अर्थात् अहितकारी चेष्टाएँ मिट जाती है। अहितकारी चेष्टाओं की उत्पत्ति तब होती है, जब हम अपने ज्ञान के अनुरूप चेष्टा नहीं करते, अर्थात् अपनी अनुभूति का निरादर करते हैं। भाव की पवित्रता का अर्थ केवल इतना ही है कि कर्ता में किसी के अहित का भाव न हो, प्रत्युत सर्वहितकारी भाव हो। लक्ष्य पर दृष्टि रखने का अर्थ केवल इतना ही कि कर्ता को अपनी स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं भोग-वासनाओं की निवृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिए।

प्रत्येक कर्ता में क्रियाशक्ति, राग तथा संस्कृति-जन्य स्वीकृति विद्यमान है। केवल क्रियाशक्ति यन्त्र के समान है। वह स्वरूप सेउन्नति तथा अवनति का हेतु नहीं है। जब प्राणी क्रियाशक्ति का उपयोग राग की पूर्ति अर्थात् भोग के लिए करता है, तब उन्नति रुक जाती है और जब वह राग के यथार्थ ज्ञान के लिए संस्कृति-जन्य स्वीकृति अनुरूप क्रियाशक्ति का उपयोग करता है, तब उसकी स्वतः उन्नति होने लगती है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति करने पर केवल क्रिया-जन्य रस ही नहीं आता, प्रत्युत भाव-जन्य रस भी आता है, परन्तु इन्द्रिय-जन्य स्वभाव के अनुरूप प्रवृत्ति करने पर केवल क्रिया-जन्य रस आता है, जो मानवता के विरुद्ध है।

स्वीकृति का सद्भाव क्रिया-जन्य रस को भाव-जन्य रस में विलीन कर देता है। भाव-जन्य रस ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों स्वार्थ-भाव अर्थात् भोग की वासना या इन्द्रिय-जन्य स्वभाव की आसक्ति स्वतः गलती जाती है। ज्यों-ज्यों भोग की वासना गलती जाती है, त्यों-त्यों सेवा का भाव स्वतः उत्पन्न होता जाता है। सेवा-भाव आ जाने पर संस्कारों की दासता मिट जाती है, अर्थात् सेवक की अहंता में-से यह भाव समूल नष्ट हो जाता है कि 'संसार मेरे काम आ जाए;' प्रत्युत यह भाव कि 'मैं संसार के काम आऊँ', सतत जागृत रहता है। ज्यों-ज्यों संसार के काम न आने का दुःख बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों प्राकृतिक विधान (Natural Law) के अनुसार आवश्यक शक्ति का विकास सेवक के जीवन में स्वतः होता जाता है, किन्तु सेवक उस शक्ति का स्वयं भोग नहीं करता, प्रत्युत उसको बाँट देता है। इतना ही नहीं, वह अपने को बाँटने के रस में भी आबद्ध नहीं होने देता। जब सेवक किसी प्रकार का वह रस, जो किसी के संयोग या प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है, नहीं लेता, तब उसमें नित्य - रस स्वयं आ जाता है। नित्य-रस आते ही सेवक में सेवक-भाव शेष नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश स्वतः फैलता है, उसी प्रकार सेवक-भाव न रहने पर भी सेवा स्वतः होती रहती है।

यह नियम है कि प्रत्येक संकल्प-जन्य प्रवृत्ति का अन्त कर्ता की स्वीकृति के अनुरूप होता है। यदि कर्ता की स्वीकृति पवित्र है, तो अपवित्र संकल्प उत्पन्न ही नहीं होते। अतः इस दृष्टि से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि पवित्र प्रवृत्ति के लिए कर्ता को अपने में पवित्रता स्थापित करना परम अनिवार्य है, अर्थात् कर्ता पवित्र होकर ही पवित्र प्रवृत्ति कर सकता है। पवित्रता तथा अपवित्रता भाव हैं, स्वरूप नहीं; क्योंकि स्वरूप का परिवर्तन नहीं होता। पवित्रता तथा अपवित्रता का परिवर्तन होता है। परन्तु पवित्रता औषधि और अपवित्रता रोग है। अतः पवित्रता अपवित्रता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व की वस्तु है। परिवर्तन उसी का होता है, जिसकी कर्ता ने अस्वाभाविक (Artificial) स्वीकृति स्वीकार कर ली है। इसका अर्थ यही है कि अपवित्रता के समान पवित्रता भी अस्वाभाविक है। पवित्रता में अस्वाभाविकता केवल इतनी ही है कि पवित्रता की स्वीकृति पवित्रता आने से पूर्व पवित्रता स्थापित करने के लिए की जाती है। वास्तव में तो पवित्रता की स्वीकृति राग के आधार पर होती है, क्योंकि प्राणी को प्रथम अपवित्रता का ज्ञान होता है। जिस ज्ञान से अपवित्रता का ज्ञान होता है, उसी से पवित्रता की स्वीकृति होती है। इस दृष्टि से पवित्रता की उत्पत्ति ज्ञान से हुई, किन्तु अपवित्रता की उत्पत्ति ज्ञान शून्य अन्ध-विश्वास एवं इन्द्रिय-जन्य स्वभाव की आसक्ति के आधार पर होती है।

कर्ता स्वरूप से तो केवल समष्टि(Universal) क्रियाशक्ति है, किन्तु उसमें व्यक्ति-भाव केवल स्वीकृति के आधार पर ही उत्पन्न होता है। उनमें से मूल स्वीकृतियाँ केवल तीन प्रकार की होती हैं—(1)विषय (2) जिज्ञासा तथा (३)भक्ति। विषयी होने का वही अधिकारी है, जो प्राप्त भोगों को भोगता हुआ अप्राप्त उत्कृष्ट भोगों के लिए घोर प्रयत्न करता है। भक्त होने का वही अधिकारी है, जो सब प्रकार से भगवान् का होने में समर्थ है तथा जिसके हृदय में भगवान् के प्रति विकल्प-रहित विश्वास है। जिज्ञासु होने का वही अधिकारी है, जो प्राप्त भोगों को भोगता नहीं, अप्राप्त भोगों की इच्छा नहीं करता एवं दोष को दोष जान लेने पर उसे त्यागने में समर्थ है; इतना ही नहीं, प्रत्युत जिसको निर्दोषता के अतिरिक्त किसी से लेशमात्र भी प्रीति नहीं है।

भक्त तथा जिज्ञासु वर्ण-आश्रम में होते हुए भी वास्तव में वर्ण-आश्रम से प्रतीत ही होते हैं, क्योंकि निर्दोष -तत्व तथा भगवान् सभी के हैं। उनकी आवश्यकता सर्वकाल में सभी को होती है। जिसकी आवश्यकता सर्वकाल में है, उसकी प्राप्ति का साधन भी सर्वकाल में होना चाहिए। अतः भक्त परिस्थिति का सदुपयोग करने पर अपने अभीष्ट को प्राप्त होते हैं, यह निर्विवाद सत्य है।

प्रेमी तथा जिज्ञासु किसी भी काल में अपने लक्ष्य से विभक्त नहीं होते, किन्तु उनके तथा उनके लक्ष्य के बीच में परिस्थिति-रूप हल्का-सा पर्दा रहता है उस पर्दे से प्रीति जागृत

होती है, क्योंकि प्रीति को जागृत करने के लिए किसी से किसी प्रकार का वियोग भी अनिवार्य है। अतः भक्त के लिए 'परिस्थिति' प्रेमपात्र की प्रीति जागृत करने का, और जिज्ञासु के लिए जिज्ञासा प्रबल करने का साधन हो जाती है; क्योंकि परिस्थिति का दोष निर्दोषता की आवश्यकता जागृत करने में समर्थ है।

यद्यपि प्रत्येक परिस्थति स्वरूप से अपूर्ण तथा सदोष होती है, किन्तु जिज्ञासु के लिए वह मार्ग के कंटक के समान और भक्त के लिए प्रेमपात्र के पत्र अर्थात् सन्देश के समान होती है। अन्तर केवल इतना होता है कि जिज्ञासु दोषयुक्त परिस्थिति को अनुभूति के आधार पर वीरता और गम्भीरतापूर्वक त्याग कर निर्दोष-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है, तथा भक्त परिस्थति को प्रेमपात्र का संदेश समझ, प्रीति जागृत कर प्रेमपात्र की कृपा से अभिन्न हो जाता है। इसमें अन्तर इतना ही है कि जिज्ञासु को तो परिस्थति का त्याग करना पड़ता है किन्तु भक्त को परिस्थिति त्याग करती है; क्योंकि भक्त में प्रेमपात्र की प्रीति के अतिरिक्त कुछ भी करने की शक्ति नहीं रहती। जिज्ञासु पर्दा हटाकर अपने प्रेमपात्र अर्थात् निर्दोष-तत्त्व पर अपने को न्योछावर करता है। भक्त में स्वयं पर्दा हटाने की शक्ति नहीं होती। अतः भगवान् विश्व होकर स्वयं पर्दा हटा कर अपने को भक्त पर न्योछावर करते हैं।

सभी परिस्थितियों का बाह्य-स्वरूप वस्तु और अवस्था के रूप में होता है, किन्तु परिस्थिति फलस्वरूप से सुख तथा दुःख के रूप में सामने आती है। विषयी प्राणी परिस्थिति का भोग करता है। भक्त तथा जिज्ञासु परिस्थिति को साधन मानते हैं, साध्य नहीं। अर्थात् विषयी का जो साध्य है, भक्त तथा जिज्ञासु का वही साधन है।यद्यपि साधक को साधन में अत्यन्त प्रियता होती है, परन्तु साध्य की अपेक्षा साधन साधक की दृष्टि में अधिक महत्व नहीं रखता। इतना ही नहीं, साध्य के आते ही साधक साधन-सहित अपने को साध्य के प्रति समर्पण कर देता है। विषयी प्राणी सुख-रूप परिस्थिति का भोग कर, परिस्थिति का दास हो जाता है। और दुःख-रूप परिस्थिति से भयभीत हो, अधीर हो जाता है। परन्तु भक्त तथा जिज्ञासु सुख-रूप परिस्थिति का भोग नहीं करते, प्रत्युत सुख को दुखियों की वस्तु समझ कर, दुखियों को बाँट देते हैं और दुखः रूप परिस्थिति से त्याग का पाठ पढ़ कर, अपने को दुःख के भय से बचा लेते हैं। इस कारण परिस्थिति भक्त तथा जिज्ञासु की दास हो जाती है। अतः भक्त तथा जिज्ञासु पर परिस्थिति का शासन नहीं होता, और न भक्त तथा जिज्ञासु परिस्थिति पर शासन करते हैं, प्रत्युत प्यार करते हैं।

प्रत्येक प्राणी को विधान के अनुरूप उन्नति की ओर जाना है। अतः अनुकूल तथा प्रतिकूल अर्थात सुखमय तथा दुःखमय प्रत्येक परिस्थिति में उन्नति के लिए स्थान है; किन्तु परिस्थिति के द्वारा मिले हुए ज्ञान के अनरूप जीवन न होने के कारण अवनति होती है। विषयी प्राणी भी तभी उन्नति करता है, जब वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, उससे उत्कृष्ट परिस्थिति की इच्छा करता है। अर्थात् विषयी

प्राणी को भी वर्तमान परिस्थिति में त्याग को अपनाना ही पड़ता है। किन्तु उस त्याग का जन्म किसी प्रकार के राग से होता है; इस कारण विषयी का त्याग परिस्थिति के स्वरूप में ही पुनः सामने आ जाता है।

जिस प्रकार 3/4 को, यदि 75 /100 कर दिया जाय, तो साधारण दृष्टि में वृद्धि प्रतीत होती है, किन्तु मूल्य उतना ही रहता है, उसी प्रकार बेचारे विषयी की पीड़ा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट परिस्थिति आने पर भी बनी ही रहती है। इस दृष्टि से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि सभी परिस्थितियाँ यंत्रवत् साधन तो हो सकती हैं, किन्तु प्राणी का जीवन नहीं हो सकतीं। जो प्राणी परिस्थिति को यंत्र न मानकर जीवन मान लेते हैं, वे बेचारे परिस्थिति का अभिमान धारण कर,अपने हृदय को दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध करते रहते हैं; इसी कारण परिस्थिति के सदुपयोग की अपेक्षा परिस्थिति के परिवर्तन का प्रयत्न करते रहते हैं। विधान के अनुरूप मिली हुई परिस्थिति का सदुपयोग, परिस्थिति -परिवर्तन करने और परिस्थिति से अतीत आस्तिकता प्राप्त कराने में समर्थ है, क्योंकि जो 'है' वह सभी को सभी काल में मिल सकता है। उसके लिए किसी परिस्थिति विशेष की दासता की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, परिस्थिति के अभिमान से मुक्त होना है। परिस्थिति के अभिमान से मुक्त होते ही, साधक अपने को सभी परिस्थितियों से अतीत पाता है, और फिर अपने को सभी परिस्थितियों में तथा सभी परिस्थितियों को अपने में देखता है। यही प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है। अतः उससे कभी निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि आवश्यकता वही होती है, जिसकी पूर्ति परम अनिवार्य है।

साधरण प्राणी, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, संस्था, जाति, देश, समाज आदि स्वीकृतियों को जीवन मान लेते हैं। वास्तव में वे सब परिस्थितियाँ हैं। अपने-अपने स्थान पर सभी अनुकूल हैं।अतः प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने स्थान पर सुन्दर अभिनय का पात्र होना चाहिए, किन्तु उसमें जीवन-बुद्धि लेशमात्र भी न हो, क्योंकि कोई भी अभिनयकर्ता (Actor) अभिनय (Acting) को जीवन नहीं जानता। अभिनय तो केवल छिपे हुए राग-निवृत्ति की औषधि है। अभिनयकर्ता अभिनय-परिवर्तन की इच्छा या रुचि नहीं करता, प्रत्युत मिले हुए पार्ट को भली प्रकार कर, अपने अभीष्ट को पाता है। अभिनय में महत्ता पार्ट की नहीं होती, उसको सुन्दरतापूर्वक यथेष्ट करने की होती है। इस दृष्टि से भी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं।

परिस्थिति का सदुपयोग करने वाला प्रतिकूल परिस्थिति के परिवर्तन का प्रयत्न नहीं करता, प्रत्युत अपने ही परिवर्तन करने का प्रयत्न करता है। यह नियम है कि अपना परिवर्तन करने से कालान्तर में परिस्थिति भी स्वतः बदल जाती है। अपना परिवर्तन बिना किए, परिस्थिति किसी भी प्रकार अनुकूल नहीं होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रतिकूल परिस्थिति आने

पर अपने परिवर्तन का यथोचित प्रयत्न करना चाहिए।

जो प्राणी परिस्थिति के अतिरिक्त परिस्थिति से अतीत किसी अस्ति-तत्व की स्वीकृति नहीं करते, प्रत्युत यही भाव रखते हैं कि हमको तो सुन्दर-सुन्दर अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है, उनके लिए भी परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है, क्योंकि प्राकृतिक विधान (Natural Law) प्रत्येक प्राणी की रुचि की पूर्ति में समर्थ है। अतः वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से ही कर्ता को रुचि के अनुरूप उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होती है। यह निर्विवाद सत्य है कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी उत्पति-विनाश-रहित आधार के बिना नहीं हो सकती। अतःपरिस्थिति से अतीत अस्ति-तत्त्व अवश्य है।

प्राकृतिक विधान किसी भी परिस्थिति में आबद्ध नहीं रहने देता, प्रत्युत् योग्यता के अनुसार त्याग का ही पाठ पढ़ाता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वतः विकास पा कर, मिट जाती है। इससे यह भली प्रकार ज्ञात होता है कि प्रत्येक परिस्थिति के त्याग से अथवा उसके दिये हुए ऐश्वर्य से विश्व की सेवा करके, परिस्थिति से अतीत प्रेमपात्र की ओर जाना अनिवार्य है। यही परिस्थिति का वास्तविक सदुपयोग है। विचारशील का विचार योगी का योग, प्रेमी का प्रेम जिस परम तत्व में विलीन होता है, उसी में परिस्थिति का सदुपयोग करने वाला भी विलीन होता है, क्योंकि सच्चाई में कल्पना-भेद भले ही हो, किन्तु सत्ताभेद नहीं होता। अतः वर्तमान परिवर्तनशील परिस्थिति का सदुपयोग उन्नति का सुगम साधन है।

## सेवा का स्वरूप और महत्व

जिस प्रकार 'व्यापारी' का व्यापार तथा धन है, उसी प्रकार 'सेवक' सेवा तथा सेव्य है। जिस प्रकार प्रकाश सूर्य का और गन्ध पुष्प का स्वभाव है, उसी प्रकार सेवा सेवक का स्वभाव है। सेवा की नहीं जाती, होने लगती है। सेवा उसी में उत्पन्न होती है, जो अपनी प्रसन्नता के लिए वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों की खोज नहीं करता। वस्तु , अवस्था आदि की दासता सेवक नहीं होने देती। सेवक के अतिरिक्त संसार का प्यार और किसी को नहीं मिलता। कर्मवादी संसार को प्यार करता है, और सेवक को संसार प्यार करता है।

कर्मवादी जिस संसार के प्यार को किसी भी प्रकार नहीं पाता, सेवक उसको बिना ही मूल्य पा लेता है; जिस प्रकार बगीचे के फल खरीदने वाला व्यक्ति छाया तथा वायु को बिना मूल्य ही पा लेता है। सेवक को संसार की ओर से आने वाले प्यार के लिए लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह स्वतः आता है और आने पर भी बेचारा सेवक को बाँध नहीं पाता, क्योंकि सेवक की वृत्ति बिना ही प्रयत्न, निरन्तर सततरूप से जल-प्रवाह के समान सेव्य की ओर बहती रहती है। सेवक के स्वभाव में पवित्रता निवास करती है, अर्थात् उसमें स्वार्थभाव का नितान्त अन्त हो जाता है। सेवक के व्यवहार में

कार्यकुशलता होती है, क्योंकि उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ रखती है। अर्थात् उसमें क्रिया -भेद होने पर भी, प्रीति-भेद नहीं होता, और न लक्ष्य-भेद होता है। सेवक के सामने प्रत्येक परिस्थिति अभिनय के स्वरूप में आती है और सेव्य को देकर चली जाती है। सेवक पर किसी भी परिस्थिति का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं होता। सेवक के अन्तःकरण से क्रिया-जन्य रस की आसक्ति स्वतः निवृत्त हो जाती है। जिस निवृत्ति को योगी योग से और विचारशील विचार से प्राप्त करता है, सेवक उसी को वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग से प्राप्त कर लेता है। अर्थात् सेवक को संसार से संघर्ष नहीं करना पड़ता, क्योंकि सेवक की दृष्टि में प्राकृतिक विधान के अनुसार अपने-आप आई हुई प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है।

विषयी बेचारा जिस यश और कीर्ति के पीछे दौड़ता है, वह यश और कीर्ति सेवक के पीछे दौड़ती है, किन्तु उसको पकड़ नहीं पाती अर्थात् विषयी जिसका दास है, वह सेवक की दासी है। जिस प्रकार स्वधर्मनिष्ठ राष्ट्राप्रजा से लिए हुए टैक्स की प्रजा के हित में ही बाँट देता है। उसी प्रकार सेवक संसार की ओर से आई हुई शरीर आदि सभी वस्तुओं को संसार के हित में ही बाँट देता है। जिस प्रकार व्यापारी का व्यापार धन में विलीन होता है, उसी प्रकार सेवक की सेवा सेव्य अर्थात् प्रेमपात्र में विलीन होती है। जिस प्रकार अग्नि ज्यों-ज्यों प्रज्वलित होती जाती है, लकड़ी त्यों-त्यों अग्नि बनती जाती है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों सेवा प्रबल होती जाती है, त्यों-त्यों सेवक की सत्ता सेव्य से अभिन्न होती जाती है। सेवक में स्वामी अर्थात् प्रेमपात्र निवास करता है, क्योंकि स्वामी के बिना सेवा हो ही नहीं सकती। सेवा तभी हो सकती है, जब ऐश्वर्य तथा माधुर्य हो। ऐश्वर्य तथा माधुर्य स्वामी का स्वरूप है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सेवक में स्वामी निवास करता है। सेवक में सेवा करने से कभी थकावट नहीं आती, प्रत्युत ज्यों-ज्यों सेवा बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी शक्ति भी बढ़ती जाती है। सेवक के हृदय में सदैव व्याकुलता बनी रहती है और वह व्याकुलता की अग्नि सेवक को सेव्य से अभिन्न कर देती है।

सेवक दो प्रकार के होते हैं -एक तो गंगा की भाँति प्रत्यक्ष जन-समाज के सामने लहराते हैं, और दूसरे हिमालय की भाँति अचल होकर मूक-सेवा करते है। सेवा किए बिना संसार का राग निवृत्त नहीं होता। सेवा से भिन्न सभी साधन संसार को मृतकवत् जीवित रखते हैं। सेवा संसार को खा जाती है, मृतक नहीं बनाती। अर्थात् सेवक की निष्ठा समाधि से अतीत होती है, अथवा यों कहिए कि उससे प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों ही अवस्थाएँ निवृत्त हो जाती हैं। सभी साधक सेव्य को प्यार करते हैं और सेवक को सेव्य प्यार करता है। अतः प्रेमपात्र का प्रेम पाने के लिए सेवा करना परम अनिवार्य है।

सेवा करने के लिए बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। बाह्य वस्तुओं के संगठन से तो पुण्य कर्म होता हैं। गहराई से देखिए, सेवा वही कर पाता है, जिस पर सेव्य अर्थात् प्रेमपात्र की कृपा होती है। अर्थात् भक्तों तथा सन्तों के

अतिरिक्त और कोई भी प्राणी सेवा नहीं कर पाता। साधारण प्राणी वस्तुओं के संगठन से होने वाली प्रवृत्तियों को सेवा मानते हैं, किन्तु विचार - दृष्टि से वह सेवा नहीं है।

सेवा करने की शक्ति तो स्वामी के प्रसाद से ही आती है। जिस अंश में प्राणी अपनी सेवा कर पाता है,उसी अंश में वह दूसरों की सेवा कर पाता है। अर्थात् जिस साधन से प्राणी अपना हित करता है, उसी साधन से सेवा करता है। बाह्य वस्तुओं के संगठन से किसी भी प्राणी का हित नहीं हुआ, तो फिर उन वस्तुओं के संगठन से सेवा कैसे हो सकती है? वस्तुओं का संग्रह करना, विश्व का ऋणी होना है। अतः वस्तुओं को विश्व के कार्य में लगा देना, ऋण से मुक्त होना है, सेवा करना नहीं। जब प्राणी विश्व के ऋण से मुक्त हो जाता है, तब उसमें प्रेम-पात्र से सम्बन्ध करने की शक्ति आ जाती है।

प्रेमपात्र से सम्बन्ध होते ही प्रेम-पात्र के ऐश्वर्य तथा माधुर्य से स्वतः सेवा होने लगती है अर्थात् प्रीति प्रियतम का स्वभाव है। सेवक तथा सेवा, प्रीति तथा प्रियतम एक वस्तु हैं। सेवा करने के लिए सेवक होना अनिवार्य है। सेवक होने के लिए सद्भावपूर्वक प्रेमपात्र का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार युवावस्था आने पर ही शिशु को युवावस्था का यथार्थ ज्ञान होता है, उसे किसी प्रकार सिखाया नहीं जा सकता। एक-एक सेवक के पीछे करोड़ों मनुष्य अनुसरण करने के लिए दौड़े, किन्तु वे सब मिलकर एक भी सेवक उत्पन्न नहीं कर पाए। जिसका हृदय सार्वजनिक दुःख से दुखी होता है और वह जब सेव्य का हो जाता है, तब सेव्य की कृपा से सेवा करने की शक्ति स्वतः आ जाती है। पुण्य कर्म से त्याग करने की शक्ति आती है, और त्याग से सेवक होने की शक्ति आती हैं। सेवक होने पर सेवा स्वतः होती है।

संसार तथा प्रेमपात्र दोनों का प्रेम पाने के लिए सेवा करना परम आवश्यक है। जो प्राणी संसार से विमुख होकर प्रेमपात्र का बन जाता है, उसमें सेवा करने की शक्ति स्वयं आ जाती है। अतः सेवक होने के लिए प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। सेवक होना उन्नति का साधन है, परन्तु सेवक कहलाना अवनति का कारण है। जिस प्रकार नदी की प्रगति सदैव समुद्र की ओर ही रहती है, उसी प्रकार सेवक की प्रगति सदैव सेव्य की ओर रहती हैं। जिस प्रकार नदी के सामने रुकावट आने पर नदी की गति तीव्र ही जाती है, उसी प्रकार सेवक के सामने प्रतिकूलता आने पर सेवा की गति और भी तीव्र हो जाती है, अर्थात् प्रतिकूलता सेवक का उत्थान करती है, पतन नहीं।

सेवक के जीवन में ज्ञान के अनुरूप भाव तथा क्रिया होती है, अर्थात् सेवक की क्रिया तथा भाव ज्ञान में विलीन होते हैं। सेवा नित्य स्वतन्त्रता की ओर ले जाती है। सेवक संसार का चिन्तन नहीं करता, प्रत्युत संसार सेवक का चिन्तन करता है। सेवक संगठन के पीछे नहीं दौड़ता, प्रत्युत संगठन सेवक के पीछे दौड़ता है। सेवक के जीवन में दीनता तथा अभिमान के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

# जीवनपथ

ऐसा कोई भी मानव नहीं, जो कुछ भी न जानता हो, अर्थात् प्रत्येक मानव कुछ-न-कुछ जानता है। ऐसा भी कोई मानव नहीं है, जो कुछ भी मानता न हो, वह कुछ-न-कुछ मानता है। अतः मानने और जानने का जो समूह है, उस समूह का नाम ही मानव है। अब विचार यह करना है कि वह जो जानता है, उसका आदर करता है या अनादर और जो मानता है, उस पर विश्वास करता है या अविश्वास। यदि हम जाने हुए का अनादर करते हैं, तो हमारा जानना व्यर्थ है। यदि हम माने हुए का अविश्वास करते हैं, तो हमारा मानना निरर्थक है। मानना वही सार्थक होता है, जिसमें घोर विश्वास हो और जानना वही सार्थक होता है, जिसका आदर हो।

जानने के तीन साधन हैं—(1) इन्द्रियों के द्वारा, (2)बुद्धि के द्वारा और (3)अपने द्वारा —अपने आपके द्वारा। इन्द्रियों के द्वारा जो बात जानी जाती है, उसे भी 'ज्ञान' कहते हैं; बुद्धि के द्वारा जो बात जानी जाती है, उसे भी 'ज्ञान' कहते हैं और इन्द्रियों तथा बुद्धि—इन दोनों से रहित होकर जो जाना जाता है, उसे भी 'ज्ञान' कहते हैं। इन्द्रियों का ज्ञान बुद्धि के ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, ज्ञान की न्यूनता है। जैसे, कोई कहे 'अँधेरा है' तो इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकाश नहीं है, बल्कि प्रकाश की कमी है। जिस प्रकार प्रकाश की कमी का नाम अन्धकार है, वैसे ही ज्ञान की कमी का नाम अज्ञान है।

इन्द्रियों के ज्ञान को जो लोग सत्य या पूरा ज्ञान मान लेते हैं, उनमें राग की उत्पत्ति होती है। राग का मूल कारण है—इन्द्रियों के ज्ञान को पूरा ज्ञान मान लेना। उस राग का फल हुआ देहाभिमान की दृढ़ता, उसका फल हुआ भोग की प्रवृत्ति और उसका फल हुआ पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता का अनुभव होना। ऐसा कोई भोगी नहीं है, जो इन तीन विकारों से बचा हो—पराधीनता से, जड़ता से और शक्तिहीनता से। आप कहेंगे, कैसे? बड़ी तीव्र भूख लगी हो और रुचिकर भोजन सामने हो; तथापि उसका पहला ग्रास जितना रुचिकर मालूम होता है, अन्तिम ग्रास उतना रुचिकर नहीं मालूम होता। अतः यह मालूम होता है कि पहले ही ग्रास में पराधीनता का अनुभव होता है। मनुष्य सोचने लगता है कि रसगुल्ला बड़ा अच्छा है। रसगुल्ले का मूल्य बढ़ गया, अपना घट गया। प्रसन्नता रसगुल्ले के आधार पर बढ़ गई। यह भोग की पराधीनता है।

दूसरा है कि खाते-खाते अब नहीं खा सकते, यह शक्तिहीनता है। बहुत खा लिया, अब सो जाओ, यह जड़ता हो गई, चेतना नहीं रही। जिसको ज्ञान का प्रकाश कहते हैं वह, भोग के अन्त में रहता। आरम्भ में पराधीनता होती है, फिर शक्तिहीनता और फिर जड़ता—तीनों चीजें भोग में आ जाती हैं।

उसके पश्चात् प्राणी भोग से रहित हो जाता है। खाते-खाते थक गए, अब नहीं खा सकते; चलते-चलते थक गए, अब नहीं चल

सकते; देखते-देखते थक गए, अब नहीं देख सकते; सुनते-सुनते थक गए, अब नहीं सुन सकते। हमें अपनी वस्तु तो बहुत प्यारी है, लाओ लोहे की अलमारी में या बैंक में रख दें। वस्तु प्रिय है, लेकिन, हे वस्तु ! तुम्हारे बिना हम सोना चाहते हैं। हमारा मित्र बड़ा प्रिय है और हमसे मिलने आया है, लेकिन माफ कीजिए, हम सोना चाहते हैं। इस तरह से पति से पत्नी, पत्नी से पति, बालक से माँ और माँ से बालक, मित्र से मित्र—सब ऊब जाते हैं। कोई व्यक्ति, कोई देश, कोई काल ऐसा नहीं है कि जिससे आदमी ऊबकर अलग होकर विश्राम नहीं चाहता। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में मनुष्य विश्राम चाहता है, न करना चाहता है, न करने की सोचता है। यह किसका ज्ञान है? यह बुद्धि का ज्ञान है।

बुद्धि से मालूम हुआ कि जो मित्र हमें बड़ा प्रिय था, गहरी नींद लगने पर उससे भी हम क्षमा चाहने लगते हैं, परन्तु उसके साथ सम्बन्ध जोड़कर सोते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जगने पर वही संकल्प पुनः उठता है कि यही हमारा मित्र है। इस तरह से नित नया प्रेम उत्पन्न होता है। तो अगर हम बुद्धिजन्य ज्ञान का आदर करें, तो प्रत्येक नये क्षण में नये जीवन का अनुभव हो सकता है। लेकिन ऐसा होता नहीं, इन्द्रियों के ज्ञान की आसक्ति है।

आज क्या दशा है? हमारे जीवन में जो घटनाएँ होती हैं, वे अनुकूल हों या प्रतिकूल, लेकिन जब उनकी स्मृति हमारे हृदय में अंकित होती है, तो उससे व्यर्थ -चिन्तन होता है। वह इसलिए कि उन घटनाओं के साथ जो इन्द्रियजन्य ज्ञान था, उसमें हम सद्भाव कर लेते हैं। 'इन्होंने हमको गाली दी, हमारा अनादर किया, हमारी बात नहीं मानी'—इन सब बातों से जो खिचाव होता है और मन में जो सब बातें अंकित रहती हैं, वे बुद्धिजन्य ज्ञान पर इन्द्रियजन्य ज्ञान का आदर कराती हैं।

मैं एकबार एक मुंसिफ के यहाँ ठहरा हुआ था। उनके यहाँ एक वकील साहब भी आते थे और बहुत-सी बातें करते-करते उनके मुहँ से निकला कि हमारा लड़का इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में बी.ए. में पढ़ता है। हमने कहा—'वकील साहब! इतने आदमियों के सामने इतना झूठ मत बोलिए।' उन्होंने कहा—'नहीं - नहीं, स्वामीजी ! मैं सत्य कहता हूँ' मैंने कहा कि, 'अभी तो तुम कहते थे कि शरीर के परमाणु सात वर्ष में बदल जाते हैं। लड़का पैदा हुए बीस वर्ष तो हुए ही होंगे। वह बीस वर्ष का होगा। तो जिस बाप से पैदा था,वह तीन बार मर चुका और अब भी तुम उसे अपना लड़का कहते हो?' तो हुआ यह बुद्धिजन्य ज्ञान है। इन्द्रियजन्य ज्ञान वह है कि शरीर के सारे परमाणु बदल गए, लेकिन वह फिर भी उसे अपना लड़का कहता है। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान की दृढ़ता है, सद्भाव है।

जब बुद्धिजन्य ज्ञान होगा, तो यह सद्भाव मिट जायगा और प्रतिक्षण नित्य नए जीवन का अनुभव होगा। हर चीज वर्तमान की मालूम होगी,लेकिन उसमें स्थिरता नहीं मालूम होगी, परिवर्तनशीलता मालूम होगी। इसे बुद्धिजन्य ज्ञान या समझ का ज्ञान कहते हैं। इसी से वैराग्य की उत्पत्ति होती है। वैराग्य सीखा नहीं

जा सकता, वैराग्य सिखाया नहीं जा सकता, बाजार में भी नहीं मिलता। वैराग्य की उत्पत्ति बुद्धिजन्य ज्ञान से होती है। उस समय 'प्रवृत्ति' निवृत्ति में बदल जाती है, 'भोग' योग में बदल जाता है, 'मन' बुद्धि में विलीन हो जाता है, 'इन्द्रिय ' मन में विलीन हो जाती हैं और 'विषय' हो जाते हैं इन्द्रियों में लय। यह दशा केवल बुद्धि जन्य ज्ञान से आती है।

इस दशा के आ जाने पर जब बुद्धि सम हो जाती है, तो बुद्धि के लिए कोई काम नहीं रहता; क्योंकि मन में जब कोई संकल्प ही नहीं रहा , मन निर्विकल्प हो गया, तो बुद्धि के लिए भी कोई काम नहीं रहा, इन्द्रियों के लिए भी काम नहीं रहा, मन के लिए भी कोई काम नहीं रहा, तो दृश्य जो दिखाई देता था वहा, जिन साधनों से दिखाई देता था वे साधन, और जो देखता था वह - ये तीनों गायब हो गए, तीनों समाप्त हो गए। इस समाप्ति में रमण करते-करते स्वतः विचार का उदय होता है और उस विचार के उदय से तत्वज्ञान होता है। उस तत्त्व-ज्ञान के होने पर 'यह','वह', 'मैं' इन तीनों की समाप्ति हो जाती है। बल्कि यों कहो कि 'यह' और 'मैं' मिटकर 'वह' रह जाता है। फिर कुछ करना शेष नहीं रहता।

चूँकि पहला प्रश्न ज्ञान का था, अतः मैंने निवेदन किया कि ज्ञान के तीन स्थल हैं। इन्द्रियों का ज्ञान, बुद्धि का ज्ञान और बुद्धि से परे का ज्ञान। बुद्धि से परे के ज्ञान में सृष्टि नहीं है, त्रिपुटी उसमें नहीं है। त्रिपुटी वहाँ है, जहाँ इन्द्रियों और बुद्धि का ज्ञान है। जहाँ बुद्धि का ज्ञान है वहाँ आस्था है, चिन्तन नहीं है, और जहाँ इन्द्रियों का ज्ञान है वहाँ भोग है, योग नहीं है।

अब विचार यह करना है कि ज्ञान तो एक चीज है, लेकिन उसका अनुभव करने के तीन स्थल हुए- एक इन्द्रियाँ, दूसरा समझ और तीसरा स्वयं। तो समझ का ज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञान है, परन्तु स्वयं का ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा ज्ञान है।ऐसे ही ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञान है, परन्तु समझ का ज्ञान उसकी अपेक्षा ज्ञान है। जैसे कोई कहे कि सौ रुपये वाला हजार रुपये के मुकाबले में निर्धन है और जिसके पास हजार रुपया है, वह लाख रुपये वाले के सामने निर्धन है। तो निर्धन वह है, जिसे दूसरे का धन अधिक दिखाई देता है और अपना धन कम दिखाई देता है।

इन इन्द्रियों और बुद्धि के ज्ञान से परे 'स्वयं' का ज्ञान है। ये तीनों ही ज्ञान एक ज्ञान से प्रकाशित है; जैसे कि एक सूर्य से ही आँख देखती है, बिजली बनती है, बल्ब जलता है, लेकिन मूल प्रकाश सूर्य का है, उसी के तेजस् तत्त्व से सब प्रकाशित हैं। उसी तरह से जो नित्य अनन्त आनन्द ज्ञान है, उसी से बुद्धि और इन्द्रियाँ प्रकाशित हैं।

यह मैंने आपके सामने ज्ञान के सम्बन्ध में थोड़ी-सी चर्चा की। अब रही बात यह कि हम कैसे ज्ञान का आदर करते हैं? वस्तुस्थिति क्या है? प्रत्येक भाई- बहिन को अपने सामने अपनी दशा को देखना चाहिए कि हम किस ज्ञान पर विश्वास करते है। हम इन्द्रियजन्य ज्ञान पर विश्वास

करते हैं, या बुद्धिजन्य ज्ञान पर अथवा बुद्धि से परे के ज्ञान पर विश्वास करते हैं?

हम किसको आदर देते हैं? यह स्वयं को देखना चाहिए। जो लोग इन्द्रियजन्य ज्ञान में विश्वास करते हैं, वे राग से रहित नहीं पाते और संसार को सत्य कहते हैं। बुद्धिजन्य ज्ञान वाले वैराग्य या योग लेते हैं और संसार को अनित्य कहते हैं। तथा जो बुद्धिजन्य ज्ञान से परे के ज्ञान में विश्वास करते हैं, वे संसार को मिथ्या दृष्टि से देखते हैं।

इस तरह के संसार के सम्बन्ध में तीन दृष्टियाँ हुई-सत्यदृष्टि, अनित्यदृष्टि और मिथ्यादृष्टि। सत्य-दृष्टि में या संसार को नित्य मानने वालों में कर्तापन और भोक्तापन विद्यमान रहता है। अनित्य दृष्टि वालों में अकर्तापन रहता है। और मिथ्यादृष्टि वालों में असंगपन होता है। यह सब कुछ ज्ञान के आधार पर ही होता है। इन्द्रियों के ज्ञान से भोग उत्पन्न होता है, बुद्धि के ज्ञान से योग हुआ और स्वयं के ज्ञान से तत्त्वज्ञान हुआ और स्वयं के ज्ञानवाला 'तत्त्ववेत्ता' हुआ। इस तरह से ज्ञान ही सारे साधनों का मूल आधार हो सकता है।

परन्तु ज्ञान की अपेक्षा, जैसा मैंने कहा, मनुष्य कुछ मानता भी है, मनुष्य में कुछ और भी है। जो कुछ मैं जानता हूं उसके अनुसार कुछ मानता भी हूं। अतः ज्ञान की साधना के बाद दूसरी बात है-मान्यता की। जब कोई मानता है कि 'मैं हूं और मेरे प्रभु हैं', उसी मान्यता का उसके जीवन में आदर होना चाहिए। अगर कोई उससे यह कहे कि, 'क्या यह हाथ तेरे हैं?' तो वह कहेगा कि, 'हाथ हमारे नहीं हैं, लेकिन भगवान् हमारे हैं। भगवान् हमारे बिलकुल साथ हैं, इसमें भगवान् भूल कर सकते हैं, मैं नहीं कर सकता। इसकी मुझे चिन्ता नहीं है कि भगवान् नहीं मिलेंगे।' अगर कोई यह कहे कि, ' तुम ऐसा करोगे तो भगवान् तुम्हें नरक में भेज देंगे।' तो वह कहेगा-''मैं अनन्त काल तक नरक में रह सकता हूं, लेकिन 'भगवान् मेरे हैं'—यह भाव कभी नहीं बदल सकता।'' ऐसी जिसकी मान्यता है, ऐसा जिसका विश्वास है, ऐसी जिसकी दृढता है, वही भक्ति और विश्वास का साधन कर सकता है। उसको ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, लेकिन यह दृढ विश्वास हो कि, 'भगवान् मेरे अपने हैं, और मैं भगवान् का हूँ।'

उसके लिए अनेक नाते हो सकते हैं। भगवान् मालिक हो सकते हैं, भगवान् मित्र हो सकते हैं, भगवान् पुत्र हो सकते हैं, पति हो सकते हैं। हर एक नाते भगवान् से लगाए जा सकते हैं। भगवान् शिष्य बन सकते हैं, गुरु बन सकते हैं, लड़का बन सकते हैं, पिता बन सकते हैं, पति बन सकते हैं, मित्र बन सकते हैं, स्वामी बन सकते हैं। सब कुछ बन सकते हैं, इसमें भगवान् को कोई आपत्ति नहीं। ऐसा क्यों होता है? यह नियम है कि जो अनन्त होता है, उससे हीनता का भ्रम नहीं होता। वह किसी सम्बन्ध से नहीं घबराता। वह चेला बनने से नहीं घबराता, लड़का बनने से नहीं घबराता, साला बनने से नहीं घबराता; क्योंकि अनन्त होने से भगवान् में हीनता का भ्रम नहीं होता। बहनोई बनना तो सब चाहते हैं, लेकिन भगवान् साले भी बन सकते हैं,

सखा भी बन सकते हैं और पुत्र भी बन सकते हैं अर्जुन के साले बने थे, और सखा भी। पति भी बन सकते हैं। मीरा के पति बने। पुत्र भी बन सकते हैं—कौशल्या और यशोदा के पुत्र बने। स्त्री भी बन सकते हैं। विश्वमोहनीरूप में।

कहने का तात्पर्य यह कि भगवान् को किसी भी सम्बन्ध से कोई ऐतराज नहीं है, आपत्ति नहीं है। वे प्रत्येक सम्बन्ध को स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन यह साधना बुद्धि से नहीं चलती, यह हृदय से चलती है। जिनको बुद्धि लगानी हो, उनके लिए यह साधना नहीं है। उनको तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है और ज्ञान प्राप्त करके बुद्धि से ऊपर उठ जाना है। लेकिन विश्वास की साधना करने के लिए इसके अलावा कोई और साधना नहीं कि, 'भगवान् मेरे अपने हैं और उन्हीं से मेरा नाता है।' कोई अपने को भगवान् का अलंकार बनना भी पसंद कर सकता है, जैसे हम उनके नूपुर हैं, वंशी हैं, पीताम्बर हैं इत्यादि। उनके कोई भी अलंकार हो सकते हैं, क्योंकि भगवान् की प्रत्येक वस्तु दिव्य और चिन्मय है। जिस धातु के भगवान् हैं, उसी धातु के भगवान् के अलंकार हैं। भगवान् के परिकर भी उसी धातु के हैं। उनकी गैया-मैया भी उसी धातु की हैं, ग्वाल-बाल, ब्रज, गोलोक, साकेत और अवध भी उसी धातु के हैं और वे भी दिव्य तथा चिन्मय हैं।

यह साधना किसकी है? जिसे विश्वास हो। जिसको विश्वास नहीं है, उसे यह साधना नहीं करनी चाहिए। अतः जो लोग मानते हैं और बिना माने हुए रह ही नहीं सकते और माने हुए को निकाल नहीं सकते, उनके लिए यह विश्वास-मार्ग की साधना है। इसका मूलमन्त्र है केवल यह मानना कि, 'भगवान् मेरे अपने हैं और मैं भगवान् का हूँ, मैं ओर किसी का नहीं हूँ'—यह तो हुई भक्ति। और 'भगवान् मेरे हैं'—यह हुआ प्रेम। प्रेम में अपने के साथ अपनापन होता है और भक्ति में अपने को भगवान् को दिया जाता है। प्रेम भगवान् को ले लेता है और भक्त अपने को दे देता है। चन्द्रावली जी कहती है कि 'मैं श्री कृष्ण की हूँ' और किशोरी जी—राधाजी कहती हैं कि 'श्री कृष्ण मेरे हैं।' जिस धातु के श्रीकृष्ण हैं। उसी धातु की चन्द्रावली है, उसी धातु की श्रीराधा है। भक्त का स्वरूप भगवान् का स्वरूप है। भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती, वही एकमात्र दिव्य चिन्मय तत्व रहता है।

सृष्टि केवल विषयी प्राणियों के लिए है। विषयी प्राणी जिज्ञासु और भक्त नहीं हो सकता। वह तप कर सकता है, पुण्य कर सकता है। अनीश्वरवादी दान भी कर सकता है, पर वह प्रेम नहीं कर सकता, संसार से विमुख नहीं हो सकता।

अब हमें और आपको देखना यह है कि हम कौन वादी हैं? भौतिकवादी है, तो सारे विश्व को कुटुम्ब मानकर ऐसा काम करें, जिससे सारे संसार का हित हो। इस भौतिकवाद से भी उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति हो जाएगी। यदि ईश्वरवादी हैं और सरल विश्वासपूर्वक हमारी ऐसी भावना है कि 'भगवान् हमारे हैं, हमारी उनकी जाति एक है, हम पर उनका पूरा अधिकार है, संसार पर हमारा अधिकार नहीं है और संसार

का हम पर अधिकार नहीं है।' तो यह ईश्वरवादी होने के नाते हमारी साधना है।

परन्तु जो विचारक है, जिज्ञासु हैं, वे इस प्रकार सोचते हैं कि, 'यह, जो दिखाई देता है, इन्द्रियजन्य ज्ञान है, इसमें जो परिवर्तन का अनुभव होता है, वह बुद्धिजन्य ज्ञान है और इस इन्द्रियजन्य ज्ञान और बुद्धिजन्य ज्ञान से अतीत का जो ज्ञान है, वह तत्त्वज्ञान है।'

इस प्रकार तीन दृष्टियाँ हुई—भौतिक दृष्टि, आस्तिक दृष्टि और आध्यात्मिक दृष्टि। भौतिक दृष्टि से सर्व- हितकारी कर्मों को करना है, आस्तिक दृष्टि से अपने को दे डालना है और आत्मसमर्पण करना है, एवं आध्यात्मिक दृष्टि से असंगता, विमुखता और निष्कामता आती है। फिर चाहे आप अपने को समर्पित करके आस्तिक दृष्टि को अपनाएँ। अथवा सर्वहितकारी प्रवृत्ति के द्वारा भौतिक दृष्टि को अपनाएँ। भौतिक दृष्टि की साधना से मनुष्यत्व का विकास होता है तथा आस्तिक दृष्टि से शरणागत भाव का, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से असंगता, विमुखता और निष्कामता आएगी और उससे भी विकास होगा।

अब साधक को सोचना है कि उसे बुद्धि के स्थल से साधना करनी है या हृदय के स्थल से अथवा शरीर के स्थल से। शरीर के स्थल के सर्वहितकारी प्रीति की प्राप्ति होगी, हृदय के स्थल से सरल विश्वास की प्राप्ति होगी और बुद्धि के स्थल से असंगबनना होगा।

मनुष्य के पास तीन चीजें हैं—शरीर है, हृदय या मन है और तीसरी बुद्धि है। अगर आप कहें कि तीनों से साधना करना चाहते हैं, तो शरीर से श्रमयुक्त और संयम-युक्त हो जाओ; हृदय से प्रेमयुक्त हो जाओ और बुद्धि से मोह-रहित हो जाओ। तो संयम-युक्त शरीर से शक्ति प्राप्त होगी, विवेक-युक्त बुद्धि से मुक्ति की प्राप्ति होगी और प्रेमयुक्त हृदय से भक्ति मिल जाएगी। इस प्रकार शक्ति, मुक्ति और भक्ति—तीनों आपको मिल सकती हैं। ये तभी मिल सकती हैं , जब आप में सबसे बड़ी बात ईमानदारी हो।

अगर आप भगवान् को मानते हैं, तो उस मान्यता का परिचय हमारे-आपके जीवन से हो, केवल विचारों से नहीं। हमारा जीवन बता देग कि हम भगवान् को मानते हैं। अगर हम भगवान् को मानते हैं, तो जितनी घटनाएँ हमारे मन के विरुद्ध हों, उनमें हर्षित होना चाहिए। क्यों हर्षित होना चाहिए? क्योंकि भगवान् के माननेवाले के जीवन में किसी और का अस्तित्व शेष नहीं रहता। सर्वदा वह यही देखता है कि जो कुछ होता है, भगवान् की सत्ता से होता है,भगवान् के द्वारा होता है। उसके मन के विरुद्ध भी यदि कोई बात होती है, तो उसमें उसे रस आता है और वह सोचता है कि आज मेरे प्यारे के मन की बात हुई। आप जिसके मन की बात कर देंगे, वह आपके अधीन हो जाएगा।

जब अपने मन की बात नहीं हुई, तो वह दूसरे के मन की हुई, यानी भगवान् के मन की बात हुई; क्योंकि भक्त की दृष्टि में भगवान् के सिवा और किसी की सत्ता नहीं रहती है। वह सोचता है कि आज हमारे मन की बात नहीं हुई है, तो इसका अर्थ है कि वह भगवान् के मन की

हुई। भगवान् के मन की बात हुई, इसके अर्थ होंगे कि भगवान् मुझे अपनाना चाहते हैं, प्रेम करना चाहते हैं, मेरे होकर रहना चाहते हैं; क्योंकि जो अपने मन की बात करता है, वह उसका होकर रह जाता है।

पति उस स्त्री का होकर रहता है, जो सर्वदा पति के मन की बात करती है और पति यदि स्त्री के मन की बात करता है, तो स्त्री उसकी गुलाम बन जाती है। माता पुत्र के मन की बात करती है तो पुत्र उसका गुलाम बन जाता है और पुत्र माता के मन की बात करता है, तो माता उसकी गुलाम बन जाती है। अतः दुनिया का नियम है कि जो आपके मन की बात कर देगा, उसके गुलाम हुए बिना आप रह नहीं सकते।

अतः जब हम भगवान् के मन की बात कर देंगे, तो उन्हें हमारे होकर ही रहना पड़ेगा। जितने अस्तिक होते है, वे प्रत्येक प्रतिकूलता में अपने परम प्रेमास्पद की अनुकूलता का अनुभव करते हैं कि अब हमारे प्यारे ने अपने मन की बात करना आरम्भ कर दिया, अब वे हमें जरूर अपनाएँगे। जब तक हमारी कामनाओं की पूर्ति होती रहती है, तब तक हमें समझना चाहिए कि भगवान् हमें दूर रखना चाहते है; जैसे माँ अच्छी वस्तुएँ, इच्छानुसार खिलौने और थोड़ी-सी मिठाई देकर बालक को गोद से दूर करने का उपाय करती है और अपनी गोद से वंचित रखती है।

यदि हमारे मन की बात होती है, तो समझना चाहिए कि भगवान् हमें दूर रखना चाहते हैं और हमारे मन की बात नहीं हुई, तो भगवान् हमें अपनाना चाहते हैं। अगर हमें कोई अच्छी वस्तु मिल जाती है, तो समझना चाहिए कि भगवान् माता की तरह बहलाना चाहते हैं, परन्तु अगर हमारा धन नष्ट होता है,तो समझना चाहिए कि भगवान् हमें निर्लोभ बनाकर रखना चाहते हैं।

जब प्रतिकूलताओं में पूर्ण अनुकूलताओं का अनुभव हो और एक रसता की उत्पत्ति हो, तो समझना चाहिए कि आज से हमारा नाता भगवान् के साथ पक्का हो गया। अगर भगवान् का नाम लिया और नौकरी मिल गई, तो समझो कि भगवान् का नाता टूट गया और नाम लेने की मजदूरी मिल गई। फिर तो बस, खाए जाओ रसगुल्ला और छुए जाओ पैर। होगा कुछ नहीं। अगर कहीं गुरु बन जाओ, तो भगवान् ने कहा कि मेरे प्रेम से वंचित रहो, चेले-चेली में रमण करो।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिकूलता में यदि आप अनुकूलता का अनुभव कर सकते हैं , तो भक्त हो सकते हैं। जो कुछ हो रहा है, उसे मायामात्र जानकर अत्यन्त अभाव का अनुभव कर सकते हैं तो आप अध्यात्म-जीवन में प्रवेश करते हैं। यदि अपने सुख को उदारतापूर्वक बाँट सकते हैं, तो भौतिक-जीवन में सफल हो सकते हैं। इस प्रकार तीन बातें हैं—संसार में यदि सफल होना है, तो सुख को उदारतापूर्वक बाँट दो; फिर संसार की कोई शक्ति नहीं है, जो तुमको ऊँचा स्थान न दे। अगर तुम चाहते हो कि भगवान् हमको अपनाएँ, तो उनके मन की बात में राजी रहो, अपना मन उनको दे दो। अगर चाहते हो कि आध्यात्मिक

जीवन में प्रवेश हो, तो समझो कि जो कुछ दिखाई देता है, वह सब प्रपंच है, मायामात्र है, असत् है, उसका अत्यन्त अभाव है। वह न पहले कभी था, न अब है, न आगे कभी होगा, ऐसा विचार करो।

तीन बातें हुईं—प्रतिकूलताओं का आदर, सुख का वितरण और संसार को मायामात्र समझकर उसका अत्यन्त अभाव स्वीकार करना। यह तीन प्रकार की दृष्टियाँ हैं। इन तीनों में, जो दृष्टि आपको अनुकूल मालूम होती हो, उसी के अनुसार आप साधना करें। संसार में रहें, तो उन्नतिशील बन कर रहें। भोगी हों, तो ठीक-ठीक और तत्ववेत्ता हों, तो ठीक-ठीक। भगवान् इससे नाराज नहीं होते कि तुम संसार में क्यों रहते हो, भौतिकवादी क्यों बनते हो। भगवान् अनीश्वर वादियों के भी प्रतिकूल नहीं हैं। अगर भगवान् उनके प्रतिकूल होते, तो हवा उनको साँस लेने से रोकती, जल उनकी प्यास नहीं बुझाता, अग्नि उनको जला देती; क्योंकि भगवान् उन सबमें व्याप्त हैं।

अतः भगवान् को तो उन्नति प्रिय है, भौतिकवादी भी यदि उन्नति करेगा, तो भौतिकता के रूप में वे उसे मिलेंगे। अगर आप हृदय की उन्नति करेंगे, तो वे प्रेम के रूप में आपको मिलेंगे। अगर आप अपना विवेक ऊँचा उठाएँगे, तो ज्ञान के रूप में मिलेंगे। इस प्रकार भगवान् संसार में भौतिकरूप में, प्रेम के रूप में और तत्वज्ञान के रूप में मिल सकते हैं और ये सारी चीजें मिलकर एक होती हैं और उसका नाम 'भगवान्' होता है। भगवान् का कोई एक ठिकाना नहीं है। ऐसा नहीं है कि संसार अलग हो, तत्वज्ञान अलग हो, भक्ति अलग हो और भगवान् अलग हो। सब मिलकर जो चीज है, उसी का नाम भगवान् है।

अब आपको सोचना है, क्योंकि व्यक्ति एकदेशीय होता है और भगवान् सर्वदेशीय। आप संसार में उन्नतिशील बनकर रहना चाहते हैं, तो वे आपसे संसार के रूप में भेंट करेंगे, वास्तविक स्वरूप में नहीं मिलेंगे। भगवान् को अवनति अप्रिय है। उन्नति की ओर चलो,चाहे भौतिक उन्नति हो, चाहे आस्तिकवाद या अध्यात्मवाद की उन्नति। अगर आप भौतिक उन्नति करते हैं, तो जीवन में संयम, सदाचार, सेवा, त्याग और श्रम होना चाहिए। आस्तिकवाद की उन्नति दृढ़ता, सरल विश्वास और शरणागति से होती है। और अध्यात्मवाद की उन्नति विचार, त्याग और निज-ज्ञान के आदर से होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमें स्वयं अपने आप निर्णय करना है कि हम भौतिक उन्नति की ओर जाना चाहते हैं, आस्तिक होना चाहते हैं अथवा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना चाहते है! यदि थोड़ा-थोड़ा तीनों में अधिकार रखना चाहते हों, तो शरीर को भौतिक बना दो, हृदय को आस्तिक बना दो और बुद्धि को आध्यात्मिक बना दो।शरीर के भौतिक बन जाने से वह श्रम, संयम, सदाचार, सेवा और त्याग से युक्त हो जाएगा; और हृदय में आस्तिकवाद अपनाने से राग-द्वेष मिटकर प्रेम की गंगा बहेगी तथा जिसकी बुद्धि विवेकयुक्त है, वह तत्वनिष्ट हो सकता है और मुक्ति पा सकता है। 'अध्यात्म

जीवन' नित्य-जीवन प्रदान करता है; आस्तिकवाद त्याग और प्रेम की वृद्धि करता है तथा संयम, सदाचार, सेवा द्वारा भौतिकवादी के सुख की वृद्धि होती है।

अब आप चाहे भौतिक सुखों को लीजिए, चाहे भक्ति प्राप्त कीजिए और चाहे तत्त्वज्ञान को प्राप्त कीजिए। आप इन तीनों चीजों को प्राप्त करने में सर्वदा स्वतन्त्र हैं। आस्तिक वाद तथा अध्यात्मवाद में पराधीनता का नाम नहीं है। वे किसी परिस्थिति पर निर्भर नहीं हैं। भौतिकवाद परिस्थिति पर निर्भर है। जैसी परिस्थिति होगी,उसी के अनुसार भौतिकवादी अपना साधन करता है। आस्तिकवाद और अध्यात्मवाद के लिए त्याग की आवश्यकता है, उसका मूल्य चुकाना होगा। सरल विश्वास के ऊपर, बिना किसी शर्त के अगर आप अपने को भगवान् को दे सकते हैं, प्रतिकूलताओं में उनकी कृपा का अनुभव कर सकते हैं, तो आप आस्तिक हो जाइए। अगर आप दृश्यमात्र से असंग हो सकते हैं, तो अध्यात्मवादी हो जाइए और यदि अपना सुख बाँट सकते हैं, तो भौतिकवाद हो जाइए। जिसमें आपकी मरजी हो, उसी में प्रविष्ट हो जाइए।

कहने का तात्पर्य यह है कि जितने प्रश्न मेरे सामने आए थे, उनमें जहाँ तक मैंने समझा थोड़ी-थोड़ी हर एक प्रश्न पर बात कह दी और कुछ अपने मन की बात भी कह दी। जैसा मैंने कहा था कि जो मन की अनुकूलता में रमण करता है, वह भगवान् के प्रेम से वंचित हो जाता है, इसमें कम-से-कम मुझे तो सन्देह नहीं है। अनुकूलता ने मुझे भगवान् से विमुख किया है और किसी ने नहीं।

अतः जो अनुकूलता का स्वप्न देखते हैं और उसके पीछे है दौड़ते चले जा रहे हैं, वे भगवान् से विमुख रहते हैं; जैसा कि मैं रहा हूँ। जो प्रतिकूलता को हृदय से लगा सकते हैं, वे भगवान् के सम्मुख होते हैं, यह भी मेरे हृदय की बात है। अगर आप उनको पाना चाहते हैं, तो अनुकूलता को निकाल कर प्रतिकूलता को हृदय से लगाना होगा, क्योंकि जिसे वे अपने से अगल करना चाहते हैं, उसे अनुकूलताएँ दे देते हैं और अपने से वंचित कर देते हैं। उनके पास तो कल्पवृक्ष है, वे सब कुछ दे सकते हैं।

अगर आपको उनके बिना अनुकूलता प्रिय है, तो वह उसी प्रकार की है कि एक सुन्दर कमरा सजा है और आप दोस्त के बिना हैं, एक सुन्दर स्त्री श्रृंगार करे और पति से वंचित रहे या शरीर आत्मारहित हो। आस्तिकवाद का न होना जीवन में अकेले पड़े रहने के समान है। केवल भौतिकवाद क्या है ? श्रृंगारयुक्त स्त्री, जो पतिवंचिता हो या सजा हुआ कमरा, जो मित्र के बिना हो। मानव-जीवन में भौतिकता का स्थान ऐसा है, जैसे सुन्दर मकान सजाना, सुन्दर शरीर सजाना, सुन्दर सड़क बनाना, लेकिन रहने वाला अकेला हो।

आस्तिक तथा आध्यात्मिक जीवन ऐसा है, जैसे मकान भी सुन्दर हो, रहने वाला भी सुन्दर हो, तथा नित्य-जीवन भी हो, साथी भी हो और वह बड़ा प्रेमी हो तथा जीवन भी अनन्त हो। अतः आस्तिकवाद और अध्यात्मवाद के साथ-

साथ भौतिक जीवन को बनाना होगा। यदि आप चाहते हैं कि चाहे हमारा दोस्त न रहे, पर मकान रहे; यह तो भौतिकवाद है और यदि मकान के साथ-साथ दोस्त भी मौजूद हो, तो यह आस्तिक जीवन है, अध्यात्म जीवन और नित्य-जीवन है। मकान सुन्दर बने—यह हर एक परिस्थिति को सुन्दर बनाने की बात है।

जो परिस्थिति के पीछे पड़े हैं और जिनमें प्रीति की माँग जीवन में नहीं है, वे भौतिकवादी हैं। और जिनमें प्रीति की माँग जीवन में है, वे आस्तिकवादी हैं। हृदय प्रेम से भरा हो अपने नित्य-जीवन का अनुभव हो और शरीर कहो, संसार कहो, उसमें संयम, सदाचार और सुन्दरता हो।

ये तीन बातें हुई—एक शरीर की उन्नति की, दूसरी हृदय की उन्नति की और तीसरी समझ की उन्नति की। शरीर में श्रम, सदाचार, संयम हो; हृदय में केवल प्रेम और समझ में अपने नित्य-जीवन का अनुभव हो-जहाँ ये तीनों बातें आ जाती हैं, वहीं मानव-जीवन की पूर्णता है। संयम, श्रम, सदाचार, प्रेम और नित्य-जीवन-यही मानव-जीवन है और यही मैंने अपने मन की बात कही है।

## वास्तविक राष्ट्र निर्माण

**प्रश्न-** क्या समाजवाद या पूँजी के विभाजन से भारत की समस्या हल हो जाएगी ?

**उत्तर-**केवल पूँजी के विभाजन से परिस्थिति तो सँभल जाएगी, परन्तु व्यक्तियों का निर्माण न होगा। व्यक्तियों के निर्माण के बिना, अनुकूल परिस्थिति भी हितकर नहीं होती। जिस प्रकार पागल का स्वस्थ शरीर भी कुछ काम नहीं आता, वही दशा धर्मशून्य साम्यवाद की होगी।

**प्रश्न-**क्या धर्मयुक्त भी साम्यवाद है ? समाजवादी नेता तो कहते हैं कि धर्म के गीत गाने वालों ने मानव-समाज को अत्यन्त दुःखी कर दिया है।

**उत्तर-** धर्म का वास्तविक स्वरूप न जानने के कारण वे लोग ऐसा सोचते हैं। धर्म का मूलमन्त्र केवल दो बातें सिखाता है—किसी के ऋणी बनकर मत रहो, और प्रत्येक कार्य विश्व के नाते अथवा भगवत्-नाते करते रहो।

**प्रश्न-** किसी के ऋणी न रहने का अर्थ क्या है ?

**उत्तर-**तुम अपने जीवन का अध्ययन करो। जब तुम बच्चे थे, तब तुम्हारा किसी ने पालन-पोषण किया ही था। जब तुम बीमार होते हो, तब कोई-न -कोई सेवा करता ही है। जब तुम अबोध थे, तब तुमको किसी-न-किसी ने शिक्षित तो किया ही था।

**प्रश्न-**आपकी मूकभाषा मेरी समझ में नहीं आती है। कृपया स्पष्ट कर दीजिए।

**उत्तर-**देखो प्यारे, प्रत्येक व्यक्ति पालन करने वाले का और सेवा (Nursing) तथा शिक्षा देने वाले का ऋणी है।

**प्रश्न—**तब फिर मुझे उस ऋण से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए ?

**उत्तर—**तुम एक बाल मन्दिर खोलो और सपत्नीक ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहकर देश के बच्चों की

देख-भाल करो। माँ-बाप की गोद में बच्चों का वास्तविक विकास सम्भव नहीं है, क्योंकि माँ-बाप से प्यार तो मिलता है, किन्तु न्याय नहीं, और नौकरों के द्वारा न्याय मिलता है, प्यार नहीं। बालक का यथेष्ट विकास तभी सम्भव है, जब उसका पालन प्यार तथा न्यायपूर्वक किया जाय।

जब तुम समाज के बालक-बालिकाओं का अपने शिशु की भाँति पालन करोगे, तो तुम पालन करने वाले के ऋण से मुक्त हो जाओगे और तुम्हारी न्याय तथा प्यारपूर्वक की हुई सेवा से बालकों का भी विकास होगा। इतना ही नहीं, तुम्हारे मन से स्वार्थ-भाव भी मिट जाएगा, जिससे तुमको जितेन्द्रियता प्राप्त होगी। जितेन्द्रियता प्राप्त होने पर तुम अपनी योग्यतानुसार सत्य की खोज कर सकोगे, जिससे तुम्हारा भी विकास होगा।

केवल वस्तुओं के आधार पर जीवन व्यतीत करना मनुष्य के स्वरूप में पशुता है। वस्तुओं से अतीत जो तत्त्व है, उसको प्राप्त करने पर ही तुम सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकोगे। जिस समाज में स्वतंत्र व्यक्तियों का निर्माण नहीं होता, उसका विकास सीमित ही होता है।

**प्रश्न**— क्या यह कार्य राष्ट्र का नहीं है?

**उत्तर**—यह कार्य कभी कोई राष्ट्र नहीं कर पाया;क्योंकि नौकर के द्वारा सेवा नहीं हो सकती।जो बेचारा स्वयं भोग में ग्रसित है, वह सेवा नहीं कर सकता। सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन भिक्षा के आधार पर निर्भर हो और जो अर्थ और काम की वासनाओं से मुक्त हो।

न्यायदृष्टि से संग्रह की हुई सम्पत्ति पर केवल तीन प्रकार के प्राणियों का अधिकार है-बालक, रोगी तथा विरक्त का। बालक और रोगी अर्थोपार्जन में असमर्थ है और सेवक को अर्थोपार्जन के लिए अवसर नहीं है। इतना ही नही, उपार्जित अर्थ के आधार पर रहने वाला मनुष्य समाज से अभिन्न तथा निरभिमानी के बिना छिपी हुई नवीन शक्ति का विकास नहीं हो पाता।यह निर्विवाद सिद्ध है।

वर्तमान सुधारवादी तो किसी एक पार्टी के प्रतिनिधि बनकर द्वेष तथा स्वार्थ के आधार पर संगठन बना,पशुबल को उपार्जित कर, किसी के विनाश से किसी के विकास की बात कहते हैं। वे बेचारे इस प्राकृतिक विधान को नहीं जानते कि जिसका जन्म ही विनाश से होगा, भला उसका परिणाम विकास कैसे हो सकता है ! अभी वे ऊपर से तो स्वतन्त्र हो गए हैं, किन्तु भीतर से पश्चिमी सभ्यता में आबद्ध हैं। उन्हें कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। मस्तिष्क की दासता से अभी वे मुक्त नहीं है। बाह्य चमत्कारों से उनकी बुद्धि चकाचौंध में फँस गई है। पद का अभिमान विचार को उत्पन्न नहीं होने देता।

त्याग और प्रेम के आधार पर स्वार्थयुक्त जन-समाज संघठित होने में भय करता है, परन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार जो संघठन त्याग तथा सेवा के आधार पर नहीं है, वह अवश्य मिट जाएगा। यह परम सत्य है।

देश के बच्चे, रोगी, संग्रह की हुई सम्पत्ति और सेवक, ये चारों एक हो जायँ। इन चारों का संगठन ही सच्चा संगठन है, क्योंकि जब अर्थोपार्जन तथा उपयोग करने वाली पार्टी के ऊपर बच्चों के पालन तथा रोगियों की सेवा का बोझा न रहेगा, तब वे निश्चिन्त होकर अपने कार्य को कर सकेंगे। आज बच्चों तथा रोगियों की चिन्ता मानव को वीर तथा कार्यकुशल नहीं होने देती।

जहाँ सरकारी अस्पताल हो, वहीं एक शुश्रूषा-आश्रम और जहाँ विद्यालय हो, वहाँ एक बाल-मन्दिर का होना अनिवार्य है। बाल-मन्दिर तथा शुश्रूषा-आश्रम में ही वह संग्रह की हुई सम्पत्ति, जो केवल बैंकों का हिसाब बढ़ा रही है,आ जानी चाहिए; क्योंकि सिक्के से वस्तुओं का, वस्तु से व्यक्तियों का, व्यक्तियों से विवेक का और विवेक से उस नित्य जीवन का, जो परिवर्तन से अतीत है, अधिक महत्त्व है।

सिक्के की दासता ने वस्तुओं का उपार्जन नहीं होने दिया, जिसके कारण भोजन की सामग्री कम हो गयी। स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन (Nourishment) ठीक न होने से अनेक प्रकार के रोगों की वृद्धि हो रही है। आज वेजीटेबल मिल के लिए तो सम्पत्ति है, किन्तु डेयरी फार्म के लिए नहीं। पूँजीपतियों की इस भूल ने मानव के स्वास्थ्य को खा लिया है। वे ऊपर से तो अहिंसा के गीत गाते हैं, किन्तु पशुओं को न खाकर मनुष्यों को खा जाते हैं।

यदि पूँजीपति धर्मशून्य राजनीतिक नेताओं के अत्याचारों से बचना चाहते हैं, तो उनको संग्रह की हुई सम्पत्ति स्वेच्छापूर्वक बाल-मन्दिर और शुश्रूषा-आश्रम के बनाने में लगा देनी चाहिए, अर्थात् अपनी सम्पत्ति सच्चे सेवकों के हाथ में दे देनी चाहिए, नहीं तो समाज-सुधार के गीत गाकर साम्यवादी और समाजतंत्रवादी डाकुओं की भाँति छीन लेंगे, अथवा विधान बदल कर पूँजीवाद मिटा देगें। इतना ही नहीं, हिन्दू अपने को हिन्दू और मुसलमान अपने को मुसलमान न कह सकेगा और न वस्तु से व्यक्ति का मूल्य अधिक होगा, क्योंकि पार्टी का प्रतिनिधि बनकर जो कार्य किया जाएगा, उससे केवल पार्टी सुदृढ़ होगी, व्यक्ति का निर्माण नहीं होगा।

व्यक्तियों के निर्माण के बिना सच्चाई, ईमानदारी और निष्पक्षता का प्रादुर्भाव नहीं होता और न स्वार्थभावना मिटती है। एक पार्टी सदैव दूसरी पार्टी को मिटाने के लिए तत्पर रहती है, जैसा कि अनेक स्वतन्त्र देशों मे हो रहा है। यदि पाठकगण विचार करें, तो उन्हें भलीभाँति ज्ञात होगा कि कांग्रेस जैसी अहिंसा तथा सत्य का अनुसरण करने वाली पार्टी भी सफलता मिलने पर वैसी न रही, जैसी थी, अर्थात् पक्षपात में फँस गई। उसका मूल कारण यही है कि कांग्रेस व्यक्तियों का निर्माण नहीं कर सकी।

जिस देश के पूँजीपति तथा विद्वान् विषयासक्त हो जाते हैं, उस देश का शासन दूषित हो जाता है, क्योंकि शासन करने वाली संस्था का जन्म विद्वानों तथा पूँजीपतियों के आधार पर ही निर्भर है; जिस प्रकार बुद्धि और प्राण के आधार पर ही शरीर की सारी व्यवस्था

चलती है। शरीर में जो स्थान बुद्धि का है, समाज में वही स्थान विद्वानों का है तथा शरीर में जो स्थान प्राण का है, समाज में वही स्थान पूँजीपतियों का है। अतः पूँजीपतियों तथा विद्वानों का सुधार होने पर ही राष्ट्र का यथेष्ट निर्माण हो सकता है।

बाल-मन्दिर तथा शुश्रूषा आश्रमों की सेवा करने वाले विद्वानों के द्वारा ही गवर्नमेण्ट का निर्वाचन होना चाहिए। जो उन विद्वानों में -से वीतराग पुरुष हों अर्थात् जिनका मोह नष्ट हो गया हो, उनको विधान बनाने का अधिकार होना चाहिए। मोहयुक्त प्राणी प्राकृतिक विधान को समझ नहीं पाता और उसके जाने बिना, पक्षपात-शून्य विधान बन नहीं सकता। राष्ट्र का कर्तव्य तो केवल वीतराग पुरुषों के बनाये हुए विधान का पालन करना है।

इस समय सच्चे सेवकों की बड़ी कमी है। उसकी पूर्ति तभी हो सकती है, जब पूँजीपति और विद्वान मिलकर देश के बच्चों का और रोगियों का उत्तरदायित्त्व अपने ऊपर ले लें। विज्ञान और कलाओं की शिक्षा राष्ट्र दे सकता है, किन्तु भारतीय संस्कृति की शिक्षा धर्मात्मा सेवक के द्वारा ही हो सकती है। अतः पूँजीपति तथा विद्वानों को मिल जाना चाहिए, नहीं तो सुधार की आँधी में संग्रह किया हुआ धन भी लुट जाएगा। एक पार्टी दूसरी पार्टी को सदैव मिटाती रहेगी, जो अवनति का मूल है।

**प्रश्न**—क्या ऐसा कोई विद्वान आपको मिला है, जो बालमन्दिर के द्वारा सेवा करना पसन्द करता हो ?

**उत्तर**—विद्वान तो कई मिले हैं, किन्तु पूँजीपति अभी तक कोई नहीं मिला। इसी कारण यह पद्धति समाज में प्रचलित नहीं हुई। जब समाज को यह विश्वास हो जाएगा कि बच्चों की शिक्षा-दीक्षा तथा रोगियों की सेवा धर्मात्माओं ने अपने हाथ में ले ली है, तब समाज का प्रत्येक व्यक्ति वीर बन जाएगा और संग्रह की भावना मिट जाएगी। यदि हिन्दुस्तानी पूँजीपतियों तथा विद्वानों ने ऐसा नहीं किया, तो भारतीय संस्कृति और पूँजी दोनों ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँगे, जो ह्रास का मूल है। राष्ट्र पर यही उत्तरदायित्त्व है कि सबल निर्बल पर अत्याचार न करे, अर्थात् शिक्षा तथा चिकित्सा की सुव्यवस्था हो और बेकारी न रहे।

बाल-मन्दिर के बिना शिक्षा अधूरी रहेगी और शुश्रूषा-आश्रम के बिना चिकित्सा अधूरी रहेगी, क्योंकि ये दोनों कार्य सेवक ही कर सकते हैं, नौकर नहीं। अतः यह कार्य धर्मप्रिय विद्वानों तथा पूँजीपतियों को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। यह कार्य हाथ में आते ही साम्यवाद को आवश्यकता ही शेष न रहेगी और न पार्टीबन्दी की धूम मचेगी। संगठन भी अपने-आप निष्पक्षता-पूर्वक त्याग तथा सेवा के आधार पर हो जाएगा, जो विकास का मूल है।

**प्रश्न**—आपने तो सेवा करने वाले विद्वानों के द्वारा गवर्नमेण्ट के निर्वाचन की पद्धति बतलाई है। परन्तु आज तो कोई भी राष्ट्र तथा देश इस पद्धति को नहीं मानता। सभी जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा निर्वाचन की बात कहते हैं।

**उत्तर**—बाह्य दृष्टि से तो ऐसा ही देखने में आता है, किन्तु इने-गिने व्यक्ति प्रचार के द्वारा जनता को अपने पक्ष में लेकर जनता के बहाने अपने मन की बात करते हैं। इस चुनाव में सच्चाई नहीं होती। चुने हुए सदस्य कहने के लिए ही जनता के प्रतिनिधि होते हैं, वास्तव में वे जनता के नहीं होते। इस्लाम के खतरे की बात कहकर मुसलमान जनता को भड़काया और अपने पक्ष में ले लिया; हिन्दू-धर्म के गीत गाकर हिन्दू जनता को भड़काया और अपने पक्ष में ले लिया तथा किसानों की बात कहकर किसानों को भड़काया और अपने पक्ष में ले लिया। इस प्रकार की अपने मन की बात, नाम जनता का ले लिया। इतना ही नहीं, सबसे बड़ा दोष इस चुनाव में यह आता है कि वह प्रतिनिधि कहकर पक्षपाती हो जाता है।

सेवा करने वाला व्यक्ति जनता का प्रतिनिधि तो स्वाभाविक ही बन जाता है। उसमें न तो पद का लालच होता है, न पक्षपात, न स्वार्थ। अतः वह उसी व्यक्ति को चुनेगा, जो वास्तव में सच्चा सेवक और ईमानदार होगा। आज तो पार्टी का आधार लेकर अयोग्य व्यक्ति भी पद पा जाते हैं। ये जनता के प्रतिनिधि बनकर पार्टी-लीडर की हाँ में हाँ करते रहते हैं। यह देखने में समाजवाद भले ही हो, वास्तव में तो आदेशकवाद है। जिसने स्वयं सेवा न की हो, उसे शासकों के निर्वाचन का अधिकार दे देना प्राकृतिक विधान के विरुद्ध है।

यदि जनता स्वयं सच्चाई को जानने में समर्थ होती, तो शासकों के निर्वाचन की आवश्यकता ही क्या थी? जनता तो अबोध बालक के समान होती है। जनता के द्वारा निर्वाचन होने पर तो, सौ मूर्ख निन्यानवे भले आदमियों को हरा सकते हैं। ऐसी गवर्नमेण्ट कभी सत्य की खोज करने वाली नहीं हो सकती।

प्राकृतिक विधान के अनुसार सेवा करने वालों का चुना हुआ राष्ट्र हो और वीतराग पुरुषों का बनाया हुआ विधान हो, तभी समाज में न्याय तथा शान्ति की स्थापना हो सकती है।

# संत-सौरभ

## १.निरन्तर साधन का स्वरूप

साधक के जीवन में ऐसी प्रतीति नहीं रहनी चाहिये कि अमुक समय तो साधन का है और अमुक समय साधन का नहीं है। अमुक क्रिया या प्रवृत्ति तो साधन है और अमुक नहीं। उसका तो प्रत्येक क्षण और प्रत्येक प्रवृत्ति साधनमय होनी चाहिये। जिसकी समझमें सब कुछ भगवान् का है, उसका अपना तो एक भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहा। फिर उसकी कोई भी प्रवृत्ति भगवान् की सेवा से भिन्न हो ही कैसे सकती है? उसके जीवन का प्रत्येक क्षण भगवान् की प्रसन्नता के लिये, उन्हींकी दी हुई योग्यतासे, उन्हींकी सेवामें लगेगा। इसके सिवा दूसरा साधन हो ही क्या सकता है।

## २. चित्त की शुद्धि

(१) बुरे और अनावश्यक संकल्पों का त्याग ही चित्त शुद्धि का पहला उपाय है।

- जिस क्रिया से किसी का अहित होता हो, तद्विषय क संकल्पों का नाम बुरे संकल्प हैं।
- जिसका वर्तमान से सम्बन्ध न हो, जिस संकल्प को पूरा करने की साधक में योग्यता या शक्ति न हो, यदि शक्ति या योग्यता हो तो भी वर्तमान काल में उसे पूरा करना आवश्यक न हो या सम्भव न हो, ऐसे संकल्पों का नाम है – अनावश्यक संकल्प।
- इनकी निवृत्ति के बाद जो साधक के मन में आवश्यक और भले संकल्प उठते हैं, उनकी पूर्ति अपने-आप होती है, यह प्राकृतिक नियम है।

(२) आवश्यक और भले संकल्पों की पूर्ति में भी, उस पूर्ति के सुख में रस न लेना किंतु ईश्वर अहैतु की कृपा का अनुभव करते हुए उनके प्रेम और विश्वास को पुष्ट करते रहना-यह चित्त शुद्धि का दूसरा उपाय है।

- आवश्यक संकल्प उनको कहते हैं, जिनके अनुसार साधक की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है और जिनकी पूर्ति का सम्बन्ध वर्तमान से है, जैसे भोजनादि शरीर सम्बन्धी क्रिया-विषयक संकल्प एवं अपनी योग्यता के अनुसार अन्याय वर्तमान प्रवृत्ति से या निवृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले संकल्प।
- भले संकल्प उनको कहते हैं, जिनमें किसी का हित – प्रसन्नता निहित हो।

(३) जब कभी साधक को ऐसा प्रतीत होता हो कि मेरे आवश्यक और शुभ संकल्पों की भी पूर्ति नहीं हो रही है, तो उस समय मन में किसी प्रकार की खिन्नाता या निराशा को स्थान नहीं देना चाहिये; किंतु ऐसा समझना चाहिये कि 'प्रभु अब मुझे अपनाने के लिये--मुझे अपना प्रेम प्रदान करने के लिये मेरे मन की बात पूरी

न करके अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं।' तथा ऐसे भाव से उन प्रेमास्पद के संकल्प में अपने संकल्पों को मिलाकर उनकी प्रसन्नता और उनकी प्रेम प्राप्ति की आशा भरी उमंग में आनन्दमग्न हो जाना – यह अन्तः करण की परम शुद्धि का अन्तिम साधन है।

चित्त शुद्ध होने से निर्विकल्प स्थिति और संदेहरहित बोध होता है। उस समय साधक के जीवन में सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तथा स्वाधीनता और सामर्थ्य का अनुभव होता है; परंतु उससे होनेवाले सुख में भी साधक को संतुष्ट नहीं होना चाहिये और उसका उपभोग भी नहीं करना चाहिये; प्रत्युत् उदासीन भाव से उसकी उपेक्षा करके भगवान् के प्रेम विश्वास को ही पुष्ट करते रहना चाहिये।

## ३. सिद्धान्त और साधन

साधक के लिये वही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ मान्य है, जिसके समझने में उसे किसी प्रकार का संदेह न हो और जिसके अनुसार अपना जीवन बना लेने में उसे किसी प्रकार की कठिनाई का बोध न होता तो अर्थात् वर्तमान में प्राप्त परिस्थिति और योग्यता के सदुपयोग से ही जिस सिद्धान्त के अनुसार जीवन बना लेना सहज हो। जिसमें निराशा के लिये कोई स्थान न हो, जो उसको सबसे अधिक प्रिय हो तथा जिसमें उसका पूर्ण विश्वास हो। जिस साधक के पास न धनका बल है, न शरीर का बल है, न बुद्धि-बल है, न इन्द्रिय-बल है, न सदाचार-बल है और न जाति का बल है--ऐसा दीन-हीन पतित से भी पतित मनुष्य भी जिस सिद्धान्त के अनुसार सुगमता से अपने साध्य को अनायास सहज ही प्राप्त कर सकता हो, वही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। जो सिद्धान्त प्राप्त योग्यता से सदुपयोग द्वारा साधक को साध्य की प्राप्ति करा देने में समर्थ हो, वही उसके लिये वास्तविक सिद्धान्त है। अपने सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए दूसरों के सिद्धान्त का आदर करना ही धर्म है; क्योंकि धर्म सभी सिद्धान्तों का समर्थक है।

## ४. भाव, संकल्प और कर्मकी शुद्धि

किसी भी कर्म की शुद्धि के लिये यह जानना परमावश्यक है कि उसका उद्गम स्थान क्या है अर्थात् कर्म की उत्पत्ति कहाँ से होती है? विचार करने पर मालूम होगा कि कर्ता के भाव और संकल्प से कर्म बनता है अर्थात् पहले कर्ता किसी भाव से भावित होकर स्वयं कुछ बनता है, तब उसके अनुसार संकल्प और कर्म की उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य कोई अच्छा काम करने में प्रवृत्त होता है, जब पहले स्वयं अच्छा बनता है। वैसे ही जब किसी बुरे काम में प्रवृत्त होता है, तब पहले स्वयं बुरा बनता है। जैसे चोर बनकर चोरी करता है, भोगी बनकर भोग करता है, सेवक बनकर सेवा करता है इत्यादि। अतः यह सिद्ध हुआ कि क्रिया की शुद्धि के लिये साधक को पहले अपने अहंभाव को शुद्ध करना परम आवश्यक है; क्योंकि कारण की शुद्धि के

बिना कार्य की वास्तविक और स्थायी शुद्धि नहीं होती। इसलिये साधक को चाहिये कि वह अपनी मान्यता को पहले स्थिर और शुद्ध बना वे, विकल्प रहित यह निश्चय करे कि मैं भगवान का हूँ। यह भाव निश्चित होने पर अपने-आप उन्हीं कामों को करने के संकल्प उठेंगे, जो भगवान को प्रिय हैं, जो भगवान् की प्रसन्नता के लिये करने आवश्यक हैं। इस प्रकार भाव, संकल्प और कर्म की शुद्धि सुगमता पूर्वक अपने-आप हो सकती है। साधक जिस वर्ण, आश्रम, परिस्थिति में रहता हो, उसे तो भगवान् की नाट्यशालाका स्वाँग समझे और उस स्वाँग के अनुसार जब जो कर्म करना आवश्यक हो, उसे खूब उत्साह, सावधानी और प्रसन्नतापूर्वक करता रहे; परंतु उस अभिनय को अपना जीवन न माने अर्थात् उसमें जीवन बुद्धि, सद्भाव न रक्खे। ऐसा होने से अभिनय के रूप में होने वाली प्रवृत्तियों का राग अंकित नहीं होगा, जिससे निर्वासना आजाएगी और प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वाभाविक ही प्रेमास्पद के प्रेम की प्रतीक्षा उदय होगी; क्योंकि अभिनयकाल में यह भावना जाग्रत रहती है कि हमारे हिस्से में आया हुआ अभिनय ठीक-ठीक पूरा हो जाने पर हमारे प्रेमास्पद हमें जरूर अपनायेंगे, हमसे प्रेम करेंगे। प्रेमास्पद की ओर से मिले हुए अभिनय से छिपे हुए राग की निवृत्ति होती है। राग का अन्त होते ही अनुराग की गंगा स्वतः लहराने लगती है--यह सभी प्रेमियों का अनुभव है। अभिनय करते समय इस बात को कभी न भूले कि मैं उनका हूँ जो इस लीला स्थली रूप जगत् के स्वामी हैं। अतः मैं जो कुछ कर रहा हूँ या मुझे जो कुछ करना है--वह उन्हीं की प्रसन्नता के लिये करना है और इस अभिनय को प्रभु देख रहे हैं।

अहंभाव की शुद्धि के बिना यदि कोई मनुष्य कर्म की शुद्धि के लिये प्रयत्न करता है तो वह कोशिश करने पर भी कर्म को शुद्ध नहीं बना सकता; क्योंकि जहाँ से कर्म की उत्पत्ति होती है, जो उसका कारण है, उसकी शुद्धि के बिना कर्म की शुद्धि सम्भव नहीं है।

## ५. चित्त की शुद्धि

साधक को चाहिये कि प्राप्त विवेक के द्वारा अपने मनकी दशाका भलीभाँति निरीक्षण करे कि उसकी आन्तरिक रुचि क्या है, उसमें कौन-कौन-सी आसक्तियाँ (राग) छिपी हैं। इस प्रकार मन के अन्तस्तल में रुचि और राग के रूप में छिपे हुए अपने दोषों को देख लेने पर वे दोष अपने-आप नष्ट हो जाते हैं और चित्त शुद्ध हो जाता है, यह प्राकृतिक नियम है। जबतक साधक गुरुजनों और शास्त्रों द्वारा सुनकर अपने दोषों को दोष समझता है – उनको सद्गुणों की भावनासे दबाता रहता है, जबतक वे एक बार दब तो जाते हैं; पर उनका समूल नाश नहीं होता। अतः पुनः मौका पाकर समय पर वे घोर रूप में भड़क उठते हैं, किंतु प्रत्यक्ष रूप से देख लेने के बाद दोषों का मूल सहित नाश हो जाता है। यद्यपि साधक बुद्धिजन्य विवेक द्वारा दोषों को दोष रूप में समझता है उनको छोड़ना भी चाहता है। उसी प्रकार सद्गुणों को

भी समझता है तथा उनको धारण भी करना चाहता है; परंतु जबतक हृदय और विवेक की एकता नहीं हो जाती, मनको उन दोषोंमें रस आता रहता है और गुणोंके रसका अनुभव नहीं होता, तबतक दोषोंका त्याग और गुणोंका संग्रह नहीं होता। अतः साधकोको चाहिये कि वह प्राप्त विवेककेद्वारा गहराईसे अपने दोषोंका निरीक्षण करके विवेक और हृदयकी एकता स्थापित करे अर्थात् मन और बुद्धिमें जो दूरी है, उसे मिटाकर मन को बुद्धिमें विलीन कर दे। ऐसा होने से दोषों की उत्पत्ति नहीं होगी और गुणों का अभिमान नहीं होगा। तब बुद्धि अपने आप सम और स्थिर हो जाएगी ।

## ६

साधक को चाहिये कि अपने मन को पुनर्जन्म और नरकादि का या अन्य किसी प्रकार का भय दिखाकर या लालच देकर उसकी रुचि को दबा वे नहीं; किंतु प्राप्त विवेक के द्वारा उसकी रुचि का निरीक्षण करता रहे। ऐसा करने से मन की दशा का ज्ञान सहज में ही हो सकेगा और उस रुचि के अनुसार आचरण करने पर भी जब मन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी, तब वह सुगमता से उस रुचि का परिवर्तन स्वीकार कर लेगा। ऐसा करने से स्वाभाविक ही मन में यह रुचि उत्पन्न होगी कि मुझे ऐसा सुख मिले जो सदा बना रहे, जो कभी घटे नहीं और जिसमें दुःख का मिश्रण न हो। इस रुचि के अनुसार जब उसे संसार के किसी भी भोग में--किसी भी परिस्थिति – अवस्था में वैसा सुख नहीं मिलेगा, जब वह सब ओर से भटककर थक जायगा, जब मन की रुचि और बुद्धि के विवेक की एकता हो जायगी अर्थात् मन में यह विश्वास हो जायगा कि भगवान् के समान किसी प्रकार भी कोई सुन्दर नहीं है--समस्त सुन्दरता के केन्द्र वे ही हैं; समस्त जगत् की सुन्दरता उनके सौन्दर्य के किसी एक अंशका प्रतिबिम्ब मात्र है; भगवान् के समान प्यार करने वाला, प्रेम के तत्त्व को जाननेवाला ही दूसरा कोई नहीं है तथा बिना ही कारण दया करने वाले भी वे ही हैं, उनके-जैसा दूसरा कोई है ही नहीं--तब मन अपने आप उनकी ओर लगेगा।

वर्तमान काल में साधक को जो ऐसी प्रतीति होती है कि 'क्या किया जाय, मन भगवान् में लगता नहीं, भगवान् की ओर मन खिंचता नहीं।' फिर ठीक उसका उल्टा हो जायगा। मन हटाने से भी भगवानसे हटेगा नहीं। गोपियों के चरित्र से यह भाव ठीक समझ में आ जाता है। वे एक दूसरी से क्या कहती हैं--यही न कि 'सखी! क्या करूँ, जब से इन आँखों ने उस मोहनी मूर्ति को देख लिया है, तब से मरी आँखें मेरा मन मेरे नहीं रहे। वे उसे छोड़कर अन्य किसी ओर लगते ही नहीं।

इस प्रकार हृदय और विवेक की एकता हो जाने पर बुद्धि सम और स्थिर हो जाती है। तब साधक का अहंभाव गलकर प्रेमास्पद के प्रेम की लालसा के रूप में बदल जाता है। उस समय अहंभाव और प्रेम की लालसा के रूप में बदल जाता है। उस समय

अहंभाव और प्रेम की लालसा में भेद की उपलब्धि नहीं होती। दोनों एक हो जाते हैं एवं प्रेमास्पद और उनके प्रेम की लालसा के सिवा कुछ भी नहीं रहता।

## ७

ध्यान रहे कि शरीर के दोषों का दर्शन, उनका चिन्तन नहीं करना है। दोषों का चिन्तन नहीं करना है। दोषों का चिन्तन तो साधन में विघ्न रूप है, आसक्ति को पुष्ट करने वाला है। अतः साधक को चाहिये कि शरीर की आदि, मध्य, अन्तिम अवस्था पर तात्त्विक विचार करके उसकी वास्तविकता को देखे। उसका या उसके दोषों का चिन्तन न करे। इस प्रकार जब साधक प्राप्त विवेक के द्वारा शरीर के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कर लेता है, तब शरीर की सत्यता और सुन्दरता मिट जाती है। उसके मिटते ही काम का अन्त हो जाता है। फिर अनन्त और नित्य सौन्दर्य के निधान परम-प्रेमास्पद प्रभुसे मिलनेकी लालसा जाग्रत हो जाती है।

शरीर की असलियत को देखने का प्रकार

साधक को विचार करना चाहिये कि शरीर में सुन्दरता, नित्यता और प्रियता की प्रतीति क्यों होती है? इसका कारण क्या है? विचार करने पर मालूम होगा कि अविचार अर्थात् विचार की कमी ही इसका कारण है। साधक का अपना स्वरूप नित्य चेतन और आनन्दमय है। इसलिये वह जिसके साथ अपने को को मिलाकर उसमें अहंभाव कर लेता है, उसी में उसे नित्यता और चेतना का भास होने लगता है और वह तबतक रहता है, जबतक साधक प्राप्त विवेकके द्वारा उसपर विचार नहीं करता। अर्थात् अपनी जानकारी का निरादर करता रहता है।

वास्तव में जो जिसका सजातीय है, उसी से उसकी एकता अर्थात् वास्तविक सम्बन्ध है। अपने विजातीय से कभी भी किसी की एकता या सम्बन्ध नहीं होता। तथापि शरीर, जो कि अपना सजातीय नहीं है, उसे ही अज्ञानवश सजातीय मानकर मनुष्य उससे अपनी एकता और सम्बन्ध मानने लग जाता है। इसी का नाम अविचार है और यही समस्त अनर्थों का मूल है।

यह सभी मनुष्यों की स्वाभाविक जानकारी है कि शरीर मैं नहीं हूँ। बोलचाल में भी वह कहता है कि यह मेरा हाथ है, यह पैर है, यह आँख है, यह मन है, यह बुद्धि है इत्यादि। कोई भी ऐसा नहीं कहता कि मैं हाथ हूँ, मैं आँख हूँ, तथापि ऐसी मान्यता बन गयी है कि शरीर मैं हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसा अनुभव सजग नहीं रहता। यही कारण है कि वह शरीर के सुख – दुःख से अपने को सुखी-दुखी मानता है। अतएव यह अनित्य, क्षणभंगुर एवं गंदा शरीर नित्य एवं सुन्दर भासने लगता है। इसमें और इसके सम्बन्धियों में अपनत्व का सम्बन्ध हो जाने के कारण उनमें प्रियता का भास होता है। इसी को 'काम' कहते हैं। इसी का विस्तार नाना भोग – सामग्रियों को, उनके भोगने की शक्ति को और उसके उपयुक्त परिस्थितियों को प्राप्त

करने की इच्छाएँ हैं। प्रकृति का यह नियम है कि इच्छाओं के अनुसार मनुष्य की प्रवृत्ति तो होती है पर उस प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति कुछ भी नहीं होती। इच्छाओं को मनुष्य मिटा तो सकता है पर उनकी पूर्ति नहीं कर सकता। भोगों के उपभोग से होता क्या है? उनके भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग वासना की उत्तरोत्तर वृद्धि। जिसके कारण अभाव का अनुभव कभी नहीं मिटता और कहीं भी सुख-शान्ति की उपलब्धि नहीं होती।

साधक को चाहिये कि उसे जो स्वतः जानकारी प्राप्त है, उसका आदर करे, उसका सदुपयोग करे, उसके द्वारा यह निश्चय करे कि न तो यह शरीर मैं हूँ और न यह मेरा है। जब यही मेरा नहीं है, तब इससे सम्बन्ध रखने वाले इसके सजातीय अन्य पदार्थ तो मेरे हो ही कैसे सकते हैं? यह निश्चय होते ही सब प्रकार की इच्छाएँ अपने-आप निवृत्त हो जाती हैं। अन्तःकरण शुद्ध, शान्त और स्थिर हो जाता है। फिर यह निश्चय करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि मेरे तो केवल भगवान् हैं, क्योंकि मैं उन्हीं का हूँ। मेरी और उनकी सजातीयता है। स्वभाव से ही मैं उनका प्रिय हूँ, वे मेरे प्रेमास्पद हैं जिस समय, मैं उनके और अपने सम्बन्ध को भूला हुआ हूँ--उस समय भी मेरा और उनका जो नित्य-सम्बन्ध है--वह तो है ही। उसका कभी विच्छेद नहीं होता। यह विश्वास दृढ़ हो जाने पर तत्काल साधक के हृदय में उन परम सुहृद, परम प्रेमास्पद अपने प्रभुसे मिलने की उत्कट लालसा जाग्रत हो उठती है। उसकी पूर्ति होने पर भी वह मिटती नहीं, बल्कि नित्य नूतन बनी रहती है।

भगवत्-प्रेम किसी भी कर्म का फल या क्रिया-साध्य वस्तु नहीं है। उसके लिये कालान्तर की प्रतीक्षा करना भूल है। भगवान्से और उनके प्रेम से साधक का देश, काल, अवस्था विषयक किसी प्रकार का भी व्यवधान अथवा दूरी नहीं है। उपर्युक्त प्रकार से सब प्रकार की इच्छाएँ मिट जाने पर योग और बोध की प्राप्ति हो जाती है, तब भगवत् – प्रेम का प्राकट्य और भगवान् का सानिध्य स्वतः ही बिना किसी प्रयत्न के अपने-आप होता है।

जीव की सबसे बड़ी भूल यही है कि वह अपनी स्वाभाविक जानकारी का आदर नहीं करता, उसकी अवहेलना करके उसके विरुद्ध आचरण करता है। इस भूल को साधक मिटा सके तो भगवान् और उनके प्रेम की प्राप्ति में विलम्ब न हो। इसका सम्बन्ध वर्तमान से है। इसे भविष्य के लिये छोड़ना ही प्रमाद करना है।

शास्त्रों में जो यह कहा है कि साधन करते-करते कालान्तर में चित्त की शुद्धि और उसके परिणामस्वरूप योग, बोध एवं प्रभु-प्रेम की प्राप्ति होती है, यह कहना केवल उसी अंश में ठीक है कि साधक कहीं सफलता में विलम्ब देखकर निराश न हो जाय। वास्तव में विलम्ब का कारण है अपनी जानकारी का अनादर करना; क्योंकि उसके बाद का सारा काम तो भगवान् की अहैतु की कृपा से अपने-आप पहले से ही बना रहता है। उसके लिये प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। जानकारी के आदर का परिणाम है--

पूर्ण वैराग्य। वैराग्य की पूर्णता में ही योग तथा बोध है। अबोध और भोग का हेतु राग ही है।

ध्यान रहे कि योग, बोध और प्रेम क्रिया साध्य नहीं है। किसी क्रिया के फल रूप में इनकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि क्रिया का जन्म कर्त्ता – भाव से होता है। कर्त्ता – भाव शरीर में मैं-भाव होने पर ही होता है। एवं शरीर में मैं-भाव अविचार के कारण होता है। जहाँ अविचार है अर्थात् विवेक का आदर नहीं है--वहाँ योग, बोध, प्रेम कैसे हो सकते हैं?

यह निश्चित नियम है कि प्राप्त विवेक का आदर करने पर अर्थात् उसका सदुपयोग करने पर जब इन्द्रिय जनित ज्ञान पर बुद्धि की विजय हो जाती है, तब अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है। उस समय शरीर में अहंता-ममता न रहने के कारण कर्तापन और भोक्तापन भी नहीं रहता। सब प्रकार के राग और वासनाओं का समूल नाश हो जाता है। तब वृत्ति निरोध रूप योग अपने-आप सिद्ध हो जाता है। उसके होने पर विकल्प रहित बोध अपने-आप प्रकट होता है, यह नियम है। ऐसी परिस्थिति में भगवत्–प्रेम की लालसा जाग्रत् होती है और हृदय में प्रेम की गंगा लहराने लगती है। जिसका कभी अन्त नहीं होता है – नित्य नया प्रेम बना रहता है।

साधक का पुरुषार्थ यहीं तक है कि वह अपने अन्तः करण में सब प्रकार की भोग वासनाओं का अन्त करके उसे शुद्ध कर ले, उसके पश्चात उसे कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता। अपने प्रेमास्पद का स्मरण या चिन्तन कर्म नहीं है; क्योंकि वह अपने-आप होता है। उसमें कर्तापन का अस्तित्व नहीं रहता। नाम-जप और स्मरण में यही अन्तर है कि जप तो प्रेम की उपलब्धि के लिये कर्ता-भावपूर्व क किया जाता है। उसमें क्रिया की अधिकता और भाव की न्यूनता रहती है; किंतु स्मरण-चिन्तन तो प्रेमास्पद के विरह में अपने-आप होता रहता है।

जो ध्यान या चिन्तन भगवान् के गुण, नाम, लीला आदि का महत्त्व सुनकर किसी प्रकार के रूप, आकृति या भाव के धारणा पूर्वक कर्ता पन के सहित किया जाता है, वह अन्तःकरण की शुद्धि का हेतु और भगवान् में प्रेम-विश्वास उत्पन्न करने वाला है, इसी लिये वह भक्ति का ही एक अंग है; परंतु उसके साथ जबतक कर्तापन का सम्बन्ध है, तबतक उसमें व्यवधान अनिवार्य है। वह सर्वदा निरन्तर नहीं हो सकता।

जो स्मरण-चिन्तन प्रेमास्पद के वियोग में – उनकी विरह-व्याकुलता में होता है – उस में व्यवधान नहीं होता; क्योंकि उसमें कर्तापन और भोक्तापन का अस्तित्व नहीं रहता, एकमात्र प्रेम-ही-प्रेम रह जाता है। उस समय साधक का शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये वह क्रिया साध्य नहीं है।

जो कुछ कर्तापन के भाव से किया है, उसका फल तत्काल नहीं मिलता, कालान्तर में मिलता है। भगवत्-प्राप्ति और उनका प्रेम वर्तमान में मिलता है। इसमें कालान्तर की अपेक्षा नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह प्रयत्न साध्य नहीं है।

जब साधक अपने-आपको सर्वथा भगवान् के समर्पण करके उन्हीं पर निर्भर हो जाता है, तब उसका कर्तापन सर्वथा गल जाता है। करने की वासना का अन्त हो जाता है। उसकी अभिलाषा भगवान् की अहैतु की कृपा से अपने-आप पूर्ण होती है। हृदय प्रेम से छका रहता है। करने के द्वारा जो कुछ मिला है, उसके राग की निवृत्ति हो जाती है और जो वर्तमान में सर्वदा-सर्वत्र विद्यमान है, उसपर विश्वास करने से चित्त शुद्ध हो जाता है।

जो सचमुच नित्य-वर्तमान है, वह (परमेश्वर) अपने को, और जो सदा-सर्वदा नहीं है--उसको भी प्रकाशित करता है। पर 'है' (परमात्मा) की प्रीति, जो वास्तव में नहीं है, उसकी निवृत्ति में और जो है उस (परमात्मा) की प्राप्तिमें समर्थ है। इसलिये भगवत्-प्रीतिका महत्त्व भगवान्से भी अधिक है। अतएव भगवद्विश्वासी साधकोंको भगवत्प्रीति और विश्वास सर्वदा सुरक्षित रखना चाहिये।

## ९

किसी भी कर्म के फल रूप में प्राप्त परिस्थिति और भोग समुदाय में राग नहीं करना चाहिये; क्योंकि जिस प्राप्त पदार्थ में मनुष्य का राग होता है, उसी जाति के अप्राप्त पदार्थों का चिन्तन होता है तथा उनके संस्कार अंकित होकर वासना का रूप धारण कर लेते हैं। उससे अन्तःकरण मलिन होता रहता है।

राग अर्थात् आसक्ति, द्वेष अर्थात् वैर-भाव-इन दोनों का समूल नाश करने के लिये साधक को चाहिये कि इन्द्रिय–ज्ञान के अनुसार अनुकूल और प्रतिकूल प्रतीत होने वाली परिस्थितियों की प्राप्ति में जो सुख और दुःख होता है, उनमें किसी दूसरे को कारण न समझे। दूसरे व्यक्तियों, क्षुद्र, जीवों को या पदार्थों को सुख-दुःख का कारण मान लेने पर उनमें आसक्ति और वैर-भाव होना अनिवार्य है। जबतक मनुष्य का किसी व्यक्ति में या पदार्थ में राग-द्वेषा विद्यमान रहता है, तबतक चित्त शुद्ध नहीं होता। उसके मन में अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ चिन्तन होता रहता है।

वास्तव में यदि देखा जाय तो सुख-दुःख में दूसरे व्यक्ति, प्राणी या पदार्थ हेतु हैं भी नहीं। कोई पूछे कि कौन हेतु है, तो इस विषय की मान्यता तीन भागों में बाँटी जा सकती है।

(१) यह कि पूर्वकृत अच्छे और बुरे कर्मों के फल रूप में ही समस्त प्राणियों को अनुकूल और प्रतिकूल भोग प्राप्त होते हैं। दूसरा कोई कारण नहीं है। यह मान्यता तो उन मनुष्यों की होती है, जो देहाभिमानी और कर्मा सक्त हैं। अपनी इस मान्यता के अनुसार उनका बुरे कामों को छोड़कर, अच्छे कामों में प्रवृत्त होने का निश्चय दृढ़ होता है, जो उनको

उन्नतिशील बनाने में सहायक होता है। इसलिये यह मान्यता भी एक प्रकार से अच्छी है।

(२) सुख और दुःख की प्राप्ति का कारण एकमात्र मनुष्य का प्रमाद अर्थात् प्राप्त-विवेक का आदर न करना यानी उसका सदुपयोग न करना ही है, दूसरा कुछ नहीं; क्योंकि विचारवान् साधक को जब किसी प्रकार की शरीरि क या मानसिक प्रतिकूलता प्राप्त होती है, तब वह उससे दुखी नहीं होता, बल्कि यह समझकर प्रसन्ना रहता है कि प्रतिकूलता ही मनुष्य के जीवन को उन्नात करनेवाली है। जिसके जीवन में प्रतिकूलताका अनुभव नहीं होता, उसकी उन्नति की ओर प्रगति नहीं होती। यदि प्रतिकूल परिस्थिति पैदा न होती तो शरीर और संसार से अहंता-ममता का दूर होना प्रायः सम्भव ही नहीं था। अतः प्रतिकूल परिस्थिति तो शरीर और संसार से अलग करने वाली है। जब शरीर में अहंभाव और उससे सम्बन्धित जगत्में मेरापन न रहे, तब कोई भी परिस्थिति मनुष्य को सुख या दुःख देने वाली हो ही नहीं सकती। यह मान्यता उन विचारशील साधकों को होती है, जो एकमात्र प्रमाद को ही अहंता-ममताका हेतु समझकर अपने प्राप्त विवेक का आदर करने वाले हैं।

(३) तीसरी मान्यता हर एक परिस्थित में सर्वत्र और सर्वदा भगवान् की कृपा का दर्शन करने वाले, भगवान् पर निर्भर परम विश्वासी भक्तों की होती है। वे अनुकूल परिस्थिति में तो इस भावना से भगवान् की अहैतु की कृपा का अनुभव करके उनके प्रेम में विभोर हो जाते हैं कि वे परम सुहृद् प्रभु मेरी हर एक आवश्यकता का कितना अधिक ध्यान रखते हैं। मुझ-जैसे अधम प्राणी पर भगवान् की कितनी दया है, जिन्होंने अपनी सेवा कराकर मुझे अपना प्रेम प्रदान करने के लिये यह सामग्री और इनके उपयोग की योग्यता दी है। एवं प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर वे यह सोचते हैं कि इस शरीर में और संसार में जो मैंने प्रमादवश सुख मान लिया था, जिसके कारण मैं अपने परम सुहृद् प्रभु से विमुख हो रहा था, उस शरीर और संसार से विमुख करके अपनी ओर आकर्षित करने के लिये भगवान्ने कृपापूर्वक यह परिस्थिति दी है। भगवान् की कैसी अनुपम दया है कि वे अपने दास को हर समय हर एक प्रकार से अपना प्रेम प्रदान करने के लिये उत्सुक रहते हैं। इस प्रकार प्रभु की कृपा का अनुभव करता हुआ उनके प्रेम में विभोर होता रहता है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की ही मान्यता अपने-अपने अधिका के अनुसार प्राणी को उन्नतिशीनल बनाती है। इसके विपरीत जो दूसरे प्राणियों को या पदार्थों को अपने सुख और दुःख का हेतु मानता है, उसका सब प्रकार से पतन होता है; क्योंकि जिस प्राणी या पदार्थ को मनुष्य अपने सुख में हेतु मान लेता है, उसमें उसका राग हो जाता है और जिसको दुःख का हेतु मानता है, उससे द्वेष हो जाता है। ये राग और द्वेष मनुष्य को उन प्राणी – पदार्थों के चिन्तन में लगाकर मन को मलिन और विक्षिप्त कर देते

हैं। अतः उसको किसी भी समय शान्ति नहीं मिलती।

जब साधक का किसी प्राणी में वैर भाव-द्वेष नहीं रहता, तब सब में समान भाव से प्रेम हो जाता है। आसक्ति और स्वार्थ को लेकर जो प्राणियों में प्रियता होती है, वह प्रेम नहीं है, वह तो मोह है। अतः वह प्रियता, जिस-जिस व्यक्ति या पदार्थ में ममता होती है, वहीं होती है। विभु नहीं होती। उसमें द्वेष का अभाव नहीं होता। परंतु जो द्वेष का समूल नाश होने पर समभाव से सब में प्रेम होता है, वह विशुद्ध प्रेम है। उसमें किसी से कुछ लेना नहीं रहता। अतः वह प्रेम देखने में प्राणियों के साथ होने पर भी वास्तव में भगवान् में ही है।

शास्त्रों में जो सुख-दुःख को समान समझने की बात कही जाती है, उसका भी यही भाव मालूम होता है कि दोनों का एक ही नतीजा हो। परिणाम में भेद न हो। उपर्युक्त प्रकार से जब साधक सुख-दुःख का कारण दूसरे को न मान कर प्रारब्ध को या प्रमाद को अथवा भगवान् की अहैतु की कृपा को मान लेता है, तब उसका दोनों प्रकार की परिस्थितियों में भेदभाव नहीं रहता। उसके लिये अनुकूल परिस्थिति के समान ही प्रतिकूल परिस्थिति भी प्रसन्नता और विकास का कारण बन जाती है। साधक भोग से योग की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर तथा राग-द्वेष से त्याग और प्रेम की ओर आकर्षित हो जाता है।

उपर्युक्त भावना से सुख 'उदार' बनाने में और दुःख 'विरक्त' बनाने में समर्थ है, जिससे प्राणी का हित ही होता है। जो प्राणी सुख को प्राप्त होकर उसके उपभोग में लोलुप और दुःख आने पर भयभीत हो जाता है, वह बेचार सुख-दुःख का सदुपयोग नहीं कर पाता, जिसका न करना वास्तव में अवनति का मूल है।

सुख-दुःख में साधन-बुद्धि करके उनका उपर्युक्त प्रकार से उपयोग करना साधक के लिये परम आवश्यक है। सुख-दुःख के उपभोगयुक्त जीवन को जीवन मान लेना भूल है। जीवन तो वास्तव में वह है, जिसका अनुभव सुख-दुःख से रहित होने पर होता है।

## १०

साधक को चाहिये कि वह पर-दोष-दर्शन को सर्वथा त्याग दे; क्योंकि दोष करने की अपेक्षा दोषों का चिन्तन अधिक पतन करने वाला है। दोष को क्रिया रूप में करने में तो बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, परंतु दोषों के चिन्तन में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं प्रतीत होती। इस कारण उनके चिन्तन में रस लेने की आदत स्वाभाविक सी हो जाती है।

इस आदत का त्याग करने के लिये साधक को अपने दोष देखने की आदत डालनी चाहिये। जितनी गहराई से वह अपने दोष देखेगा, उतना ही उसको अपने दोषों का अधिक भास होगा। एवं जैसे-जैसे वह उन दोषों को सचमुच दोष मानता जायगा--वे उससे दूर

होते चले जाएँगे। मनुष्य यह समझकर भी मुझमें अमुक दोष है, किसी-न-किसी अंश में उसमें रस लेता रहता है और उसमें गुण-बुद्धि कर लेता है। यही कारण है कि अपने में जिस दोषको मनुष्य स्वीकार करता है, उसे भी छोड़ता नहीं। उससे चिपका रहता है। अतः साधक को चाहिये कि अपने दोष को गहराई से देखे और विचारपूर्वक उसे छोड़ने का दृढ़ संकल्प करे। जो भूल अपनी समझ में आ जाय, उसको पुनः न दोहरावे। ऐसा करने से साधक का जीवन बहुत शीघ्र परिवर्तित हो सकता है। अपने दोषों को देखकर उनका त्याग कर देना ही लाभप्रद है। उनका चिन्तन करना नहीं; क्योंकि चिन्तन करनेसे उनका राग नहीं मिटता। मनुष्य का जीवन सर्वथा दोषयुक्त नहीं होता, उसमें गुण भी रहते ही हैं; परंतु उन गुणों में जो अभिमान है, वह भी दोष ही है। अतः साधक को गुणों के संग को और अभिमान को भी त्याग देना चाहिये। दोषों की उत्पत्ति न हो और गुणों का अभिमान न हो, यही वास्तविक निर्दोषता है।

## ११

प्राणी के अन्तःकरण में जिन दोषों के कारण अशुद्धि या मलिनता है, वे दोष कहीं बाहर से आये हुए नहीं हैं, स्वयं उसी के बनाये हुए हैं। अतः उनको निकालकर अन्तःकरण को शुद्ध बनाने में यह सर्वथा स्वतन्त्र है।

मनुष्य सोचता है और कहता है कि 'मेरे प्रारब्ध ही कुछ ऐसे हैं जो मुझे भगवान् की ओर नहीं लगने देते, मुझपर भगवान् की कृपा नहीं है। आजकल समय बहुत खराब है। सत्संग नहीं है। आस पास का वातावरण अच्छा नहीं है। शरीर ठीक नहीं रहता। परिवार का सहयोग नहीं है। अच्छा गुरु नही मिला। परिस्थिति अनुकूल नहीं है। एकान्त नहीं मिलता। समय नहीं मिलता आदि' इसी प्रकार के अनेक कारणों को वह ढूँढ़ लेता है, जो उसे अपने आध्यात्मिक विकास में रुकावट डालने वाले प्रतीत होते हैं। और इस मिथ्या धारणा से या तो वह अपनी उन्नति से निराश हो जाता है या इस प्रकार का संतोष कर लेता है कि भगवान् की जैसी इच्छा, वे जब कृपा करेंगे, तभी उन्नति होगी। परंतु वह अपनी असावधानी, भूल की ओर नहीं देखता।

साधक को सोचना चाहिये कि जिन महापुरुषों ने भगवान् की इच्छा पर अपने को छोड़ दिया है, उनके जीवन में क्या कभी निरुत्साह और निराशा आती है? क्या वे किसी भी परिस्थिति में भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति या पदार्थ को अपना मानते हैं? उनके मन में क्या किसी प्रकार की भोग-वासना शेष रहती है? यदि नहीं, तो फिर अपने बनाये हुए दोषों के रहते भगवान् की इच्छा का बहाना करके अपने मन में झूठा संतोष मानना या आध्यात्मिक उन्नति में दूसरे व्यक्ति, परिस्थिति आदि को बाधक समझना अपने-आपको और दूसरों को धोखा देने के अतिरिक्त और क्या है?

यह सोचकर साधक को यह निश्चय करना चाहिये कि भगवान् की प्रकृति जो कि जगत्-माता है, उसका विधान सदैव हितकर ही

होता है, वह किसी के विकास में रुकावट नहीं डालती, वरं सहायता ही करती रहती है। कोई भी व्यक्ति या समाज किसी के साधन में बाधा नहीं डाल सकता। कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिसका सदुपयोग करने पर साधन में सहायक न हो। भगवान् की कृपा शक्ति तो सदैव सब प्राणियों के हित में लगी हुई है। जब कभी मनुष्य उसके सम्मुख हो जाता है, उसी समय उसका हृदय भगवान् की कृपासे भर जाता है।

साधक का बनाया हुआ यह महान् दोष है कि जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, जो किसी प्रकार भी अपने नहीं हो सकते, उन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के संघात रूप शरीर को और उससे सम्बन्धित पदार्थों को अपना मान लेता है तथा जिनपर किसी प्रकार भी विश्वास नहीं करना चाहिये, उनपर विश्वास कर लेता है। एवं जिन परम सुहृद् परमेश्वर पर विश्वास करना चाहिए, जो सब प्रकार से विश्वास के योग्य है और सजातीय होने के नाते जो सचमुच सब प्रकार से अपने है उन पर न तो विश्वास करता है न उन्हें अपना मानता है और न वर्तमान में उनकी आवश्यकता का ही अनुभव करता है। यही एक ऐसा महान् दोष है जिससे सब प्रकार के बड़े-से-बड़े दोष उत्पन्न हुए हैं और होते रहते हैं।

यह दोष मनुष्य का अपना बनाया हुआ है। इसलिये स्वयं ही इसे दूर करना पड़ेगा। अपने बनाये हुए दोष को दूर करने में कोई भी साधक असमर्थ नहीं हो सकता। इसपर भी यदि उसे अपनी कमजोरी का भना हो, यदि वह अपने को सचमुच असमर्थ समझता हो तो उसे निर्बलता के दुःख से दुखी होकर उस सर्व समर्थ प्रभु की शरण में जाना चाहिये जो निर्बलों के बल हैं, पतितों को पवित्र बनाने वाले और दीनबन्धु हैं। निर्बलता के दुःख से दुखी साधक को उस निर्बलता का नाश होने से पहले चैन कैसे पड़ सकता है?

दूसरों की आलोचना करते समय प्राणी के मन में ऐसे भाव उठा करते हैं कि 'अमुक आचार्य ने अमुक भूल की, जिससे उनके अनुयायियों का विकास नहीं हुआ। अमुक नेता में यह गलती है, अमुक समाज में यह दोष है, अमुक साधक यह भूल करता है। अमूक समुदाय के लोग इस अंश में भूल करते हैं। हिंदुओं की अमुक गलती है। अंग्रेजों की अमुक भूल है। मुसलमानों ने अमुक गलती की।' इस प्रकार वह सब के दोषों का बड़ी चतुराई के साथ निरीक्षण करता है। उस समय सारे जगत की बुद्धि एकत्र होकर उसमें आ जाती है। पर वही मनुष्य अपनी उस बुद्धि को अपने दोषों के देखने में नहीं लगाता। यदि वह दूसरों के उन दोषों को देखना छोड़ दे, जो वास्तव में उन लोगों में हैं कि नहीं, कहा नहीं जा सकता, तथा उस स्वभाव को छोड़कर अपने दोषों को देखने में अपनी बुद्धि का प्रयोग करे और जो दोष समझ में आ जायँ, उनको छोड़ता चला जाय तो शीघ्र ही उसका चित्त शुद्ध हो सकता है। साधक को चाहिये जो अपना नहीं है, जो विश्वास योग्य नहीं है, उसको अपना मानना, उसपर विश्वास

करना छोड़ दे। जो अपने को अनेक बार धोखा दे चुके हैं, उनका फिर कभी विश्वास न करे। कभी किसी भी परिस्थिति में उनको अपना न समझे। एवं जो प्रभु अनादि काल से अपने साथी हैं, जो सदा ही उसके हित में लगे हैं, जिनके साथ साधक का नित्य सम्बन्ध है, जिन्होंने कभी किसी को धोखा नहीं दिया, वेद-शास्त्र और सन्त लोग तथा अपना अनुभव भी जिसका साक्षी है, उन परम सुहृद् प्रभु पर विकल्प रहित विश्वास करके उनको अपना मान ले – यही साधक का परम पुरुषार्थ है।

जो दोष अपने बनाये हुए हैं, उनको कोई दूसरा मिटा देगा, ऐसी आशा करना तथा उनको मिटाने से निराश होना--ये दोनों ही बातें उचित नहीं हैं; क्योंकि ये स्वाभाविक नियम के विरुद्ध हैं। लोग कहते हैं कि 'भगवान् न्यायकारी हैं' परंतु साधक को तो यही समझना चाहिये कि 'वे तो सदैव दया करनेवाले हैं।' यही कारण है कि वे अपनी दी हुई शक्तियों का दुरुपयोग करनेवालेको दण्ड नहीं देते। यदि न्याय करते तो झूठ बोलने वालों की जीभ उसी समय काट डालते। चोरी करने वालों के हाथ काट डालते; परंतु ऐसा नहीं करते। वे तो सदा प्राणी पर कृपा करते हैं और इस बात के लिये उत्सुक रहते हैं कि यह किसी प्रकार मुझपर विश्वास करके एक बार ऐसा मान ले कि 'मैं तेरा हूँ।'

जिनका चरित्र सुननेमात्र से काम का सर्वथा नाश हो जाता है, जिनके कृपा-कटाक्ष से प्रेम प्राप्त होता है, जिनकी चरण-रज के लिये उद्धव सरीखे तत्त्वेत्ता भी चाह करते हैं--उन गोपीजनों के चरित्र से भी साधक को यही शिक्षा मिलती है कि एकमात्र प्रभु को ही अपना मानना चाहिए, क्योंकि वे एक मात्र श्यामसुन्दर को ही अपना मानती थीं। उन्होंने अपने-आपको भगवान् के समर्पित कर दिया था। उनका मन भगवान् का मन हो गया था। उनकी आँखें भगवान् की हो गयी थीं। उनकी वाणी, प्राण और शरीर सब भगवान् के थे। वे अपने सम्बन्धियों और गायों को तथा समस्त पदार्थों को भगवान् का ही समझती थीं। वे जो कुछ भी करती थीं, भगवान् की प्रसन्नता के लिये, भगवान् को सुख पहुँचाने के लिये ही करती थीं। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में भगवान् की प्रसन्नता का उद्देश्य रहता था।

अतएव साधक को चाहिये कि वह जो कुछ करे, अपने प्रेमास्पद की प्रसन्नता के लिये ही करे। और तो क्या, भोजन करे तो इसीलिये कि मेरे न खाने से मेरे प्रेमास्पद को कष्ट न हो जाय। भूखा रहे तो इसीलिये कि आज मेरे प्रेमास्पद इसी में प्रसन्न हैं, इसलिये उन्होंने मुझे भोजन करने का मौका नहीं दिया। इसी प्रकार हर एक प्रवृत्ति में भगवान् की प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ सदा उनसे प्रेम बढ़ाता रहे या उनकी प्रेम प्राप्ति की बाट जोहता रहे।

साधक को अपना जीवन सर्वथा भगवान् के समर्पण कर देना चाहिये। उसकी ऐसी सद्भावना होनी चाहिये कि 'मेरा जीवन भगवान् के लिये है। मुझे उनका न होकर एक क्षण भी नहीं जीना है। भगवान् मुझे अपना मानें

चाहे न मानें, पर मैं कभी किसी दूसरे का होकर नहीं रहूँगा।'

यदि साधक के मन में यह भाव आये कि भगवान् को मैं जानता नहीं, मैंने उनको कभी देखा नहीं तो बिना देखे और बिना जानकारी के उनपर कैसे विश्वास किया जाय और उनको कैसे अपना माना जाय तो अपने मन को समझाना चाहिये कि तू जिन जिन पर विश्वास करता है और जिनको अपना मानता है क्या उन सब को जानता है? विचार करने पर मालूम होगा कि नहीं जानता-तो भी विश्वास करता है और उनको अपना मानता है। जिनको भलीभाँति जान लेने के बाद, न तो वे विश्वास करने योग्य हैं न वे किसी प्रकार भी अपने हैं, उनमें जो विश्वास तथा अपनापन है, वह अभी तक है जबतक उनकी वास्तविकता का ज्ञान नहीं है; परंतु भगवान् ऐसे नहीं है। उनको अपना मानने वाला और उनपर विश्वास करने वाला मनुष्य जैसे-जैसे उनकी महिमा को जानता है, वैसे-ही-वैसे उसका विश्वास और प्रेम नित्य नया बढ़ता जाता है; क्योंकि वे विश्वास करने योग्य हैं और सचमुच अपने हैं।

जिस साधक का ऐसा निश्चय हो कि 'मैं तो पहले जानकर ही मानूँगा, बिना जाने नहीं मानूँगा' तो उसे चाहिये कि जिन जिन पर उसने बिना जाने विश्वास कर लिया है और उन्हें अपना मान रक्खा है, उन सब की मान्यता को सर्वथा निकाल दे। किसी को भी बिना जाने न माने। ऐसा करने से भी उसका अपना बनाया हुआ दोष नाश होकर चित्त शुद्ध हो जायगा। तब उस प्राप्त करने योग्य तत्त्व को जानने की सामर्थ्य उसमें आ जायगी और वह उसे पहले जानकर पीछे मान लेगा। इसमें भी कोई आपत्ति नहीं हैं। यह भी उनको पाने का एक उपाय है।

जिन्हें मनुष्य अपना मान लेता है और जिनपर विश्वास करता है, क्या उनमें स्वाभाविक प्रेम नहीं होता? क्या उनमें प्रेम करने के लिये मनुष्य को पाठ पढ़ना पड़ता है? क्या किसी प्रकार का कोई अनुष्ठान करना पड़ता है या कहीं एकान्त में आसन लगाकर चिन्तन करना पड़ता है? क्या यह सब का अनुभव नहीं है कि ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता, बल्कि अपने-आप अनायास ही प्रत्येक अवस्था में स्वतः प्रेम हो जाता है।

साधक को चाहिये कि प्रतिदिन शयन के पूर्व भलीभाँति अपने सारे दिन के जीवन का प्राप्त विवेक के द्वारा निरीक्षण करे अर्थात् किन किन दोषों का किन-किन कारणों से कितनी बार दिन भर में मुझपर आक्रमण हुआ। उस निरीक्षण से जो असावधानी समझमें आये, उसे त्यागने का दृढ़ संकल्प करे और उस दोष के विपरीत भाव की अपने में स्थापना करें। यदि मिथ्या बोल दिया हो तो जिस प्रलोभन से वह दोष हुआ है उसकी तुलना सत्य भाषण की महिमा के साथ करके अपने मन को समझाये ताकि पुनः वह किसी प्रकार के प्रलोभन से आकर्षित न हो तथा यह संकल्प करे कि 'मैं मिथ्यावादी नहीं हूँ। अब कभी मैं झूठ नहीं बोलूँगा।' इसी प्रकार काम, क्रोध आदि हर एक दोष के विषय में समझना चाहिये।

प्रातः उठने के पश्चात् जिस-जिस कार्य में प्रवृत्त हो, उससे पूर्व विवेक पूर्वक भलीभाँति निर्णय कर ले कि मेरे द्वारा जो कार्य होने जा रहा है, उससे किसी का अहित या किसी के अधिकार का अपहरण तो नहीं हो रहा है। जिन कार्यों में दूसरों का हित, उनके अधिकार की रक्षा निहित हो, उन कार्यों से कर्त्ता से शुद्धि आती है और परस्पर में स्नेह की एकता सुदृढ़ होती जाती है। हृदय प्रीति से भर जाता है। साधक किसी का ऋणी नहीं रहता। ऐसा होने पर साधक के जीवन में स्वाधीनता आ जाती है। उसे प्रेम, विवेक और योग की प्राप्ति होती है, जो मानव-जीवन का लक्ष्य हैं; क्योंकि प्रेम से भक्ति, विवेक से मुक्ति, योग से शक्ति स्वतः प्राप्त होती है।

यदि सम्भव हो तो सात दिन में एक बार, जिनसे स्वभाव मिलता हो-ऐसे सत्संगी भाइयों के साथ बैठकर आपस में विचार विनिमय करे और उनके सामने अपने दोषों को बिना किसी संकोच तथा छिपाव के स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दे तथा उनको हटाने के लिये उनसे परामर्श ले। ऐसा करने से साधक के दोष शीघ्र ही मिट सकते हैं।

## १२

जबतक मनुष्य का चित्त शुद्ध नहीं होता, तबतक वह जिसका चिन्तन करना चाहता है, उसका नही कर पाता और जिसका नहीं करना चाहता, उसका चिन्तन होता रहता है। जो काम उसे करना चाहिये, उसे नहीं करता और जो नहीं करना चाहिये, उसे करता रहता है।

इसलिये साधक को चाहिये कि जिस समय जो काम उसे कर्त्तव्य रूप में प्राप्त हो, उसके करने में अपनी विवेक शक्ति और क्रिया शक्ति को पूर्ण रूप से लगाकर पूर्ण धैय, उत्साह और सावधानी के साथ जिस ढंग से उसे करना चाहिये, वैसे ही करे। उसके करन में न तो आलस्य करे और न जल्दबाजी करे। हर एक प्रवृत्ति के आरम्भ में यह विचार कर ले कि जो काम मैं करना चाहता हूँ, उससे किसी के अधिकार का अपहरण तो नहीं होता है? वह किसी के अहित का कारण तो नहीं है? यह सोचकर अपने प्रभु की सेवा के नाते उस काम को कुशलतापूर्वक पूरा करे। ऐसा कोई काम न करे जिससे भगवान् का सम्बन्ध न हो, जो भगवान् की आज्ञा और प्रेरणा के विरुद्ध हो।

प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति का आना अनिवार्य है। अतः जो काम कर्त्तव्य रूप से प्राप्त हो, उसे उपर्युक्त प्रकार से पूरा कर देने पर निवृत्ति काल में साधक के चित्त की स्थिरता और अपने प्रेमास्पद के प्रेम की लालसा की जागृति अवश्य होती है। अनावश्य संकल्प और व्यर्थ चिन्तन अपने आप शान्त हो जाते हैं।

कोई भी काम छोटा-बड़ा नहीं है। जिस काम को लोग साधारण और छोटा कहते हैं, वह कुशलतापूर्वक ठीक करे--उसे, जिस भाव से करना चाहिये, वैसे किया जाने पर वह साधक के लिये किसी भी उत्तम-से-उत्तम माने

जाने वाले काम से कम नहीं रहता; क्योंकि कर्म करने की आवश्यकता किसी प्रकार के फल की कामना के लिये नहीं, किंतु कर्ता में जो क्रिया शक्ति का वेग है, उसे पूरा करने के लिये है।

उक्त भाव से कर्म करने पर कर्तापन और भोक्ता पन अपने-आप विलीन हो जाते हैं। जो उद्देश्य बड़े-बड़े साधनों से कठिनाई के साथ बहुत काल में पूरा नहीं होता, उसकी सिद्धि अनायास थोड़े ही समय में अपने-आप हो जाती है।

कर्म के रहस्य को न जानने के कारण साधारण मनुष्य, जो काम जिस समय करना चाहिये, उसे उस समय नहीं करते एवं जब करते हैं, तब उसे भार रूप समझकर, जैसे-तैसे पूरा कर देने के भाव से करते हैं। पूरी शक्ति लगाकर नहीं करते। अतः उनका राग नष्ट नहीं होता। इससे जिस काल में वे कर्म से निवृत्त होते हैं, उस काल में भी उनके अन्तः करण में नाना प्रकार के व्यर्थ संकल्पों की स्फुरणा होती रहती है; क्योंकि उनमें क्रिया शक्ति का वेग बना रहता है अथवा वह काल आलस्य या निद्रा में चला जाता है।

मनुष्य-जीवन का समय सब-का-सब अमूल्य है, अतः उसका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये। उसमें भी जो निवृत्ति काल है, जिस समय मनुष्य के सामने कोई करने योग्य कर्म नहीं रहता, वह समय तो खास तौर पर अपने परम प्रेमास्पद प्रभु का स्मरण चिन्तन करते हुए उनके प्रेम में डूबे रहने का ही है। ऐसे मौके में यदि साधक के चित्त में अनावश्यक संकल्प और व्यर्थ चिन्तन होता रहे या तमोगुण की वृद्धि हो कर वह समय जड़ता में व्यतीत हो जाय तो इससे बढ़कर दुःख देने वाली भूल क्या हो सकती है? इसलिए साधक को चाहिये कि उसे जो कर्म कर्तव्य रूप से प्राप्त हो, उसको पहले बताये हुए प्रकार के भगवान् के नाते, उनकी आज्ञा और प्रेरणा के अनुसार उनकी दी हुई शक्ति का कुशलतापूर्वक प्रयोग करके पूरा करता जाय। जैसे-जैसे साधक प्राप्त-कर्त्तव्य को ठीक-ठीक पूरा करता जाता है, वैसे-ही-वैसे उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ निवृत्ति में बदल जाती हैं।

जो काम जिस प्रकार करना चाहिये, उस प्रकार धैर्य और उत्साहपूर्वक,सावधानी से न किया जाने पर, उसका परिणाम स्वास्थ्य के लिये तथा समाज और देश के लिये भी हितकर नहीं होता। इस दृष्टि से भी साधक को हर एक काम, चाहे वह खान-पान-सम्बन्धी साधारण हो, चाहे परिवार, समाज, देश से सम्बन्ध रखने वाला हो ठीक-ठीक करना चाहिये।

जिस समय साधक बिना कर्म किये रह सके। अर्थात् उसे न तो कोई काम कर्त्तव्य रूप से प्राप्त हो और न किसी काम को करने के लिए किसी प्रकार की क्रिया शक्ति का वेग हो, उस समय कर्म का करना आवश्य नहीं है। कर्म करने की बात तो उसी समय के लिये कही जाती है, जब साधक को कर्म करना आवश्यक हो जाय।

सही प्रवृत्ति होने पर सहज निवृत्ति स्वतः प्राप्त होती है। सहज निवृत्ति ज्यों-ज्यों

स्थायी और स्थिर होती जाती है, त्यों-त्यों मन में स्थिरता, हृदय में प्रीति और विचार का उदय अपने-आप होता जाता है, जो कि मानव की माँग हैं।

## १३

पहले यह बात कही गयी थी कि कर्त्तव्य रूप से प्राप्त कार्य को धैर्य और उत्साहपूर्वक पूरा कर देने से करने की वासना मिटकर स्वतः ही सहज निवृत्ति प्राप्त होती है और साधक का चित्त शुद्ध होता चला जाता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि मनुष्य का हरे क कार्य, उसकी हरे क प्रवृत्ति, शुद्ध और सही अर्थात् जैसी होनी चाहिये, ठीक वैसी कैसे हो? विचार करने पर मालूम होगा, हरे क प्रवृत्ति के पहले कर्त्ताकि मन में उसमें प्रवृत्त होने का संकल्प उत्पन्न होता है। अतः प्रवृत्ति की शुद्धि के लिये संकल्प की शुद्धि अनिवार्य है।

बुरे संकल्प और भावना का त्याग करके, अच्छे संकल्प और अच्छी भावना को स्वीकार करने से संकल्प की शुद्धि होती है। बुरे संकल्प और बुरी भावना उसको कहते हैं, जिसमें किसी का अहित निहित हो तथा अच्छे संकल्प और अच्छी भावना वे हैं, जिनमें हित भरा हो। जिसमें दूसरों का हित होता है, उसी में साधक का भी हित होता है और जिसमें दूसरे का अहित होता है, उसमें अपना भी अहित ही होता है। दूसरे के साथ की हुई भलाई ही अपने प्रति भलाई होती है। दूसरे के साथ की हुई बुराई ही अपने प्रति बुराई होती है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है, तथापि मनुष्य दूसरे का अहित करके अपना हित चाहता है, यह बड़ी भारी भूल है।

संकल्प की शुद्धि के लिये वेदों में ईश्वर से प्रार्थना करने का प्रकार बताया गया है। इसके लिये 'शिव संकल्प' नाम का एक प्रकरण शुक्ल यजुर्वेद में आता है--ऐसा सुना है।

शुभ संकल्पों का चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इससे चित्त की शुद्धि सुगमता से हो जाती है। इसलिये साधक को चाहिये कि यदि संकल्प करना ही हो, संकल्प किये बिना मन न माने तो शुभ संकल्प ही करना चाहिये। अशुभ संकल्प कभी नहीं करना चाहिये।

यदि मन में ऐसी शंका उठे कि क्या चित्त शुद्ध होने के पहले शुभ संकल्पों का करना साधक के वश की बात है? क्या वह इसमें स्वाधीन है? तो यों समझना चाहिये कि किसी का भी चित्त पूर्णरूप से अशुद्ध नहीं होता। उसमें अशुद्धि के साथ-साथ शुद्धि का अंश भी अवश्य रहता है। उसी के प्रभाव से मनुष्य के मन में अपना सुधार करने की इच्छा होती है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य बुरे संकल्पों का त्याग करके अच्छे संकल्पों को ग्रहण करने में स्वाधीन है। भगवान् की अहैतु की कृपा से वह इस कार्य में सफल हो सकता है।

संकल्प के अनुसार ही मनुष्य की प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः शुभ संकल्पों से मनुष्य की शुभ कार्यों में प्रवृत्ति होती है और उन कामों को भगवान् के नाते धैर्य और

कुशलतापूर्वक पूरा करने से कर्ता का भगवान् से सम्बन्ध हो जाता है।

यह नियम है कि जिसपर मनुष्य का विश्वास होता है उसी से सम्बन्ध होता है, जिससे सम्बन्ध होता है वही प्रिय होता है, प्रिय का ही स्मरण होता है। जिसका स्मरण होता है, उसी का चिन्तन होता है और यह चिन्तन ही आगे जाकर ध्यान, समाधि बन जाता है। जब साधक समाधि के रस से भी उपरत हो जाता है, उसे भी नहीं चाहता, तब उसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति होती है।

यह बात पहले कही गयी थी कि चिन्तन करने योग्य एकमात्र प्रभु हैं; क्योंकि जो सदा हैं, सब जगह हैं और स्वयं प्रकाश हैं, वे ही चिन्तन द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। शरीर या भोग्यपदार्थ एवं संसार चिन्तन करने योग्य नहीं है; क्योंकि जो सदा सब जगह नहीं है, जो अनित्य और जड़ हैं, उनकी प्राप्ति चिन्तन से नहीं होती। अतः उनका चिन्तन करना व्यर्थ है। भगवान् का चिन्तन ही सार्थक चिन्तन है। अतएव साधका को निरन्तर प्रभु का ही चिन्तन करना चाहिये। प्रभु का चिन्तन करने के लिये उनपर विश्वास करना और उनको अपना मानना आवश्यक है।

जो वास्तव में अपने नहीं है उनको मनुष्य भूल से अपना मान लेता है; माने हुए सम्बन्ध का विच्छेद अवश्य होनेवाला है। अनित्य क्षणभंगुर पदार्थों को जब तक साधक भूल से नित्य और अपना मानता रहता है, तबतक वह अपने सच्चे नित्य सम्बन्धी परम प्रेमास्पद प्रभु को पूर्ण रूप से अपना नहीं मान पाता। इसलिये साधक को चाहिये कि उसका जो शरीर और संसार में 'मैं' पन और अपनापन भूल से माना हुआ है, उसका सर्वतो भाव से परित्याग कर दे। ऐसा करने से उसका अपने नित्य सखा – स्वभाव से ही सुहृद प्रभु में अपनापन स्वतः हो जायगा। जो भाव त्याग से प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करने में मनुष्य सदैव स्वतन्त्र है; क्योंकि त्याग करने में किसी को कोई पराधीनता नहीं है।

योग, बोध और प्रेम किसी क्रिया का फल नहीं है। इनका सम्बन्ध साधक की चित्त-शुद्धि से है। चित्त शुद्ध होने पर योगी को योग, विचार शील को बोध और प्रेमी को प्रेम स्वतः प्राप्त होता है। चित्त की शुद्धि उन महापुरुषों के सत्संग से होती है, जिनका भाव शुद्ध हो गया है, अतः साधक को चाहिये कि सत्पुरुषों का संग प्राप्त करके अपने साधन का निर्माण करे और उनके आज्ञानुसार तत्परता से साधन में लग जाय। अपने प्राणों से भी साधन का महत्त्व अधिक समझे।

सत्पुरुषों का संग मिलने में प्रारब्ध को हेतु नहीं मानना चाहिये। सत्पुरुषों का संग भगवान् की अहैतु की कृपा से मिलता है एवं हरेक परिस्थितियों में प्रभुकी कृपा का दर्शन करने से और उसका आदर करने से भगवान् की कृपा फलीभूत होती है। अतएव साधक को भगवान् की कृपा पर विश्वास करके प्राप्त शक्ति और परिस्थिति के अनुसार सत्पुरुषों के संग की प्राप्ति के लिये सच्ची अभिलाषा के साथ चेष्टा

करते रहना चाहिये। ऐसा करने से उसे सत्संग की प्राप्ति अवश्य हो जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

अशुभ संकल्पों के त्याग से शुभ संकल्पों की पूर्ति स्वतः होने लगती है। उससे उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति हो जाती है। पर जो साधक अपने को शुभ संकल्पों की पूर्ति के सुख में आबद्ध नहीं करते, उन्हें सब संकल्पों की निवृत्ति द्वारा योग के रस की प्राप्ति होती है। जो साधक योग के रस में भी आबद्ध नहीं होते, उन्हें विवेकपूर्वक स०ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। पर जो साधक मोक्ष की भी उपेक्षा कर देता है, उसे परम प्रेम की प्राप्ति होती है, जो वास्तव में पाँचवाँ पुरुषार्थ है, जिसके प्रभा वसे पूर्ण ब्रह्म, सच्चिदानन्दघन अपनी महिमा में नित्य ज्यों-का-त्यों स्थित रहता हुआ ही जीव-भाव को स्वीकार करता है। सम्पूर्ण संसार जिसके एक अंश में है, वह अनन्त ब्रह्म प्रेमियों की गोद में खेलता है।

भगवान् में जिस प्रकार ऐश्वर्य की परकाष्ठा है, उसी प्रकार उनका माधुर्य भी अनन्त है। वे छः दिन की अवस्था में पूतना के प्राण चूसकर ऐश्वर्यकी लीला करते हुए ही, अपनी अहैतु की कृपा से उसे वह गति भी प्रदान कर देते हैं जो कि बड़े-बड़े तपस्वी, योगियों को भी बड़ी कठिनाई से मिलती है। उन्होंने ब्रह्मा के अभिमान का नाश करने के लिये और गौओं तथा गोप-गोपियों के वात्सल्य-प्रेमी लालसा को पूर्ण करने के लिये स्वयं वत्स और वत्सपाल बनकर अपने ऐश्वर्य और माधुर्य को प्रकट करने वाली कैसी अद्‌भुत लीला की!

जो प्रभु अपने प्रेमी के लिये अपनी ऐश्वर्य-शक्ति को भूलकर प्रेमी के वश में हो जाते हैं; अपने प्रेमी को प्रेमास्पद बनाकर स्वयं उसके प्रेमी बन जाते हैं; उस प्रेमी के द्वारा प्रेमपूर्वक दिये हुए पत्र-पुष्प, फल-जल आदि साधारण-से-साधारण पदार्थों के लिये लालायित रहते हैं। उन प्रभु के साथ प्रेम न करके, यह मनुष्य उनसे प्रेम करता है, जो इससे प्रेम करना नहीं चाहते। यह उनको चाहता है, जो इसे नहीं चाहते। उनको अपना मानता है, जो कभी इसके नहीं हुए। इससे बड़ा प्रमाद और क्या होगा?

## १४

पहले भी चित्त-शुद्धि के लिये सुख-भोग की इच्छाओं के त्याग की बात कही गयी थी। अब विचार यह करना है कि सुख-भोग इच्छा उत्पन्न कैसे होती है और इसका त्याग कैसे हो सकता है? विचार करने पर पता लगता है कि इसके त्याग के दो उपाय हैं-एक विचार, दूसरा प्रेम; क्योंकि अविचार के कारण शरीर में अहंभाव हो जाने से और उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों में मेरापन हो जाने के कारण ही भोगेच्छाओं की उत्पत्ति होती है।

यह हरेक मनुष्य के अनुभव की बात है कि जब उसका किसी के प्रति क्षणिक प्रेम भी होता है, तब उस समय वह अनायास प्रसन्नता-पूर्वक अपने प्रेमास्पद को सुख देने की भावना से अपने सुख का त्याग कर देता है। उस समय भोग की स्मृति लुप्त हो जाती है और उसे अपने

प्रेमास्पद को सुख देने में ही रस मिलता है। उस रस के सामने भोग का रस फीका पड़ जाता है। जब साधारण प्रेम की बात है, तब जो प्रेम के तत्त्व को जानने वाले हैं; हरके प्राणी के साथ सदा ही प्रेम करते हैं;प्रेम ही जिनका स्वभाव है; ऐसे परम प्रेमास्पद प्रभु के प्रेम की जिसको लालसा है, उन प्रेमी की सब प्रकार के सुखभोग-सम्बन्धी इच्छाओं का त्याग अपने-आप बिना प्रयत्न के हो जाय, इससे आश्चर्य ही क्या है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेम से भी इच्छाओं का त्याग अनायास ही हो सकता है।

जितनी भी भोग इच्छाएँ हैं, वे सब शरीर से अहं भाव हो जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। शरीर के साथ एकता न होने पर किसी के मन में भोग की इच्छा नहीं होती। अतः विचार के द्वारा जब मनुष्य यह समझ लेता है कि 'शरीर मैं नहीं हूँ' तब भोग के इच्छाओं का त्याग अपने आप हो जाता है और इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तः करण की शुद्धि है। त्याग और प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेम से त्याग होता है और त्याग से प्रेम पुष्ट होता है। अतः साधक को चाहिये कि अपने प्रेमास्पद प्रभु के नाते हरेक प्राणी को सुख पहुँचाने की भावना से अपने सुख-भोग की सामग्री को उनकी सेवा में लगा दे। सेवा भाव से मनुष्य का अन्तःकरण बहुत ही शीघ्र शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरण में प्रेमास्पद प्रभु के प्रेम की लालसा अपने आप प्रकट हो जाती है।

साधक को चाहिये कि प्राप्त शक्ति के द्वारा प्रभु के नाते दूसरों के अधिकार की पूर्ति करता रहे और किसी पर अपना कोई अधिकार न समझे। शरीरनिर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों को भी दूसरों की प्रसन्नता के लिये, उनके अधिकार को सुरक्षित रखने के लिये ही स्वीकार करे जो कि लेने के रूप में भी देना ही है; क्योंकि इस शरीर से जिनके अधिकार की पूर्ति होती है, उनका ही तो इसपर अधिकार है। जब साधक शरीर और प्राप्त वस्तु तथा सब प्रकार की शक्तियों को अपने प्रभु की मानता है, उनपर अपना कोई अधिकार नहीं मानता, उनसे किसी प्रकार के भोग की आशा भी नहीं करता, तब उसके द्वारा जो कुछ होता है, वह त्याग और प्रेम ही है, जो अन्तःकरण की शुद्धि का मुख्य साधन है।

प्रेम का अधिकारी प्रेमी ही होता है, भोगी नहीं; क्योंकि भोग से प्रेम में शिथिलता आ जाती है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह समझ में आ जाता है कि जीव और ईश्वर दोनों ही प्रेमी हैं। इनमें से कोई भी भोगी नहीं है। जीवमें जो भोगबुद्धि जाग्रत होती है, वह केवल देहके सम्बन्ध से होती है, स्वाभाविक नहीं है और देह का सम्बन्ध अविचारसिद्ध है, यह सभी दर्शनकार मानते हैं। अतः प्रेम के लिये विवेक पूर्वक देहसे असंग होकर चाहरहित होना परम आवश्यक है।

ईश्वर और जीव दोनों प्रेमी होते हुए भी दोनोंके प्रेममें बड़ा अन्तर होता है; क्योंकि ईश्वर चाहसे रहित और सर्व समर्थ भी है। जीव चाहसे रहित तो है, परंतु समर्थ नहीं है। जीवमें प्रेमकी भूख है। इसलिये वह प्रेम करता है और ईश्वर

माधुर्यभावसे प्रेरित होकर जीवको रस प्रदान करनके लिये उससे प्रेम करता है। ईश्वर सब प्रकारसे पूर्ण और सर्वथा असंग है, अतः उसमें किसी प्रकार की चाह नहीं होती।

जीव को भोगोंका और उनकी चाहका त्याग करता है, उसमें कोई महत्त्वकी बात नहीं है; क्योंकि भोगोंको भोगनेका परिणाम तो रोग है। उससे बचनेके लिये उनका त्याग अनिवार्य है। इसके सिवा जीवको जो कुछ वस्तु और कर्मशक्ति प्राप्त है, वह भी ईश्वरकी ही दी हुई है। अतः उनका त्याग देना भी कोई बड़ी भारी उदारता नहीं है। इसी प्रकार सद्गतिके लालचका त्याग कर देना भी कोई महत्त्वकी बात नहीं है; क्योंकि सब प्रकारके भोगोंकी चाहसे रहित होनेपर दुर्गति तो होती ही नहीं इतनेपर भी जीवकी इस ईमानदारीको अर्थात् उसके नाममात्रके त्यागको भी ईश्वर अपने सहज कृपालु स्वभावसे जीवकी बड़ी भारी उदारता मानते हैं और जीव से ऐसा प्रेम करते हैं कि स्वयं पूर्णकाम होनेपर भी जीवसे प्रेम करनेकी कामनाका अपनेमें आरोप कर लेते हैं; क्योंकि प्रेम ईश्वरका स्वभाव है और जीवकी माँग है। अतः जो उनसे प्रेम करता है, ईश्वर उसका अपनेको ऋणी मानते हैं। सचमुच एकमात्र ईश्वर ही प्रेमी हैं; क्योंकि प्रेम प्रदान करने की सामर्थ्य अन्य किसीमें नहीं है।

भोगी मनुष्य प्रेमका अधिकारी नहीं होता। वह तो सेवाका अधिकारी है। प्रेमका अधिकारी तो चाहसे रहित ही होता है; क्योंकि चाहयुक्त व्यक्तिके साथ किया हुआ प्रेम स्थायी नहीं होता। वह उस प्रेमको भी अपनी चाह-पूर्तिका साधन मान लेता है। अतः प्रेमका आदर नहीं कर पाता।

## १५

पहले प्रेम और विचारको अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु बताया गया था; क्योंकि विचारसे देहाभिमानका त्याग और प्रेमसे अपने आपका समर्पण होनेसे अपने-आप निर्वासना आ जाती है। सब प्रकारकी चाहका अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी परम शुद्धि है।

जबतक मनुष्यके राग-द्वेष समूल नष्ट नहीं हो जाते, तबतक वह चाहसे रहित नहीं हो पाता और जबतक वह अपनी प्रसन्नताका कारण अपनेसे भिन्न किसी व्यक्ति, वस्तु, अवस्था या परिस्थितिको मानता है, तबतक राग-द्वेषका अन्त नहीं होता। इसलिए साधकको चाहिये कि वह अपने विकासका अर्थात् उन्नति या प्रसन्नताका हेतु किसी दूसरे को न माने।

विचार करनेपर मालूम होता है कि किसी व्यक्ति, सम्पत्ति या परिस्थितिपर मनुष्यकी उन्नति या प्रसन्नता निर्भर नहीं है; क्योंकि अज्ञानवश अपनी प्रसन्नताका हेतु समझकर वह जिसका जितना संग्रह करता है, उतना ही पराधीनताके जालमें फँस जाता है। पराधीनता किसीकी प्रसन्नतामें हेतु नहीं है, यह प्राणिमात्रका अनुभव है। स्वाधीनता, सामर्थ्य और प्रेम--यह मनुष्यकी स्वाभाविक माँग है, जो

किसी प्रकारके संगठनसे या संग्रहसे पूरी नहीं हो सकती और स्वाभाविक माँगकी पूर्तिके बिना किसीको वास्तविक प्रसन्नता नहीं मिलती।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि स्वावलम्बी मनुष्य जितना सुखी और प्रसन्न रहता है, पराधीन व्यक्ति कभी वैसा प्रसन्न नहीं रह सकता। मनुष्य अज्ञानसे ऐसा मान लेता है कि मुझे बड़ा भारी अधिकारी मिलनेसे या बहुत-सी सम्पत्ति मिलनेसे मैं सुखी हो जाऊँगा, परंतु जैसे-जैसे वैभव बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे उसके जीवनमें पराधीनता, भय, रोग, भोगासक्ति और कठोरता आदि बढ़ते जाते हैं, जो प्रत्यक्ष ही दुःखके कारण है।

इसलिए साधकको चाहिये कि उसने संसारसे जो कुछ लिया है, वह वापस लौटाकर अर्थात् प्राप्त हुई सम्पत्ति और शक्तिके द्वारा उसकी सेवा करके उससे उऋण हो जाय तथा उससे कुछ ले नहीं। एवं अपने-आपको भगवान् के समर्पण करके अर्थात् उनका होकर भगवान्से उऋण हो जाय। इस प्रकार जब उसपर किसीका ऋण नहीं रहता, तब अन्तःकरण अपने-आप परम पवित्र हो जाता है।

भगवान्से भी यही प्रार्थना करे कि 'भगवान'! मुझे आप अपने किसी भी काममें आने योग्य बना लीजिये। मैं आपकी प्रसन्नताके लिये आपका खिलौना बन जाऊँ या जिस किसी स्थितिमें रहकर आपका कृपापात्र बना रहूँ। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये।'

यदि कोई कहे कि भगवान् तो पूर्णकाम हैं। अपनी महिमामें ही सदा प्रसन्न हैं। उनको अपनी प्रसन्नताके लिये जीवकी क्या आवश्यकता है? तो कहना चाहिये कि भगवान् की पूर्णता एकदेशीय नहीं होती। वे तो सभी प्रकारसे पूर्ण हैं। अतः जिसकी जैसी माँग होती है, उसे वे उसी प्रकार से पूर्ण करते हैं। वे पूर्णकाम हैं तो भी अपने आश्रित प्रेमीकी माँग पूर्ण करनेमें उनको आनन्द मिलता है।

जो सर्वसमर्थ नहीं होता, उस मनुष्यके पास जाकर कोई कहे कि 'आप मुझे किसी कामपर रख लीजिये, छोटे-से-छोटा कोई भी काम करनेमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है' तो आवश्यकता न होनेपर वह यही कहेगा कि 'मेरे पास अभी कोई काम नहीं है। मैं तुमको नहीं रख सकता, क्योंकि वह इतना समर्थ नहीं है कि सभीको रख सके; परंतु भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं। उनके पास तो किसी बातकी कोई कमी नहीं है। फिर जो एकमात्र उनका प्रेम ही चाहता है, जिसको अन्य किसी प्रकारके सुखकी चाह नहीं है, उसको सर्वसमर्थ प्रभु कैसे निराश कर सकते हैं! वे तो स्वयं उसके प्रेमी बनकर उसे अपना प्रेमास्पद बना लेते हैं। यही उनकी असाधारण महिमा है। जब तक मनुष्य संसारसे कुछ लेनेकी आशा रखता है, तबतक वह कभी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि संसार अनित्य और क्षणभंगुर है। उससे जो कुछ मिलता है, उसका वियोग अवश्यम्भावी है। इस रहस्यको समझकर जो साधक किसीसे कुछ नहीं चाहता, सबकी सब प्रकारसे सेवा करता है और उसके बदलेमें कुछ भी नहीं लेता, वह सदैव प्रसन्न रहता है; पर उसका किसीमें भी राग नहीं रहता

तथा सभी उससे प्रेम करते हैं, इससे उसका कोई विरोधी नहीं रहता। अतः वह सर्वथा क्रोधरहित और निर्भय हो जाता है। किसी प्रकारकी चाहका न रहना एवं लोभ, क्रोध और भय का सर्वथा अभाव हो जाना ही अन्तःकरणकी परम शुद्धि है। अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर योगीको योग, विचारशील को बोध और प्रेमीको प्रेमकी स्वतः प्राप्ति हो जाती है। विचार और प्रेमसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और शुद्ध अन्तःकरणमें स्वतः विचार और प्रेम प्रकट होता है। इस प्रकार ये एक दूसरेके सहायक है।

चित्त-शुद्धिके लिये यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि साधक किसीका ऋणी न रहे। अर्थात जिससे जो कुछ मिला है, वह उसे वापस कर दे और क्षमा माँग ले। उसकी प्रसन्नता किसी औरपर निर्भर न रहे। अपनेसे भिन्न वही है जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता नहीं है।

## १६

पहले यह बात कही गयी थी कि सब प्रकारकी चाहका अभाव विचार और प्रेमसे होता है। उनमेंसे प्रेमकी बात तो पहले कही गयी थी; परंतु विचारके बारेमें विशेष बात नहीं हुई। अतः अब वही कही जाती है।

वास्तव में विवेक, विश्वास और प्रेम-इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। ये एक दूसरेके सहयोगी हैं। विवेकी पहले जानता है और पीछे मानता है अर्थात् उसपर विश्वास करता है एवं विश्वास करनेवाला पहले मानता है और पीछे जानता है।

यदि मनुष्य बुद्धिसे विचार करके अपने दोषोंको जान ले, परंतु उनका त्याग न करे तो केवल जाननेसे काम नहीं चलता। वैसे ही केवल माननेसे भी काम नहीं चलता। अपनी मान्यताके अनुसार जीवन होना आवश्यक है।

विवेक, विश्वास और प्रेम--ये सभी मनुष्योंको प्राप्त है। परंतु प्राप्त-विवेकका आदर न करनेके कारण मनुष्य जिनका विश्वास नहीं करना चाहिये, जो विश्वास करनेके योग्य नहीं है, अपने जीवनमें जिनपर विश्वास करके बार-बार धोखा खाया है, उनपर तो विश्वास करता है, उनको अपना मानकर उनसे प्रेम करता है और जिनपर विश्वास करना चाहिये, उनपर नहीं करता। जो इसका सचमुच अपना है, उसको अपना नहीं मानता और उससे प्रेम नहीं करता।

जो कुछ भी दृश्य है, जिसको मनुष्य इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा देखता है, वह चाहे व्यक्तिके रूपमें हो, चाहे देश, काल और वस्तुके रूपमें, सब-का-सब अनित्य है, इससे मनुष्यका सम्बन्ध सदा नहीं रहता।

अज्ञानवश मनुष्य इनके संयोगको सुखका हेतु मान लेता है, परंतु विचार करनेपर मालूम होता है कि किसीका भी संयोग नित्य सुख देनेवाला नहीं है; क्योंकि अपने प्रिय-से-प्रिय मित्रसे भी मनुष्य अलग होना चाहता है। कोई भी वस्तु कितनी भी प्रिय क्यों न हो, उससे भी अलग होता है। यदि सचमुच कोई व्यक्ति, वस्तु और देश-काल सुखप्रद होता तो प्राणी उसे कभी नहीं छोड़ता; परंतु ऐसा नहीं होता।

जाग्रतमें जिनके सम्बन्धसे अपने को सुखी समझता है, स्वप्नमें उनके सम्बन्धका त्याग का कर देता है। सुषुप्ति-कालमें जाग्रत और स्वप्न दोनोंके ही दृश्योंसे सम्बन्ध नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी संयोग वियोग से युक्त हैं और संयोगकी अपेक्षा संयोगका अभाव ही अधिक सुखप्रद है। यह सभीके अनुभवमें आता है।

अतः साधकको चाहिये कि संयोगकालमें ही उसके वियोगका दर्शन करके किसी भी व्यक्ति, पदार्थ, देश, काल या परिस्थितिमें आसक्त न हो एवं किसीको अपने सुखका आधार न माने। दृश्य-मात्रसे सर्वथा असंग हो जाय।

प्रतिदिन मनुष्य सुषुप्तिकालमें सब प्रकारके सम्बन्धोंका त्याग करता है; परंतु उसके अन्तःकरणमें राग छिपा रहता है, उसका नाश नहीं होता। इस कारण जगनेपर सबके साथ पहलेकी भाँति सम्बन्ध हो जाता है। जबतक शरीर और समस्त दृश्यवर्गसे सम्बन्ध बना रहता है, तबतक यह उसके सम्बन्धसे अपनेको सुख-दुःखका भोक्ता मानता रहता है तथा दृश्यकेसम्बन्धकी आसक्तिके कारण बार-बार जन्मता और मरता रहता है।

इसलिये साधकको विचार करके निश्चय करना चाहिये कि जो कुछ भी देखने, सुनने और अनुभव करनेमें आता है, शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रियोंके सहित किसी भी दृश्य पदार्थसे मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि मेरी और इनकी न तो जातीय एकता है और न स्वरूपकी ही एकता है। अतः इनका और मेरा सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। अज्ञानसे माना हुआ है। मैं इनसे सर्वथा असंग नित्य चेतन हूँ। ये सब-के-सब अनित्य और पर-प्रकाश्य हैं।

मनुष्य अज्ञानवश शरीरमें अहंभाव तथा जाति, वर्ण, आश्रम और क्रियाके साथ अपनी एकता करके मानने लगता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अछूत हूँ, मैं व्यापारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ इत्यादि; किंतु शरीरसे अलग होकर कोई भी ऐसा अनुभव नहीं करता। अतः विचारशील साधकको सदैव शरीरसे और संसारसे अपनेको सर्वथा असंग कर लेना चाहिये।

जब साधकको यह अनुभव हो जाता है कि 'शरीर मैं नहीं हूँ और दृश्यवर्गसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।' तब उसमें स्वाभाविक असंगता और निर्वासनाका उदय हो जाता है। तब अन्तःकरण अपने आप शुद्ध हो जाता है। उससे किसी प्रकारका विकार नहीं रहता। अन्तःकरण शुद्ध होते ही बोध प्रकट हो जाता है और साधकको अपने लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। ध्यान रहे कि किसी-न-किसी प्रकारके संगसे 'अहं' का भास होता है और उसीसे 'मम' की उत्पत्ति होती है एवं 'अहं' और 'मम' से ही चित्त अशुद्ध होता है। अतः चित्तशुद्धिके लिये 'अहं' और 'मम' का नाश करना अनिवार्य है और वह तभी होगा जब दृश्यमात्रसे विमुखता प्राप्त होगी। विमुखता प्राप्त होते ही मैं और मेरा, तू और तेरेमें बदल जाता है। अर्थात् जो वास्तवमें है, वह शेष रह जाता है। उसीमें प्रेम हो सकता है। उसीसे योग हो सकता है और उसीका बोध

होता है। इन तीनोंकी एकता ही वास्तविक एकता है और उसीसे प्राणीके सब प्रकारके अभावोंका अभाव होता है, जो प्राणिमात्रको प्रिय है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि विचारपूर्वक चित्त शुद्ध करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है।

## १७

साधकको निश्चयपूर्वक समझना चाहिये कि मनुष्यका शरीर विषयोंका भोग करनेके लिये नहीं मिला है। विषयोंका भोग तो पशु-पक्षी आदि हरेक योनिमें यह जीवन अनन्तकालसे करता आया है, उसके लिये मनुष्य-शरीरकी कोई विशेषता नहीं है।

मनुष्य-शरीर मिला है अपनी भूलको मिटानेके लिये अर्थात् जीवने जो अपने प्रमादसे अनेक प्रकारके दोषोंका संग्रह कर लिया है, उनको साधनद्वारा नाश करनेके लिये। यदि कोई कहे कि भगवान्‌ने जीवमें भोगों की इच्छा उत्पन्न क्यों की? यदि भोगोंकी वासना न होती तो प्राणी उन भोगोंकी प्राप्तिके लिये चेष्टा ही क्यों करता? तो इसका यह उत्तर है कि जीवमें भोगवासना ईश्वरने उत्पन्न नहीं की है। भगवान्‌ने तो इस परम्परागत भोग-वासनाको मिटानेके लिये ही कृपा करके मनुष्य-शरीर दिया है। यदि इसमें भोग-वासना पहलेसे न होती तो शरीर देनेकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जब कोई रोग होता है तभी उसके मिटानेके लिये चिकित्साकी जरूरत होती है। अतः भोग-वासनाको मिटानेके लिये ही भोग-वासनाके साथ-साथ भगवान्‌ने मनुष्यको योगकी, बोधकी और प्रेमकी लालसा भी प्रदान की है। भोगोंका क्षणिक सुख भी किसी-न-किसी प्रकारके संयोगसे अर्थात् विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे मिलता है यह योगकी ही झलक है। इसी प्रकार रागमें प्रेमकी झलक है। प्रेमका ही दूसरा रूप राग या मोह है और अविवेकमें विवेककी झलक है, क्योंकि विवेका सर्वथा अभाव नहीं होता। उसकी कमीमें सन्देह उत्पन्न होता है, जो जिज्ञासाके रूपमें बोधका हेतु हो जाता है। जब साधक प्राप्त विवेकके द्वारा अपने बनाये हुए दोषोंको दूर कर लेता है, तब भोग-वासना योगमें, राग अनुरागमें और अविवेक बोधमें बदल जाता है। दोषोंकी उत्पत्ति और गुणोंका अभिमान-यही चित्तकी अशुद्धि है। इसीको मिटानेके लिये साधन है। अतः साधकमें बोधका, योगका और प्रेमका भी अभिमान नहीं रहना चाहिये। अभिप्राय यह है कि योग हो, परंतु मैं योगी हूँ, ऐसा अभिमान न हो। ज्ञान हो, परंतु मैं ज्ञानी हूँ, ऐसा अभिमान न हो और प्रेम हो, परंतु मैं प्रेमी हूँ, ऐसा अभिमान न हो।

भगवान्‌से जीवकी किसी प्रकारकी भी दूरी नहीं है। भगवान और जीवन जातिसे और स्वरूपसे भी एक है। दोनों ही नित्य हैं, अतः कालकी भी दूरी नहीं है। दोनों एक ही जगह रहते हैं, अतः देशकी भी दूरी नहीं है। दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य है। इतनी निकटता और एकता होते हुए भी जो दूरीकी प्रतीति होती है, वह केवल अभिमानके कारण है।

जब कभी भक्तके मनमें किसी प्रकारके अभिमानकी छाया आ जाती है, जब उसका नाश करनेके लिए भगवान् उसके सामनेसे छिप जाया करते हैं। रासक्रीड़ा करते समय जब गोपियोंके मनमें यह बात आयी कि 'अब तो श्यामसुन्दर हमारे अधीन हो गये, हम जैसा कहती हैं, ये वैसा ही करते हैं।' बस, यह मनमें आते ही उनके सामनेसे भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिसके मन में अभिमान नहीं आया था, उसको अपने साथ ले गये। आगे चलकर जब उसके मनमें अभिमान आया, वह कहने लगी कि 'मुझसे अब चला नहीं जाता। मुझे कंधेपर उठा लीजिये।' तब उसको भी वहीं छोड़कर अन्तर्धान हो गये। पीछेसे जब श्यामसुन्दरको खोजनेवाली अन्य गोपियाँ उससे मिलीं और वहाँ भी श्यामसुन्दर नहीं मिले, तब वे सब श्यामसुन्दरके विरह से व्याकुल होकर उनको वनमें सब ओर खोजने लगीं। लता-पत्ता, पशु-पक्षी आदि हरेक प्राणीसे पूछने लगीं कि 'तुमने श्यामसुन्दरको देखा होगा। वे किधर गये।' इतनेपर भी जब श्यामसुन्दर नहीं मिले, तब जहाँसे लीला आरम्भ हुई थी, वहीं आकर विरह-व्याकुलतासे उनमें तन्मय हो गयीं और उन्हींकी लीलाका अभिनय करने लगीं। जब उस व्याकुलताके दुःखसे उनका अभिमान गल गया, तब श्यामसुन्दर वहीं प्रकट हो गये। वे जब अन्तर्धान हो गये थे, तब भी वहीं थे। कहीं गये नहीं थे, पर गोपियाँ उनको जान नहीं पायीं। प्रकट होनेपर जब गोपियाँ उन् हें उलाहना देने लगीं, तब उन्होंने यही कहा कि 'मेरी प्यारी सखियो! मैं तो सदैव तुम्हारे ही पास था। कहीं दूर नहीं गया था। मैं तो तुम्हारे प्रेम-रसकी वृद्धिके लिये ही छिपा था इत्यादि।' अतः साधकको कभी किसी प्रकारका भी अभिमान नहीं करना चाहिये।

उनके प्रेम-रसका आस्वादन करना-यही उद्देश्य है। विचारशील साधकका चित्त शुद्ध होनेपर उसको बोध प्राप्त होता है और प्रेमकी प्राप्ति उसके बाद होती है। कोई कहे कि बोध के बाद प्रेम की प्राप्ति कैसी? उसका तो शरीर-मन आदिसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। फिर प्रेम कौन किससे और कैसे करता है? इसका उत्तर यह है कि प्रेमीका मन, इन्द्रियाँ आदि कुछ भी भौतिक नहीं रहते। उसके मन-बुद्धि आदि सभी दिव्य और चिन्मय होते हैं; क्योंकि भगवान् स्वयं जिस चिन्मय प्रेमकी धातुसे बने हैं, उसीसे उनका प्रेमी, उनका दिव्य धाम और सब कुछ बने हैं। उनमें कोई भी भौतिक वस्तु नहीं है। इसलिये बोधके बाद प्रेम होना असंगत नहीं है। इसीमें तो सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म लीलामय परमेश्वरके सगुण-साकार रूपकी सार्थकता है। प्रेमके अतिरिक्त सगुण-ब्रह्मके होनेमें कोई कारण ही नहीं है।

प्रेम अनन्त है, उसका कभी अन्त नहीं होता; क्योंकि प्रेमी और प्रेमकी लालसा एवं प्रियतम सभी नित्य और असीम हैं, अतः उनके मिलनमें और वियोगमें सदैव आकर्षण रहता है तथा नित्य नया प्रेम बना रहता है।

भगवान् जीवनके नित्य साथी हैं। हम कभी उससे अलग नहीं होते। तथापि प्राणी

उनको जानता नहीं, भूल गया है। जैसे किसीकी जेबमें घड़ी पड़ी हो और वह उसे भूल जाय तो अपने पास होते हुए भी वह उससे दूरीका अनुभव करता है। जबतक उसे यह मालूम नहीं होता कि घड़ी मेरे पास मेरी जेबमें ही है, तबतक वह उसे खोजता रहता है और उसके बिना दुःखी होता है; परंतु जब उसको बोध हो जाता है, तब वह घड़ी उसे मिल जाती है। उसी प्रकार यह जीव जबसे भगवान्‌को भूल गया है, तबसे अपनेको उनसे अलग मानकर दुःखी हो रहा है।

यह भूल मिटकर जो अपने प्रेमास्पदके सम्बन्धका स्मरण हो जाना है, यही वास्तविक स्मरण है। अतः नाम-जप आदि साधन करते समय भी साधकको यह नहीं भूलना चाहिये कि 'यह नाम मेरे प्रियतमका है।'

चित्तशुद्धिके लिये साधकको चाहिये कि या तो विकल्परहित विश्वास करके यह माने कि 'मेरी और प्रभुकी जातीय एकता है। अतः वे ही मेरे हैं। अन्य कोई मेरा नहीं है।' और यह मानकर एकमात्र प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमकी लालसा प्रकट करे अथवा शरीर और संसारमें माना हुआ जो 'मैं और मेरापन' है, उसे विचार के द्वारा दूर करके सच्चिदानन्घन परमात्मासे अपने स्वरूपकी एकताका बोध प्राप्त करे।

जातीय एकता और स्वरूपकी एकताका विश्वास और बोध होनेपर ही प्रेम तथा बोधकी प्राप्ति सम्भव है। अन्य प्रकारसे नहीं।

## १८

पहले यह बात कही गयी थी कि चित्त-शुद्धिके लिये ईश्वरके साथ जातीय एकता मानना अथवा स्वरूपकी एकताको जानना अनिवार्य है। आज उसीपर विचार करना है।

यह नियम है कि प्राणी जिसके साथ 'मैं' को मिला देता है, वही सत्य प्रतीत होने लगता है और अपनेसे भिन्न समझकर जिसके साथ अपनत्वका सम्बन्ध मान लेता है, उसमें आसक्ति हो जाती है; जिसको पराया समझ लेता है, उसमें द्वेष हो जाता है।

मनुष्यका 'मैं' भाव जगत्‌में अनेक प्रकारसे बँटा हुआ है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं महत्तर हूँ, मैं हिंदू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं हिंदूस्तानी हूँ, मैं यूरोपियन हूँ, मैं अमेरिकन हूँ-इस प्रकार शरीर, जाति, देश, वर्ण आश्रम और परिस्थिति आदिके साथ 'मैं' को मिलाकर मनुष्य उनमें सद्‌भाव कर लेता है। उन्हींको अपना जीवन मानने लगता है। इस कारण उसको यह बोध नहीं होता कि वास्तवमें मेरी और इनकी न तो स्वरूपसे एकता है और न जातीय एकता है तथा यह भी नहीं जानता कि इनकी स्वीकृति मैंने किसी प्रकारके साधनका निर्माण करके इनसे ऊपर उठने और अपने लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये की है।

यद्यपि प्रत्येक प्रकारकी मान्यताके साथ उससे सम्बन्ध रखने वाला विधान रहता है। जैसे कोई मानता है कि मैं हिंदू हूँ, तो हिंदू माननेवालेके लिये जो हिंदूधर्ममें उसके वर्ण, आश्रमके अनुसार कर्त्तव्यका विधान किया गया है, उसे भी मानना चाहिये। यदि उसे मान ले तो

साधक वर्तमान परिस्थितिकी आसक्तिसे रहित होकर अपने लक्ष्यकी ओर आगे बढ़ जाय, इसमें कोई संदेह नहीं; क्योंकि मनुष्यको जो परिस्थिति प्राप्त होती है, वह उसको सदैव अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर करनेके लिये ही होती है; परंतु इस रहस्यको न समझनेके कारण प्राणी उसका सदुपयोग नहीं करता।

यही कारण है कि आज जो अपनेको हिंदू कहता है, वह हिंदूपन का अभिमान करके दूसरोंके साथ राग-द्वेष कर लेता है। अर्थात् मानने लगता है कि जो हिंदू हैं, वे तो अपने हैं। जो हिंदू नहीं हैं, वे पराये हैं। अतः अपनेको हिंदू माननेवालोंमें आसक्ति और दूसरोंमें द्वेष करने लगता है। यदि वह अपनेको हिंदू माननेके साथ-साथ उसके विधानको भी मानता तो 'आत्मवत् सर्वभूतेषू' के अनुसार सबमें प्रेम करता है, किसीसे भी राग-द्वेष नहीं करता। इसी प्रकार सबमें समझ लेना चाहिये।

महापुरुषोंने जब जो सम्प्रदाय चलाया है, वह मनुष्यको उन्नत बनानेके लिये साधनरूप बनाया है। अतः प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक प्रकारकी मान्यता, अपने-अपने अधिकार, अपनी-अपनी योग्यता और प्रीतिके अनुसार उसे साधन मानकर चलनेवालेके लिए हितकर है। इस दृष्टिसे सभी सम्प्रदाय और सभी मान्यतायें आदर करनेके योग्य हैं।

परंतु जब मनुष्य शरीर, जाति, वर्ण, आश्रम, धर्म, देश और परिस्थितिके साथ एकता मानकर उनमें अभिमान कर लेता है एवं उसके अनुसार अपनेको नाना भावोंमें बाँधकर राग-द्वेष करने लगता है, तब उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है।

इसलिए साधकको चाहिये कि विचार और विश्वासके द्वारा यह निश्चय करे कि मैं शरीर नहीं हूँ। यह मनुष्य-शरीर मुझे भगवान् की कृपासे साधनके लिये मिला है। यह निश्चय करके शरीरमें, या किसी प्रकारकी परिस्थितिमें सद्भाव न करे। उसे अपना जीवन न माने। जो कुछ प्राप्त है, उसका सदुपयोग करे। प्राप्तका सदुपयोग करनेसे और अप्राप्तकी चाह न करनेसे रागकी निवृत्ति हो जाती है। राग निवृत्त हो जानेपर द्वेष अपने आप मिट जाता है और राग-द्वेषका अभाव हो जानेसे निर्वासना आ जाती है। फिर किसी प्रकारकी चाहका उदय नहीं होता। यही चित्त शुद्धि है। चित्त शुद्ध होनेपर योग, बोध और प्रेम अपने आप प्रकट हो जाते हैं।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवनमें मनुष्यको जहाँ कहीं सत्यता और प्रियताकी प्रतीति हो रही है, उसका मूल कारण उपर्युक्त माना हुआ अभेदभावका और भेदभावका सम्बन्ध है। दूसरा कुछ नहीं। यदि शरीर आदिसे अभेद के सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाय तो उसकी सत्यता और जड़ता चिन्मयतामें बदल जाती है। अर्थात् मैं शरीर हूँ, यह भाव मिट जाता है। इसके मिटते ही देहधर्ममें जो आसक्ति हो गयी है, वह मिट जाती है। उसके मिटते ही शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंमें सत्यताकी गन्धमात्र भी शेष नहीं रहती। उसके मिटते ही राग वैराग्यमें तथा भोग योगमें बदल

जाते हैं। फिर जिससे जातीय तथा स्वरूपकी एकता है, उसका बोध और उससे प्रेम स्वतः हो जाता है, जो प्राणीकी वास्तविक आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति अत्यन्त आवश्य और स्वाभाविक है। अतः उससे निराश होना एकमात्र प्रमादके सिवा और कुध नहीं है; क्योंकि स्वाभाविक आवश्यकताकी पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओंकी निवृत्ति करना ही प्राणीका पुरुषार्थ है।

## १९

पहले कहा गया था कि प्राणी जिसके साथ 'मैं' को मिला लेता है उसे वही सत्य प्रतीत होने लगता है। इसपर साधकको विचार करना चाहिये कि मैं जो अपनेको मनुष्य मानता हूँ तो पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है? आहर, निद्रा, मैथुन आदि विषय-भोगोंका सुख तथा उनके वियोगका और मरनेका भय, यह सब तो उनमें भी होते हैं वरन् मनुष्यकी अपेक्षा भी उनका विषय-सेवन अधिक नियमित और प्रकृतिके अनुकूल है।

विचार करनेपर मालूम होगा कि उनकी अपेक्षा मनुष्यमें विवेकशक्ति अधिक है। उसके द्वारा वह यह समझ सकता है कि मैं वास्तवमें कौन हूँ, मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये इत्यादि।

यदि मनुष्य इस विवेकशक्तिका आदर न करे, उसका सदुपयोग न करके भोगोंके सुखको ही अपना जीवन मान ले तो वह पशु पक्षियोंसे भी गया-बीता है; क्योंकि पशु-पक्षी आदि तो कर्मफल-भोगके द्वारा पूर्वकृत कर्मोंका क्षय करके उन्नतिकी ओर बढ़ रहे हैं, किंतु विवेकका आदर न करनेवाला मनुष्य तो उलटा अपनेको नये कर्मोंसे जकड़ रहा है। अपने चित्तको और भी अशुद्ध बना रहा है।

अतः साधकको चाहिये कि प्राप्त-विवेकका आदर करके उसके द्वारा इस बातको समझे कि यह मनुष्य-शरीर उसे किसलिये मिला है, इसका क्या उपयोग है! विचार करने पर मालूम होगा कि यह साधनधाम है। इसमें प्राणी अपना चित्त शुद्ध करके अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है।

चित्त-शुद्धिके लिये यह आवश्यक है कि साधक ऐसे संकल्प न करे, जिनकी पूर्ति किसी दूसरेपर अवलम्बित हो, जिन्हें वह स्वयं पूरा कर सकता हो; क्योंकि जो मनुष्य दूसरोंके द्वारा उपार्जित वस्तुओंसे या उनके परिणामसे अपने संकल्पोंकी पूर्ति चाहता है एवं करता और कराता रहता है उसके संकल्प चाहे कितने ही शुभ क्यों न हों, उसका चित्त नहीं होता। अपने संकल्पोंको दूसरोंके द्वारा पूरा करानेवाला उनका ऋणी हो जाता है एवं उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है और पराधीनताकी वृद्धि होती है। पराधीन प्राणी कभी सुखी नहीं हो सकता। अतः दूसरों पर अपना कोई अधिकार नहीं मानना चाहिये।

अपने द्वारा पूरे किये जाने योग्य आवश्यक संकल्पोंको पूरा कर देना चाहिये; किंतु उनकी पूर्तिके रसका उपभोग नहीं करना

चाहिये। इसके उपभोगसे रागकी वृद्धि होती है और अन्तःकरण अशुद्ध होकर उसमें पुनः संकल्पोंकी बाढ़ आ जाती है।

साधक को हरेक प्रवृत्तिद्वारा दूसरोंके अधिकार और संकल्पोंकी रक्षा और पूर्ति करते रहना चाहिये। उसमें भी ऐसा अभिमान कभी नहीं करना चाहिये कि मैंने दूसरोंका कोई उपकार किया है, प्रत्युत यह समझना चाहिये कि इन्हींके लिये प्राप्त हुई शक्ति और पदार्थ मैंने इनको दिये हैं। इसमें मेरा कुछ नहीं है। जैसे कोई डाकिया डाकघरसे प्राप्त रुपयोंको या पारसलको पानेवाले व्यक्तिके पास पहुँचा देता है तो उसमें उसका उस व्यक्तिपर कोई अहसान नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि अपना कर्त्तव्य ठीक-ठीक पालन करनेके नाते उसे सरकारी प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसी प्रकार प्राप्त शक्तिका सदुपयोग करनेसे साधकको भी भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करनेके लिये अर्थात् उनके मनमें उत्पन्न संकल्पकी पूर्तिद्वारा उनकी प्रसन्नताके लिये साधकको कोई आवश्यक वस्तु लेनी पड़े या कोई उनके द्वारा किया हुआ काम स्वीकार करना पड़े तो वह चित्तकी अशुद्धिका हेतु नहीं है। उसमें साधकको यह भाव रखना चाहिये कि यह शरीर भी भगवान् का ही है। अतः भगवान्ने इनके द्वारा अपने-आप जो इस शरीरके लिये आवश्यक वस्तु प्रदान की है, उसे इनसे लेकर, इसके उपभोगमें लगा देना है, यह भी देना ही है; परंतु इसमें भी उपभोग के रसका संग नहीं होना चाहिये, क्योंकि रसका उपभोग करनेसे अपने शरीरमें अहंभाव और जिनके द्वारा संकल्पोंकी पूर्ति की जाती है, उन व्यक्तियोंमें आसक्ति हो जाती है। इससे चित्तमें अशुद्धि बढ़ती है।

प्राप्त शक्तिका उपयोग अपने संकल्पोंकी पूर्ति तो पशु-पक्षी भी करते हैं। वही काम यदि मनुष्य भी करता रहे तो उसमें मनुष्यशरीरकी क्या विशेषता हुई! अतः साधकको समझना चाहिये कि जिस प्रकारकी जो कुछ भी शक्ति भगवान्ने दूसरोंको देनेके लिये अर्थात् उनकी प्रसन्नता और हितमें लगानेके लिये प्रदान की है, उसका उपयोग भगवान् के आज्ञानुसार कर देना ही मनुष्यता है।

इतना करनेपर भी सर्वथा चित्तशुद्धि नहीं होती; क्योंकि जबतक शरीरमें अहंता-ममता रहती है, तबतक किसी-न-किसी प्रकारका रस अर्थात् आसक्ति रहती है। आसक्तिके रहते हुए संकल्पोंका जाल नहीं टूटता। किसी-न-किसी प्रकार की चाह बनी रहती है। यह चाह ही चित्तकी अशुद्धि है। अतः साधकको अहंता-ममताका त्याग कर देना चाहिये।

मनुष्यकी चाहके दो भेद होते हैं-एक तो दृश्यकी चाह, जो कि उसका पतन करनेवाली है। जैसे नदियोंमें नीचेकी ओर बहनेवाला जल समुद्रमें पहुँच जाता है। वहाँसे बादल बनकर बरसता है और झरनों तथा नालोंके द्वारा पुनः नदीमें आकर समुद्रमें चला जाता है। इसी प्रकार इस दृश्यकी चाह

करनेवाला मनुष्य भी जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़कर नाना योनियोंमें भटकता रहता है। दूसरी उस प्रेमास्पदकी चाह (लालसा) जिससे यह दृश्यवर्ग--सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है और जो इसका प्रकाशक और इसे सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है। यह चाह (लालसा) साधकको उस प्रेमास्पदसे मिला देती है। अर्थात् शरीर और संसारमें अहंता-ममता न रहनेके कारण जिस साधककी दृश्य-जगत्में कहीं भी आसक्ति नहीं रही है, भोगवासना न रहनेके कारण चाहका सर्वथा अभाव हो गया, जो एकमात्र भगवान् पर विश्वास करके उन्हींको अपना मानता है एवं जिसके मन-बुद्धि-अहंभाव आदि एकमात्र भगवतप्रेमके रूपमें बदल गये हैं, भगवान् का प्रेम ही जिसका जीवन है, वह अपने प्रेमास्पदको पा लेता है और नित्य-नव अनन्त प्रेमरसका अनुभव करता रहता है।

जो समस्त दृश्यवर्गकी चाहकी निवृत्ति कर देता है, उस चाहरहित साधकको जो दिव्य आनन्द मिलता है, वह चाहयुक्त प्राणीको चाहकी पूर्तिमें कभी नहीं मिलता। यह संतोंके अनुभवकी बात है। जिसको विश्वास न रहो, वह अधिक नहीं तो, दो-चार मिनट चाहरहित होकर देख ले। चाहरहित होनेके कालमें उसे वह सुख मिलेगा, जो उसके जीवनमें चाहकी पूर्तिसे कभी नहीं मिला; क्योंकि चाहकी पूर्तिमें वास्तविक सुख नहीं मिलता बल्कि सुखकी प्रतीति होती है, जो दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाती है।

## २०

चित्तकी अशुद्धिके अनेक कारण होते हैं और उसकी शुद्धिके उपाय भी अनेक हैं। उनमें से एक प्रधान कारण अभिमान भी है। अभिमान उसे कहते हैं, जिससे मनुष्य किसी प्रकारके गुणके साथ अपनी एकता करके अपनेको दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ मानने लगता है।

इस अभिमानके कारण मनुष्य जिनमें उस गुणका अभाव या कमी देखता है, उनको तुच्छ समझकर उनसे घृणा करने लगता है और जिनमें अपनेसे अधिक देखता है, उनसे ईर्ष्या करने लगता है। इस प्रकार घृणा और ईर्ष्याके कारण उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है।

गुणके अभिमानसे मनुष्यको अपने दोषोंका दर्शन नहीं होता। अतः वह उनको हटा नहीं सकता। गुणोंका अभिमान स्वयं ही एक बड़ा भारी दोष है। उसके रहते हुए दूसरे दोषोंका नाश कैसे किया जा सके। संतोंका कहना है कि अभिमानी योगीसे पश्चाताप करनेवाला पापी अच्छा है; क्योंकि अच्छाईका अभिमान ही बुराईका मूल है।

जो मनुष्य यह समझता है कि मैं सत्यवादी हूँ, उसमें कहीं-न-कहीं झूठ छिपा हुआ है। यदि वह सचमुच सत्यवादी हो तो उसे यह भास ही नहीं होना चाहिये कि मैं सत्यवादी हूँ। अपितु सत्य बोलना उसका जीवन बन जाना चाहिये। जो गुण साधकका जीवन बन जाता है उसमें साधकका अभिमान नहीं होता। वह उसके कारण अपनेमें किसी प्रकारकी विशेषताका अनुभव नहीं करता। जबतक किसी गुणका गुणबुद्धिसे भास होता है, उसमें रसका

अनुभव होता रहता है, तबतक मनुष्यमें अनेक प्रकारके दोषोंकी उत्पत्ति होती रहती है। अतः गुणके अभिमानसे चित्त अशुद्ध होता रहता है।

गुणके अभिमानसे भेदबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जो समझता है कि मैं ईश्वरको मानता हूँ, आस्तिक हूँ और अमुक आदमी ईश्वर और धर्मको नहीं मानता, वह नास्तिक है। इस भेदभावके कारण जिसकी ईश्वरको न माननेवालेमें तुच्छ बुद्धि द्वेष हो जाता है, वह उससे प्रेम नहीं कर सकता। बिना प्रेमके एकता नहीं होती। परंतु जो सच्चा आस्तिक होता है, उसको किसीमें भी घृणा या द्वेष नहीं होता। वह तो सबमें अपने प्रेमास्पदका दर्शन करता हे। अतः सबसे प्रेम करता है।

साधकको विचार करना चाहिये कि मेरे स्वामीका कैसा स्वभाव है वे मुझसे क्या आशा रखते हैं? क्या उनको न माननेवालेको वे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि तत्त्वोंके उपभोगमें उतनी ही स्वतन्त्रता नहीं प्रदान करते, जितनी कि एक आस्तिक को करते हैं? यदि भगवान् उसके साथ भेद करें तो क्षणभर जीवित रहना भी उसके लिये असम्भव हो जाय, किंतु वे ऐसा नहीं करते। अतः वे अपने भक्तको भी वैसा ही आदेश देते हैं।

अपनेमें साम्यवादीपनका अभिमान रखनेवाला यदि उनसे द्वेष करता है, जो साम्यवादी नहीं है तो वह द्वेष करनेवाला क्या सच्चा साम्यवादी है? क्या उसमें समता है?

इसी प्रकार हरेक गुणके अभिमानमें समझ लेना चाहिये। गुणके अभिमानीमें गुणकी पूर्णता नहीं होती। जिसमें गुणकी पूर्णता होती है, उसमें अभिमान नहीं होता-यह उसकी कसौटी है।

गुणके अभिमानीको दूसरेमें दोष-ही-दोष प्रतीत होते हैं। इस कारण वह अपने दोषोंकी ओर नहीं देखता। उसमें गुणके अभिमानके कारण दोषोंकी पुष्टि होती चली जाती है। अतः साधकको चाहिये कि अपने दोषोंका निरीक्षण करे और उनका त्याग करे एवं पुनः उनको उत्पन्न न होने दे तथा गुणोंके अभिमानको दूसरे दोषोंसे भी बढ़कर दोष समझकर उसको कभी उत्पन्न न होने दे।

जो साधक गुणोंमें अभिमान नहीं करता, उनका रस लेकर उनमें बँधता नहीं और दोषोंको उत्पन्न नहीं होने देता, उसका चित्त शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।

कर्ममें और मान्यतामें भेद रहते हुए भी स्नेहकी एकता होनी चाहिये। कर्ममें और मान्यतामें भेद होना अनिवार्य है। इसे कोई मिटा नहीं सकता। अतः कर्मके भेद को लेकर या मान्यताके भेदको लेकर स्नेहमें भेद करना अर्थात् किसीमें राग और किसी में द्वेष करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। इससे चित्तमें अशुद्धि आती है। अभिमान अधिकारकी लालसा को जाग्रत करता है। उससे वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, जो परतन्त्रताकी मूल हैं। अपने कर्त्तव्यपालनसे दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करना ही वास्तवमें अधिकार है, जिससे चित्त शुद्ध हो जाता है। जो अपने अधिकारको भूलकर दूसरोंके अधिकार की रक्षा करते हैं,

उनका हृदय प्रेमसे भर जाता है। उनको निर्वासना प्राप्त होती है। वासनारहित होना ही 'मुक्ति' और हृदयका प्रेमसे भर जाना ही 'भक्ति' है। सच्चा ईश्वरवादी अनीश्वरवादीमें भी ईश्वरका दर्शन करता है। सच्चे साम्यवादीके हृदयमें सबके प्रति अगाध स्नेह रहता है।

जो मान्यता तथा जो सिद्धान्त मनुष्यको स्नेहसे दूर करके राग-द्वेषमें आबद्ध करते हैं, वे चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, उनसे चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्त शुद्ध करनेके लिये तो साधकको अपना हृदय प्रेमसे भरना होगा और सभी वासनाओंका अन्त करना होगा। वह तभी सम्भव है जब साधक सब प्रकार अभिमानसे रहित होकर अपने अधिकारको भूल जाय। यही चित्त-शुद्धिका सुन्दर और सुगम उपाय है तथा चित्त शुद्ध होनेपर ही साधक वास्तविक योग, बोध तथा प्रेमको प्राप्त कर सकता है। चित्त शुद्ध करनेमें साधक परतन्त्र नहीं है; क्योंकि चित्त-शुद्धि अपने बनाये हुए दोषोंके त्यागसे होती है, जिसके करनेमें सभी साधक सर्वदा स्वतन्त्र हैं।

## २१

पहले कहा गया कि श्रेष्ठ गुणोंका अभिमान भी चित्तकी अशुद्धि का कारण है, उसीपर पुनः विचार किया जाता है। प्रत्येक प्राणी आदर और सम्मान चाहता है; परंतु जबतक मनुष्य करने योग्य कामको जिस प्रकार कुशलतापूर्वक करना चाहिये, उस प्रकार पूरा नहीं करता और न करने योग्य व्यर्थ कामको करता रहता है, तबतक उसको आदर नहीं मिलता। आदर उसीको मिलता है जो कर्त्तव्यपरायण और संयमी होता है। इसलिये साधकको कर्त्तव्यपरायण होना चाहिये अर्थात् करने योग्य कामको कुशलतापूर्वक पूरा कर देना चाहिये। उसके करनेमें न तो किसी प्रकारका प्रमाद करना चाहिये और न आलस्य करना चाहिये। जबतक मनुष्य आलस्य और प्रमादका त्याग नहीं करता, तबतक कोई भी काम सर्वांगसुन्दर नहीं हो सकता। इसी प्रकार साधकको कोई भी ऐसा काम नहीं करना चाहिये जिसका करना आवश्यक न हो और जिसमें किसीका हित निहित न हो। मन और इन्द्रियोंकी व्यर्थ चेष्टा न होने देनेका नाम ही संयम है। संयमी मनुष्यके नेत्र खुले रहते हैं, परंतु जिसको न देखना चाहे, वह वस्तु उसे नहीं दीखती। कान खुले रहते हुए भी, जिसको नहीं सुनना चाहिये, वह सुनायी नहीं देता। इतनेपर भी साधकको यह अभिमान नहीं होना चाहिये कि मैं कर्त्तव्यपरायण हूँ या मैं संयमी हूँ; क्योंकि गुणका अभिमान होनेसे वह गुण दोषके रूपमें बदल जाता है। उसमें वास्तविकता नहीं रहती, दिखावा रह जाता है अर्थात् वह दम्भाचारका रूप धारणकर लेता है।

साधक वही है जिसका हरेक गुण जीवन बन जाता है और किसी भी गुणमें जिसका अभिमान नहीं होता तथा जो गुणोंका आचरण किसी लालच या भयसे नहीं करता;क्योंकि आदर-सम्मानके लालचसे या

अनादरके भयसे किया हुआ आचरण सच्चा आचरण नहीं होता। अतः वह चित्तको शुद्ध नहीं होने देता।

जो मनुष्य ऊपरके आचरणोंमें सुन्दर वस्त्रोंका पहनना छोड़ देता है, पलंगके सुन्दर बिछौनेको काममें नहीं लाता, सब प्रकार सादगीसे रहता है; परंतु भीतर चित्तमें उनकी वासना है या उनके त्यागका अभिमान है; उस सादगीसे उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। उससे तो अपनेमें त्यागका अभिमान और दूसरोंसे घृणा उत्पन्न हो जानेके कारण चित्त अशुद्ध रहता है।

साधनका दम्भ करनेवालेसे साधन न करनेवाला अच्छा है; क्योंकि साधन न करनेवाला तो भविष्यमें साधक बन सकता है, परंतु जो दम्भी मनुष्य सम्मानके लिये या अन्य किसी कारणसे दिखाऊ साधन करता है और अपनेको साधक दिखलाना चाहता है, उसका सुधार होना कठिन है।

अतः चित्तकी शुद्धिके लिये साधन करनेवाले साधकको चाहिये कि साधनका अभिमान न करे और उसमें किसी प्रकार का दिखावापन न आने दे।

जो मनुष्य नेता या प्रचारक बन जाता है या उपदेष्टा बन जाता है, उसका चित्त शुद्ध होना कठिन है; क्योंकि दूसरोंके दोषोंको देखना उसके लिये आवश्यक काम हो जाता है। दूसरोंके दोषोंको बिना देखे उनको दूर करनेका उपाय वह श्रोताओंको कैसे बतायेगा। इसी प्रकार अपने दोषोंको भी वह प्रकट नहीं कर सकता; क्योंकि हरेक प्रकारसे अपने दोषों को छिपाना उसका स्वभाव बन जाता है। दूसरोंके दोषोंको देखना, अपनेमें गुणोंका अभिमान होना और उन गुणोंका प्रदर्शन करना तथा अवगुणों को छिपाना--ये सभी चित्तकी अशुद्धिके कारण है। इसीलिये शास्त्रोंमें नेता या गुरु बननेको पतनका हेतु माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह काम महापुरुषोंके ही उपयुक्त है। साधकको इस बखेड़ेमें कभी नहीं पड़ना चाहिये।

अपने दोषोंको सामने रखकर परस्पर विचार-विनिमय करना, अपने सुधारके लिये परस्पर परामर्श करना--नेतागिरी या उपदेष्टा बनना नहीं है। अतः साधकको जब कोई सुधारकी बात दूसरोंके सामने कहनेका मौका प्राप्त हो जाय, तब उसमें अपने सुधारका लक्ष्य रखते हुए ही उसे बोलना चाहिये। जो साधक अपनेमें यह अभिमान रखता है कि मैं सत्संगी हूँ, दोषोंको किस प्रकार दूर करना चाहिये, किस प्रकार सद्गुण और सदाचारका पालन करना चाहिये, इस बातको मैं समझता हूँ दूसरे नहीं समझते। इस भावको लेकर जो दूसरोंके दोषोंको देखता रहता है और उनको दूर करनेके लिये दूसरोंसे कहता रहता है, उसका चित्त अनेक प्रकारसे कोशिश करते रहनेपर भी शुद्ध नहीं हो पाता। यही कारण है कि वह अनेक वर्षोंतक सत्संग करते हुए भी अपने लक्ष्यको प्राप्त नहीं कर सकता।

जबतक मनुष्यको अपना साधन भाररूप प्रतीत होता है, तब तक उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हुई। जैसे सत्संगमें जाता है तो

या तो ठीक निश्चित समयपर जाता ही नहीं। जाता है तो सत्संगकी बातोंको ध्यानपूर्वक सुनता नहीं। शरीर सत्संगमें बैठा है, मन कहीं दूसरा ही काम कर रहा है। इसी प्रकार जप-ध्यान आदि साधनोंमें भी मन नहीं लगता। ऐसी स्थितिमें उसे समझना चाहिये कि मेरे साधनका निर्माण नहीं हुआ। जो साधन मैं कर रहा हूँ, वह मेरी योग्यता और रुचिके अनुकूल नहीं है। जो साधन साधकको अपना जीवन प्रतीत होता हो, जिसके बिना उसे चैन नहीं पड़ता, साधन किये बिना रहा नहीं जा सकता, जीवनसे भी साधन अधिक प्रिय हो जाता है, साधनोपयोगी हरेक काम ठीक समयपर करनेमें नित्य नया उत्साह और प्रेम बढ़ता रहता है, तब समझना चाहिये कि अब प्रभुकी और महापुरुषोंकी कृपासे मेरे साधनका निर्माण हुआ है। सच्चे साधकमें कभी भी साधनका अभिमान नहीं होता और उसे किसी भी अवस्थामें साधन भाररूप नहीं प्रतीत होता, यह नियम है।

साधन कोई भी छोटा-बड़ा नहीं होता, किंतु उसमें प्यार होना चाहिये और उसे पूरी शक्ति लगाकर उचित ढंगसे करना चाहिये। मान लो, किसीने यह निश्चय किया कि मैं तो केवलएक बार प्रभुका नाम लूँगा और ठीक चार बजे प्रातःकाल लूँगा। इस निश्चयके अनुसार यदि वह एक सेकेंड भी कालका व्यतिक्रम न करके प्रतिदिन प्रातःकाल ठीक चार बजे प्रभुका नाम एक बार प्रेमपूर्वक ले लेता है और प्रभुके प्रेममें सराबोर हो जाता है तो वह एक बार लिया हुआ नाम ही उसका उद्धार कर देगा। जिस साधकका यह निश्चय है कि एकादशीको मरनेवालेकी सद्गति होती है, अतः मेरी मृत्यु उसी दिन होगी, तो वह ठीक उसी दिन मरेगा। जिस साधकका भगवान् के ध्यानमें विश्वास और प्रेम है एवं ठीक नियमित समयपर प्रेमपूर्वक वह ध्यान करता है तथा उसकी यह इच्छा है कि मैं ध्यान करता हुआ ही मरूँ, तो वह ध्यान करता-करता ही मरेगा। मनुष्यके विश्वासपूर्वक किये हुए संकल्पमें अद्‌भुत शक्ति होती है। पर वह जो कुछ करे उसे सांगोपांग सुन्दर-से-सुन्दर प्रेमपूर्वक करना चाहिये।

जो लोग भगवान् का नाम-जप एवं चिन्तन करते हैं और चिन्तन या कीर्तन करते समय जब कभी उनको कुछ रस मिल जाता है तो उसीमें संतोष कर लेते हैं और साधनकी सफलता मान लेते हैं, वे अपने लक्ष्यतक नहीं पहुँच सकते। साधनमें तो नित्य नया उत्साह और व्याकुलता बढ़ती रहनी चाहिये। जिनको अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया है, जो सब प्रकारसे पूर्ण हैं, उनके लिये तो कुछ करना नहीं बनता। वे तो पूज्य हैं। भगवान् के ही सदृश या भगवान् के भी भगवान् हैं, परंतु जबतक साधक और साधनका प्रसंग है, तबतक साधकके जीवनमें कभी किसी भी अवस्थाको लेकर संतोष नहीं होना चाहिये। उसके हृदयमें तो प्रतिदिन उत्तरोत्तर नित्य नया उत्साह, नित्य नयी व्याकुलता बढ़ती रहनी चाहिये।

किसी भी साधनाकी सफलता उसके आगे की नवीन साधनाको उत्पन्न कर देती है। जबतक कुछ भी करना शेष है, तबतक साधनमें

संतोष आ जाना साधनमें शिथिलता उत्पन्न करता है, जो वास्तवमें असावधानी है। ज्यों-ज्यों साधक साधनसे अभिन्न होता जाता है, त्यों-त्यों साध्यके लिये परम व्याकुलता तथा उत्साह बढ़ता रहता है। इसीमें साधनकी सफलता है।

## २२

यदि कोई कहे कि उत्साह और व्याकुलता दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं? तो कहना होगा कि जिसके पानेकी तीव्र अभिलाषा होती है उसके मिलनमें ज्यों-ज्यों देर होती है, त्यों-ही-त्यों व्याकुलता बढ़ती है और उसके पानेकी आशा रहती है इस कारण उत्साह बढ़ता रहता है। जैसे किसीको किसी महात्मासे मिलनेके लिये या किसी देवविग्रहका दर्शन करनेके लिये किसी निश्चित स्थानपर जाना है। वहाँ जानेके लिये जिसकी तीव्र अभिलाषा है और किसी विघ्नके कारण जानमें विलम्ब हो रहा है, उस समय उस विलम्बके कारण तो उसकी व्याकुलता बढ़ती रहती है और वहाँ जानेसे अभिलाषा पूर्ण होनेकी उमंगमें उत्साह बढ़ता रहता है। अतः वह सब प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना करता हुआ भी अपने अभीष्टकी ओर चल पड़ता है। उत्साहके कारण उसे चलनेका परिश्रम और कठिनाई दुःखप्रद नहीं होते, किंतु अपने अभीष्टकी प्राप्तिमें देर असह्य होनेके कारण व्याकुलता बढ़ती रहती है। इसी प्रकार साधकके जीवनमें भी उत्साह और व्याकुलताका बढ़ते रहना परम आवश्यक है।

जबतक मनुष्य वासनाओंकी पूर्तिके सुखमें रस लेता है, अपने मनकी बात पूरी होनेमें ही जो संतुष्ट हो जाता है या जो आलस्य और निद्रा आदि जड़तामें रस लेता रहता है, उसके जीवनमें प्रेमकी लालसा जाग्रत नहीं होती। इसी कारण उसका न तो साधनमें उत्साह होता है, न लक्ष्य-प्राप्तिके लिये व्याकुलता आती है और न तत्परता ही होती है।

देखा जाता है कि जबतक साथियोंका मन एक नहीं होता, उनमें भेद रहता है, तबतक वे छोटे-से-छोटा काम भी पूरा नहीं कर पाते और आपसमें मतभेदका द्वन्द्व बना रहता है; किंतु जहाँ मनकी एकता होती है, वहाँ कठिन-से-कठिन काम भी सुगमतासे पूरा हो जाता है।

जहाँ साथियोंके और साधकके विचारोंमें भेद हो, वहाँ साधकको चाहिये कि जो प्रवृत्ति विवेकके प्रतिकूल न हो, उसके लिये अपने साथियोंके मनमें अपना मन मिलाकर एकता कर ले। दूसरोंके अधिकारीकी रक्षाके लिये अपने मनकी बात पूरी करनेका आग्रह हर्षपूर्वक त्याग दे और यदि उनके मनकी बात विवेक विरुद्ध हो तो बिना किसी द्वेषभावके उनका साथ छोड़ दे। त्यागका फल सबसे अधिक त्याग करनेवालेको मिलता है। अतः साधकको सब प्रकारकी चाहका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। त्यागसे ही सदा रहनेवाली शान्ति मिलती है।

साधककी प्रवृत्ति तो दूसरोंके हितमें होनी चाहिये और निवृत्तिकालमें उसको सबसे असंग होना चाहिये।जगत् और शरीरका सम्बन्ध

कर्मसे है। इनका चिन्तन करना व्यर्थ है। इनके चिन्तनसे कोई लाभ नहीं होता।

आत्मा और परमात्माका सम्बन्ध चिन्तनसे है। इसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि जो वस्तु चिन्तनसे मिलती है, वह कर्मसे नहीं मिलती और जो कर्मसे मिलती है, वह चिन्तनसे नहीं मिलती।

बुद्धिको विवादमें न लगाकर सत्यकी खोजमें लगाना चाहिये। बलको उपभोगमें न लगाकर दूसरोंका दुःख मिटानेमें लगाना चाहिये। समयको व्यर्थ चिन्तनमें न लगाकर सार्थक चिन्तनमें लगाना चाहिये। संयोगजनित सुखकी प्राप्ति मन चाहता है। विवेकको वह प्रिय नहीं है। वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके सम्बन्धसे होनेवाला सुख वास्तवमें सुख नहीं है। उसका जन्म दुःखसे होता है और अन्त भी दुःखमें ही होता है। जब प्यासका दुःख होता है तभी जल पीनेमें सुख मालूम होता है। भूख का दुःख ही भोजनमें सुख देता है। इसी प्रकार सुखके वियोगमें भी दुःख ही बचा रहता है।

## २३

साधको चाहिये कि चित्त-शुद्धिके लिये अपनी योग्यता और रुचिके अनुरूप ऐसे साधनको अपनावे जो किसी दूसरेपर अवलम्बित न हो अर्थात् जिसमें अपनेसे भिन्न किसी व्यक्ति, पदार्थ, स्थान या परिस्थितिके सहयोगकी आवश्यकता न हो और जो सर्वथा स्वतन्त्र हो।

वेदान्तमें जो विवेक, वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्ति और मुमुक्षता--ये चार साधन बताये हैं, उनमें भी साधक सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियोंको वशमें करना, मनको वशमें करना, शीतोष्णको सहन करना आदि साधनोंके लिये शरीरमें बल चाहिये।

इसी प्रकार तप करनेमें, दान देनेमें, तीर्थ-सेवन करनेमें, एकान्त वास करनेमें अथवा किसी प्रकारकी परिस्थतिको बनाये रखनेमें भी मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है।

जबतक साधक यह सोचता रहता है कि जब अमुक तीर्थमें जाऊँगा तब साधन करूँगा, ऐसा वातावरण मिलेगा तब साधन करूँगा, शरीर स्वस्थ होगा तब साधन करूँगा, इत्यादि, तबतक जीवनका अमूल्य समय यों ही चला जाता है, साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती।

जो साधक अपने साधनमें दूसरेके सहयोग की आशा रखता है या उनकी सहायता लेता रहता है, उसका उन व्यक्तियोंमें मोह और पदार्थोंमें आसक्ति हो जाती है, अतः चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

विश्वास, त्याग, प्रेम और कर्त्तव्य-पालन-इन साधनोंमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। किसी भी व्यक्ति या वस्तुका संयोग करना मनुष्यके हाथकी बात नहीं है, परंतु त्यागमें कठिनाई नहीं है। इसी प्रकार विश्वासके लिये भी किसीके सहयोगकी जरूरत नहीं है। जब चाहे अपने इष्टपर मनुष्य विश्वास कर सकता है। प्रेममें भी परतन्त्रता नहीं है। हरेक प्राणी प्रेम करनेमें स्वतन्त्र है। एवं अपना कर्त्तव्य-पालन करनेमें भी किसी प्रकारकी परतन्त्रता नहीं है;

क्योंकि प्राप्त विवेकका आदर और प्राप्त बलका सदुपयोग ही उसका कर्त्तव्य है, जो हर मनुष्य हरेक परिस्थितिमें कर सकता है। संसार और शरीरसे विमुख होकर अपने आपको प्रभुके समर्पण करके उनपर निर्भर रहनेमें, उनकी अहैतुकी कृपा के आश्रित हो जाने में किसी प्रकारकी भी कठिनाई नहीं है। अतः यह साधन अत्यन्त सुगम और अमोघ है।

जो मनुष्य दूसरोंकी उदारतासे, उनके त्याग, परिश्रम एवं कर्त्तव्यपरायणतासे अपने अधिकारको सुरक्षित रखता है, अपने मनकी बात पूरी करता रहता है तथा अपने मनकी बात पूरी न होनेपर उनके कामोंमें दोष निकालता है और उनपर क्रोध करता रहता है, उसका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। हाँ, जो लोग उसका आदर करते हैं, उसके अधिकारकी रक्षाके लिये अपने कर्त्तव्यका पालन करते हैं, क्रोध करनेपर भी नाराज नहीं होते, प्रत्युत् अपने ही दोष का अनुभव करते हैं एवं अपना कोई अधिकार नहीं मानते, उनका चित्त अवश्य शुद्ध हो सकता है, उनका व्यवहार अवश्य साधन माना जा सकता है; परंतु यदि वे वही काम किसी सांसारिक सुखके लिये लालचसे या किसी प्रकारके भयसे करते हैं, चित्तशुद्धिद्वारा अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नहीं करते तो उनका भी चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

अतः साधकको चाहिये कि साधनके लिये किसी भी व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति और स्थान आदिकी आशा न करे। जब जो परिस्थिति अपने-आप प्राप्त होती रहे--उसे प्रभुका विधान, उनकी अहैतुकी कृपा मानकर साधनपरायण हो जाय और उस प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करता रहे। अर्थात् किसीपर अपना अधिकार न माने और दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करता रहे तथा अपने शरीर और प्राप्त पदार्थोंद्वारा ऐसी सेवा, जिसमें उनका हित और प्रसन्नता निहित हो, करता रहे और किसी प्रकारके अभिमानको स्थान न दे।

## २४

पहले यह बात कही गयी थी जबतक साधक स्वतन्त्र और सुलभ साधनको नहीं अपनाता, साध्यकी प्राप्तिके लिये दूसरोंपर निर्भर रहता है, तबतक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता।

यहाँ दूसरोंसे अभिप्राय ईश्वरसे या अपने आपसे और कर्त्तव्यसे नहीं है; क्योंकि ईश्वरसे साधकका भेद नहीं है। उससे तो साधकका नित्य सम्बन्ध है। जिनसे स्वरूप या जातिका नित्य सम्बन्ध नहीं है, माना हुआ सम्बन्ध है, वे ही दूसरे हैं।

जब मनुष्य दूसरोंके कर्त्तव्यपर निर्भर होकर उनको साधनमें सहायक मानता है, तब उनके अनुकूल व्यवहारसे तो उनमें आसक्ति हो जाती है और प्रतिकूल व्यहारसे क्रोध हो आता है। ये दोनों ही चित्तकी अशुद्धिके मुख्य कारण हैं।

विचार करनेपर मालूम होता है कि साधन करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है। जो

परिस्थिति और योग्यता उसे वर्तमानमें प्राप्त है, उसीमें वह साधन कर सकता है; क्योंकि प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग ही साधन है और उसकी सफलता भी निश्चित है। इसपर भी साधनमें प्रवृत्ति और रुचि नहीं होती, जो काम करना ठीक समझते हैं उसे नहीं कर पाते। यही सबसे बड़ा आश्चर्य है। प्राप्त विवेकके द्वारा साधकको खोज करनी चाहिये कि वास्तवमें इसका कारण क्या है? विचार करनेपर मालूम होगा कि प्रायः जो अपनेको साधक मानते हैं और साधनके उद्देश्यसे घरबार और कुटुम्बसे सम्बन्ध छोड़कर अलग रहते हैं, वे भी अपने साथियोंसे एवं जिससे किसी प्रकारका सम्पर्क है, उनसे किसी-न-किसी प्रकारकी आशा रखते हैं। उनके कर्त्तव्यसे अपने मनकी बात पूरी करना चाहते हैं। अपने अधिकारका त्याग करना और भगवान् के नाते दूसरोंके मनकी बात पूरी करना, अपना कर्त्तव्य नहीं समझते। इसलिये उनका चित्त शुद्ध नहीं होता।

दूसरा कारण यह भी मालूम होगा कि जो काम करते हैं, उसे जिस प्रकार करना चाहिये, ठीक उस प्रकार पूरा नहीं करते। जिस किसी प्रकारसे उसे समाप्त कर देना चाहते हैं। अतः उसके संकल्प दूसरे समयमें उठते रहते हैं, उसका चिन्तन नहीं छूटता।

इसलिये साधकको चाहिये कि जिस समय जो काम करे, उसे भगवान् का काम समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये उत्साहपूर्वक उसमें पूरा मन लगाकर उसे सुचारुरूपसे पूरा कर दे ताकि कामसे अलग होते ही मन संकल्परहित हो जाय। या अपने प्रेमास्पदके चिन्तनमें लग जाय और हृदयमें उनके प्रेमरसका अनुभव होने लगे।

जिस प्रकार एक सती स्त्री हरेक काम अपने पतिकी प्रसन्नताके लिये सुचारुरूपसे करती है, उसमें गलती नहीं करती और जिस प्रकार वह पतिके मनमें अपना मन मिला देती है। अपना कोई आग्रह न रखकर पति जो चाहता है वही करती है और पतिकी प्रसन्नताके लिये पतिके मित्र, सम्बन्धी, पिता-माता, भाई-बहिन आदिकी सेवा भी बड़े प्रेम और उत्साहके साथ कुशलतापूर्वक करती है। उसमें किसी प्रकारकी असावधानी, अवहेलना या आलस्य नहीं करती। जिस प्रकार एक श्रेष्ठ शिष्य अपने गुरुकी प्रसन्नताके लिये, एक श्रेष्ठ पुत्र अपने माता-पिताकी प्रसन्नताके लिये, एक पिता अपनी संतानकी प्रसन्नताके लिये, अपने स्वार्थका त्याग करता है। अपने मनकी बात छोड़कर उनके अनुकूल व्यवहार करता है। वैसे ही साधकको भी अपने प्रभुकी प्रसन्नताके लिये अपने मनकी बात छोड़कर सबके साथ उनके अनुकूल व्यवहार करना चाहिये।

जो स्त्री अपने सुखके लिये पतिकी सेवा करती है। अपने पतिसे अपने मनकी बात पूरी कराना चाहती है और जो पति अपने मनकी बात स्त्रीसे पूरी कराना चाहता है। अपने सुख-भोगके लिये स्त्रीका पालन-पोषण करता है, उनका आपसमें संघर्ष बना रहता है, उनमें प्रेम नहीं होता और वे एक दूसरेको छोड़ भी नहीं सकते। इसी प्रकार गुरु और शिष्य, पिता

और पुत्र, मित्र और मित्र, सेवक और स्वामी इन सबके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिये।

जो साधक भगवान् की भक्ति, उनका भजन-स्मरण अपने सुख-प्राप्तिकी इच्छासे करता है, भगवान्‌से कुछ लेना चाहता है और जिसको उनके प्रेमकी अभिलाषा नहीं है, उसका चित्त भी सर्वथा शुद्ध नहीं होता और वह भगवान् का प्रेमपात्र नहीं बन सकता।

इसलिये साधकको चाहिये कि दिन-रातके चैबीस घंटे एवं साधनके आरम्भसे मृत्युपर्यन्त जो कुछ करे, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये करे, उनके प्रेमकी लालसाके अतिरिक्त किसी प्रकारकी चाह न करे। अपने सारे जीवनको साधन बना ले। भजन-स्मरण, खाना-पीना, व्यवहार-व्यापार और अतिथि- सत्कार-सेवा आदिमें कोई प्रीतिका भेद न रहे।

आजकल लोग अपने सम्पर्कवालोंके कर्त्तव्यसे अपने अधिकारकी रक्षा और अपनी चाहकी पूर्ति चाहते हैं। हरेक मनुष्य दूसरेके कर्त्तव्य और अपने अधिकारकी ओर देखता है, अपने कर्त्तव्यकी ओर नहीं देखता। इस कारण न तो धर्म-पालन होता है और न आपसमें प्रेम ही सुरक्षित रहता है। गुरु शिष्यको उसके कर्त्तव्यकी त्रुटि दिखाता है। साधु गृहस्थको उसके कर्त्तव्यकी बात बताता है और अपने मनके थोड़ा-सा भी प्रतिकूल होनेपर क्रोध करने लगता है। गृहस्थ देखता है, यह कैसा साधु है। क्या साधुको भी कभी क्रोध आना चाहिये? इसी प्रकार एक दूसरेके दोषोंको देखते रहते हैं। तब उनका अन्तःकरण शुद्ध कैसे हो?

इस प्रकारके व्यवहारमें जब पिता पुत्रसे कहता है कि 'तू अमुक काम हमारे मनके अनुकूल नहीं करता, तू बड़ा नालायक है।' तो पुत्र यदि सामने नहीं कहता तो उसके मनमें तो यह भाव आ ही जाता है कि 'भूल तो इनकी है और मुझे नालायक बताते हैं' अतः यदि किसीको हितकी बात बतानी हो, तो भी बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि पहले उसमें प्यार और विश्वास उत्पन्न करे। जब उसे यह विश्वास हो जायगा कि ये मेरा सब प्रकारसे हित चाहते हैं, इनका कोई स्वार्थ नहीं है, तभी वह उनकी बात मानकर उसके अनुसार चलनेका प्रयत्न करेगा।

चित्तशुद्धिके लिये व्यवहारमें समता भी होनी चाहिये। विषमताके व्यवहारसे चित्त अशुद्ध हो जाता है। इससे मनुष्यकी साधनमें रुचि नहीं होती।

आजकल देखा जाता है कि लोग अपने साथियोंमें और जिनके साथ समयपर सम्पर्क होता है, उनमें व्यवहारका बहुत भेद रखते हैं। पिता जिस प्रकार अपने पुत्रसे प्रेम करता है--वैसा भाईके पुत्रसे या पड़ोसीके पुत्र से नहीं करता। स्त्री अपने पतिको जैसा भोजन देती है, अपने देवर-जेठको वैसा नहीं देती। जैसे अपने पुत्रको देती है, वैसे देवर-जेठके पुत्रोंको नहीं देती। औरकी तो कौन कहे, अपने ही शरीरसे उत्पन्न पुत्र और पुत्रीमें भी भेद रखती है। समझती है कि पुत्र तो अपने घरमें रहेगा। कमाकर हमारा पालन-पोषण करेगा। लड़की तो अपने घरकी होगी। हमें तो उल्टा देना-ही-

देना रहेगा। इसी प्रकार अपने सगे-सम्बन्धी, जान-पहचानके व्यक्तिमें और अपरिचित आगन्तुक व्यक्तिके साथ भी व्यवहारमें भेद होता है। उपर्युक्त भेद केवल कर्ममें हो या आवश्यकताके भेदसे हो, या जिसका सत्कार करना है, उसकी रुचिके भेदसे वस्तुका भेद हो तो कोई हानि नहीं है। वह तो होना ही चाहिये; परंतु प्रेमका भेद नहीं होना चाहिये। प्रीतिकी एकता होनी चाहिये। पर होता बिल्कुल इसके विपरीत है। किसी समय किसी कारणसे वस्तुमें भेद न होकर भी प्रीतिमें भेद हो जाता है। इससे न तो चित्त शुद्ध होता है, न प्रेम बढ़ता है, न आपसमें एकता आती है और न शान्ति ही मिलती है।

अतः साधकको चाहिये कि जिसके साथ व्यवहार करे, उसे ईश्वरका स्वरूप माने अर्थात् यह समझे कि स्वयं भगवान् ही कृपा करके मेरी सेवा स्वीकार करनेके लिये इस वेषमें आये हैं। अथवा यह समझे कि सर्वव्यापी भगवान् इसमें विद्यमान हैं, अतः इसकी सेवा उन्हींकी सेवा है। यह भी न हो सके तो कम-से-कम यह तो समझे कि जो समस्त जगत्के कर्ता, संहर्ता और स्वामी हैं, यह भी उन्हींका है। अतः इसके आदर, सत्कार एवं सेवासे भगवान् प्रसन्न होंगे। मुझे उनका प्रेम प्राप्त होगा। इस भावको लेकर प्रेम और उत्साह पूर्वक उसकी हरेक विवेक सम्मत आवश्यकताकी पूर्ति करे तथा सब कुछ भगवान् का है, उन्हींकी वस्तु उन्हींके काममें लग रही है, इस भावनासे अपने मनमें किसी प्रकारका अभिमान न आने दे। इस प्रकार व्यवहार करनेवाले साधकका चित्त शुद्ध हो जाता है। उसको किसी प्रकारकी भोगवासना नहीं रहती। निःस्वार्थ प्रेम ही वास्तवमें भक्ति है और सब वासनाओंसे रहित होना ही मुक्ति है। अतः भक्ति चाहनेवाले साधकोंमे प्राणिमात्रके प्रति अगाध प्रेम रहना चाहिये और मुक्ति चाहनेवाले साधकोंमें सब प्रकारकी वासनाओंका अभाव होना चाहिये।

## २५

यह पहले कहा गया कि चित्तशुद्धिके लिये माने हुए सम्बन्धका त्याग करना अनिवार्य है।

साधकको चाहिये कि शरीर और संसारके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, उसको तोड़कर अपने प्रभुपर विश्वास करके उनके साथ सम्बन्ध जोड़े, उनके सिवा और किसीको अपना न माने।

उनको अपना माननेमें और उनसे प्रेम करनेमें साधक सदैव स्वतन्त्र है। हाँ, भगवान् उसको अपना मानें या न मानें, उसे अपना प्रेम प्रदान करें या ठुकरा दें, यह उनके हाथकी बात है। इसमें साधकके वशकी बात नहीं है, परंतु उनके ठुकरानेपर भी उनको अपना मानना, उनसे प्रेम करना और उन्हींपर निर्भर रहना- इसमें तो साधक किसी प्रकार भी पराधीन नहीं है। क्या गोपियोंको भगवान्ने नहीं ठुकराया, परंतु इतनेपर भी क्या वे कभी उनसे विमुख हुई? क्या उनको अपना मानना और प्रेम करना छोड़ दिया? नहीं, वे चाहे ठुकरायें और चाहे प्रेम

करें--प्रत्येक अवस्थामें उन गोपियोंको तो वे अपने ही दीखते थे। यही कारण था कि भगवान् अलग रहते हुए भी उनके पास ही थे। भगवान् श्यामसुन्दर भी उनके प्रेममें इतने मुग्ध थे कि उनका स्पर्श पाकर आये हुए पुष्पको देखकर प्रेममें विभोर हो जाते, उनके चरणकी रज हवामें उड़कर शरीरपर पड़ती तो अपनेको धन्य मानते।

कोई कहे कि भगवान्को तो हमने कभी देखा नहीं, हम कैसे उनको अपना मान लें और कैसे उनसे प्रेम करें तो इसका उत्तर यह है कि जिस संसार और शरीरको तुम देख रहे हो, इससे सम्बन्धका त्याग करनेमें तो तुम स्वतन्त्र हो। यह सम्बन्ध तो तुम्हारा ही बनाया हुआ है। अतः इससे सम्बन्ध तोड़कर सर्वथा विमुख हो जाओ। यदि यह तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़े तो भी तुम इसकी ओर दृष्टिपात मत करो। जब तुम्हारा संबंध नहीं रहेगा, तब भगवान् से सम्बन्ध अपने-आप हो जायगा। इसको पीठ देते ही तुम भगवान् के सम्मुख हो जाओगे, सम्मुख होते ही तुम्हारे अनन्त जन्मोंके पापोंका नाश होकर तुम्हारा चित्त उसी क्षण शुद्ध हो जायगा और भगवान् तुमको अपना लेंगे। तब तुम भगवान्को देख लोगे।

कोई कहे कि 'पहले हमको भगवान् का प्रेम प्राप्त हो जाय तब हम इस जगत्से सम्बन्ध छोड़े दें' तो ऐसा नहीं होता। यदि कोई अपना मुख गिलोयसे भर ले और कहे कि मिसरीका मिठास प्राप्त होनेपर गिलोयका त्याग करूँगा। यह जैसे सम्भव नहीं, इसी प्रकार जबतक साधक संसारको पीठ देकर भगवान् के सम्मुख नहीं होता, तबतक उनका प्रेम प्राप्त होना सम्भव नहीं है। उनसे सम्बन्ध जोड़नेके लिये अर्थात् जिनसे साधकका नित्य सम्बन्ध है और जिनको वह अपने ही प्रमादसे भूल गया, उस भूलको मिटानेके लिये अपने माने हुए सम्बन्धको पहले मिटाना होगा।

शरीर और संसारसे सम्बन्ध टूटते ही निर्वासना और असंगता प्राप्त हो जायगी, रागका सर्वथा अभाव हो जायगा। निर्वासनासे योग, असंगतासे बोध और समर्पणसे अनुराग अपने-आप प्राप्त हो जाता है। यह नियम है।

जगत्से सम्बन्ध तोड़नेसे मुक्ति और भगवान्से सम्बन्ध जोड़ लेनेपर भक्ति स्वतः हो जाती है।

## २६

जबतक साधकको अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें किसी प्रकारकी उलझन या कठिनाई मालूम हो, तबतक समझना चाहिये कि चित्तमें किसी-न-किसी प्रकारकी अशुद्धि है।

जबतक मनुष्य पराधीन रहता है, अपनी कामनाकी पूर्ति दूसरोंसे चाहता है, जबतक उसका चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

संतोंका कहना है कि जब मनुष्य आजाद (स्वाधीन) हो जाता है, तब खूँखार शेर

उसे गोदमें ले लेता है; वृक्ष उसे फल देने लगते हैं। भाव यह कि चाहरहित मनुष्यको सब वस्तुएँ अनायास अपने-आप प्राप्त होती है।

साधक को चाहिये कि या तो सभीको अपना समझे या किसीको अपना न समझे। ये दोनों ही साधक हैं। सबको अपना समझनेवाला सबसे समान प्रेम करता है। प्रेममें देना-ही-देना रहता है। किसीसे कुछ लेनेकी भावना नहीं रहती। अतः सब प्रकारसे प्राप्त-शक्तिके द्वारा सबका हित करना, उस शक्तिको उनके हितमें लगा देना और बदलेमें उनसे कुछ लेना नहीं, यही सबको अपना समझना है। एवं सबसे असंग हो जाना ही अपना न समझना है। जो दूसरोंसे कुछ लेनेके लिये उनको अपना समझता है, वह कभी गुलामीसे नहीं छूटता। जिस-जिस भोगको वह चाहता है, उस-उसका गुलाम बन जाता है, अतः स्वाधीन नहीं हो पाता और उसका चित्त अशुद्ध होता रहता है।

चित्तकी शुद्धिके लिये क्षमाकी बड़ी भारी आवश्यकता है। अतः साधकको क्षमाशील होना चाहिये। जब कभी उसे मालूम हो कि मेरे कारणसे किसीको कष्ट हुआ है, मुझसे किसीके प्रतिकूल व्यवहार हो गया है, तो तुरंत उससे क्षमा माँग ले। यदि अपनी गलतीका भास कालान्तरमें हो तो मनसे क्षमा माँग ले और पुनः वैसी गलती न करनेका दृढ़ संकल्प कर ले। इससे साधकमें निर्दोषता आती है।

यदि किसी दूसरेका व्यवहार अपने प्रतिकूल हो तो तत्काल ही उसे क्षमा कर दे। अपने मनमें यह भाव ही न रहने दे कि उसने कोई अपराध किया है, ताकि उससे बदला लेनेकी भावना कभी भी उत्पन्न न हो। यह भाव रक्खे कि सरकारसे या ईश्वरसे भी उसको किसी प्रकारका दण्ड न मिले, बल्कि ईश्वरसे यह प्रार्थना करे कि इसकी बुद्धि शुद्ध कर दीजिये ताकि यह अन्य किसीके साथ बुरा व्यवहार न करे। इससे साधकमें वैर-भाव मिट जाता है।

जो स्वयं दुखी होता है, वही दूसरोंको दुःख देता है। जिसके पास जो वस्तु होगी वही तो देगा। जिसके पास दुःख है ही नहीं, वह कहाँसे देगा। दुखी प्राणी हर प्रकारसे दयाका पात्र होता है। अतः क्षमाशील साधक कभी किसीपर क्रोध या द्वेष-भाव नहीं करता। उसे तो किसीका अपराध दीखता ही नहीं। वह तो दुःखका हेतु अपनी बेसमझीको मानता है।

जो क्षमाशील साधक अपनी गलतीके लिये दूसरोंसे क्षमा माँगकर और पुनः गलती न करनेका संकल्प करके निर्दोष हो जाता है तथा अपने प्रति जो प्रतिकूल व्यवहार करता है, उसको दोष न मानकर वैर-भावसे रहित हो जाता है, उसका चित्त शुद्ध हो जाता है।

आजकल जब किसीके मनके, विपरीत काम होता है, तब उसको क्रोध आ जाता है। यदि कोई कहे कि क्रोध नहीं करना चाहिये तो कहते हैं कि 'क्रोध किसको नहीं आता? क्या मैं महात्मा हो गया? मैं तो गृहस्थ हूँ.... 'इत्यादि। यदि उनसे पूछा जाय कि 'आप महात्मा क्यों नहीं बन गये? किसने मना किया था? मनुष्य ही तो महात्मा होते हैं?' तो इसका कोई उत्तर नहीं है। ऐसे प्राणियोंका चित्त शुद्ध नहीं हो पाता।

जो मनुष्य भगवान् की प्रकृतिको अपनी मानकर उससे भोगवासनाकी पूर्ति चाहता है, उसके साथ प्रकृति उदारताका व्यवहार नहीं करती। उसको तो वह उसके कर्मानुसार न्यायोचित फल देती है। उसपर प्रसन्न नहीं होती, बल्कि क्रोध करती है। जैसे किसी सती स्त्रीको कोई अपनी समझकर उससे भोगकी चाह करे तो वह क्या करेगी? क्या उसको शाप नहीं देगी? इसी प्रकार ही प्रकृतिके बारेमें समझ लेना चाहिये। परंतु जो प्रकृतिको अपने प्रभुकी समझता है, उससे किसी प्रकारका भी भोग नहीं चाहता, उसपर प्रकृति-माता प्रसन्न होकर जैसे कोई माता अपने पुत्रका पालन करती है, उसी प्रकार उसका पालन-पोषण करती रहती है। यही कारण है कि चाहरहित साधकको कभी अभावका भास नहीं होता।

किसीको यह कभी नहीं समझना चाहिये कि पतनका कारण प्रारब्ध है; क्योंकि प्रारब्ध किसीके पतनका कारण नहीं होता। विवेकका अनादर करनेसे और प्राप्त बलका दुरुपयोग करनेसे ही मनुष्यका पतन होता है।

जो मनुष्य अपने दोषकी ओर ध्यान न देकर दूसरोंको दोषी मानता है और इस खयालसे कि 'यहाँ मेरा आदर नहीं है, मेरे साथ लोग व्यवहार ठीक नहीं करते, '-एक जगह छोड़कर दूसरी जगह जाता है, उसको वहाँ भी आदर नहीं मिलता; क्योंकि दूसरोंसे सुख चाहनेवाला मनुष्यका कोई भी आदर नहीं करता। जैसे कोई बेवकूफ हो और सभी लोग उसे बेवकूफ कहने लगें एवं उस अपमानसे बचनेके लिये वह कहीं अपरिचित स्थानमें चला जाय, वहाँ जाकर कहीं जमीनके खड्डेमें बैठकर भोजन करे और इस खयालसे इधर,उधर देखता रहे कि कोई दूसरा देख न ले, कोई मुझे बेवकूफ न समझ ले। इस परिस्थितियमें उसे देखनेवाला उससे कहें कि 'अरे बेवकूफ! यहाँ क्या कर रहा है?' तो वह क्या समझेगा? वह मनमें यही समझेगा कि यहाँ भी लोगोंने मुझे पहचान लिया। कहनेका भाव यह है कि जबतक उसमें बेवकूफी बनी रहेगी, वह कहीं भी किसीसे छिपी नहीं रहेगी। इसी प्रकार जबतक मनुष्य अपने दोष को स्वयं नहीं मिटा लेगा, तबतक कहीं भी उसे सुख और शान्ति नहीं मिलेगी।

इसलिये साधकको चाहिये कि जब जहाँ जो परिस्थिति प्राप्त है, उसका सदुपयोग करे। ऐसा करनेसे उसकी उन्नति का मार्ग अपने आप खुल जाता है और उसकी उन्नतिके लिये जब जैसी परिस्थिति आवश्यक होती है, अपने-आप अनायास प्राप्त हो जाती है। जब भगवान् उसका एकान्तवास आवश्यक समझते हैं, तब वैसी ही परिस्थिति पैदा कर देते हैं।

साधकके लिये सबसे अच्छा जीवन वही है जब हृदयमें निरन्तर प्रेमकी गंगा लहराती रहे। अहं-अभिमानसे सर्वथा शून्य हो, किसी प्रकारकी चाहका उदय न हो, शरीर विश्वके काम आता रहे तथा जीवन सब प्रकारसे पूर्ण और अनन्त हो।

जीवन बदल जाना साधकका दूसरा जन्म है। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर जो 'द्विज' कहा जाता है, उसका यही भाव है कि वह उसका नया जन्म है अर्थात् उसे वेदके ज्ञानका अधिकार प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार किसी प्रकार की दीक्षा देकर उसके अहंको बदल देना, गृहस्थसे वानप्रस्थ या संन्यास ग्रहण कर लेना भी दूसरा जन्म जाना जाता है; क्योंकि उससे उसका अहं परिवर्तित होता है।

जब सब प्रकारके दोषोंका अभाव होकर चित्त शुद्ध हो जाय, तब साधकको समझना चाहिये कि मैं अब पहलेवाला नहीं हूँ। मेरा यह दूसरा जन्म है। परंतु उसमें भी योगके, बोधके या प्रेमके अभिमानका भास नहीं होना चाहिये।

प्रेमी भक्त भगवान्‌से अपने उद्धारकी कामना नहीं करता है। वह तो सर्वथा निष्काम रहता है।

## २७

चित्तकी शुद्धिके प्रसंगमें क्षमा माँगने तथा करनेकी बात पहले कही गयी थी। अब यह कहना है कि मनुष्यको अपना दोष स्वीकार करनेमें और क्षमा माँगनेमें संकोच क्यों होता है। विचार करनेसे मालूम होगा कि उसको दोषी बने रहनेमें उतना दुःख नहीं है जितना कि दोषी कहलानेमें है। वह चाहता है कि लोग मुझे अच्छा आदमी समझते रहे, मेरे दोष प्रकट न हों, छिपे रहें। इस भावनासे दोषोंका पोषण होता रहता है और अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता।

प्रायः देखा जाता है कि कोई हितचिन्तक मित्र, माता, पिता और गुरु भी किसीका कोई दोष बतलाते हैं तो स्वीकार करना तो दूर रहा, वह झुँझलाकर उसकी सफाई देने लग जाता है। अपने दोषको छिपानेके लिये अनेक प्रकारके नये दोष उत्पन्न कर लेता है। यहाँतक कह देता है कि 'जब अपनेपर आती है, तब मालूम पड़ता है। दूसरेको समझाना सहज है। यदि तुम मेरी स्थितिमें होते तो तुम भी ऐसा ही करते' इत्यादि। यही कारण है कि जो मनुष्य अनेक वर्षोंसे सत्संग करते हैं, वे भी आजतक अपने चित्तको शुद्ध नहीं बना सके।

अतः साधकको चाहिये कि अपने चित्तके दोषोंको देखकर दुखी हो और दोषी कहलानेसे न डरे एवं निर्दोष बननेकी कोशिश करे और निर्दोषता की ख्यातिका रस न ले; क्योंकि निर्दोषताकी ख्यातिका रस मनुष्यका चित्त शुद्ध नहीं होने देता अर्थात् उसको निर्दोश नहीं बनने देता। अतः यदि कोई अपना दोष बतलाये तो क्षुब्ध न होकर उसे अपना हितैषी मानना चाहिये और उसकी बात सुनकर सफाई देनेकी कोशिश न करके अपने दोषोंको सूक्ष्म दृष्टिसे देखना चाहिये तथा उनको मिटा देना चाहिये। दोषोंका मिटाना कठिन नहीं है; क्योंकि दोष प्राणीमें स्वाभाविक नहीं है, उसके प्रमादसे उत्पन्न हुए हैं।

जो लोग यह सोचते हैं कि 'दोष किसमें नहीं है, बड़े-बड़े लोगोंमें भी देखे जाते हैं।' इस प्रकार दूसरोंके दोषोंकी ओर देखनेवालेका चित्त

शुद्ध नहीं होता; क्योंकि उसे अपने दोषोंके बने रहनेका दुःख नहीं होता और उनको हटानेके लिये प्रयत्न नहीं होता, बल्कि निराशा पैदा होती है।

अतः साधकको चाहिये कि उक्त प्रकारसे दूसरोंके दोषोंकी ओर देखकर संतोष न करे और अपने दोष मिटानेसे निरुत्साह न हो, बल्कि अपने दोषोंको गहराईसे देखे और उनके न मिटनेसे दुःखी हो। यही दोषोंको मिटानेका उपाय है। जो अपने दोषोंको देख-देखकर दुःखी होता है। और उनको मिटानेके लिये साधन करता है, उसमें दोष नहीं रह सकते।

यदि दूसरे लोग बड़ाई करें, निर्दोष बतावें तो साधकको हृदयसे उसका विरोध करना चाहिये और बिना संकोचके अपने दोष लोगोंके सामने स्वीकार कर लेने चाहिये; साथ-ही भगवान् की अपार दयाका अनुभव करना चाहिये कि उनका कैसा मधुर स्वभाव है, जो मुझ-जैसे अधमको भी लोगोंकी दृष्टिमें सम्मानके योग्य बना देते हैं।

अपने दोषोंको जाननेके लिये मनुष्यको अपने चित्तकी दशाका अध्ययन करना चाहिये। यदि किसी लड़की या स्त्रीको देखकर उसकी सुन्दरतापर दृष्टि जाय, मनको वह प्रिय लगे तो समझना चाहिये कि मेरे मनमें अभीतक (चमड़ीके) सौन्दर्यका महत्त्व है। अतः मुझमें 'कामका दोष' विद्यमान है। यदि उसे देखकर किसी प्रकारका बुरा भाव उत्पन्न न हो तो भी सुन्दरताकी प्रियता भी तो कामका दोष ही है। इसी प्रकार किसी मकानको देखकर उसकी बनावटकी सुन्दरता का या उपयोगिताका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि मनमें अभी तक 'लोभका दोष' है। यदि सम्पत्तिशाली व्यक्तिको देखकर सम्पत्तिका महत्त्व मालूम हो, किसी धनीके जीवनसे धनका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि अभीतक लोभका दोष है। यदि घरपर अतिथि आवें तथा उनका सत्कार करनेके लिये जो दूध, अन्न, फल या दूसरी वस्तुएँ खर्च हों, उनकी ओर मन आकर्षित हो तथा ऐसा भाव उठे कि आज इतनी मात्रामें अमुक-अमुक वस्तुएँ तो खर्च हो गयीं, अमुक बची है, यह व्यर्थ जायगी। इस प्रकार उन वस्तुओंका महत्त्व प्रतीत हो तो समझना चाहिये कि लोभका दोष है। जिसके मनमें लोभका दोष नहीं होगा, वह तो जितने अतिथियोंकी सेवाका अवसर मिलेगा, उतना ही सौभाग्य मानेगा। उसकी दृष्टि वस्तुओंकी ओर नहीं जायगी। जिस प्रकार धनका संग्रह करना लोभ है, उसी प्रकार उसके खर्चके रसका उपभोग भी लोभ ही है; क्योंकि उसके मनमें धनका महत्व वर्तमान रहता है। परिवारके लोगोंको अपने सुखका हेतु समझकर जो उनमें प्रियता है, यह 'मोहका दोष' है। इसी प्रकार अपने शरीरको हृष्ट-पुष्ट और नीरोग देखकर जो प्रसन्नता होती है यह भी मोह है। किसी स्वस्थ और बलवान् मनुष्यको देखकर अपने मनमें उसका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि अभीतक 'देहाभिमान दोष' है। यदि किसीकी कीर्ति सुनकर उसका महत्त्व मालूम हो तो समझना चाहिये कि 'बड़ाईकी वासनाका दोष' है; क्योंकि निरादरका भय और

मानकी चाह-ये दोनों देहाभिमानसे होते हैं और लोकवासनासे बड़ाई प्रिय लगती है।

इस प्रकार अपने दोषोंका सूक्ष्मतासे निरीक्षण करके उनका त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये और कभी भी अपनेको निर्दोष मानकर अभिमान नहीं करना चाहिये; क्योंकि अभिमान रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता।

किसी त्यागी महात्माको देखे तो उसके त्यागका महत्त्व मालूम होना चाहिये। गोपियोंके चरित्रसे उनके प्रेमका महत्त्व मालूम होना चाहिये। मीराको याद करके उसके विश्वासका महत्त्व मालूम होना चाहिये। सहजोबाईको याद करके उसके विवेकका महत्त्व मालूम होना चाहिये। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ दृष्टि जाय, वहाँ-वहाँ यदि दूसरोंके सद्‌गुणोंका महत्त्व मालूम होकर उनकी ओर चित्तका आकर्षण हो तो समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हो रहा है।

साधकको यह निश्चय करना चाहिये कि मुझे वहाँ पहुँचना है जिसके आगे कोई रास्ता नहीं है। जो सबकी अन्तिम अवधि है, वह है परम सुहृद् प्रभुका अगाध प्रेम। रास्तेमें स्थिरता और शान्तिके विश्राम-स्थान मिलें तो वहाँ ठहरना नहीं है।

## २८

पहले चित्त-शुद्धिके प्रसंगमें यह बात कहीं गयी थी कि साधकको अपने दोषोंका निरीक्षण करके दुःखी होना चाहिये। तब दोषोंका नाश होकर चित्त शुद्ध हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि दोषोंके रहते हुए मनुष्यको उनके रहनेका दुःख क्यों नहीं होता? विचार करनेपर मालूम होगा कि मनुष्य उन दोषोंमें सुखभोगकी कल्पना करके रस लेता रहता है। इस कारण उनके रहनेका दुःख नहीं होता और उनको मिटानेकी लालसा और कोशिश नहीं होती।

मनुष्य भोगोंकी चाहकी पूर्तिको ही सुख मान लेता है और यही सबसे बड़ा दोष है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सब प्रकारके दोष भोग-वासनासे उत्पन्न और पुष्ट होते रहते हैं।

आजकलकी सभ्यता मनुष्यको यही सिखाती है कि अपने रहन-सहनकी उन्नति करो अर्थात् सुन्दर-सुन्दर भोगोंकी चाह उत्पन्न करो और उनकी पूर्तिके लिये श्रम करके नाना प्रकारकी भोग-सामग्रीका संग्रह करो एवं उनका उपभोग करके चाहकी पूर्तिका सुख भोगों और फिर चाह करो। इस प्रकार दुःख-सुखके चक्रमें पड़े रहना ही जिनकी दृष्टिमें उन्नति है, उनके हृदयमें अपने दोषोंको मिटानेका भाव कैसे प्रकट हो सकता है?

उनकी शिक्षाका दुरुपयोग करनेवाले आलसी मनुष्य तो भोग-सामग्री जुटानेके लिये परिश्रम करना भी नहीं चाहते। वे तो आशा करते हैं कि कोई दूसरा ही हमारे लिये सब आवश्यक सामग्री जुटा दे और हम उसके भोगका सुख लेते रहे।

ऐसे मनुष्योंको अपनी वास्तविक आवश्यकताका ज्ञान नहीं होता; क्योंकि उनको इस बातका पता ही नहीं है कि इस जीवनसे

उत्कृष्ट कोई दूसरा भी जीवन है; जहाँ किसी प्रकारका अभाव नहीं है, जहाँ मौतका भय नहीं है, जिसमें केवल रस-ही-रस है, दुःखका लेश भी नहीं है। यदि सभी प्राणी चाहते हैं कि हमें दुःख न मिले, हम स्वाधीन और समर्थ हों, हमारा जीवन अमर हो जाय, मौतका भय न रहे, परंतु उस जीवनसे निराश हो गये हैं और वर्तमान जीवनको ही वास्तविक जीवन मान लिया है।

चाहकी पूर्तिको सुख माननेवालोंके मनमें धनकी कामना जाग्रत् होती है। उसके लिये वे वह काम करते हैं जो करना चाहिये और वह काम भी करते हैं जो नहीं करना चाहिये। एक सूतकी मिल चलानेवाला हजारों सूत कातलेनेवालों की जीविका नष्ट करके स्वयं धनी होता है। एक तेल-कलका मालिक हजारों तेली गृहस्थोंका जीवन दुःखमय बनाकर स्वयं धनी होता है। एक आटा-कलका मालिक सैकड़ों विधवा और परिश्रमी स्त्रियोंको बेकार बना देता है। इससे देशकी कितनी हानि हो रही है, उस ओर उन स्वार्थी लोगोंका ध्यान ही नहीं जाता। वे लोग समाजको को शुद्ध वस्तुओंके बदले खराब वस्तु देकर लोगोंका स्वास्थ्य बिगाड़ते हैं और उसमें देशकी उन्नति मानते हैं।

दूसरे समूहके लोग जो अपनेको विरक्त कहनेका दम भरते हैं, अपनेको भगवान् का भक्त कहते हैं, उनका जीवन भी मनुष्यको अपनी वास्तविक आवश्यकताकी पूर्तिकी ओर आकर्षित नहीं करता; क्योंकि उनमें भी अधिकांश लोग बड़े-बड़े मठ, बड़े-बड़े अधिकार और बहुत-सी सामग्रियोंका संग्रह करनेमें ही अपना जीवन सफल और उन्नत मानते हैं। अमुक स्वामीजीका आश्रम बड़ा सुन्दर है। वहाँ लोगोंको सब प्रकारका सुख मिलता है, उनके बड़े-बड़े, धनी-मानी ऊँचे अफसर, मिनिस्टर लोग शिष्य हैं, उनका बड़ा सम्मान है, इस प्रकारकी बड़ाई सुन-सुनकर मस्त रहते हैं एवं व्यक्ति, वस्तु, अवस्था और परिस्थितिके सम्बन्धसे चाहकी पूर्तिको ही सुख मानते हैं। उनके हृदयमें भी वास्तविक आवश्यकताका अनुभव नहीं होता।

ऐसे लोगो जब कहीं बाहर जाते हैं, तब अपने साथियोंको सोनेके लिये पूरी जगह मिले, चाहे न मिले; परंतु उनको कम-से-कम एक कमरा स्वतंत्र चाहिये। उसके लिये फिर नाना प्रकारका दम्भ करते हैं। कहते हैं हमें एकान्त चाहिये। यदि सचमुच एकान्तकी जरूरत हो तो जंगलमें कमी नहीं है। किसी भी वृक्षके नीचे एकान्त मिल सकता है। टूटे-फूटे खंडहरों और जीर्ण मन्दिरोंकी भी कमी नहीं है। परंतु वहाँ आराम कैसे मिले। इस प्रकारका एकान्त उनको नहीं चाहिये।

इसी प्रकार तीर्थयात्रा आदिके बहानेसे जो अपना शौक पूरा करते हैं, नाना प्रकारके स्थानोंको, प्रकृतिके सौन्दर्यको और अनेक प्रकारके दृश्योंको देख-देखकर रस लेते रहते हैं, उनको भी तीर्थसेवनका असली फल नहीं मिलता अर्थात् उनका भी चित्त शुद्ध नहीं होता। तीर्थसेवनका अधिकारी वह होता है जो तीर्थस्थानोंमें दिव्य लोकान्तरोंका अनुभव करता है अर्थात् जिसकी तीर्थोंमें भौतिक बुद्धि नहीं है।

मनुष्यकी असली माँग है--ऐसा आनन्द, जिसमें दुःखका मिश्रण न हो; ऐसा जीवन, जिसमें मृत्युका भय न हो; ऐसा रस, जिसमें नीरसताकी गन्ध न हो और ऐसा ज्ञान, जिसमें किसी प्रकारका संदेह न हो।

इस माँगकी पूर्ति तभी हो सकती है जब साधक अपने प्राप्त विवेकका आदर करे, किसी भी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितिके सम्बन्धसे मिलनेवाले सुख-दुःखोंका रस न ले, अपने दोषोंको देखकर उनके होनेके दुःखसे दुःखी हो, जबतक चित्त शुद्ध न हो जाय, तबतक चैनसे न रहे।

देहाभिमानके रहते हुए चाहका अभाव नहीं होता। चाह रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। चित्त शुद्ध हुए बिना असली आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। अतः साधकको चाहिये कि देहाभिमानका त्याग करके चाहसे रहित हो जाय। यही चित्तशुद्धिका उपाय है। चित्त शुद्ध होनेपर स्वतः ही योग, बोध और प्रेमकी प्राप्ति होती है।

## २९

प्राप्त योग्यता और शक्तिसे अधिकके लिये चेष्टा करनेसे और उस (योग्यता और शक्ति को) पूर्णतया न लगानेसे भी मनुष्यका चित्त शुद्ध नहीं होता। जिसके पास धन नहीं हो और वह यदि दान दे, ब्राह्मण और साधुओंको खिलावे तो उसका चित्त शुद्ध नहीं होता; क्योंकि जो दानी कहलानेके लिये या अपनी इज्जत बनाये रखनेके लिए दान किया जाता है, उससे अभिमान पुष्ट होता है। इसी प्रकार जो तप तपस्वी कहलानेके लिये, जो योग योगी कहलानेके लिये, जो त्याग त्यागी कहलानेके लिये और जो संयम संयमी कहलानेके लिये किया जाता है, उसमें दम्भ और अहंभाव बढ़ता है, अतः उससे चित्त शुद्ध नहीं होता।

प्रायः देखा जाता है कि जिसके पास धन नहीं है, वह बाहरसे अपने शरीरको जितना सजाता है, धनी आदमी उतना नहीं सजाता; क्योंकि जो योग्यता जिसमें सचमुच होती है, उसे उसका प्रदर्शन करनेका शौक नहीं होता; वह तो उसका स्वभाव बन जाता है। अतः उसके मनमें उसकी कोई विशेषता नहीं होती।

जो साधु या प्रचारक अपने अनुयायियोंसे उनकी सामर्थ्यसे अधिक खर्च करवाता है, वह उनको बेईमानी करनेके लिये प्रोत्साहन देता है तथा जो मनुष्य इज्जत बढ़ानेके लिये सामर्थ्य अधिक खर्च करता है, वह बेईमानी करनेकी तैयारी करता है।

हैसियतसे अधिक खर्च करनेवाला सदा धनके लोभसे अशान्त रहता है। उसको इज्जतका भय बना रहता है। अतः उसके चित्तमें दोष उत्पन्न होते रहते हैं एवं जो सामर्थ्यके अनुसार आवश्यकता पड़नेपर भी खर्च नहीं करता, उसका चित्त भी शुद्ध नहीं हो सकता।

प्रायः देखा जाता है कि लोग वह साधन करना चाहते हैं, जो उनकी योग्यता और रुचिके अनुकूल नहीं होता और उस साधनको नहीं करते, जो वे कर सकते हैं; क्योंकि वे साधनमें बड़े और छोटेकी कल्पना कर लेते हैं और

जिसको ऊँचे दर्जेका समझते हैं, उसीको करना चाहते हैं। फलतः जो साधन कर सकते हैं, उसमें विश्वास और श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती, और जिसे करना चाहते हैं, वह होता नहीं। अतः उनका चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

साधकको चाहिये कि अपनी योग्यता और रुचिके अनुसार साधन-निर्माण करके विश्वासपूर्वक तत्परताके साथ उसमें लग जाय। अपने जीवनमें किसी प्रकारके दम्भ और दिखावेको स्थान न दे। मनको भगवान् में लगावे, बुद्धिको अपना दोष देखनेमें लगावे, शरीरको सर्वहितकारी कर्ममें लगावे। प्राप्त शक्तिमें आसक्त न हो, अप्राप्तका चिन्तन न करे। किसी प्रकारके गुण और दोषोंका अभिमान न करे; क्योंकि अभिमानके रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं हो सकता।

जब साधकका ईश्वरपर, अपने-आपपर और कर्त्तव्यपर विश्वास हो जाता है, तब उसके मनमें किसी प्रकारका भय या चिन्ता नहीं रहती। भय और चिन्ताका सर्वथा अभाव हो जाना ही चित्तकी शुद्धि है। साधकके जीवनमें न वस्तुओंके नाशका भय होना चाहिये न मृत्युका, और न किसी अन्य प्रकारका। उसे तो सदा भगवान् की महिमाको समझकर सदाके लिये निर्भय हो जाना चाहिये।

भय तो उसको होता है जो शरीर और संसारपर विश्वास करता है एवं जिसके पास कुछ होता है। जिसके पास अपना कुछ भी नहीं होता, जो सर्वस्व भगवान्को सौंप चुका है, उसको भय क्यों होगा?

कर्त्तव्यविश्वास और आत्मविश्वासका भी आधार ईश्वरविश्वास ही है। उसके बिना दूसरे विश्वास सुरक्षित नहीं रहते।

चित्तकी शुद्धिके लिये अहंता और ममताका नाश अनिवार्य है। विचारमार्गी पहले अहंभावको मिटाता है, अहं न रहनेसे ममता अपने आप मिट जाती है। भगवद्विश्वासी पहले ममताका त्याग करता है, फिर उसका अहंभाव गलकर अपने प्रियतमकी प्रीति बन जाता है।

माने हुए अहंभावके मिटनेसे 'है' का बोध हो जाता है और ममता मिटनेसे प्रेमका उदय होता है। अतः अहं और मम मिटनेसे बोध और प्रेमकी प्राप्ति होती है-जो चित्तशुद्धिका वास्तविक फल है।

## ३०

यह बात कही गयी थी कि अहंता ममताका नाश होनेपर चित्त शुद्ध होता है। अब यह विचार करना है कि मनुष्यको यह मालूम हो जानेके बाद भी अहंता और ममता मिटती क्यों नहीं? विचार करनेपर मालूम होगा हम वर्तमान जीवनमें सन्तुष्ट हैं, इसीमें किसी-न-किसी प्रकारका सुख मानते हैं। इस कारण जीवनमें परिवर्तनकी आवश्यकताका ज्ञान नहीं होता। जबतक मनुष्य सुखपूर्वक या दुःखपूर्वक वर्तमान स्थितिमें रह सकता है, तबतक उसका जीवन परिवर्तित नहीं होता। जबतक मनुष्य सुख-दुःखके जालमें फँसा रहता है, तबतक बड़े-से-बड़ा तपस्वी और संयमी हो जानेपर भी उसके

जीवनमें वांछित परिवर्तन नहीं होता। उसके सभी प्रयत्न विफल होते रहते हैं।

कामनाकी पूर्ति होनेपर भी अभाव बना रहता है, उसकी पूर्ति नहीं होती। कामनाकी पूर्ति न होनेपर भी पूर्तिकी आशा बनी रहती है। इस प्रकार सुखमें दुःख और दुःखमें सुखकी आशा मिली रहनेके कारण मनुष्य सुख-दुःखके जालमें फँसा रहता है।

सुख और दुःखका आक्रमण बड़ा भयंकर होता है। उस समय प्राणीके मनके दो भाग हो जाते हैं। भीतरका मन कुछ और रहता है, बाहरका कुछ और रहता है। उस समय प्राणी उपदेशकी बात नहीं सुनता। दूसरेके समझानेपर वह ऊपरसे हाँ-हूँ कर देगा; परंतु भीतरसे उस परिस्थितिके चिन्तनमें ही डूबा रहेगा। जिसका धन चला गया हो उसे कोई समझाये, धनके दोष बतलाये तो वह नहीं सुनेगा। उस समय यदि कोई धन-प्राप्तिका उपाय बताये, उसके लिये मन्त्र, जप आदिका अनुष्ठान बताये तो बड़े गौरसे सुनने लगेगा और वह बात उसे बहुत प्रिय मालूम होगी। इस प्रकार सुख और दुःख मनुष्यको एक अवस्थामें आबद्ध कर देते हैं।

यदि दुःखकी पूर्णता हो जाय, तो उसका दुःख अवश्य मिट जाता है। पूरे दुःखमें दुःखका चिन्तन करनेकी शक्ति नहीं रहती। इसी प्रकार अत्यन्त सुखमें भी होश नहीं रहता। उस समय मनुष्य बेहोश या मूर्छित हो जाता है। परन्तु प्रायः मनुष्य न तो पूर्ण सुखी ही होता है, न पूर्ण दुःखी ही होता है। ऊपरसे दुःखका भान और भीतरसे सुखकी आशा बनी रहती है। कुछ इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं, कुछ पूरी नहीं होती। यह अवस्था जीवनमें परिवर्तन नहीं लाने देती।

साधकको विचार करना चाहिये कि मेरे मनमें संकल्पोंका उदय ही क्यों होता है? जब किसी-न-किसी प्रकारका राग विद्यमान है, तब उसीसे संकल्प होते हैं। अतः मुझे रागका नाश करना चाहिये।

जिसके पास धन न हो, उसे दान करनेका संकल्प नहीं उठने देना चाहिये; क्योंकि धनकी प्राप्ति या तो परिश्रमसे होती है या कोई अपना मानकर दे दे, तब। जिसको न तो श्रमके बदलेमें धन मिला है और न किसीने स्वेच्छासे उसे धन दिया है, ऐसे परिस्थितिमें यदि वह अपने घरवालोंपर दबाव डालकर दान करने या अपनी इच्छानुसार खर्च करनेके लिये उनसे धन लेनेकी चेष्टा करता है तो आपसमें मनोमालिन्य होता है। इससे चित्त अशुद्ध होता है; क्योंकि किसीके दुःखसे मिली हुई वस्तु कालान्तरमें दुःखके रूपमें सामने आती है। जिस दानके देनेमें देनेवालेको या उसके सम्बन्धियोंको दुःख होता है, वह दान लेने दोनोंमेंसे किसीको भी लाभ देनेवाला नहीं होता। दान तो संग्रह करनेका टैक्स है। इससे चित्तशुद्धिका सम्बन्ध नहीं है। वह काम यदि अपने परिश्रमसे कमाये हुए धनसे सबकी प्रसन्नतायुक्त सम्मति प्राप्त करके इस भावसे करे कि भगवान् की वस्तु भगवान् के काममें लग रही है, मैं भी उन्हींका हूँ और लेनेवाला भी उन्हींका है, लेना-देना सब उन्हींकी प्रसन्नताके लिये है, तो इस भावसे

उसका चित्त शुद्ध हो सकता है। महत्त्व भावका है न कि दानका।

न कमानेवालेका खर्च करना सबको बुरा लगता है, अतः खर्च करनेवालेको यह सोचना चाहिये कि मैं जिस वस्तुको खर्च करना चाहता हूँ उसमें दूसरेका भी हक है। सम्मिलित कुटुम्बके धनमें सभी मेम्बरोंका हक होता है। अतः पुत्रको पिता का परामर्श लेना चाहिये, पिताको पुत्रसे लेना चाहिये। भाई-भाईको परस्पर परामर्श लेना चाहिये। पति-पत्नीको भी आपसमें परामर्श करना चाहिये। इस प्रकार सबकी सम्मति और प्रसन्नताके अनुसार खर्च करना चाहिये। तभी परस्परका सम्बन्ध रह सकता है, अधिकारके अभिमानमें आकर मनमाना दान या किसी प्रकारका खर्च करनेमें लाभ नहीं होता।

सबकी सम्मति और प्रसन्नता प्राप्त न हो तो करनेकी अपेक्षा न करना अच्छा है; क्योंकि न करनेसे भी सब कुछ मिल सकता है। अर्थात् करनेकी वासनाका त्याग करनेसे साधकको वह प्राप्त होता है जो करनेसे नहीं होता। साधकको सोचना चाहिये कि यह जगत् भगवान् के संकल्पसे बना है। उसीका संकल्प पूरा होने दें। इस प्रकार जब साधक अपने संकल्पको ईश्वरके संकल्पमें मिला देता है, तब उसके करनेका संकल्प मिट जाता है।

साधकको चाहिये कि जब किसी वस्तुके अभावमें दुःख हो, तब जिनके पास वह वस्तु भरपूर है उनके जीवनको देखे कि वे सुखी हैं क्या? देखने और उनसे पूछनेपर मालूम होगा कि बड़े-से-बड़े धनी, मानी, राजा, महाराजाके अभावकी पूर्ति नहीं हुई। वे भी अपनेको दुःखी मानते हैं। उनके जीवनमें भी पूरा सुख नहीं है। यह देखकर वस्तुओंके अभावकी पूर्तिकी आशा छोड़ दे और अपनी वास्तविक आवश्यकता समझे; क्योंकि उसको जाने बिना और उसके लिये दूसरी सब वस्तुओंकी चाह छोड़कर एकमात्र उसीकी पूर्तिके लिये व्याकुल हुए बिना वास्तविक सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

साधकको अपना जीवन इतना सुन्दर बनाना चाहिय जिससे उसकी प्रत्येक आवश्यकता दूसरोंकी आवश्यकता बन जाय। अर्थात् दूसरोंको उसके जीवनकी आवश्यकता मालूम होने लगे।

ईश्वरविश्वासी साधक कभी भगवान्से कुछ चाहता नहीं भगवान् उसे जिस परिस्थितिमें रखते हैं, उसीमें प्रसन्न रहता है। वस्तु प्राप्त होनेपर तो भगवान् के आज्ञानुसार उसका सदुपयोग कर देता है और न मिलनेपर भगवान्को धन्यवाद देता है। वस्तुओंके मिलने और न मिलनेमें भी भगवान् की कृपाका ही दर्शन करता है।

मनकी बात पूरी कर देनेसे मन नहीं मरता। पूरी न करनेका हठ करनेसे भी मन नहीं मरता। अतः साधकको चाहिये कि न तो मनकी बात पूरी करनेका हठ करे और न पूरी कर देनेका ही हठ करे। जो कुछ होता रहे, उसीमें प्रसन्न रहे; क्योंकि वस्तु, अवस्था या अन्य किसी प्रकारकी परिस्थितिकी चाह न रहना ही मनका मर जाना है।

यदि कोई कहे कि मनमें भजन करनेकी चाह हो तो क्या उसे भी मिटा देना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि मन अपना रहते हुए भजन नहीं होता है। मनके मर जानेपर या प्रभुको सौंप देनेपर ही भजन होता है। इसलिये यह प्रश्न नहीं बन सकता।

जो मनुष्य यह सोचता है कि 'लड़का होशियार होनेपर कामका भार उसे सम्हलाकर भजन करूँगा, या अमुक जगह रहकर भजन करूँगा, अमुक प्रकारकी परिस्थिति मिलनेपर भजन करूँगा।' तो समझना चाहिये कि उसके मनमें भजनका उतना महत्त्व नहीं है जितना की परिस्थिति और वस्तुओंका है। अतः वह भजन नहीं कर सकता। जिसको पहला स्थान नहीं दिया जायगा अर्थात् सबसे बढ़कर जिसको महत्त्व नहीं दिया जायगा, वह चीज नहीं आयेगी।

भजनके लिये किसी भी वस्तु और परिस्थितिकी आवश्यकता नहीं है। जिसका भगवान् पर विकल्परहित विश्वास होता है, जो सबसे सम्बन्ध तोड़कर एकमात्र भगवान्‌को ही अपना मान लेता है, उससे भजन अपने-आप होता है, उसे करना नहीं पड़ता। जो किया जाता है, जिससे किसी वस्तु और परिस्थितिका सम्बन्ध है, वह भजन नहीं है;उत्कृष्ट कर्म हो सकता है। उसका फल वर्तमानमें नहीं मिलेगा, कालान्तरमें मिलेगा।

जिसपर भगवान् की कृपा होती है, उसको दुनियाँसे ऐसा थपेड़ा मिलता है कि फिर वह उसकी ओर मुँह नहीं करता।

मनकी बात पूरा होना तो एक प्रकारकी बेड़ी है। मनमें जो संकल्प उदय होते हैं, उनका कारण अविवेक है। इस संसारसे जो अपनेको मिला रक्खा है, यही सब दुःखोंका कारण है और यही विवेकका अनादर है।

अतः साधकको चाहिये कि प्राप्त-विवेकका प्रयोग शरीरपर करे, शरीरकी अवस्थाको अपनी न माने; क्योंकि शरीरके व्यापारको अपना मानते रहनेसे बार-बार संकल्प होते रहेंगे, उनका जाल कभी नहीं टूटेगा। अतः विचार करना चाहिये कि यह शरीर वास्तवमें है क्या? यह मैं कैसे हो सकता हूँ और यह मेरा कैसे हो सकता है अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार करके इस संसारसे और शरीरसे अपनेको अलग अनुभव करे। इस प्रकार समझको तो संसारपर लगाये और मन भगवान् में लगाये अर्थात् विश्वास और प्रेम भगवान् में करे।

विश्वास और प्रेम ही आस्तिकवाद है, विवेकके प्रकाशसे प्रकाशित रहना दार्शनिकता है।

गम्भीरतापूर्वक विवेकद्वारा शरीरकी उत्पत्तिको, स्थितिको और अन्तकी अवस्थाको देखना, शरीरपर विवेकको लगाना है। समझी हुई बातसे आँख मींच लेना अर्थात् उसे जानकर भी बेजानी कर देना--यही अविवेक है। जो शरीरकी असलियतको देख लेगा, वह संसारकी असलियतको भी समझ लेगा। एवं जो अपनेको देख लेता है अर्थात् मैं कौन हूँ, इसको जान लेता है, वह उसे परमेश्वरको भी जान लेता है।

मुक्ति किसी अभ्यासका फल नहीं है, विवेकका फल है। भक्ति भी विश्वास और प्रेमसे मिलती है, अभ्याससे नहीं मिलती। अभ्याससे तो शक्ति मिल सकती है। भुक्ति अर्थात् सुख-भोग और उसकी चाह ने ही मनुष्यको भक्ति, मुक्ति और शक्तिसे अलग किया है।

भक्ति और मुक्तिके मिलनेपर शक्ति तो अपने-आप आ जाती है।

## ३१

पहले यह बात कही थी कि कामनाकी पूर्ति होनेपर भी अभाव रहता है और पूरी न होनेपर उसका दुःख होता है। इस प्रकार सुख-दुःख होते रहनेके कारण चित्त शुद्ध नहीं होता।

अब विचार यह करना है कि ऐसा क्यों होता है? विचार करनेपर मालूम होगा कि प्राणी अनादिकालसे 'करता' आया है। अर्थात् बोलना, सुनना, देखना, सूँघना, स्पर्श करना, चलना-फिरना, खाना-पीना आदि सभी इन्द्रियोंके कर्म 'करने' के अन्तर्गत है और इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध होनेका नाम ही भोग है। इस 'करने' के अभ्याससे उसकी कर्ममें और भोगमें आसक्ति हो गयी है। यह आसक्ति ही उसे किसी-न-किसी प्रकारकी प्रवृत्तिमें लगाये रखती है। 'करना' छोड़नेसे अर्थात् करनेकी वासनासे रहित होनेपर जो दिव्य जीवन मिलता है, जिसकी प्राणी को परम आवश्यकता है, उसका अनुभव यह आसक्ति ही नहीं होने देती। अतः प्राणी 'करने' के अन्तमें कुछ प्राप्त न होनेपर भी करनेमें ही लगा रहता है, उसे छोड़ता नहीं। सुनना बंद करे तो देखने लग जाता है, देखना बंद करे तो बोलनेमें लग जाता है। इसी प्रकार कुछ-न-कुछ करता ही रहता है।

जब ऊपरसे 'करना' छोड़ देता है, तब भीतरमें मनोराज्य करने लगता है। आसक्तिके कारण जो संस्कार जम गये, उनकी स्मृति होती रहती है। सुख नहीं रहता, परंतु उसकी आसक्ति रहती है। उसका नाश नहीं होता। उस आसक्तिके कारण बीती हुई बातका स्मरण (चिन्तन), वर्तमानमें प्रवृत्ति और भविष्यकी आशा नहीं मिटती, इस कारण चित्त शुद्ध नहीं होता।

साधकको अपने प्राप्त विवेकका आदर करके विचार करना चाहिये कि जो कुछ देखने-सुननेमें आता है अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें आता है वे सभी दृश्य परिवर्तनशील और अनित्य हैं। अतः उनके द्वारा जो कुछ किया जाता है, वह भी अनित्य है। इन सबका परिवर्तन हो रहा है; परंतु मेरा परिवर्तन नहीं होता। इनके न रहनेपर भी मैं रहता हूँ, शरीर बदल गया, परिस्थिति बदल गयी परंतु मैं वही हूँ, जो पहले था। अतः उसके साथ मेरी जातीय एकता नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है, जो मिटाया जा सकता है। इस प्रकार विचार करनेके बाद कुछ समयके लिये कुछ भी न करनेकी स्थितिमें रहकर अपने जीवनका निरीक्षण करना चाहिये एवं उस स्थितिका अनुभव करना चाहिये, जो 'न करने' से प्राप्त होती है। ऐसा करनेसे उस समय साधकको उस आनन्दकी झलक मिलती है जो अनन्त कालतक

करते रहनेपर कभी नहीं मिली। तब उसको उस दिव्य जीवनकी आवश्यकता अनुभव होता है।

जब साधक शरीर और संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करके सब प्रकारकी चाहसे रहित हो जाता है, तब उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। यहाँसे प्रेमका आरम्भ होता है। इसके पहलेकी जो भक्ति है वह तो चित्तशुद्धिका ही एक उपाय है। उसे प्रेम नहीं समझना चाहिये।

एक भाई गोपी-प्रेम की बात पूछ रहे थे। इसलिये कहना है कि जब तक प्राणी का शरीर और संसार से सम्बन्ध नहीं छूटता, जब तक शरीर का 'मैं' और संसार को अपना मानता है तब तक गोपी-प्रेम की बात समझ में नहीं आती। प्रेमी में चाह नहीं रहती, इसलिये प्रेमी अपने लिये कुछ नहीं करता, जो कुछ करता है वह अपने प्रियतम को रस देने के लिये ही करता है। यहाँ तर्कशील मनुष्य यह प्रश्न कर सकता है कि भगवान् तो सब प्रकार से पूर्ण और रसमय आनन्दस्वरूप हैं। उनमें किसी प्रकार का अभाव ही नहीं है। उनको रस देने की बात कैसी? उसको समझना चाहिये कि यही तो प्रेम की महिमा है, जो आप्तकाम में भी कामना उत्पन्न कर देता है, सर्वथा पूर्ण में भी, अभाव का अनुभव करा देता है। प्रेमियों का भगवान् सर्वथा निर्विशेष नहीं होता। उनका भगवान् तो अनन्त दिव्य गुणों से सम्पन्न होता है। और उनका अपना प्रियतम होता है। उनकी दृष्टि में भगवान् के ऐश्वर्य का भी महत्त्व नहीं है। उनका भगवान् तो एक मात्र प्रेममय और प्रेम का ग्राहकर है।

प्रेमी भगवान् को रस देने के लिये ही अपना जीवन सुन्दर बनाते हैं। जैसे सुन्दर पुष्प को खिला हुआ देखकर वाटिका का स्वामी उस फूल से प्रेम करता है, उसको हाथ में लेता है, सूँघता है, उसकी शोभा को देखकर प्रसन्न होता है, वैसे ही भगवान् भी अपने प्रेमी को चाहरहित सुन्दर जीवन युक्त देखकर प्रसन्ना होते हैं, उनको उससे रस मिलता है।

पुष्प तो जड़ होता है, इस कारण स्वयं मालिक से प्रेम नहीं करता। जैसे धन से मनुष्य प्रेम करता है, परंतु धन जड़ होने के कारण मनुष्य से प्रेम नहीं करता। जीव जड़ नहीं है, चेतन है इसलिये यह भी अपने प्रियतम से प्रेम करता है। अर्थात् भक्त भगवान् से प्रेम करता है और भगवान् भक्त से प्रेम करते हैं। भगवान् भक्त के प्रियतम और भक्त भगवान् का प्रियतम हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण और किशोरीजी की प्रेमलीला से यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है। उनकी लीला अपने भक्तों को प्रेम का तत्त्व समझाने और रस प्रदान करने के लिये ही हुआ करती है। एक समय श्याम सुन्दर के मन में किशोरीजी को प्रेम-रस प्रदान करने के लिये उनकी परीक्षा की लीला करने का संकल्प हुआ, तो आपने एक देवागंनाका रूप धारण किया और किशोरी जी के पास गये। बातचीत के प्रसंग में श्याम सुन्दर ने कहा-'किशोरी जी! आप श्याम सुन्दर से इतना प्रेम क्यों करती हैं, वे तो आपसे प्रेम नहीं करते।' तब किशोरीजी ने कहा-'तुम इस बात को क्या समझो! प्रेम करना

तो श्यामसुन्दर ही जानते हैं। वे ही प्रेम करते हैं। मुझमें प्रेम कहाँ है? देवांगना बोली-'नहीं-नहीं, वे तो प्रेम नहीं करते, तुम्हीं प्रेम करती हों।' तब किशोरीजी ने कहा-'देवी! प्रेम करना जैसा श्याम सुन्दर जानते हैं, वे जितना और जैसा प्रेम करते हैं, वैसा कोई नहीं कर सकता।' तब देवांगना बोली- मैं तो यह नहीं मान सकती।' किशोरी जी ने कहा-'तुमको कैसे विश्वास हो?, देवांगना बोली-'यदि वे आपके बुलाने से आ जायँ तो मैं समझूँ कि सचमुच वे भी आपसे प्रेम करते हैं।' किशोरी जी ने कहा-'यह तो तब हो सकता है जब कि कुछ समय तक तुम मेरी सखी बनकर यहाँ रहो।' देवांगना ने किशोरी जी की बात स्वीकार की और उनकी सखी बनकर रहने लगी। तब किशोरी जी ने भाव में प्रविष्ट होकर भगवान् से कहा-'प्यारे! तुम कहाँ हो? इतना कहते ही देवांगना से भगवान् श्यामसुन्दर हो गये। उनको देखकर किशोरी जी ने कहा-'ललिते! वह देवांगना कहाँ है?' उसे बुलाकर प्यारे का दर्शन कराओ।' तब ललिता बोली-'प्यारी! उसी में से यह देव प्रकट हुए हैं, वह अब कहाँ है।' ललिता विवेक-शक्ति का अवतार है, यह भक्त और भगवान् को मिलाती रहती है। इस लीला से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भक्त भगवान् से प्रेम करता है और भगवान् भक्त से प्रेम करते हैं।

प्रेमी भक्त और भगवान् अभिन्न होते हुए भी दो हैं और दो होते हुए भी एक हैं। इस पर भी भगवान् की एक लीला याद आ गयी।

एक दिन श्याम सुन्दर किशोरी जी के मुख की ओर देखकर बोले-'प्यारी! तेरा मुख तो मानो चन्द्रमा है और मेरे नेत्र चकोर हैं। ये उससे देखते-देखते कभी तृप्त ही नहीं होते।' तब किशोरी जी ने कहा-'प्यारे! तुम चन्द्रमा की उपमा देकर स्तुति में मेरी निन्दा क्यों करते हो? चन्द्रमा तो घटता-बढ़ता है, उसमें तो विष है, वह तो कलंकित है, उसके साथ मेरे मुख की उपमा कैसे हो सकती है?' श्याम सुन्दर बोले-'प्यारी! मैं तो तुम्हारे मुख की निन्दा नहीं करता, चन्द्रमा के शीतल प्रकाश और उसकी सुन्दरता से तुलना करके तुम्हारे मुख की शोभा का वर्णन करता हूँ।' किशोरी जी ने कहा-'ऐसी बात नहीं है। तुम तो स्तुति में निन्दा करते हो।' इतना कहकर किशोरी जी वहाँ से

अन्तर्धान हो गयीं। तब श्याम सुन्दर विरह में व्याकुल होकर किशोरी जी को खोजने के लिये वन-वन भटकने लगे। इधर किशोरी जी विरह-व्याकुल होकर भगवान् में तन्मय हो गयीं और अपनेको श्याम सुन्दर समझने लगीं। वह भी वन में किशोरीजी को खोजने लगीं। रास्ते में दोनों की भेंट हुई। वे कहने लगे-'मैं नन्दलाल हूँ।' 'वह कहने लगीं-मैं नन्दलाल हूँ इत्यादि।'

प्रेम की ऐसी महिमा है। उसे न भेद कहा जा सकता है, न अभेद ही कहा जा सकता है। उसमें दूरी भी नहीं है, एकता भी नहीं है। प्रेम का स्वरूप वर्णन करने में नहीं आता।

अभेदवाद में तो जीवन में ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा होती है, ब्रह्ममें नहीं। अतः जैसे समुद्र अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहता है, उसे नदीं की

आवश्यकता नहीं होती, नदी ही समुद्र की ओर चलकर उसमें मिलती है, उसी प्रकार जिज्ञासु ब्रह्म को प्राप्त होकर उसमें एक हो जाता है, उसमें भिन्नता नहीं रहती। इसी प्रकार योगी भी कैवल्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है। परंतु प्रेम में तो एक दूसरे को रस प्रदान करते रहते हैं। अतः प्रेम-रस अनन्त है, उसकी कभी पूर्ति नहीं होती।

साधक का प्रयत्न तो चित्त शुद्धि तक ही है। उसके बाद साधक जिस भाव को लेकर साधन आरम्भ करता है, उसके अनुसार मुक्ति (बोध), योग और प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। जो किसी प्रकार के भाव को लेकर नहीं चलता, उसको सभी मिल जाते हैं।

प्रेम में देने का भाव रहता है, लेने की इच्छा नहीं रहती। सच्चा सेवक स्वामी से कुछ चाहता नहीं, उनके सुख में ही सुखी रहता है। माता पुत्र का लाड़-प्यार करके उसे सुखदेने में ही प्रसन्न रहती है, मित्र एक दूसरे को सुख देता है। पति-पत्नी आपस में एक-दूसरे को सुख देते हैं। कोई भी एक दूसरे से कुछ लेना नहीं चाहता। इस प्रकार चारों प्रकार के भक्तों का भाव समझ लेना चाहिये।

## ३२

यह बात पहले कही गयी थी कि शरीर और संसार के माने हुए सम्बन्ध का त्याग करने से चित्त शुद्ध होता है। उसी पर फिर विचार किया जाता है इस सम्बन्धका त्याग कैसे हो?

विचार करने पर मालूम होगा कि प्राप्त विवेक का आदर करके उसके अनुसार जीवन बनाने से और मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य का पालन करने से सहज ही शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है।

हरेक मनुष्य की योग्यता में भेद होता है। इसलिये कर्म में और भोगों में एक मनुष्य की दूसरे से समानता नहीं हो सकती। तो भी प्राणी सुख, दुःख और परिस्थिति में दूसरे की बराबरी करना चाहता है। भगवान् का चिन्तन करने में और चाहरहित होने में सभी स्वतंत्र है। अतः इसमें समानता है। परन्तु इसमें लोग बराबरी नहीं करते हैं, कह देते हैं-हमारे भाग्य में यह नहीं बदा, हमारी योग्यता नहीं है, शक्ति नहीं है इत्यादि।

प्रभु-चिन्तन करने से अथवा किसी प्रकार का भी चिन्तन न करने से प्रभु की प्राप्ति होती है। इन दोनों में से कोई भी साधन हरेक साधक अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार कर सकता है। साधन में भेद होने पर भी फल में भेद नहीं है।

साधक को मन की आवाज का अनुसरण न करके विवेक की आवाज पर ध्यान देना चाहिये। विवेक की आवाज बड़ा महत्त्व रखती है, मन हर समय धोखा देता रहता है, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भोगों की ओर है; अतः साधक को अपने साधन का निर्माण योग्यता के अनुसार विवेक के प्रकाश में करना चाहिये। लोगों की देखा देखी मनमाना साधन करने से चित्त शुद्ध नहीं होता।

साधक को चाहिये कि अपनी जानकारी के अनुरूप अपना जीवन बनावे और मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य का पालन करे। दूसरों की जानकारी का अनादर न करे और किसी प्रकारका संदेह न करे। इससे चित्त शुद्ध है।

जब तक साधक मानता कुछ और है तथा करता कुछ और ही है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता।

चित्तकी शुद्धि किसी कर्म का या प्रारब्ध का फल नहीं है। वह तो प्राप्त योग्यता के सदुपयोग से ही होती है। कर्म का फल तो सुख-दुःख का भोग तथा परिस्थिति है।

मनुष्य न तो अपनी जानकारी का आदर करता है और न ईश्वर पर विश्वास करता है। यही कारण है कि उसके जीवन का परिवर्तन नहीं होता।

पहले कहा गया था कि विवेक का आदर करके विचार करने पर हरेक मनुष्य समझ सकता है कि शरीर का परिवर्तन होता रहता है, पर मेरा नहीं होता। शरीर न रहने पर भी मैं रहता हूँ। जिसको मैं अपना कहता हूँ, वह मैं, खुद नहीं होता। यह हरेक कहता है कि हाथ मेरा है, देह मेरी है, सिर मेरा है, आँख मेरी है, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है इत्यादि। इन्हीं के समुदाय का नाम शरीर है। अतः शरीर मैं नहीं हूँ। यह सभी समझ सकते हैं। तो भी कितने आश्चर्य की बात है कि अपने को बुद्धिमान कहने वाले भी यही मानते हैं कि शरीर ही मैं हूँ। इससे भिन्न जो एक दिव्य और नित्य जीवन है, उसका अनुभव नहीं करते, यही अपनी जानकारी का अनादर करना है।

इसी प्रकार यह बात है कि हरेक मान्यता के साथ उसका विधान रहता है। जो अपने को जैसा मानता है, उस मान्यता के अनुरूप विधान ही उसका कर्त्तव्य है, परंतु भोगों में आसक्त मनुष्य उसका पालन नहीं करता। कहता है-' मैं हिंदू हूँ, परन्तु उसका एक विधान जो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' है, उसे क्रियात्मक रूप नहीं देता। अपने को ब्राह्मण मानता है, परन्तु ब्राह्मण के शम-दमादि कर्त्तव्य का पालन नहीं करता। इसी प्रकार हरेक वर्ण, आश्रम के विषय में समझ लेना चाहिये। मान लेता है कि मैं आत्मा हूँ, पर 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' को भूल जाता है और मरने से डरता रहता है। अपने को मनुष्य मानकर भी, उसका कर्त्तव्य जो अपनी निर्बलता को देखना और मिटाना है, उसका पालन नहीं करता। अपने को पुरुष मानकर भी, पुरुष का कर्त्तव्य जो अपनी पत्नी की इच्छा पूर्ण करना है, वह नहीं करता अपने को स्त्री मानती है; परंतु स्त्रीका कर्त्तव्य, जो पति की आज्ञा मानना है, उसका पालन नहीं करती। यही बात हरेक मान्यता के विषय में लागू होती है। यदि मनुष्य अपनी मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य-पालन करे, तो उसका संसार से वैराग्य हो जाय, यह नियम है; क्योंकि कर्त्तव्य विज्ञान का नाम ही धर्म है और धर्म-आचरण का फल वैराग्य है।

साधक को चाहिये कि जानकारी के अनुरूप विकल्प रहित जीवन बनावे एवं अपनी

मान्यता को क्रियात्मक रूप दे। यदि मान्यता के अनुसार कर्त्तव्य पालन न कर सके तो उस मान्यता को ही त्याग कर दे। साधक को अपनी योग्यता का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये।

यदि साधक की प्रवृत्ति कर्त्तव्य के विपरीत रहेगी तो उसके जीवन में द्वन्द्व होगा। यदि वह गृहस्थ है और ठीक-ठीक उसके विधान का पालन करता है तो जीवन का विकास होगा।

संसार पर जो मनुष्य का अधिकार है, उसका त्याग करने से ही मनुष्य संसार से उऋण हो सकता है। जब तक अपने अधिकार का अभिमान रहता है, तब तक न तो उसका चित्त शुद्ध हो सकता है, न वह संसार को छोड़ सकता है और न उसके ऋण से ही मुक्त हो सकता है; क्योंकि वह संसार से कुछ न कुछ लेना चाहता है, उसकी चाह का अन्त नहीं होता।

यदि साधक दूसरे के अधिकार की रक्षा न कर सके तो उसे चाहिये कि दूसरों से क्षमा माँग ले और अपनी अधिकार-पूर्ति की आशा छोड़कर संसार से सम्बन्ध-त्याग कर दे। संसार से सम्बन्ध छूटते ही अपने-आप ईश्वर से सम्बन्ध जुड़ जायगा।

जब तक मनुष्य मान्यता तो केवल कथन मात्र में रखते हैं और जीवन में देह भाव रखते हैं, विधान का पालन नहीं करते, तब तक उनका चित्त शुद्ध नहीं होता। देहभाव भोगों में फँसाता है, इच्छा-द्वेष, सुख और दुःख-इनकी उत्पत्ति देहभाव से ही होती है।

जब यह निश्चय हो जाता है कि शरीर मैं नहीं हूँ, तब उसके बाद भोगवासना का उदय नहीं होता। बिना भोगवासना के इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख नहीं होते। चित्त शुद्ध हो जाता है। शरीर मैं नहीं हूँ, इस बात को ठीक-ठीक समझ लेने से ही बेड़ा पार हो जाता है।

मैं शरीर नहीं हूँ, यह निश्चय करना ही पहली साधना है। अतः भोगवासनाओं ने ही मनुष्य को देहभाव में आबद्ध कर रक्खा है। इसलिये जब तक यह निश्चय न हो, जाय कि मैं शरीर नहीं हूँ, तब तक उस पर बुद्धि को लगाते रहना चाहिये। चित्त शुद्ध होने पर ईश्वर-प्रेम स्वतः प्राप्त हो जाता है।

जो अपने को नहीं जानता, वह ईश्वर को कैसे जान सकता है? अतः साधक आत्मा और परमात्मा को बुद्धि से जानने की कोशिश न करे; क्योंकि आत्मा और परमात्मा बुद्धि का विषय नहीं है, साक्षात्कार का, बोध का विषय है।

मैं शरीर नहीं हूँ यह जान लेने से समस्त वासनाओं का अन्त हो जायगा, चित्त स्थिर हो जायगा, बुद्धि सम हो जायगी। समस्त दुःखों का अभाव हो जायगा। उसके बाद केवल ईश्वर के प्रेम की लालसा रह जायगी और कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहेगा। ईश्वर-प्रेम की लालसा ईश्वर से मिला देगी।

# ३३

आजकल लेख-प्रकाशन और व्याख्यानों का जो रिवाज चल पड़ा है, सच कहा जाय तो इसमें लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही है। शिक्षा की दृष्टि से तो लाभ है, जानकारी बढ़ती है, परंतु व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति को लेकर विचार किया जाय तो लाभ नहीं है; क्योंकि लेख और व्याख्यान हरेक प्रकार के अधिकारियों की योग्यता पर ध्यान रखकर लिखे जाते हैं। किसी एक साधक के लिये नहीं होते। नाना प्रकार की बात सुनने से साधक अपनी योग्यता के अनुसार किसी एक साधन का निर्माण करके साधन को दृढ़ नहीं बना सकता। ऐसी योग्यता तो किसी बिरले साधक में ही होती है जो अपने विवेक-बल से साधन का निर्णय करके उस पर दृढ़ निष्ठा कर ले। उसके बाद जहाँ कहीं संदेह हो, किसी प्रकार की उलझन मालूम हो, उसका समाधान महापुरुषों के लेखों द्वारा, सद्ग्रन्थों द्वारा या व्याख्यान में सुने हुए उपदेश द्वारा कर ले और अपनी निष्ठा दृढ़ कर ले। अधिकांश लोग तो दुविधा में ही पड़ते हैं।

पहले सत्संग की प्रणाली बड़ी अच्छी थी। जब किसी के मन में संसार से विरक्ति होती है, तब वह किसी गुरु की खोज करता, तीव्र जिज्ञासा होने पर उसे गुरु मिलता, फिर गुरु पहले उसकी रुचि और योग्यता तथा विश्वास को समझता, उसके बाद जो साधन उसके लिये उपयोगी समझ में आता, वह उसे बताता और वह साधक अपने साधन का लोगों में प्रचार नहीं करता, अपितु उसके अनुसार अपना जीवन बनाकर, अर्थात् सुने हुए उपदेश को भलीभाँति आचरण में लाकर और योग, बोध या प्रेम को प्राप्त करके पीछे दूसरे को उसके अधिकारानुसार बताता। इस प्रकार जो प्रचार होता, वह ठोस होता और उससे उत्तरोत्तर व्यक्तियों का निर्माण होता रहता है। आजकल के प्रचार से जानकारी तो बढ़ती है, परंतु उसके अनुसार साधना में प्रवृत्ति नहीं होती।

साधक को चाहिये कि अपनी साधना को दृढ़ करने के लिये, अपने संदेह, दुविधा और उलझनों को मिटाने के लिये सत्संग करे। दूसरे को सिखाने के लिये नहीं।

परम सुहृद् परमेश्वर ने कृपा करके सभी मनुष्यों को विवेकशक्ति प्रदान की है। मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, यह सभी जानते हैं, परंतु अपने विवेक का आदर न करने के कारण मनुष्य अपना जीवन उन्नत नहीं कर पाता। ग्रन्थ, गुरु और व्याख्यान वही बात बताते हैं जो साधक में पहले से ही बीजरूप में विद्यमान होती है वे किसी में कोई नयी शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते। जैसे पृथ्वी में जैसा बीज पड़ता है, वैसा ही वृक्ष हो जाता है। जो शक्ति बीज में होती है, उसी का विकास पृथ्वी, जल, सूर्य, चन्द्र, आकाश और वायु की सहायता से होता है। इसी प्रकार जिसमें देखने की शक्ति होती है, उसे सूर्य अपने प्रकाशसे सहायता पहुँचाता है इत्यादि।

इससे यह सिद्ध हुआ कि गुरु, ग्रन्थ और सत् चर्चा साधक में विद्यमान विवेकशक्ति

को ही विकसित कर सकते हैं। कोई नयी शक्ति प्रदान नहीं कर सकते। गुरु का उपदेश, शास्त्रों का प्रमाण और अपना अनुभव तीनों मिलने से अर्थात् तीनों की एकता होने से साधक का भाव परिपक्व हो जाता है और वह यह निश्चय कर सकता है कि मुझे अमुक साधन करना है।

अतः साधक को चाहिये कि अपने विवेक का आदर करके उसके प्रकाश में सत्संग करे और उससे अपनी उलझन मिटाकर विश्वास को दृढ़ बनाये एवं अपने विश्वास, रुचि और योग्यता के अनुरूप साधन निर्माण करके उसके अनुसार जीवन बनाने के लिये तत्पर हो जाय, अपने साधन में किसी प्रकार का संदेह न करे। यह निश्चय रक्खे कि मुझे इसी से अवश्य लक्ष्य की प्राप्ति होगी और वह वर्तमान में ही होगी।

जो अपने विवेक का आदर नहीं करता, वह सत्संग से भी लाभ नहीं उठा सकता।

जब साधन का निर्माण साधक के विश्वास, रुचि और योग्यता के अनुसार ठीक-ठीक हो जाता है, तब साधक को अपना साधन श्रम-साध्य नहीं मालूम होता, उसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं रहती, प्रत्युत् साधन उसका जीवन बन जाता है। उसके बिना वह रह नहीं सकता। सच्चे साधक में अपने साधन को लेकर किसी प्रकार का अभिमान नहीं होता और दूसरे के साधन का वह अनादर नहीं करता। अपने साधन के प्रति उसका इतना प्यार और दृढ़ विश्वास हो जाता है कि साक्षात् ब्रह्मा आकर कहे कि 'तुम्हारा साधन ठीक नहीं है' इसे छोड़ दो, मैं तुम्हें दूसरा साधन बताता हूँ।' तो वह यही उत्तर देगा कि 'महाराज! इस विषय में मेरे गुरु जितना जानते हैं, आप नहीं जानते। आपको यदि कृपा करनी हो तो ऐसी करो जो साधन मैं करता हूँ उसमें मुझे सफलता मिले। मैं अपना साधन छोड़ नहीं सकता।'

जब साधक का अपने साधन पर दृढ़ विश्वास हो जाता है, तब वह जिस आर्ष ग्रन्थ को देखता है, उसी में उसको अपने साधन की, अपने सिद्धान्त और मान्यता की प्रधानता दीखती है। दूसरे सब साधन उसके सहयोगी मालूम होते हैं। इसके पहले जब तक साधक की एक निष्ठा नहीं होती, तब तक उसको अनेक साधन दीखते हैं एवं जब सिद्ध-अवस्था हो जाती है, उसके तो सभी साधन उपयोगी दिखायी देने लगते हैं; परंतु साधन-अवस्था में साधक को अपना साधन और अपना माना हुआ सिद्धान्त ही सर्वोपरि दीखता है। ग्रन्थों की अनेक टीका बनने का यही कारण है। जो जिस मार्ग से चलता है, उसे वही मार्ग सत्य मालूम देता है। साधक को इधर-उधर के मार्ग नहीं दीखते। या तो गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के बाद सब रास्ते दिखलायी देते हैं या चलना आरम्भ करने के पहले अनेक मार्ग दीखते हैं। चलना आरम्भ करने के बाद तो उसे वह एक ही मार्ग दीखता है, जिस पर वह चलता है।

## ३४

चित्त शुद्ध हो जाने पर माना हुआ सम्बन्ध टूट जाता है और अपने नित्य साथी प्रभु से सम्बन्ध हो जाता है।

जिन व्यक्तियों, वस्तुओं और परिस्थितियों के बिना हम दुःख-पूर्वक या सुखपूर्वक अथवा बिना सुख-दुःख की भावना के रह सकते हैं और रहते हैं; उनका सम्बन्ध ही माना हुआ सम्बन्ध है। जिनमें मनुष्य का राग होता है, उनके बिना तो वह दुःख पूर्वक रहता है और जिनमें द्वेष, उनके बिना सुखपूर्वक रहता है। तथा जिनमें उदासीन भाव है, उनके बिना स्वाभाविक रहता है। ये राग-द्वेष ही बन्धन हैं। ये ही चित्त की अशुद्धि के मूल कारण हैं, इनके रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता।

मनुष्य का अधिकांश समय व्यर्थ चेष्टा में व्यतीत होता है। शरीर से तो व्यर्थ चेष्टा उतनी अधिक नहीं होती, परंतु मन तो ८° प्रतिशत व्यर्थ चेष्टा में ही लगा रहता है। इससे भी अधिक यदि ९९ प्रतिशत कह दिया जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी; क्योंकि आवश्यक संकल्प तो कार्य पूरा होते ही समाप्त हो जाते हैं। इसके सिवा, आवश्यक कार्य करते हुए भी साथ-साथ व्यर्थ चिन्तन होता रहता है।

आपस में मन बहलाने के लिये बातचीत करना व्यर्थ चेष्टा है। जब मनुष्य अनेक प्रकार के दुःखों से घिर जाता है, तब उन दुःखों को दबाने के लिये मन बहलाने की बात सामने आती है। वास्तव में दुःख को दूर करने का यह उपाय नहीं है, प्रमाद है।

इन व्यर्थ की चेष्टाओं का त्याग करने में भी आसक्ति युक्त मनुष्य को कठिनाई पड़ती है। इस पर एक घटना याद आ गयी। एक विद्यार्थी ने यह छोटा-सा नियम बना लिया कि 'मैं किसी से बिना प्रयोजन नहीं बोलूँगा। या तो मुझे किसी से कुछ पूछना होगा, तब बोलूँगा या मुझसे दूसरा कुछ पूछेगा, तब बोलूँगा।' तो उसके सब मित्र उससे नाराज हो गये; क्योंकि उसने उनके साथ व्यर्थ बातें करनी छोड़ दीं।

संसार सत्य है या मिथ्या, इस पर विवाद करना व्यर्थ है। जो असत्य समझता है, उसे तो कहने की जरूरत नहीं; जो सत्य समझता है, वह भी उससे सम्बन्ध तोड़ना चाहता है। उसे भी संसार की आवश्यकता नहीं। अतः इस पर विवाद करना या विचार करना एक मात्र बुद्धिका व्यायाम है, व्यर्थ चेष्टा है। साधक को इसमें नहीं लगना चाहिये; क्योंकि उसके पास इतना समय ही कहाँ है?

मनुष्य का समय जो अधिकांश व्यर्थ चिन्तन में चला जाता है, इसके तीन कारण हैं-

१. बीती हुई घटनाओं का चिन्तन,

२. वर्तमान का दुरुपयोग और

३. भविष्य की आशा।

भूतकाल की घटना का अर्थ न समझने के कारण उसका चिन्तन होता है। यदि मनुष्य विवेक का सदुपयोग करके उन घटनाओं के अर्थ को समझ ले तो फिर चिन्तन नहीं होगा। जो कोई घटना होती है, उसका कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। उसमें जो अपनी गलती

हुई हो, उसे समझकर तो भविष्य में गलती न करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये। उसका कारण प्रमाद हो तो उसे समझकर सावधान हो जाना चाहिये। हरेक घटना भगवान् की इच्छा से होती है और उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हमारा हित निहित रहता है। यह समझकर प्रभु की अहैतुकी कृपा का दर्शन करना चाहिये। इस प्रकार उन घटनाओं का अर्थ समझ लेने के बाद उनका चिन्तन नहीं होता।

प्राप्त-शक्ति का सदुपयोग करने से वर्तमान में होने वाली व्यर्थ चेष्टा और चिन्तन मिट सकते हैं, तथा वर्तमान में सदुपयोग से भविष्य भी उज्जवल हो जाता है। अतः भविष्य की आशा भी अनावश्यक है। आशा करने से, उसका बार-बार चिन्तन करने से कोई लाभ भी नहीं होता। इसलिये भी आशा करना अनावश्यक है। यह विश्वास होने से भविष्य की आशा मिट सकती है।

अतः साधक को चाहिये कि भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को समझे, वर्तमान का सदुपयोग करे और भविष्य की आशा न करे।

इस प्रकार सावधानी के साथ व्यर्थ चेष्टा और चिन्तनका त्याग कर देने पर और आवश्यक संकल्पों को पूरा कर देने पर साधक को जो समय और सामर्थ्य मिलती है, वह समय और सामर्थ्य ही उसको उसके लक्ष्यतक पहुँचा देती है।

जिस वस्तु और बल का मनुष्य सदुपयोग नहीं करता, वह वस्तु और शक्ति उससे छिन जाती है, यह प्राकृतिक नियम है। इस रहस्य को समझकर भी मनुष्य को प्राप्त वस्तु और शक्ति का सदुपयोग करना चाहिये।

चेष्टा करने पर भी जो व्यर्थ चिन्तन नहीं छूटता, इसका एक कारण यह भी है कि बहुत-सा कूड़ा-करकट मनुष्य के मन में पहले का भरा हुआ है, उसे तो निकालना ही पड़ेगा; अतः अपने मन की बात मित्र के सामने या जो भी कोई अपना विश्वासी हो, उसके सामने सरलता से प्रकट करके निकाल देनी चाहिए। जिस किसी प्रकार से उसकी उलटी कर देनी चाहिये, तभी चित्त शुद्ध हो सकेगा।

पहले की भूलों को याद करके पश्चाताप करते रहने से और भविष्य की आशा रहने से चित्त शुद्ध नहीं होता। अतः साधक को चाहिये कि दूसरों में गलती का आरोप करके यानी उसको अपनी गलती में कारण मानकर या अपने ही सदृश दूसरों में गलती देखकर अपनी गलती के दुःख को दबावे नहीं अपितु उसके दुःख से घोर दुःखी हो जाय। ऐसा करने से भविष्य में गलती नहीं होगी और उस गलती का चिन्तन नहीं होगा, चित्त शुद्ध लगेगा; क्योंकि दुःख से चित्त बहुत जल्दी शुद्ध होता है।

वर्तमान का सदुपयोग करने के लिये साधक को चाहिये कि संसार के साथ अच्छे से अच्छा बर्ताव करे। हिन्दू धर्म की परम्परा में यह विशेषता है कि हिंदूलोग अपने निकटतम सम्बन्धी से तो विश्वास और प्रेम करते हैं एवं अपरिचित मेहमानों का अधिक से अधिक सत्कार करते हैं। और क्रिया एवं वस्तुओं के द्वारा उनको अधिक से अधिक सुख देते हैं।

बदले में उनसे कुछ लेते नहीं और उनमें मोह भी नहीं करते। अतः साधक को समझना चाहिये कि मेरे निकटतम, सदा के सम्बन्धी एक मात्र प्रभु हैं। अन्य शरीर और पत्नी आदि के सहित सबके-सब मेहमान हैं; क्योंकि उनका संयोग-वियोग मेहमान की भाँति होता रहता है। यह समझकर उनका जिस प्रकार हित हो, उनके अधिकार की रक्षा हो, उनको सुख मिले और उनकी इच्छा पूर्ण हो, उसी प्रकार प्राप्त वस्तु और शक्ति लगाकर उनकी सेवा करनी चाहिये। पर न तो बदले में उनसे कुछ मिलने की आशा करनी चाहिये। और न उनमें मोह ही करना चाहिये तथा विश्वास और प्रेम पूरा अपने प्रभु में लगा देना चाहिये।

साधक को चाहिये कि संसार को न तो अपना विरोधी मानकर उससे द्वेष करे और न उससे अपनत्व का सम्बन्ध जोड़कर राग करे। सर्वथा राग-द्वेष रहित और उदासीन रहे तथा उसके अधिकार की रक्षा करके उससे उऋण हो जाय; क्योंकि संसार का ऋण रहते हुए उसका सम्बन्ध और चिन्तन नहीं टूटता।

मनुष्य सोचता है कि मेरे पास धन होता तो मैं इसका बहुत अच्छा उपयोग करता। मेरे पुत्र होता तो उसके साथ बहुत अच्छा बर्ताव करता, इस प्रकार अन्य वस्तु और शक्ति के विषय में सोचता रहता है; परंतु जब वह प्राप्त परिस्थिति का ही सदुपयोग नहीं करता, तब मिलने वाली परिस्थिति का सदुपयोग कर सकेगा, यह कैसे माना जा सकता है? उसे विचार करना चाहिये कि मेरे पास धन नहीं है तो शरीर तो है, उसका ही मैं क्या सदुपयोग करता हूँ? पुत्र नहीं तो अन्य कुटुम्बीजन तो हैं, उनके साथ कौन-सा अच्छा व्यवहार करता हूँ? कहाँ उनके अधिकार की रक्षा कर पाता हूँ? जिसके पास आँख नहीं, उसे सोचना चाहिये कि आँख नहीं, पर वाणी तो है, उसका ही मैं कितना सदुपयोग करता हूँ? इस प्रकार विचार करने पर उसे मालूम हो सकता है कि यह केवल मन का धोखा है। यह झूठमूठ आशा के जाल में फँसा रहकर उसका रस लेना चाहता है।

मनुष्य का मन सांसारिक वस्तुओं में फँसा रहे तो इसका अर्थ यह है कि वह अपने प्रभु से दूर रहना चाहता है, प्रभु के साथ जो उसका नित्य सम्बन्ध है, उसे भूल कर उनसे विमुख रहना चाहता है और जिस संसार के साथ गलती से सम्बन्ध जोड़ लिया है, उसके सम्मुख रहना चाहता है। इससे अधिक प्रमाद और क्या हो सकता है? संसार के सम्बन्ध ने ही मनुष्य को प्रभु से विमुख किया है।

अतः साधक को चाहिये कि संसार के सम्बन्ध को तोड़कर सब प्रकार से अपने प्रभु के सम्मुख हो जाय; क्योंकि जब तक मनुष्य संसार और ईश्वर-इन दोनों से सम्बन्ध रखता है, तब तक दोनों का ही चिन्तन होता रहेगा। एक मात्र भगवान् में चित्त नहीं लगेगा। जो साधक भीतर से संसार से

सम्बन्ध जोड़े रहता है और ऊपर से सम्बन्ध तोड़ कर भगवान् का भजन-स्मरण करने के लिए अलग रहता है उसका मन घर में

लगा रहता है, वह भगवान् का चिन्तन नहीं कर सकता।

किसी से घृणा करना, उसे बुरा समझकर उससे अलग हो जाना तो मामूली बात है, परंतु भीतर से सम्बन्ध तोड़ना बड़ा कठिन है। उससे अलग होने का अर्थ केवल इतना ही होता है कि राग बदलकर द्वेष का रूप धारण कर लेता है। उससे सम्बन्ध नहीं टूटता।

जो मनुष्य अपने शरीर से सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता, वह संसार से भी नहीं तोड़ सकता। सम्बन्ध रखते हुए यदि वह हिमालय पर चला जाय तो भी उसका चित्त शान्त और शुद्ध नहीं हो सकता।

अतः साधक को चाहिये कि अपने साथियों के अधिकार की रक्षा करता रहे और अपना कर्त्तव्य पालन करता रहे। यदि कर्त्तव्य पालन न कर सके तो बाहर भीतर सब प्रकार से सम्बन्ध छोड़ दे। मरने से पहले-पहले संसार से सम्बन्ध तोड़कर अपने प्रभु से अवश्य सम्बन्ध जोड़ ले तथा हरेक परिस्थिति में प्रभु पर यह विश्वास रक्खे कि वे जो कुछ करते हैं, अच्छा ही करते हैं। उनके समान मेरा हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। वे यदि कष्ट देते हैं तो बड़ी भारी कृपा करते हैं। मुझसे शीघ्र मिलना चाहते हैं। मेरा हित किसमें है, यह वे ही जानते हैं और मेरे हित का ध्यान उनको मुझसे अधिक है।

एक महात्मा से किसीने पूछा-'क्या आप संन्यासी हैं? आपने उत्तर दिया-'लोग मुझे संन्यासी कहते हैं। वास्तवमें संन्यासी तो वह है जो समस्त संकल्पोंका त्याग कर देता है।' कितना निरभिमानता का सरल उत्तर है।

जब तक मनुष्य न तो सचमुच कुटुम्ब वालों का सम्बन्ध छोड़ता है और अपने कर्त्तव्य का पालन ही करता है, तब तक उसका चित्त शुद्ध नहीं होता। शरीर, संसार और माने हुए साथियों से सम्बन्ध टूटने पर ही अपने नित्य साथी प्रभु से सम्बन्ध जुड़ेगा।

अतः साधक को भगवान् से सम्बन्ध जोड़कर उनके नाते से समझना चाहिये कि सृष्टि के जितने भी प्राणी है, सभी मेरे प्रेम के अधिकारी हैं; क्योंकि यह सृष्टि मेरे प्रियतम की है, वह इसका स्वामी है। यह प्रभु से मिलने का मार्ग है।

यदि किसी के दोष दिखलायी देता भी समझे कि यह तो मेरे प्रभु का ही है। अतः इससे भी मुझे प्रेम करना चाहिये। सृष्टि के कण-कण से प्रेम करना चाहिए; क्योंकि यह सब भगवान की है।

इस भावना से चित्त शुद्ध होता है। साधक को जो काम कर्त्तव्य रूप से प्राप्त हो, उसे धीरज और उत्साह पूर्वक करे। उसमें अपने विवेक, स्नेह और शक्ति को भली भाँति लगाकर कुशलता के साथ करे। आलस्य पूर्वक अवहेलना से अथवा उतावलेपन से न करे। करते समय उकताये नहीं। गलत तरीके से किया हुआ काम कर्ता के चित्त को अशुद्ध बनाता है। जो काम सही तरीके से किया जाता है, उसके पूरा होने के बाद वैराग्य, निर्मलता, निर्विकल्पता मिलती है।

जैसे किसी के पैर में काँटा लग गया हो तो उसे निकाल देने पर शान्ति मिलती है। मल-मूत्र के त्याग से शान्ति मिलती है। इसी प्रकार हरेक काम सही तरीके से पूरा कर देने पर कर्म करने का वेग शान्त होता है, शान्ति मिलती है और चित्त शुद्ध होता है एवं व्यर्थ चिन्तन नहीं होता। चित्त शुद्ध होने पर द्वेष प्रेम में बदल जाता है और राग त्याग में बदल जाता है।

भक्त के जीवन में कर्म नहीं रहते, सेवा रहती है। वह आज्ञा पालन के द्वारा महापुरुषों की सेवा करता है, करुणा के द्वारा दुखियों की सेवा करता है। इसी प्रकार भगवान् के नाते सबकी सेवा करता रहता है। विश्वास और प्रेम भगवान् से करता है।

## ३५

साधक को विचार करना चाहिये कि शरीर और संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ने से मुझे क्या मिला? विचार करने पर यही मालूम होगा कि दुःख और अभाव की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। जब यह बात समझ में आ जाय तो फिर उसे यह समझकर कि सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग अनिवार्य है, अवश्य होने वाला है। जब तक तन का नाश न हो जाय, तब तक शरीर और समस्त वस्तुओं को सेवा में लगा देना चाहिये, यही उनका अच्छे-से-अच्छा उपयोग है। वस्तु, शरीर और मन का ठीक-ठीक उपयोग करने से नित्य और अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, जो कि जीव की माँग है।

शरीर का, वस्तुओं का ठीक-ठीक उपयोग करना एक चीज है और उनको अपना मानना दूसरी चीज है। अपना मानने वाला, मोहयुक्त प्राणी उतना अच्छा उपयोग कभी नहीं कर सकता, जितना कि उन सबको भगवान् की वस्तु मानने वाला कर सकता है।

हिन्दू धर्म में उत्पन्न होने के नाते जिसने ईश्वर के सम्बन्ध में इतना सुना है कि वह ईश्वर को अस्वीकार नहीं कर सकता। वह कैसा है, इस मान्यता में भेद हो सकता है। अतः यदि कोई कहे कि ईश्वर तो निर्गुण और निर्विशेष है, वह तुमसे प्रेम कैसे करेगा? तो साधक को कह देना चाहिये कि भाई! मुझे तो ऐसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, मुझे तो वह ईश्वर चाहिये जो पतित-से-पतित प्राणी से प्रेम करता है। जो परम दयालु और सबका सुहृद् है। अपने प्रेमियों को प्रेम का रस दे देने के लिये ही अवतार लेकर नाना प्रकर की लीला करता है।'

अवतार लेना हम लोगों की भाँति कर्म वश जन्म लेना नहीं है, भगवान अवतार लेने का मतलब प्रकट होना है। उनका शरीर त्रिगुण माया का कार्य नहीं होता; किंतु परम दिव्य चिन्मय होता है।

भिन्न-भिन्न परिस्थितियों को देखकर मनुष्य समझता है कि ईश्वर न्यायकारी है; परन्तु भक्तों का भगवान् केवल न्यायकारी ही नहीं है। वह प्रेमी और कृपालु भी है। सच्ची बात तो यह

है कि न्याय के लिये ईश्वर को मानने की कोई जरूरत ही नहीं थी, कर्मानुसार फल तो ईश्वर को न मानने वालों को भी मिलता ही है। न्यायकारी ईश्वर जीव से प्रेम क्यों करेगा और उससे क्यों मिलेगा; क्योंकि प्रेम और ईश्वरका मिलना किसी कर्म का फल नहीं हो सकता। कर्म का फल तो बार-बार जन्मना और मरना है। अतः जो संसार में ही रमण करना चाहते हैं, उससे ऊपर उठना नहीं चाहते उनके लिये ईश्वर न्यायकारी हैं। पर जो संसार से ऊपर उठना चाहते हैं, उनके लिये वह न्यायकारी नहीं, परम दयालु हैं।

यदि भगवान् बिना हेतु के दया करनेवाले और पतितपावन नहीं होते तो उनको कोई प्राप्त ही नहीं कर सकता; क्योंकि संसार में कौन ऐसा प्राणी है जो पतित न हो। कोई नहीं कह सकता कि मैं पतित नहीं हूँ। पतित का अर्थ है अपनी जगह पर ठीक-ठीक न रहने वाला। इस दृष्टि से हरेक मनुष्य पतित है।

जो विवेक के द्वारा शरीर से अपने को अलग अनुभव करके, कर्मों से सम्बन्ध त्याग कर, सद्गति प्राप्त करना चाहता है उसको भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती। सद्गति तो ईश्वर को न माननेवालों को भी मिल जाती है।

ईश्वर की आवश्यकता तो वास्तव में पतित प्राणीको ही है; क्योंकि भगवान् पतितपावन हैं। अतः साधक का काम है कि उसकी शरण हो जाय। किसी दूसरे को अपना न माने एवं किसी दूसरे की ओर आँख उठाकर न देखें। जो संसार उसका त्याग कर रहा है, उसे ठुकरा रहा है, उसकी आशा न करे।

शरणागत की समस्त आवश्यकताएँ अपने आप पूर्ण होती है। जैसे कोई फल खरीदने के लिये बगीचे में जाय तो उसे छाया और शुद्ध हवा मुफ्त मिल जाती है। उसे उसके लिये कुछ करना नहीं पड़ता।

अतः साधक को चाहिये कि अपने को पतित जानकर और भगवान् को पतितपावन मानकर अपने को उनके समर्पित कर दे। सर्वतोभाव से उनका हो जाय। तभी चित्त शुद्ध होगा।

## ३६

साधक का अपने साधन में सद्भाव और प्रीति होनी चाहिये। चित्त की अशुद्धि के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है निर्दोष स्थिति में अपने को दोषी मानना। मन की और बालक की एक सी दशा होती है। अतः साधक को मन के साथ बच्चों का सा व्यवहार करना चाहिये। बालक के मन की सब बात पूरी करने से भी उसका हित नहीं होता और पूरी न करने की कहने से भी उसका सुधार नहीं होता। जो बात उसके हित की हो, पूरी की जा सके, उसे पूरी कर दो और जो पूरी करने योग्य न हो, उसको भुला देने के लिए कोई ऐसी दूसरी वस्तु उसको दे दो जो उसके लिये हितकर भी हो और रुचिकर भी। ऐसा करने से बालक का सुधार सुगमतासे हो सकेगा। उसको डराने-धमकाने से, लालच देने से या उसको सदैव

बेवकूफ कहते रहने से उसका सुधार नहीं होगा, वह भयभीत, लालची और बेवकूफ बन जायेगा। कभी बुद्धिमान नहीं बनेगा। यही बात मन के लिये समझनी चाहिये।

मन को डराकर, धमकाकर दबाना नहीं चाहिये। उसकी जो इच्छा पूरी करने के लायक हो, उसे पूरी कर देना चाहिये। जो पूरी करने के लायक न हो, उसको भूल में डालकर या समझाकर मिटा देना चाहिये। बदले में कोई अच्छी रुचिकर वस्तु उसके सामने रखकर उसमें मनको लगा देना चाहिये। हर समय उसे दोषी न समझकर उसको अच्छाई दिखाते रहना चाहिये।

मन में अपना बल नहीं है, वह हमारी सत्ता पाकर बलवान् होता है और हमसे ही लड़ने लगता है तथा अपनी चाह पूरी करता है। अतः साधक को चाहिये कि मन को अपने साथ मिलाकर उसे सत्ता न दे, अपने को उससे अलग रखकर बालक की भाँति उसका सुधार करे। मन के साथ तद्रूप हो जाने के कारण ही मनुष्य दोषों को जानकर भी मिटा नहीं सकता। मन में दोष आते और जाते रहते हैं। वह सदैव दोषी नहीं रहता। दोष प्राणी का स्वभाव नहीं है। इसलिये वह सदैव नहीं रह सकता। उसका उदय और अन्त अवश्य होता है। निर्दोषता के साथ प्रणी की जातीय एकता है, अतः वह हर समय निर्दोषी रह सकता है। प्रकृति का स्वभाव दोषों को मिटाकर प्राणी को शुद्ध बनाते रहना है। इसलिये प्रकृति किसी को नीचे नहीं गिराती। प्राणी स्वयं ही दोषों का पोषण करके उनको बलवान् बना लेता है। दोष के कारण को मिटा देने से वह सुगमता से मिट सकता है। देह में मैं भाव और भोगों की चाह, यही दोषों की उत्पत्ति का कारण है।

अतः साधक को चाहिये जब दोष उत्पन्न हो, उस समय मन को दोषी समझे, दोष के निवृत्ति काल में उसको दोषी न समझे। उसको हर समय दोषी समझने से वह निर्दोष नहीं हो पाता। दोषी बना रहता है। निर्दोषता की स्थापना से दोष अपने आप मिट जाते हैं; क्योंकि निर्दोषता प्राणी का स्वभाव और जीवन की आवश्यकता है।

जैसे शरीर का नीरोग रहना स्वाभाविक है, अतः वह सदैव नीरोग रह सकता है। बीमारी सदैव नहीं रहती, आती और चली जाती है। इसी प्रकार दोष भी सदैव नहीं रहते, आते हैं और चले जाते हैं। इनको मिटा देना कठिन नहीं है।

अतः साधक को चाहिये कि दोष काल में अपने को दोषी माने और उस समय दोष को देखकर भविष्य में उत्पन्न न होने देने का दृढ़ संकल्प करे। साधक को इस प्रकार विचार करना चाहिये कि 'दोष उत्पन्न होने के पहले मुझमें दोष नहीं था और मिट जाने के बाद भी नहीं रहेगा। अतः मैं स्वभाव से निर्दोष हूँ। फिर मुझमें दोष कैसे आ सकते हैं?' इस प्रकार निर्दोष काल में निर्दोषता की दृढ़ भावना करने से दोष मिट जाते हैं और उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती।

जिसको मनुष्य स्वीकार कर लेता है वह दृढ़ हो जाता है। जिसकी स्वीकृति नहीं रहती उसकी सत्ता मिट जाती है, यह नियम है; अतः जिसको मिटाना हो उसे अस्वीकार कर देना चाहिये।

झूठ न बोलने के काल में सभी सत्यवादी होते हैं। झूठ बोलकर समाप्त होते ही फिर सत्यवादी हो जाते हैं, हर समय कोई मिथ्यावादी नहीं रहता, इसी प्रकार हरेक दोष के विषय में समझ लेना चाहिये।

यदि कोई कहे कि इससे तो अभिमान बढ़ेगा, तो वास्तव में ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जो चीज अपने द्वारा की जाती है, उसी का अभिमान होता है। स्वाभाविकता का अभिमान नहीं होता, इस पर भी मान लो अभिमान हो भी तो भी दोष पूर्ण अभिमान से तो निर्दोषीपने का अभिमान अच्छा ही है।

मनुष्य सोचने लगता है कि भगवान् को प्राप्त करना बड़ा कठिन है, यह भूल है; क्योंकि भगवान्से हमारी देश-काल की दूरी नहीं है। वह हमारी ही जातिका है और अपने जीवन में उसको प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है। भोगों की प्राप्ति अवश्य कठिन है; क्योंकि उसमें हम सर्वथा पराधीन हैं, उनसे हमारी किसी प्रकार भी एकता नहीं है।

यह ईश्वरीय विधान है कि जो चीज अत्यन्त आवश्यक होती है वह उतनी ही सुगमता से मिलती है। जैसे जवाहरात की मनुष्य को बहुत ही कम जरूरत है, अतः वह बड़ी कठिनता से किसी किसी को मिलता है और उसकी कीमत भी बहुत अधिक चुकानी पड़ती है तथा उसकी कीमत ठीक-ठीक आँकी भी नहीं जाती। उससे कुछ अधिक जरूरत स्वर्ण की है। उसके मिलने में जवाहरात की अपेक्षा कम कठिनाई है। उसकी कीमत भी समय के अनुसार निश्चित रहती है। उससे अधिक जरूरत चाँदी की है। वह सुवर्ण की अपेक्षा सस्ती और सुगमता से मिलती है। उससे अधिक अपेक्षा खाद्य पदार्थों की है। अतः वे चाँदी से सस्ते और सुगमता से मिलते हैं। उससे भी अधिक आवश्यकता जलकी है। उसके बिना प्राणी जी नहीं सकता। अतः अन्न की की अपेक्षा जल बहुत सुगमता से मिलता है। जल से भी अधिक आवश्यक सूर्य का तेज और हवा है। वह अपने स्थान पर अपने आप मिलते रहते हैं। उससे अत्यंत आवश्यक आकाश है। वह पाञ्चभौतिक शरीर से कभी अलग नहीं होता। सूर्य की रोशनी और गरमी के लिये तथा वायु और आकाश के लिये किसी को भी कोई मूल्य नहीं देना पड़ता। इन सबसे अधिक आवश्यक जीव के लिए भगवान् हैं। और उनसे किसी की भी दूरी नहीं है। फिर भी उनके मिलने में कठिनता का अनुभव करना, प्रमाद के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

अतः साधक को विश्वास करना चाहिये कि भगवान् मुझे इसी वर्तमान जीवन में ही अभी मिल सकते हैं। इसमें कोई कठिनता नहीं है। भगवान् के शरण होते ही भगवान् उसे तुरंत अपना लेते हैं। उसके अनन्त जन्मों के दोष तुरंत

मिटा देते हैं। मनुष्य के अभिमान ने ही उसे बाँध रक्खा है।

' मैं शरीर हूँ', यह मानना और संसार को चाहना-यही सब दोषों का मूल है। इनके मिटते ही सब दोष अपने-आप मिट जाते हैं। एक दोष से दूसरे दोष का सम्बन्ध है। इसी प्रकार एक गुण से भी दूसरे गुण का सम्बन्ध है। अतः एक दोष के मिटने से दूसरे सब दोष भी मिट जाते हैं। तथा एक गुण को अपनाने से दूसरे गुण भी अपने आप आ जाते हैं।

मनुष्यमें बुराई के संस्कार रहते हैं। बुराई हर समय नहीं रहती, वह मिट जाती है। संसार की चाह मिटने से संस्कार भी अपने-आप मिट जाते हैं। वास्तव में चाह को मिटाने में कठिनाई नहीं है। उसे पूरी करने में बहुत कठिनाई है; क्योंकि संसार की सबसे अच्छी चीज किसी एक को ही मिल सकती है। सम्पूर्ण पृथ्वी का यदि कोई सम्राट हो तो एक ही हो सकता है। हिंदुस्थान का प्राइम मिनिस्टर एक ही हो सकता है। सबसे अधिक धनवान् कोई एक ही हो सकता है। चाह करने वाले तो बहुत होते हैं, पर पूरी किसी एक की भी सर्वथा नहीं हो पाती। अभाव रहता है और प्राप्त वस्तु के वियोग का भय चाह युक्त व्यक्ति को सदैव रहता है। चाह की पूर्ति में प्राणी सदैव पराधीन है। इसलिये उसकी पूर्ति कठिन ही नहीं असम्भव है।

किन्तु चाह के त्याग में मनुष्य सदैव स्वतंत्र है। एक ही काल में अनेक चाहरहित मनुष्य आनन्द से रह सकते हैं। परंतु चाहयुक्त प्राणियों को एक दूसरे से भय रहता है। किसी चाह को लेकर तप या यज्ञादि कर्म करने वाले से इन्द्र भी सदैव डरता है कि कहीं मेरा अधिकार छीन न ले। परंतु चाहरहित को सभी चाहते हैं। सभी उससे प्यार करते हैं। किसी से कुछ चाहने वाले का पद-पद पर अनादर होता है। चाह रहित का कभी कहीं अनादर नहीं होता। सभी उसका आदर करते हैं उसको भगवान् की कृपा और जगत् का आशीर्वाद अपने-आप मिलता रहता है। अतः साधक को चाहिये कि भगवान् पर भरोसा करके चाह का त्याग कर दे। मैं शरीर हूँ, यह मिथ्या मान्यता ही चाह का कारण है। मैं शरीर नहीं हूँ, भगवान् का हूँ, यह विश्वास ही इसको मिटाने में पूर्ण समर्थ है।

इसी प्रकार वैराग्य प्राप्त करना, त्याग करना और भगवान् को प्राप्त करना भी सुगम है। वे सबको सुगमता से मिल सकते हैं। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। धन और भोग-वस्तुओं को प्राप्त करने में कठिनाई है। त्याग में कोई कठिनाई नहीं है। राग का त्याग ही वैराग्य है। इसमें सभी स्वतंत्र हैं। विरागी से किसी को भय नहीं होता। अतः उसका कोई विरोधी नहीं रहता। जो कोई ईश्वर के लिये व्याकुल होता है, उसे ईश्वर तुरंत मिलते हैं। इसीलिये उनका मिलना भी बड़ा सुगम है। उनकी अभिलाषा में ही प्रेम है। अतः साधक को चाहिये कि सब प्रकार की भोगवासना का त्याग करके भगवान् के लिये व्याकुल हो जाय और उनकी प्रसन्नता के लिये सबकी सेवा में, सबकी भलाई में लगा रहे।

संतों का कहना है कि 'जो तोकों काँटा बुवे, ताहि बोय तू फूल'। अतः साधक को चाहिये कि बुराई का उत्तर भलाई से दे। जो इस मूल मंत्र को जीवन में ढाल लेता है, वह महान् हो जाता है। राजा में न्याय होता है और साधु में प्रेम होता है।

बुराई के बदले बुराई न करना यह मनुष्यता है। बुराई के बदले भलाई करना-यह साधुता है। दुःख से मनुष्य का चित्त शुद्ध होता है। जो सच्चा दुखी होता है, वह बड़ा सेवक होता है।

क्रोध से बड़ा भारी नुकसान होता है। बना-बनाया काम बिगड़ जाता है। वर्षों से बनाया हुआ काम एक क्षण में क्रोध के कारण बिगड़ जाता है। अतः साधक को कभी किसी पर क्रोध नहीं करना चाहिए।

चित्त शुद्ध होने से सब प्रकार की पूर्णता आ जाती है। योगी को योग, विचारशील को बोध और विश्वासीको प्रेम अपने-आप मिल जाता है।

## ३७

पहले यह बात कही गयी थी कि निर्दोषता की स्थापना से चित्त शुद्ध होता है; क्योंकि मनुष्य अपने को जैसा मानता है, वैसा ही बन जाता है। यह प्रकृति का नियम है।

प्रत्येक प्राणी को किसी-न-किसी प्रकार से भगवान् की आवश्यकता है; क्योंकि सभी ऐसा सुख चाहते हैं जिसमें दुःख न हो और जिसका कभी अभाव न हो। वह आनन्द भगवान् के अतिरिक्त कहीं नहीं है और वह तभी मिल सकता है जब चित्त शुद्ध हो जाय।

प्राणी को जितने भी सुख-दुःख मालूम होते हैं, उन सबका कारण चित्त की अशुद्धि है। जब तक चित्त अशुद्ध रहता है, तब तक उसमें अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इच्छा की पूर्ति में सुख मालूम होता है और अपूर्ति में दुःख। एक इच्छा की पूर्ति होते ही दूसरी इच्छा उत्पन हो जाती है। इस प्रकार सदैव अभाव बना रहता है। यह सुख-दुःखमय जीवन मनुष्य के चित्त की अशुद्धिका परिणाम है।

मनुष्य धन क्यों चाहता है? जिन वस्तुओं की उसे जरूरत है वह धन से मिलती है। वस्तुओं की जरूरत क्यों है? भोग-इच्छा की पूर्ति के लिये। इच्छा की पूर्ति क्यों चाहता है? उसकी पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। वस्तुओं के संयोग में सुख मालूम होता है, यही काम है एवं काम ही लोभ है। अतः यह सिद्ध हुआ कि लोभ के कारण ही मनुष्य को धन की जरूरत होती है। लोभ न रहे तो धन की जरूरत नहीं रहती।

मनुष्य की आगे बढ़ने की, ऊपर उठने की रुचि स्वाभाविक है। जो वस्तु या परिस्थिति उसे प्राप्त है, उससे वह अच्छी चाहता है। जैसा मकान प्राप्त है, उससे अच्छा चाहता है वैसा मिल जाय तो उससे अच्छा चाहता है। जितना

धन प्राप्त है, उससे अधिक चाहता है। जितनी भोग सामग्री प्राप्त है, उससे अच्छी और

नाना प्रकार की वस्तुएँ चाहता है। जितना सम्मान प्राप्त है, उससे अधिक चाहता है। जो पद या अधिकार प्राप्त है, उससे ऊँचा अधिकार चाहता है। इस प्रकार कभी भी उसकी चाह का अन्त नहीं होता। आगे-से-आगे अभाव बना रहता है और अभाव के रहते कभी सुख नहीं मिल सकता।

जब किसी कारण से नुकसान हो जाता है, प्राप्त वस्तु और धन चला जाता है, तब चाहता है कि किसी तरह खर्च चलता रहे अधिक नहीं, तो पहले वाली परिस्थिति ही प्राप्त हो जाय, तो मैं सुखी हो जाऊँगा। फिर यदि वह परिस्थिति प्राप्त हो जाती है तो उससे अधिक चाहने लग जाता है। इस प्रकार मनुष्य नाना प्रकारकी इच्छाओं के जाल में फँसा रहता है। वास्तव में वस्तुओं की प्राप्ति उसके सुख-दुःख का कारण नहीं है। चाहकी पूर्ति, सुख और नयी चाह का होना ही दुःख है एवं चाह की निवृत्ति ही सुख-दुःख से परे की स्थिति है और यही चित्त की शुद्धि है। मनुष्य को जो सुख किसी के दुःख से मिलता है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि जिसका जन्म किसी के दुःख से होता है, उसका फल भी दुःख ही होगा। आम के बीज का फल भी आम ही होगा और बबूल के बीज का फल काँटा होगा। व्यापार के दो रूप होते हैं। एक तो वह सट्टे का व्यापार है जिसमे जुए की भाँति किसी एक का नुकसान ही दूसरे का लाभ होता है। इस बात को सभी जानते हैं कि सट्टे में धन बाहर से नहीं आता। सट्टा करने वालों में ही एक का नुकसान और दूसरे का लाभ होता है। सट्टा करने वाले सभी लाभ की आशा से करते हैं, परंतु सबको लाभ नहीं हो सकता। इस व्यापार में किसी का दुःख ही दूसरे का सुख है, अतः यह व्यापार उचित नहीं है। दूसरा व्यापार वह है, जिसमें समाज की आवश्यकता पूरी करने के लिए वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जहाँ वस्तुएँ अधिक होती हैं, वहाँ से उस जगह पहुँचायी जाती है, जहाँ उसकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार जो व्यापार समाज की आवश्यकता पूरी करने केे लिये किया जाता है, उसमें किसी का नुकसान नहीं होता। श्रम करने वाले से लेकर भोक्तातक सभी को सुख मिलता है। और व्यापारी को भी उसके परिश्रम के बदले में धन मिल जाता है। यह व्यापार ठीक है।

यदि मनुष्य दूसरों के दुःख को अपना ले, स्वयं दुःख लेकर दूसरों को सुख देने लग जाय तो उसका फल उसको नित्य आनन्द मिलेगा। विचार करने पर मालूम होगा कि मनुष्य को वस्तुओं की आवश्यकता शरीर के लिये होती है। शरीर का अन्तिम परिणाम क्या है? मृत्यु। मृत्यु का परिणाम क्या है? जन्म। जन्म में दुःख ओर मरने में दुःख। बीच में सुख और दुःख-यही शरीर का स्वरूप है। परंतु दुःख किसी को प्रिय नहीं है। सभी दुःख से ऊपर उठना चाहते है। सभी प्राणियों की यह स्वाभाविक माँग है।

साधक को विचार करना चाहिये कि इस माँग की, इस आवश्यकता की पूर्ति कैसे हो? दुख का कारण क्या है? जिसको मिटा देने

से सदा के लिये दुःख का अभाव हो जाय। विचार करने पर मालूम होगा कि अपने से भिन्न दूसरों से आशा करना ही मनुष्य के दुख का खास कारण है। जीव का स्वरूप चिन्मय है, अतः सभी जड़ पदार्थ उससे भिन्न हैं। उन्हें अपने सुख के कारण समझकर उनकी आशा करना-उनको चाहना, यही दूसरे की आशा करना है। अतः किसी भी भोग पदार्थ की चाह रहते हुए दुःख का अन्त कभी नहीं हो सकता। मैं शरीर हूँ, इस देहाभिमान से भोगवासना का उदय हुआ है। इसके मिटते ही भोगवासना मिट जाती है। भोगवासना के मिटते ही सब प्रकार के दुःख सदा के लिये मिट जाते हैं, चित्त शुद्ध और स्थिर हो जाता है। उसके होते ही प्रेम का उदय हो जाता है। और अनन्त नित्य-रसस्वरूप भगवान मिल जाते हैं।

अतः साधक को यह निश्चय करना चाहिये कि मैं चिन्मय होकर यदि जड़ वस्तुओं की आवश्यका का अनुभव करूँ तो इससे बड़ी भूल और क्या होगी? अतः जो जड़ पदार्थ मुझे नहीं चाहते, मेरी आवश्यकता का अनुभव नहीं करते, मेरे बिना वे रह सकते हैं, तो मैं भी उनके बिना रह सकता हूँ। इसलिये मैं उनकी आवश्यकता का अनुभव नहीं करूँगा। इनकी इच्छा नहीं करूँगा। इस प्रकार की दृढ़ भावना करके जड़ से विमुख होते ही चिन्मय का दर्शन हो जाता है। यह नियम है।

दूसरे की जरूरत मानने का परिणाम ही बन्धन और दुःख है। अतः साधक को समझना चाहिये कि उसकी आवश्यकता तो एक मात्र प्रभु हैं, संसार नहीं। इस भावना से जब उसकी सब जरूरतें दूसरों की आवश्यकता बन जाती हैं, तब सभी उसकी आवश्यकता का अनुभव करने लगते हैं और महान् बन जाता है।

इच्छाओं के रहते हुए ईश्वर नहीं मिलता, अतः साधक को संसार की ममता और आशा छोड़कर एकमात्र ईश्वर का हो जाना चाहिये। एक मात्र ईश्वर ही मेरी आवश्यकता हैं, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

संसार की आवश्यकता न रहना ही मुक्ति है। संसार की आवश्यकता को छोड़ने में किसी प्रकार की कठिनाई या पराधीनता नहीं है। वैसे ही ईश्वर की प्राप्ति में भी कोई कठिनाई या, परिश्रम नहीं है। प्रभु की आवश्यकता का अनुभव करके उसके लिये व्याकुल होते ही वे मिल जाते हैं।

मनुष्य सोचता है कि अमुक स्थान में एकान्त में सुन्दर आश्रम बनाकर उसमें भजन-स्मरण करूँग। इस प्रकार की आशा गलत है। उसे विचारना चाहिये कि जो काम मैं वर्तमान में नहीं करता, वह भविष्य में कर सकूँगा-इसका क्या विश्वास है? यह तो केवल आशा-ही-आशा है। किसी के चाहने से अनुकूल परिस्थिति नहीं मिलती। अनुकूल संयोग का नाम ही भोग है। यह कर्म से मिलता है। बिना कर्म नहीं मिलता। अतः किसी भी अनुकूलता की आशा करना तो साधन में विघ्न है; क्योंकि ईश्वर की आवश्यकता के साथ-साथ दूसरी इच्छाओं के रहते ईश्वर नहीं मिलते। जिस चीज का चिन्तन भजन नहीं करने देता, उसकी प्राप्ति भजन में कैसे सहायक

होगी? शुभ कर्मों से उत्कृष्ट परिस्थिति मिल सकती है, भगवान् नहीं मिल सकते।

मनुष्य को उस सुख की आशा कभी नहीं करनी चाहिये, जिसकी प्राप्ति दूसरों के दुःख से होती है। उसकी माँग तो एक मात्र ईश्वर की ही होनी चाहिये।

ईश्वर की सृष्टि में किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। मनुष्य की दरिद्रता का उसके अभाव का कारण एक मात्र लोभ है। प्राप्त वस्तु का सदुपयोग न करना, दुरुपयोग करना तथा अप्राप्त को चाहना और उसका चिन्तन करना-यह लोभ का स्वरूप है। इसके रहते हुए बड़े-से-बड़ा धनवान भी दरिद्र ही है। धन और ऐश्वर्य से अभिमान बढ़ता है। दूसरों से कामनापूर्ति की आशा छोड़ देने से निर्लोभता आती है। लोभ मिट जाने के बाद दरिद्रता नहीं रहती, वह अपने-आप मिट जाती है।

जब तक मनुष्य वस्तु-प्राप्ति की आशा और चिन्तन करता रहता है, तब तक वह उसे नहीं मिलती। जब वह प्राप्त वस्तु का उपयोग अपने सुख के लिये करने लग जाता है, तब वह नहीं रहती और उसका मिलना भी बंद हो जाता है। वस्तु का सदुपयोग करने से अर्थात् लोभ रहित होकर उससे दूसरों की सेवा करते रहने से वस्तु बिना इच्छा के अपने आप मिलती है-यह ईश्वर का विधान है। अपने साथियों के माथे दोष मँढ़ कर स्वयं अपने को निर्दोष बताना कभी उचित नहीं है; क्योंकि पहले अपने मन में दोष रहता है, तब साथियों में आता है।

भगवान् साधक के मन को देखते रहते हैं। मन में जरा-सा अभिमान या अन्तर आते ही वे अपनी लीला का दृश्य परिवर्तन कर देते हैं।

जब तक लोभ रहता है, तब तक निर्धनता रहेगी, एक अवगुण के आने पर दूसरे अपने आप आ जाते हैं। वस्तु के न रहने पर भी मनुष्य सुखपूर्वक रह सकता है। अतः लोभरहित होने में वह पराधीन नहीं है।

जीवन में उदारता न होने के कारण वस्तु का अभाव रहता है। जो अपने विवेक का अनादर नहीं करता, उसे संसार का नेतृत्व मिलता है।

साधक को वह काम करना चाहिये, जिससे दूसरों को हित हो, दूसरे प्रसन्न रहें और उनकी आवश्यकता पूरी हो। वस्तु प्राप्ति का उपाय उदारता और ईमानदारी है। प्राप्त वस्तु से स्वयं सुखभोग न करना-यही ईमानदारी है और उसे दूसरों के सुख में लगा देना-यही उदारता है।

दूसरों को दुःख देकर सुख न लेना, यही निर्लोभता की पहचान है। वस्तु के त्याग से और सदुपयोग से शान्ति मिलती है। चित्त शुद्ध होने पर किसी प्रकार का अभाव नहीं रहता। अतः साधक को चाहिये कि भगवान् की आवश्यकता को भोग की इच्छाओं में न बदले; किंतु भोगोंकी इच्छाओं को भगवान् की आवश्यकता में विलीन कर दे।

## ३८

साधक को चाहिये कि मन में जो दुःख हो, उसे गलत रास्ते से मिटाने की कोशिश न करे, उसे सही रास्ते से मिटावे। सही रास्ते से मिटाया हुआ दुःख सदा के लिये मिट जाता है।

साधक को अपना मन अपने पास नहीं रखना चाहिये। जिसके साथ प्रेम करना हो, उसके मन में अपना मन मिला देना चाहिये।

जैसे किसान खेत में एक दाना डालता है, तो उसका अनेक गुना अधिक होकर उसको मिलता है। इसी प्रकार यह दुनिया एक खेत है, इसमें जो वस्तु डाली जाती है, अर्थात् दूसरों को सुख पहुँचाने के लिये लगायी जाती है, वह डालने वाले को अनेक गुना अधिक होकर मिलती है।

जिसके द्वारा जो अच्छा या बुरा काम किया जाता है, वह करने वाले के ही काम आता है।

प्रेम और प्रियतम, इन दोनों के मनकी बात तब पूरी होती है, जब दोनों के मन में एक हो जायँ अर्थात् एक दूसरे के मन की बात पूरी करने में ही अपने मन की बात पूरी समझें; क्योंकि जब दोनों की आवश्यकता एक हो जाती है, तभी दोनों का मन एक होता है। आवश्यकता में भेद रहते हुए मन एक नहीं हो सकता।

वस्तु के लेने और देने में प्राणी स्वाधीन नहीं है। जो वस्तु वह जिसको देना चाहता है, उसको नहीं मिलती और जिसको नहीं देना चाहता, उसको मिल जाती है। वस्तु के मिलने और न मिलने में तो अदृष्ट की प्रधानता है, जिसको जो वस्तु मिलने वाली है, मिलेगी। जो नहीं मिलने वाली है, वह नहीं मिलेगी। वस्तु का लेन-देन प्रेमका या चित्तशुद्धिका कारण नहीं है, प्रेम का सम्बन्ध तो भाव से है।

प्रेम वही है, जो विभु अर्थात् असीम हो, किसी वस्तु व्यक्ति या परिस्थिति में बँधा हुआ न हो, जो सबके साथ समान भाव से हो सीमित प्यार का नाम तो 'स्वार्थ' है। वह उसके साथ होता है, जिससे कुछ न कुछ लेने की आशा होती है। वह स्वार्थ यानी किसी से कुछ लेना या लेने की आशा रखना-यही चित्त की अशुद्धि का प्रधान कारण है।

जिससे कुछ मिलने की आशा होती है, उसके साथ तो पशु-पक्षी भी प्यार करते हैं। इसमें मनुष्य की क्या विशेषता है? जहाँ लेने की इच्छा रहती है, वहाँ प्रेम नहीं होता। वहाँ तो ईर्ष्या बढ़ती रहती है, एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है अर्थात् मकान, सम्पत्ति और भोग-सामग्रियों में एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता करता है, उपयोगिता करता है। यही प्रतियोगिता यदि इस बात को लेकर हो कि वह जितना भजन करता है, मैं उससे अधिक करूँगा; वह जितना त्याग करता है, मैं उससे अधिक करूँगा; वह जितनी सेवा करता है, मैं उससे अधिक करूँगा, तब तो मनुष्य को यह आगे बढ़ाने वाली होती है। किंतु जो प्रतियोगिता किसी वस्तु, मकान और आत्मख्याति को लेकर की जाती है, वह विकास का हेतु नहीं हो सकती, पतन में ही कारण बनती है।

कर्म कभी भी असीम नहीं होता, उसकी सीमा होती है, उसका विधान होता है। एवं उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार की परिस्थिति और मान्यतासे होता है। एवं परिस्थिति पहले से निश्चित होती है। इस कारण कर्म असीम नहीं हो सकता। परंतु प्रेम का सम्बन्ध, किसी भी क्रिया, पदार्थ और परिस्थिति से नहीं होता। अतः वह असीम होता है। जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ प्रेम नहीं होता, स्वार्थ के अभाव से ही प्रेम होता है।

स्वार्थ-त्याग ही वास्तव में त्याग है। अर्थात् जो वस्तु अपने पास हो, अपने अधिकार में हो, उसको छोड़ देना ही त्याग है। यदि कोई बिना माँगे मिलने वाली वस्तु का त्याग कर दे, तो वह त्याग नहीं है।

जब साधक की प्रत्येक चेष्टा प्रभु प्रेम के लिये ही होने लगे, तब उसका जीवन रसमय बन जाता है। क्रिया में भेद होना तो अनिवार्य है; क्योंकि क्रिया तो परिस्थिति और विधान के अनुसार होती है विधान मान्यता के अनुसार होता है। परंतु कर्म में भेद होने पर भी रस में भेद नहीं होना चाहिये।

प्रेम किसी भी कर्म के अधीन नहीं होता। वह किसी प्रकार की क्रिया में बँधता नहीं कि अमुक प्रकार की क्रिया या व्यवहार का नाम ही प्रेम है। भगवत्प्रेमी जिस प्रेम और श्रद्धा से किसी एक पर पुष्प चढ़ाता है, उसी प्रेम से दूसरे का महान् तिरस्कार भी कर सकता है। इस प्रकार क्रिया में विपरीतता रहने पर भी प्रेम बना रहता है। उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। चित्त शुद्ध होने पर जो असीम प्रेम होता है, उसकी ऐसी ही महिमा है।

प्रेमी तिरस्कार करता है, पर उस तिरस्कार करने में वैर या द्वेष भाव नहीं रहता, जैसे सूर्य फलके रस को चूस कर उसे सुखा देता है तथा अग्नि सबको भस्म कर देती है, तो भी वे हिंसक नहीं होते। उनके द्वारा होने वाला काम हिंसा नहीं कहलाता। उसी प्रकार प्रेमी के विषय में समझ लेना चाहिये।

जब तक मनुष्य अपने मन की बात पूरी करना चाहता है, तब तक उसमें छिपा हुआ हिंसा-भाव विद्यमान रहता है। कर्ता का भाव ही हिंसा और अहिंसा में कारण है, क्रिया नहीं। भाव से ही चित्त अशुद्ध होता है और भाव से ही शुद्ध होता है। अतः साधक को चाहिये कि जो कुछ करे, दूसरों के हित की भावना से अपने प्रभु की प्रसन्नता के लिये करे।

साधक को चाहिये कि या तो किसी को अपना न माने या सबको अपना माने; क्योंकि किसी को अपना मानने और किसीको पराया मानने से रागद्वेष होता है, प्रेम नहीं होता। राग-द्वेष के रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता।

दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्नता हो और दुखियों के दुःख से करुणा हो, उनका दुःख सहा न जा सके, तो इससे मनुष्य का चित्त शुद्ध होता है।

अतः साधक को चाहिये कि अपना और पराया मानना ही हो तो सेवा करने के लिये, उनके मन की बात पूरी करने के लिये सबको

अपना माने और अपनी इच्छापूर्ति के लिये किसी को अपना न माने, सबको पराया समझे।

यदि मनुष्य शरीर मिलने पर भी चित्त शुद्ध नहीं हुआ तो प्राणी को मिला ही क्या? चित्त का शुद्ध होना ही तो मानव-जीवन का पुरुषार्थ है। प्यार का भेद रहते हुए चित्त शुद्ध नहीं होता। प्रीतिका भेद मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है। अतः साधक को प्रेम का भेद मिटा देना चाहिये। अपने प्यार को असीम अर्थात् व्यापक बना देना चाहिये। प्रभु सर्वत्र व्यापक है। अतः जो व्यापक प्रीति है, वही प्रभु से है। सीमित प्यार तो मोह है, जो चित्त को अशुद्ध करने वाला है।

जिनके मन में वस्तु का महत्व होता है, वे चीज के बिगड़ जाने का शोक करते हैं, अपनी असावधानी का शोक नहीं करते। इस बात को नहीं समझते कि वस्तु कुछ खराब नहीं होती, उसकी शक्ल बदल जाती है। एक घटना याद आ गयी। एक लड़का बड़ा चंचल था। उसको खाने के लिये खील-मखाना दिया गया। उसने उसमें से कुछ इधर-उधरबिखेर दिया। जब उससे कहा गया कि इनको खराब क्यों कर रहे हो, उसने उत्तर दिया कि 'वस्तु जितनी जल्दी खा लेने से खराब होती है, बिखेर देने से नहीं होती। बिखेरी हुई वस्तु को बिगड़ने में देर लगेगी।' हरेक वस्तु खायी जाने के बाद भी खाद बनती है, एवं इस प्रकार भी गल-सड़कर खाद ही बनती है। अतः वस्तु का बनना-बिगड़ना उसकी शकल बदलना है, अन्य कुछ नहीं। मनुष्य का यह शरीर जो बड़ा सुन्दर और उपयोगी दिखायी देता है, इसकी भी एक दिन खाद बन जायेगी।

इसी प्रकार जो मनुष्य वर्तमान के सुख में रमण करते हैं, उसके परिणाम को नहीं देखते, यह उनकी असावधानी या गलती है। इसका सुधार करना चाहिये क्योंकि जो वस्तु व्यक्ति और परिस्थितियों में सीमित प्यार किया जाता है। उससे व्यक्तिभाव, आसक्ति, वासना और बन्धन दृढ़ होते हैं तथा वह सीमित प्यार करने वाला भोगी और हिंसक बन जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी दोषों का मूल सीमित प्यार है। इसी प्रकार असीम प्रेम होने पर व्यक्तिभाव मिट जाता है अर्थात् देहाभिमान गल जाता है, राग मिटकर वैराग्य हो जाता है, वासना का नाश होकर निर्वासना आ जाती है। सब बन्धन टूटकर मुक्ति मिल जाती है। तथा अहिंसा, समता, मुदिता आदि सभी गुण अपने-आप आ जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ है कि सभी गुणों का मूल असीम प्यार है।

जहाँ प्रेम प्रकट हो जाता है, वहाँ इन्द्रियों के दरवाजे बंद हो जाते हैं। कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण-इन सबकी एकता हो जाती है। इन सबका एक हो जाना अर्थात् सबका बुद्धि में विलीन हो जाना ही योग है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेम का अर्थ ही अद्वैत अर्थात् एकता है और न्याय का अर्थ द्वैत है।

वस्तु तो जिसका जैसा अदृष्ट होगा, उसके अनुसार ही मिलेगी, किसी को वस्तु देना देने वाले के हाथ की बात नहीं है। पंरतु प्यार के सभी हकदार हैं, प्यार सबको दिया जा सकता

है। इसमें अदृष्ट की रुकावट नहीं चल सकती। अतः सीमित प्यार का अन्त करना ही मनुष्य का पुरुषार्थ है।

साधक को समझना चाहिये कि शरीर और संसार के न रहने पर भी मैं रहूँगा। अतः क्रिया और मान्यता में भेद होने पर भी मेरा किसी से प्यार का भेद न हो, सबके साथ अगाध और असीम प्रेम हो।

ईश्वर को मानना एक चीज है और उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना दूसरी चीज है। केवल ईश्वर को मान ले, पंरतु उसके साथ अपनत्व और प्रेम न हो तो जीवन नहीं बदलता।

किसी क्रिया, वस्तु और परिस्थिति के साथ सम्बन्ध जोड़ लेना ही प्रेम में भेद उत्पन्न करने का कारण है। अतः प्रेमी साधक को चाहिये कि क्रिया आदि के साथ अपना सम्बन्ध न रखे। भूल से बनाये हुए सम्बन्ध को छोड़कर समस्त क्रियाओं से अतीत हो जाय, एवं जैसा स्वाँग मिला है, उसके विधान के अनुरूप क्रिया करते हुए प्रेम में भेद न करे। ऐसा करने से साधक का चित्त बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है।

## ३९

पहले यह बात कही गयी थी कि सीमित प्यार चित्त की अशुद्धिका कारण है। अब विचार यह करना है कि मनुष्य के जीवन में सीमित प्यार होता क्यों है? विचार करने पर यह मालूम होगा कि किसी न किसी प्रकार से दूसरे का बुरा चाहते रहने के कारण प्यार असीम नहीं हो पाता; एकदेशीय-सीमित रहता है।

साधारणतया मनुष्य सोच सकता है कि मैं तो किसी का बुरा नहीं चाहता और किसी के साथ बुराई करता भी नहीं, तथापि मेरा प्रेम तो सीमित ही है। परंतु ऐसी बात नहीं है। जरा गम्भीरता से विचार करना चाहिये। जिनके साथ हमारा मतभेद है, साधन-पद्धति में भेद है, क्या उनके द्वारा किया जाने वाला प्रचार हमें बुरा नहीं मालूम होता? क्या उनकी उन्नति, उनका वैभव, उनका सम्मान हमको बुरा नहीं लगता? क्या उससे हमारे मन में ईर्ष्या का भाव नहीं आता? इसी प्रकार क्या उनकी हार में, उनकी अवनति में और उनके अनादर में हम प्रसन्न नहीं होते? यदि होते हैं तो समझना चाहिये कि यही उनका बुरा चाहना और चित्त की अशुद्धि है।

मान्यता, साधन-प्रणाली और आचरणों में भेद न हो, यह असम्भव है। श्रीलक्ष्मण जी भगवान् श्रीराम के अनन्य भक्त थे। भगवान् के विरोधी चाहे शंकर ही क्यों न हों, उनसे भी वे लड़ने को तैयार रहते थे। तो भी उनकी मान्यता में भेद था। भगवान् श्रीराम समुद्र से रास्ता माँगते हैं; लक्ष्मण जी को यह पसंद नहीं है, परंतु उनके प्रेम में किंचिन्मात्र भी कमी नहीं है।

रुचि-भेद से और प्रकृति-भेद से आचार-व्यवहार और मान्यता में भेद होना स्वाभाविक है, इसका चित्त की शुद्धि और अशुद्धि पर कोई असर नहीं पड़ता; किंतु जब इनको लेकर प्यार में भेद हो जाता है अर्थात् जो हमारे मतका अनुयायी है, वह प्रिय मालूम होता

है और जो उसे नहीं मानकर दूसरे की मान्यता का अनुसरण करता है, वह बुरा मालूम देता है; जो हमारे घर का, पड़ोस का, गाँव का, जिले का या देश का है, वह क्रम से न्यूनाधिक प्रिय लगता है और जो दूसरा है, वह अप्रिय लगता है; जो हमारी बात मानता है, हमारा सम्मान कराता है वह प्रिय लगता हैं, हमारी बात नहीं मानता, उससे विपरीत करता है, वह अप्रिय मालूम होता है। इसी प्रकार सम्प्रदाय के नाते, धर्म के नाते जो अपने विपक्षी की उन्नति से ईर्ष्या और अप्रियता का भाव होना एवं अवनति में प्रसन्नता का भाव होना है, यही उसका बुरा चाहना है, यह मनुष्य के चित्त की शुद्धि नहीं होने देता।

साधक को चाहिये कि सबके भले की कामना करे। ऐसा न कर सके तो किसी का भी बुरा तो चाहे ही नहीं। मत में, स्वभाव में, व्यक्तित्व में चाहे कितना भी भेद क्यों न हो, उसे सहन करे। उस भेद का कोई प्रभाव प्रेम पर न पड़ने दे। उसे मानना चाहिये कि कर्म की और रुचि की एकता नहीं हो सकती, परंतु प्रीति की एकता मैं कर सकता हूँ यह भावना चित्त शुद्धि का सुन्दर उपाय है।

मनुष्य अपना दुःख कम करने के लिये दूसरों के दोष देखता रहता है। वह समझता है कि अमुक मान्यता के कारण समाज और देश की हानि होती है। अमुक धर्म या मत के मानने वालों में कोई भला या ईमानदार आदमी नहीं है। इस प्रकार की भावना चित्त को शुद्ध नहीं होने देती। इससे अपनी मान्यता का अभिमान और दूसरों की मान्यता के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। जिससे साधक की प्रीति असीम और सम नहीं हो पाती।

साधक को समझना चाहिये कि सभी मेरे प्रियतम प्रभु के हैं और सबमें मेरे प्रभु विराजमान हैं; क्योंकि यह सब उन्हीं से उत्पन्न हुआ है, उन्हीं में स्थित है और उन्हीं में विलीन हो जायगा, उन्हीं की सत्ता से इसकी सत्ता है। अतः जो जैसा भी है, है तो उन्हीं का। इस नाते सब अपने हैं। इस भाव को साधक कभी न भूले एवं उसे चाहिए कि भगवान् के नाते सबके साथ समान भाव से प्रेम करे। दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न हो। ईर्ष्या या द्वेष न करे। दूसरों को दुःखी देखकर स्वयं दुःखी हो जाय।

किसी के दुःख में आबद्ध होना और उसके दुःख से दुःखी होना एक नहीं है। दूसरे के दुःख में आबद्ध होना तो मोह है और दुःखी होना करुणा है।

जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसका दूसरे पर बहुत प्रभाव पड़ता है। करुणाशील संत जब किसी को दुखी देखता है, तब उस दुःखी का दुःख तो उसके पास आ जाता है और उस संत की शान्ति और विवेक उसी दुःखी में चले जाते हैं, जिससे उसका दुःख मिट जाता है और वह प्रसन्न हो जाता है। उस दुःखी मनुष्य का दुःख संत में आकर उसी प्रकार भस्म हो जाता है, जैसे अग्नि में पड़ा हुआ काठ।

तारा जब बाली के मरने पर दुःखी होकर रोने लगी, विलाप करने लगी, तब उसके दुःख को देखकर करुणासिन्धु भगवान् श्रीराम

का हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने तारा को सान्त्वना दी, तत्त्व समझाया, तत्काल ही तारा का दुःख आनन्द में बदल गया। भगवान् का ज्ञान उसमें आ गया। यदि कहो कि श्रीराम तो साक्षात् ईश्वर थे, तो समझना चाहिये कि जब भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं, उस समय अपने में मनुष्य भाव का आरोप करके हमलोगों को सिखाने के लिये वैसे ही आचरण करते हैं, जिनका अनुकरण मनुष्य कर सके। यदि पराये दुःख से हृदय दुःखी न हो, उसमें करुणा भाव न उछले तो समझना चाहिये कि मेरा हृदय अपने दुःख से खाली नहीं है।

भगवान् पतितपावन हैं। अतः पतित से पतित प्राणी भी उनको अपना मानकर उनका हो सकता है। जो साधक भगवान् को अपना मानकर सर्वस्व उनके सर्मपण कर देता है; वह उनकी वस्तु के साथ, उनकी प्रजा के साथ द्वेष या घृणा कैसे कर सकता है? बस विषय में एक सती स्त्री की घटना याद आ गयी।

एक सती स्त्री थी। उसका पति तहसीलदार था। वह एक वेश्या से प्यार करता था। वह वेश्या एक दिन उनके घर पर आयी और उस सती स्त्री को एक जेवर पहने देखकर जेवर पर उसका मन चलायमान हो गया। उसने तहसीलदार से वह जेवर माँगा। तहसीलदार ने अपनी स्त्री से कहा, तो उस स्त्रीने बड़े हर्ष के साथ अपना जेवर उस वेश्या को दे दिया। इस बात का जब उसके भानजे को (भानजा था या देवर था या जेठ का लड़का था, ठीक याद नहीं) पता लगा और उसने कहा कि 'आपने यह क्या किया' तब उसने उत्तर दिया कि 'तहसीलदार जी की वह बहुत प्यारी है, वे उससे बहुत प्यार करते हैं, उस जेवर को मेरे शरीर पर देखकर उनको जो प्रसन्नता होती थी, उसकी अपेक्षा उसके शरीर पर देखकर अधिक प्रसन्नता होगी। अतः जेवर देकर मैंने उन्हीं को प्रसन्न किया है। मैं उस जेवर का क्या करती? इसका यह फल हुआ कि उधर तहसीलदार का शरीर लोग जलाने के लिये ले गये और इधर उस स्त्री का शरीर जल गया।

जो भक्त सभी वस्तुओं को भगवान् की समझते हैं और सबमें भगवान् को देखते हैं, उनका सबमें प्रेम हो जाता है। उनका किसी में राग-द्वेष नहीं होता।

एक कन्हैया नाम के भक्त थे। वे अपने को भगवान् कन्हैया का गुमास्ता मानते थे। एक दिन उनके घर पर डाकू आये और उनसे पूछा कि 'कन्हैया कहाँ है?' उसने कहा-'क्या काम है? आपको क्या चाहिये? मैं कन्हैया का गुमास्ता हूँ । 'डाकुओं ने कहा' हम तो डाकू हैं, धन चाहिये।' कन्हैया भक्त ने तिजोरी की चाभी उनको दे दी और कहा-'जितना चाहिये ले जाओ। आपका ही तो है।' डाकू उससे चाभी लेकर साठ हजार रुपये निकालकर ले गये। प्रातःकाल होने पर पुलिस ने पूछा कि 'क्या रात में तुम्हारे घर पर डाका पड़ा था? तो उसने कहा, 'डाका नहीं पड़ा। कन्हैया आया था, उसको जितने रुपयों की जरूरत थी, ले गया।'

इससे साधक को यह भाव लेना चाहिये कि जो कुछ है, सब मेरे प्रियतम प्रभु का है।

इसीलिये सब मेरे हैं, कोई पराया नहीं हैं। सबका लक्ष्य एक हो सकता है, परंतु मान्यता और साधना एक नहीं होती; क्योंकि रुचि और योग्यता में भेद होता है। अतः साधक को किसी से यह नहीं कहना चाहिये कि तुम गलती पर हो, तुम्हारे सोने में खोट मिला हुआ है। उसे सोना कसने की कसौटी दे देनी चाहिये। विपक्षी की विजय पर हर्ष मानना चाहिये और पराजय पर दुःख मानना चाहिये। जो द्वेष रखता हो, उसके साथ भलाई करनी चाहिये।

एक कठजीभा नाम के स्वामी थे। एक पण्डित के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में पण्डित हार गया। और उस दुःख से दुःखी होकर गंगा में डूब गया। उस दिन से स्वामी जी ने शास्त्रार्थ करना छोड़ दिया। उनको इतना दुःख हुआ कि अपनी जीभ को उन्होंने काठ में बंद कर लिया। उसी से उनका नाम (काष्ठजिह्वा) कठजीभा पड़ गया।

किसी का मरना, दुःखी या अपमानित होना और हारना यदि प्रिय मालूम होता हो तो समझना चाहिये कि चित्त अशुद्ध है। अपने सुख और दुःख में यदि समता न रह सके तो समझना चाहिये कि चित्त अशुद्ध है। विवाद में किसी पर विजय पाना हो तो अपना पक्ष स्थापित न करे, दूसरे पक्ष पर बार-बार संदेह करता रहे। पर यह साधक के लिये बढ़िया बात नहीं है।

जिसके चित्त में राग नहीं रहता उसका जीवन त्याग से भरपूर हो जाता है। जिसके जित्त में द्वेष नहीं रहता, उसका हृदय प्रेम से भर जाता है। जहाँ त्याग होता है, वहाँ मुक्ति आ जाती है और जहाँ प्रेम होता है, उसके जीवन में भक्ति आ जाती है।

शरीर, इन्द्रियाँ मन आदि से और घर से सम्बन्ध तोड़ देने पर प्रभु से सम्बन्ध जुड़ जाता है।

निर्बलता का समूह ही संगठन है, संगठन तोड़ने से सच्ची एकता होती है। संगठन से भलाई और बुराई दोनों ही होती है। अतः साधक को चाहिये कि सबके साथ प्यार की एकता करे, संगठन न करे अर्थात् दलबंदी न करे।

मतभेद ही विरोध है। ईश्वरवादी किसी से भी वैर नहीं कर सकता; क्योंकि सब प्रभु के हैं। तब वह किस से वैर करे, कैसे किसी से बिगाड़ करे और किसी को बुरा समझे।

प्रेम होने पर ही प्रेम की दृष्टि से सबमें प्रियतम का दर्शन होता है। अतः साधक को चाहिये कि इन्द्रियों की दृष्टि से अर्थात् राग-द्वेष की दृष्टि से ऊपर उठकर सबको प्रीति की दृष्टि से देखे।

जिसभावना के मूल में दार्शनिकता नहीं होती, वह ठहर नहीं सकती। अतः साधक को समझना चाहिये कि जो कुछ है सब उनका है, वे मेरे हैं, वे इस सम्पूर्ण में और इससे परे भी हैं। ऐसा जान लेने पर चित्त सर्वथा शुद्ध होकर असीम प्रेम से भर जायगा।

## ४०

चित्त शुद्ध हो जाने पर वही होता है, जो होना चाहिये। वह नहीं होता, जो नहीं होना चाहिये। अतः प्रयत्न का अन्त हो जाता है। जब यह मालूम हो कि जो होना चाहिये, वह नहीं होता और जो नहीं होना चाहिये वह होता है, तब विचार करना चाहिये कि ऐसा क्यों होता है?

विचार करने पर मालूम होगा कि माने हुए सम्बन्ध में सद्भाव कर लेने के कारण ऐसा होता है। मैं शरीर हूँ, ऐसा मान लेने के कारण अनेक प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। उनकी पूर्ति के लिये मनुष्य नाना प्रकार के कर्म करता है।

कर्म करने के लिये सामर्थ्य और उसके विधान की आवश्यकता होती है। जो जैसा कर्म करता है, उसको विधान के अनुसार फल मिलता है। इसके लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती।

कम्र करने की शक्ति का केन्द्र प्राण है। उसी से समस्त शरीर और इन्द्रियों में करने की सामर्थ्य आती है और मन में करने का संकल्प उत्पन्न होता है। संकल्प और शक्ति-इन दोनों के मेल से कर्म होता है।

जो साधक मन और प्राण से अलग हो जाता है, वह करने से और इसके फलरूप सुख दुःख से मुक्त हो जाता है।

प्राणों का क्षय प्रतिक्षण होता है, परंतु मन न तो बूढ़ा होता है और न उसका नाश ही होता है। मन के रहते हुए यानी वासना के रहते हुए यदि प्राणों का अन्त हो जायगा तो उसकी पूर्ति के लिये पुनः प्राणों की जरूरत पड़ेगी। अतः नया शरीर धारण करना पड़ेगा। इस प्रकार जन्म-मृत्यु के चक्र से प्राणी कभी नहीं छूट सकेगा।

परंतु यदि प्राणों के रहते हुए मनका नाश कर दिया जाय तो सारी व्यवस्था बैठ जाती है। मन के नाश का मतलब है 'संकल्पों का अभाव'।

संकल्पों की उत्पत्ति माने हुए सम्बन्ध में सद्भाव होने पर होती है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं अमुक हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, इस प्रकार शरीर को मैं मानकर जो जाति, नाम, वर्ण, आश्रम आदि से सम्बन्ध जोड़ लेना है इसी का नाम माना हुआ सम्बनध है; क्योंकि यह सम्बन्ध वास्तविक नहीं है। जन्म से पहले और मरने के बाद इस प्रकार के सभी सम्बन्ध नहीं रहते। वर्तमान में भी माने हुए सम्बन्ध का परिवर्तन होता रहता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि माने हुए सम्बन्ध को तोड़ने से मन का नाश होगा। माना हुआ सम्बन्ध विचार-पूर्वक वास्तविक सम्बन्ध के बोध से या जिससे मनुष्य का नित्य सम्बन्ध है, उससे विश्वास पूर्वक सम्बन्ध मान लेने से टूटता है। अतः साधक को अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार देखना चाहिये कि वह विचार पूर्वक मनका नाश करना चाहता है या विश्वासपूर्वक! यदि विचारपूर्वक मन का नाश करना हो, तब तो विवेक के द्वारा शरीर और संसार के स्वरूप का विवेचन करना चाहिये। विवेचन करने पर इसकी अनित्यतता, असारता और जड़ता का अनुभव होते ही माना हुआ सम्बन्ध अपने आप

मिट जायगा और मन का अर्थात् संकल्पों का अभाव हो जायगा।

यदि विश्वास पूर्वक मन का नाश करना है, तो जिस प्रभु के साथ प्राणी का नित्य सम्बन्ध है, जो कभी इसका सम्बन्ध नहीं छोड़ता उससे विश्वासपूर्वक सम्बन्ध का अनुभव करना होगा। जिससे सम्बन्ध होता है, उससे प्यार अवश्य होता है।

साधक को चाहिये कि ईश्वर है और वह मेरा है, यह दृढ़ विश्वार करे। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध नित्य है, जो उसको अपना स्वामी मानता है, उसका वह स्वामी है। जो पुत्र मानता है, उसका पुत्र है। जो सखा मानता है, उसका सखा है। जो प्रियतम मानता है, उसका वह प्रियतम है। ईश्वर के साथ जीव का हरेक सम्बन्ध है, इसलिये किसी प्रकार का सम्बन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

यदि कोई समझे कि 'भगवान् को मित्र कैसे मानें? कहाँ तो हम एक तुच्छ प्राणी और कहाँ समस्त ब्रह्माण्ड के कर्ता-हर्ता ईश्वर? उनसे हमारी मित्रता कैसे हो सकती है? हम तो एक बड़े अधिकारी को या राजा को भी मित्र नहीं कह सकते।' तो ऐसी बात नहीं है। भगवान् साधारण अधिकारी और राजाओं की भाँति ऐश्वर्य के अभिमानी नहीं हैं। उनमें बड़े-छोटे का भाव नहीं है। वे तो सर्वसमर्थ और सर्वथा परिपूर्ण हैं। उनमें ऐश्वर्य के साथ-साथ माधुर्य भी पूर्ण है। जो उनको अपना मानता है, वह चाहे कैसा ही क्यों न हो, उसे अपना लेना उनका स्वभाव है। भगवान् की इस महिमा पर दृढ़ विश्वास करके जो भाव साधक को प्रिय हो, उसी भाव को लेकर उसे भगवान् का हो जाना चाहिये।

मनुष्य भगवान् को अपना नहीं मानता, उनसे प्रेम नहीं करता, तब भी भगवान् तो उससे प्रेम करते हैं और उसे अपना मानते हैं, परंतु उस सम्बन्ध और प्रेम का जीव को तब तक अनुभव नहीं होता, जब तक वह शरीर और संसार को अपना मानता रहता है। साधक को भगवान् से सम्बन्ध जोड़ना नहीं है, उसका जो नित्य सम्बन्ध है, उसको स्वीकार कर लेना है।

यदि कोई कहे कि 'भगवान् हमारी भाँति शरीरधारी थोड़े ही हैं, जो हम उनको पुत्र, मित्र या पति मान लें, क्या वेदशास्त्रों में ऐसा प्रमाण है?' तो उनको भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता को ध्यान में रखकर विचार करना चाहिये कि जो ईश्वर इस विचित्र जगत् की रचना, पालन और संहार कर सकता है, उसके लिए कौन-सी बात असम्भव है? वेद में भी तो भगवान को जीवन का सहज सखा बतलाया है। मित्र जब मित्र की सेवा करता है तब दास्यभाव, जब उसे भोजन कराता है तब वात्सल्यभाव, जब सलाह देता है तब मित्र भाव और जब संकोच छोड़कर परस्पर प्रेम करता है, तब माधुर्यभाव रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणी अपने नित्य सम्बन्धी के साथ चाहे जिस भाव से सम्बन्ध मान सकता है।

संसार से अलग होना निश्चित है। इससे अलग होकर चाहे तो हम अकेले हो जायँ, चाहे किसी से सम्बन्ध जोड़ लें। परंतु अकेले में दुःखों

का अभाव और नित्य जीवन प्राप्त होने पर भी अखण्ड और अनन्त रस की अनुभूति नहीं होगी, उस रस की अनुभूति के लिये उसे भी अपने आपको उसके समपर्ण करना पड़ेगा, जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघन हैं।

मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से, वस्तुओं से और परिस्थितियों से सम्बन्ध जोड़कर उनको अपना मानकर प्यार करता है। वे सब मिलकर भी इसकी इच्छाओं को पूरी नहीं कर सकते। जिस अंश में उनके द्वारा इच्छाएँ पूरी होती दीखती हैं, वे भी रहतीं नहीं। तो भी वह इन सबसे निराश नहीं होता, इन्हीं से सुख की आशा करता रहता है, यही प्रमाद है। इसी से चित्त अशुद्ध हुआ है।

वास्तव में तो यह संसार प्राणी को ईश्वर से प्रेम करना और उनसे सम्बन्ध जोड़ना सिखाने वाला कालेज है। इससे यह शिक्षा लेकर कि प्राणी जिसको अपना मानता है, उसी से उसका प्यार होता है, ये साधक को चाहिये कि संसार से सर्वथा निराश होकर अपने नित्य सम्बन्धी को अपना मानकर एक मात्र उसी से प्रेम करें।

शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिये तीन उपाय हैं।

१. शरीर और संसार क्षण भंगुर हैं, अतः अनित्य हैं, यह जानकर उनसे असंग हो जाना।

२. शरीर और संसार के अधिकार की रक्षा करते हुए अपने कर्त्तव्य-पालनद्वारा उनकी सेवा करके ऋण-मुक्त हो जाना एवं उन पर अपना कोई अधिकार न मानना और नया ऋण न लेना अर्थात् उनसे कुछ भी न चाहना।

३. शरीर और संसार से मेरा न तो जातीय सम्बन्ध हैं, न स्वरूप से ही सम्बन्ध है। इस रहस्य को समझकर, जिससे अपनी जातीय और स्वरूप की एकता है, जो अपना नित्य सम्बन्धी है, उसके भूले हुए सम्बन्ध को स्मरण कर लेना।

उपर्युक्त उपायों के द्वारा शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहिए। जब संसार स्वयं हमसे सम्बन्ध विच्छेद कर देगा और कर रहा है, तब फिर हम उससे सम्बन्ध की आशा क्यों करें?

मनुष्य की समस्त आशाएँ संसार में किसी एक से पूरी नहीं हो सकतीं। अनेक व्यक्ति, वस्तु और परिस्थितियों से जो कुछ आशाओंकी पूर्ति होती है, वह भी स्थायी नहीं होती एवं उस सुख को लेने की आशा से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है। परंतु भगवान् ऐसे हैं कि वे अकेले ही हमारी समस्त इच्छाओं को मिटाकर आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते हैं। इस संसारसे विमुख होते ही मनुष्य उनके सम्मुख हो जाता है अर्थात् प्रभु का उसे साक्षात्कार हो जाता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जन्मना, जीवित रहना, अभाव का अनुभव करते हुए सदैव दुःख भोगना, बीमार होना और मर जाना, फिर इसी चक्र में घूमते रहना, यह संसार का स्वरूप है। अतः शरीर और संसार से विमुख होकर उस नित्य सम्बन्धी परम सुहृद् प्रभु का हो

जाना, उनकी शरण लेकर उनके समर्पित हो जाना, यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

जब मनुष्य यह जान लेता है कि मेरा सम्बन्ध उस परमेश्वर से है, जो सबसे बड़ा, सबसे श्रेष्ठ और सबका स्वामी है, तब वह सर्वथा निर्भय और अभिमान-रहित हो जाता है। उसमें इतना गौरव आ जाता है कि किसी प्रकार की दीनता नहीं रहती है। वह अपने प्रभु की भाँति सबका सुहृद, प्रेमी और समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न बन जाता है।

साधक को या तो चिन्तनरहित होकर अनित्य रहना चाहिये या एक इष्ट का चिन्तन करते करते तन्मय हो जाना चाहिये।

कामना लेकर जो ईश्वर का भजन चिन्तन किया जाता है, वह कामना की पूर्ति होने पर या न होने पर ईश्वर से विमुखता प्रदान करता है। जैसे बच्चा माँ से पैसा माँगता है, जब तक माँ पैसा नहीं देती, तब तक तो माँ की ओर देखता रहता है। पैसा मिलते ही माँ से विमुख होकर भाग जाता है। यही हालत सकाम साधक की होती है।

इसी प्रकार जो भक्ति भगवान् के गुण, प्रभाव और ऐश्वर्य को लेकर की जाती है, वह भी वास्तविक प्रेम नहीं है। वह साधन भक्ति है। प्रेम तोवह है जो ईश्वर के साथ सम्बन्ध से होता है, जो उनको अपना मानने से होता है। वह चाहे जैसे हों, मुझसे प्रेम करें या न करें, दयालु हों चाहे निष्ठुर हों, परंतु मेरे हैं-इस भाव से ही सच्चा प्रेम होता है। जैसे विवाह के पहले सगाई करते समय देखा जाता है कि लड़का कैसा है, परंतु जब सम्बन्ध हो जाता है, तब तो वह अपना हो जाता है। वह चाहे जैसा हो, सती स्त्री का तो वही सर्वस्व है। उसने तो उस पर अपने आपको निछावर कर दिया है। उसकी नजर गुण दोषों की ओर नहीं जाती।

एक लड़की ने अपनी बहिन से पूछा-'जीजी, जीजाजी कैसे हैं?' उसने उत्तर दिया-'हट पगली, जो चीज अपनी होती है, क्या उसके लिये यह देखा जाता है कि वह कैसी है? जैसी भी है, वह तो अपनी है! उसको देखना क्या?'

पहले यह बात कही गयी थी कि संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ने से और अपने नित्य सम्बन्धी प्रभु के सम्बन्ध को भूल जाने से चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि प्राणी का सम्बन्ध किसी के साथ क्यों जुड़ता है और क्यों टूटता है? विचार करने पर मालूम होगा कि खास तौर पर तीन कारण से सम्बन्ध जुड़ता है-

१. रुचि से अर्थात् जो मन को प्रिय लगता है, उससे।

२. अभाव की पूर्ति की आशा से।

३. संदेह रहित होने से।

जिसमें मनुष्य की रुचि नहीं रहती, जिससे अभाव की पूर्ति की आशा नहीं रहती और जिसमें संदेह हो जाता है, उससे सम्बन्ध टूट जाता है। यह नियम है।

साधक को चाहिये कि अपने मन को समझाकर उसमें ऐसी रुचि उत्पन्न करे कि जो वास्तव में हितकर हो, जिसमें किसी प्रकार का संदेह न हो।

दूसरों को समझाने के लिये तो सभी संदेह रहित होते हैं परंतु उससे काम नहीं होता। जरूरत तो अपना संदेह दूर करने की है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही रुचि को लेकर होती है। आंशिक रुचि को लेकर मनुष्य प्रवृत्त होता है। फिर उससे अभाव की पूर्ति न देखकर या किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न हो जाने पर उससे निवृत्त हो जाता है। जब प्रवृत्ति नहीं होती, तब निवृत्ति होती है-यह नियम है।

मन की आसक्ति का नाम रुचि है। जिस रुचि के साथ विवेक का प्रकाश नहीं होता, वह मनुष्य की भारी दुर्दशा करती है, अतः साधक को चाहिये कि मन की रुचि को विवेक के प्रकाश में देखे और उसे निर्दोष बनावे।

मनुष्य के मन की बात पूरी होने पर उसमें मनुष्य की आसक्ति हो जाती है और उसे वह जीवन सुख रूप प्रतीत होता है, परंतु उस रुचि कर परिस्थितिसे युक्त सुखी जीवन में भजन साधन नहीं होता, प्राणी उसी में फँस जाता है।

इसी प्रकार अरुचिकर परिस्थितिमें भी भजन-साधन नहीं होता। उस समय प्राणी रुचिकर परिस्थिति की आशा करके उसके चिन्तन में लग जाता है।

मन की आसक्ति का नाम रुचि है। इसकी उत्पत्ति अभ्यास से होती है, विवेक से इसका परिवर्तन होता है।

अतः साधक को चाहिये कि अपने अभाव को ठीक-ठीक समझे और उसकी पूर्तिका जो असली उपाय है, उसकी खोज करे। विचार करने पर मालूम होगा कि जो अनुकूलता प्राप्त है, वह अवश्य चली जायगी और प्रतिकूलता आ जायगी। यह मालूम होते ही संयोग काल में ही वियोग का दुःख दीखने लगेगा और यह अनुभव होगा कि संसार की कोई भी परिस्थिति अभाव की पूर्ति नहीं कर सकती। तब संसार के सम्बन्ध से रुचि हटेगी।

शरीर और संसार से सम्बन्ध मान लेने पर अधिकार-लिप्सा की जागृति होती है। अधिकार-लिप्सा पूरी न होने पर द्वेष और पूरी होने पर राग उत्पन्न होता है। यह राग-द्वेष ही चित्तकी अशुद्धि के मूल कारण हैं।

अतः साधक को चाहिये कि अपना कोई अधिकार न माने। अधिकार छोड़कर चाहे जहाँ रहे, उसे क्षोभ नहीं होता। वह दूसरों को प्यारा लगता है। अधिकार रखने वाला किसी को प्यारा नहीं लगता।

जो मनुष्य सदैव दूसरे के कर्त्तव्य पर दृष्टि रखता है, उससे भजन नहीं होता; क्योंकि दूसरा अपना कर्त्तव्य पालन करे या न करे, यह उसके हाथ की बात नहीं है। अतः साधक को चाहिये कि दूसरे से किसी प्रकार की आशा न करे और दूसरों के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करते हुए भगवान् के नाते उनको हित पूर्वक सुख देता रहे।

जो मनुष्य यह सोचता है कि अमुक काम पूरा हो जाने पर या अमुक प्रकार की परिस्थिति प्राप्त होने पर भजन करूँगा, वह भजन नहीं कर सकता; क्योंकि जिस परिस्थिति की आशा और चिन्तन उसे भजन नहंी करने

देते, वह प्राप्त होने पर कैसे भजन करने देगी? भजन-साधन वही कर सकता है, जो यह निश्चय कर ले कि मुझे तो इसी परिस्थिति में भजन करना है, जो प्राप्त है।

साधक को चाहिये कि प्रतिकूलता में भयभीत न हो और अनुकूलता की आशा न करे एवं जो परिस्थिति प्राप्त है उसी का सदुपयोग करते हुए अपने लक्ष्य की पूर्ति में लग जाय। साधक को समझना चाहिये कि प्रतिकूलता तो संसार से वैराग्य उत्पन्न करके लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक है और अनुकूलता रात की भाँति विश्राम प्रदान करती है। प्रतिकूलता और अनुकूलता दिन और रात की भाँति आती जाती रहेंगी। ये रुक नहीं सकतीं। अतः मुझे इनमें द्वेष या आसक्ति करके फँसना नहीं है। इनका सदुपयोग करके इनसे अतीत का जीवन प्राप्त करना है।

जो काम अपनी प्रसन्नता के लिये किया जाता है, उसका नाम 'भोग' है। जो काम दूसरों की प्रसन्नता के लिये उनके हित की दृष्टि से किया जाता है, उसका नाम 'सेवा' है।

जो लोग अपने मन की बात पूरी करने के लिये काम करते हैं, वे कभी उसको पूरी नहीं कर सकते; क्योंकि मन में एक के बाद दूसरी इच्छा उत्पन्न होती रहती है, उसके अभाव की कभी पूर्ति नहीं होती। इसलिये साधक को चाहिये कि जो काम करे, सेवा के रूप में करे। ऐसा कोई काम न करे जिससे दूसरों का अहित होता हो। सेवा के रूप में काम करते समय जिसकी सेवा करे, उसकी रुचि को समझकर करे, अपने मन की रुचि के अनुरूप न करे। यदि सेवा करने वाला यह सोचे कि अमुक वस्तु में जीवनीशक्ति अधिक है, यह खाने से उसका अधिक हित होगा और खाने वाले की उस वस्तु पर रुचि न हो तो वैसा करने से सेवा नहीं होगी, क्योंकि उसके मन की बात न होने पर उसे जो क्रोध आयेगा उससे उसकी वर्तमान जीवनी शक्ति का नाश होगा।

यदि मनुष्य में दूसरे को प्रसन्न करने की अर्थात् उसके मन के अनुकूल सेवा करने की शक्ति न हो तो उसे चाहिये कि उस काम से साफ-साफ इन्कार कर दे। काम न करने से पाप नहीं लगता, उसे उलटा करने से लगता है।

जो लोग कहते हैं कि साधन में मन नहीं लगा, उनको समझना चाहिये कि हमने अपनी रुचि, विश्वास और योग्यता के अनुरूप साधन का निर्माण नहीं किया है। साधन का निर्माण हो जाने के बाद उसमें मन न लगे या उससे लक्ष्य की प्राप्ति न हो, यह कभी नहीं हो सकता।

**अतः** साधक को चाहिये कि 'मैं साधन नहीं कर सकता या साधन में सफलता मिलना कठिन है' इस मान्यता को अपने जीवन से निकाल दे एवं यह निश्चय करे कि अब जैसी परिस्थिति प्राप्त है, उसी में साधन कर सकता हूँ और उसमें मुझे अवश्य सफलता मिलेगी। साधन नहीं हो सकता, इस बात को सर्वथा झूठी समझे। दूसरों की बराबरी न करे। विवेक के प्रकाश में रुचि, विश्वास और योग्यता के अनुसार

साधन का निर्माण करके साधन में तत्पर हो जाय।

जो साधन रुचिकर होता है, जिसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं होता, जिसमें यह विकल्परहित विश्वास होता है कि इससे मेरे समस्त अभाव मिटकर मुझे अपने साध्य की प्राप्ति हो जायगी, वह साधन साधक का जीवन बन जाता है। उसमें नित्य नया उत्साह और प्रेम बढ़ता रहता है।

साधक को चाहिये कि बलका, सुख का, निर्बलता का, दुःख का सदुपयोग करे अर्थात् जिस समय जो कुछ प्राप्त है, उसी का सदुपयोग करे। बीती हुई बातों का चिन्तन और भविष्य की आशा न करे। यदि निर्बलता का अनुभव हो तो संसार से सर्वथा निराश होकर परमेश्वर पर विश्वासपूर्वक निर्भर हो जाय।

शेखचिल्ली की भाँति मनोराज्य करने से कोई काम नहीं होता, प्रत्युत् मनुष्य संकल्पों के जाल में फँस जाता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि जो काम कर सके, उसे सही तरीके से पूरा कर दे। जो न कर सके, उसे करने का संकल्प छोड़ दे। सभी परिस्थितियाँ कभी किसी भी मनुष्य के अनुकूल नहीं हो सकतीं। वह जिसको अपना प्यारा मानता है, वही उसके मन की बात पूरी नहीं होने देता, उसके प्रतिकूल करने लग जाता है। राजा दशरथ सबसे अधिक कैकेयी से प्यार करते थे, वही उनके मन की बात पूरी होने में बाधक हो गयी।

**अतः** साधक को चाहिये कि दूसरों के मन की धर्मानुकूल बात को भगवान् के नाते पूरी करे। अपने मन को बदल दे या उसका नाश कर दे। ऐसा करने में हरेक परिस्थिति में रास्ता मिल जायगा, कोई कठिनाई नहीं रहेगी। अतः साधक को अपने मन की बात पूरी करने में शक्ति नहीं लगानी चाहिये।

जो कुछ होता है, वह उस सर्वान्तर्यामी, सबके सुहृद् प्रभु की सत्ता से होता है। अतः जब अपने मन की इच्छा के विपरीत हो, तब साधक को समझना चाहिये कि अब प्रभु अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं। अतः वे शीघ्र ही मुझे अपनाने वाले हैं अपना प्रेम प्रदान करने वाले हैं। प्रत्येक परिस्थिति प्रभु का आदेश और संदेश है। उसका सदुपयोग करने में और प्रभु के मन में अपना मन मिला देने में ही अपना सब प्रकार से हित भरा हुआ है। यह सोचकर साधक को कभी भी अनुकूलता की आशा नहीं करनी चाहिये और प्रतिकूलता से भय नहीं करना चाहिये। सदैव अपने प्रभु पर ही निर्भर रहना चाहिये।

मानव जीवन साधन के लिये ही मिला है। साधन करने में मनुष्य सदैव स्वाधीन है। ठीक साधन करने में सफलता अवश्य होती है। अतः साधक के जीवन में भगवान् पर अविचल विश्वास होना चाहिये एवं साधन में नित्य नव-प्रेम और उत्साह बढ़ते रहना चाहिये। उसे कभी किसी भी परिस्थिति में निराश नहीं होना चाहिये। हर समय प्रभु की कृपा का दर्शन करते हुए उनके प्रेम में विभोर रहना चाहिये।

# सन्त उद्बोधन

## १

समस्त साधक महानुभाव!

सेवामें सविनय निवेदन है कि साधक स्वरूप से अशरीरी ही है और सत्य को स्वीकार करना उसका स्वधर्म है। जगत् के प्रति सद्भाव और साध्य में अगाध प्रियता उसका जीवन है; जो हो रहा है, वह उसके प्यारे की लीला है।

सभी साधकों को बड़ी ही ईमानदारी से अकिंचन, अचाह, तथा अप्रयत्न होकर, हरि-आश्रय पाक चिर-विश्राम में नित्य-वास करना चाहिये। शरणागत विश्वासी साधक अपने सभी आत्मीयजनों को समर्थ के हाथों समर्पित करके, निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है। जिसे प्रभु-आश्रय मिल गया, वह अभय हो गया; सब कुछ पा गया। किसी भी विश्वासी शरणागत साधक को कभी भी अधीर नहीं होना चाहिये, कारण कि वह सनाथ है, अनाथ नहीं।

अनेक ममताएँ एक आत्मीयता में और अनेक कामनाएँ प्रियता की माँग में विलीन हो जाती हैं और फिर साधक साध्य की प्रियता पा जाता है- यह जीव का सत्य है, जिसे अपना लेने पर वह सर्वदा ही सर्वसमर्थ की गोद में है।

चलते-फिरते, उठते-बैठते, सहज भाव से 'हे हृदयेश्वर! हे सर्वेश्वर! हे प्राणेश्वर! हे परमेश्वर!'' सभी के हित के लिए पुकारना चाहिये। यह पुकार साधक को अशरीरी होने की सामर्थ्य प्रदान करती है। फिर वह अपने ही में अपने प्रियतम को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अपना सदैव अपने ही में है, उससे कभी भी वियोग नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि प्रियता एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि योग में वियोग, वियोग में योग का भास कराती है। साधक का दृश्य-मात्र से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है; कारण कि वह अपने में ही अपने प्रेमास्पद को पा गया है।

इसी सद्भावना के साथ,

अकिंचन

शरणानन्द

## २

साधक महानुभाव!

कुछ नहीं चाहने से ही मोक्ष मिलता है। चाहा ही बन्धन होता है। अगर मालूम होता है कि मेरा कुछ है, मुझे कुछ चाहिए, तो बस बँध गए। अगर तुम्हें यह अनुभव हो जाए कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, बस मुक्त हो गये। अगर आपको ये मालूम होता है कि संसार में मेरा कुछ है और संसार से मुझे कुछ चाहिए, तो यह बन्धन हो गया और इसके विपरीत मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, तो मुक्ति हो गई। भगवान् मेरे हैं तो भक्ति हो गई।

जो होती है, उसको मुक्ति थोड़े ही कहते हैं, जो है, उसे मुक्ति कहते हैं। बन्धन बनाने की सामर्थ्य आप ही में है और मुक्त होने की सामर्थ्य भी आप में ही है। ममता हट गई, कामना हट गई, तादात्म्य टूट गया; बंधन टूट गया।

अपनी वर्तमान दशा से परिचित हो जाइए और अपनी जरूरत से परिचित हो जाइए, फिर साधन से परिचित हो जाइए। आप दश से परिचित होते नहीं, जरूरत से परिचित होते नहीं, साधन से परिचित होना चाहते हैं। जो साधन आपकी जरूरत के अनुसार नहीं होगा, जो जरूरत आपकी मैजूदा दशा में-से नहीं निकलेगी वह ठहरेगी कैसे आपके जीवन में! प्यासे आदमी को पानी की बात सुनने को मिले तो वह फौरन पकड़ लेता है; क्योंकि प्यास लगी है उसे जरूरत है। पहले आप अपनी मौजूदा हालत देखिए, क्या है? फिर उपाय पूछिए अपनी जरूरत को सामने रखकर, जो जरूरत का अनुभव होना ही एक बहुत बड़ा उपाय हो जायेगा।

अकिंचन
शरणानन्द

## ३

साधक महानुभाव!

' मेरा कुछ नहीं है'' - इस बात का ज्ञान पूर्वक अनुभव करना चाहिए ''मुझे कुछ नहीं चाहिए'' -यह अपने द्वारा निर्णय करना चाहिए। ''प्रभु अपने हैं'' -यह आस्थापूर्वक स्वीकार करना चाहिए। ''सब कुछ प्रभु का है'' - यह मान लेना चाहिए। ''मेरा कुछ नहीं है'', यह ठीक-ठीक अनुभव करें, क्योंकि संसार में व्यक्तिगत वस्तु कुछ है नहीं। हमसे गलती यह होती है कि सार्वभौमिक वस्तु को व्यक्तिगत मान लेते हैं। तो सर्वप्रथम यह भूल मिटानी चाहिए। वह मुझमें हैं- यह आस्था है। और मुझे जो चाहिए वह संसार में नहीं है-यह अनुभव है। आपको जो कुछ चाहिए उसकी पूर्ति सारा संसार मिलकर भी नहीं कर सकता। आप इतने समर्थ हो कि उदार होकर संसार के काम आ सकते हैं। पर संसार सारी शक्ति लगाकर भी आपको अमर जीवन नहीं दे सकता, स्वाधीन जीवन नहीं दे सकता।

सत्य को स्वीकार करने से असाधन का नाश होता है और साधन की अभिव्यक्ति होती है। जब साधक में स्वयं साधन की अभिव्यक्ति हो जाती है, तो साधन और जीवन एक हो जाता है। तो जीवन का सत्य क्या है? संसार से आप जो चाहें, वह आपको नहीं दे सकता। पर संसार जो चाहे, वह आप उसे दे सकते हैं। इस बात पर बहुत अच्छी तरह से मनन करना चाहिए। तो पहले अपना मूल्य संसार से अधिक बढ़ाओ, आप अचाह हो जाएँगे। जब अचाह हो जाएँगे, तो अप्रयत्न हो जाएँगे। अप्रयत्न हो जाएँगे तो शरीर का तार टूट जाएगा, तो परमात्मा मिल जाएगा।

आपकी मनुष्य संज्ञा इसलिए है कि आपमें तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं। जानने की शक्ति आप में है, मानने की शक्ति आप में है और करने की शक्ति आपमें है। अब आप करने की शक्ति द्वारा अपना लाभ उठाना चाहते हैं तो दूसरों के लिए है; और जानने की शक्ति से दूसरों की भूल मिटाना चाहते हैं जो कि अपनी

भूल मिटाने के लिए है। मानने का काम परमात्मा के लिए है, वह जाने किसके साथ लगा दिया है। चाहिए यह कि करने की शक्ति का उपयोग दूसरों की सेवा में करो, जानने की शक्ति का उपयोग अपने लिए करो और मानने की शक्ति का उपयोग परमात्मा के साथ कर दो, तो सांगोपांग साधन बन जाएगा।

परमात्मा को जानना चाहिए या मानना चाहिए?

परमात्मा माना जाता है, जाना नहीं जाता। माना हुआ वह परमात्मा माना हुआ नहीं रहता, प्राप्त हो जाता है। जो बात आपके वश की न हो, तो भगवान् से माँग लो, वे देंगे। हमने सुना है, माना है कि भगवान् परम उदार हैं, परम स्वतंत्र हैं, वे परम प्रेम की निधि हैं। आप यह भी विचार करके देखो कि जब उदार होंगे, तभी काम बनेगा, स्वतन्त्र होंगे, तभी काम बनेगा, प्रेम से परिपूर्ण होंगे, तभी काम बनेगा।

परमात्मा को लोग साधनरूप करके मानते हैं, साध्य करके नहीं। वे कहते हैं कि परमात्मा समर्थ हैं, हमारी कामना अवश्य पूरी कर दें। यही सबसे बड़ी भूल है। आप कामना छोड़ दें, तो परमात्मा साध्य हो जाये।

यदि अचाह होने का व्रत आप ले लें, तो आवश्यक कामनाएँ पूरी होकर नाश हो जाएँ और अनावश्यक उत्पन्न ही न हों। तो जब आवश्यक कामना पूरी होगी तो कामना पूर्ति का क्या मजा है-वह आपको मालूम हो जाएगा। और जब अनावश्यक कामनाएँ नाश हो जाएँगी तो कामना निवृत्ति में क्या सुख है-वह मालूम हो जाएगा। इस प्रकार कामना पूर्ति का सुख भी आप अनुभव कर सकते हैं और कामना-निवृत्ति की शांति भी आप अनुभव कर सकते हैं।

शांति से असंग होकर आप मुक्ति का आनन्द ले सकते हैं और मुक्ति से मुक्त होकर भक्ति का आनन्द भी आप ले सकते हैं। इतना आनन्द आपको मिल सकता है।

## ३-क

साधक महानुभाव!

जीवन के दो पहले हुए-एक भोग और एक योग! किन्तु करने में जीवन नहीं है, यदि करने में जीवन होता, तो सभी को नहीं मिल सकता था। क्योंकि करने में दो व्यक्ति भी कभी समान नहीं हैं। श्रम और विश्राम जीवन के दो पहलू हैं। श्रम है संसार के लिए और विश्राम है अपने लिए। जब कोई काम करने चलो, तो यह मानकर मत चलो कि मुझे क्या लाभ होगा? बल्कि यह सोचकर चलो कि इससे परिवार को क्या लाभ होगा, संसार को क्या लाभ होगा। बल का जब उपयोग करो तो इस बात को सामने रखों कि किसी दूसरे को उससे हानि तो नहीं होती। यदि हानि है तो वह नहीं करूंगा। तो दूसरों के हित के लिए काम करो, उसको कहते हैं श्रम और अपने लिए विश्राम करो। विश्राम में अमर जीवन है, विश्राम में स्वाधीन जीवन है, विश्राम में सरस जीवन है। भोग योनियों में भ्रम

के अतिरिक्त विश्राम है ही नहीं, पर मनुष्य योनि में सेवा और योग है। विश्राम का अर्थ होता है- काम रहित होना। विश्राम सहज है, स्वाभाविक है। सभी के लिए समान रूप से सम्भव है।

सेवा करो, संसार के काम आ जाओ और योग करो, अपने काम आ जाओ। सेवा का फल, कर्त्तव्य का फल ही योग है। सही काम करने से मनुष्य काम रहित हो जाता है। काम-रहित होने से योग की प्राप्ति होती है। योग की पूर्णता में बोध और प्रेम है। इसलिए दो बातें ज्ञान पूर्वक अनुभव करो- ''मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए।'' दृढता से विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि ''प्रभु अपने हैं, सब कुछ प्रभु का है।'' अब संसारके और अपने बीच में जो सम्भव है, वह करो। बस, केवल बुराई मत करो। जो नहीं कर सकते हो, उसे करने की सोचो मत और जो नहीं करना चाहिए, उसे करो मत। जो कर सकते हो, उसे जमा मत रखो, कर डालो। उसके अन्त में आपको योग की प्राप्ति हो जाएगी।

संकल्प-विकल्प तो उठते ही हैं। तुम्हारे न चाहने पर भी उठते हैं, इसलिए कि आप संकल्प-पूर्ति का सुख भोगते हैं, यदि संकल्प-आपूर्ति से दुःखी होते हैं। इसलिए विकल्प उठते है। यदि संकल्प-पूर्ति का सुख न भोगों, आपूर्ति से दुःखी न हो, निःसंकल्प-निर्विकल्प हो जाओ, तो संकल्प-विकल्प उठना बन्द हो जायेंगे। वे तो हमारे किसी क्रिया का परिणाम हैं, वे किसी नई प्रवृत्ति नहीं है।

भोग जब आप करते हैं, तो भोगे हुए का प्रभाव मन पर अंकित हो जाता है, उसका संस्कार जमता है और जब आप शान्त होते हैं, तब वही प्रकट होता है। वह प्रकट होता है नाश होने के लिए, वह नया कर्म नहीं है। आपके भोजन कर लेने के बाद जैसे आपका भोजन बिना जाने और बिना कुछ किए पचता है। तो एक होता है 'करना' और एक होता है 'होना'। होना जो होता है वह प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा होता है, 'करना' जो होता है वह अपने अभिमान के द्वारा होता है। तो होने वाली बात को कर्म मत मानो, वह कर्म नहीं है। अगर उससे असहयोग कर लोगे, तो उसका प्रभाव अपने आप नाश हो जायेगा।

संसार से सम्बन्ध है सेवा करने के लिए और परमात्मा से सम्बन्ध है प्रेम करने के लिए। न संसार से कुछ चाहिए, न परमात्मा से कुछ चाहिए। तो सम्बन्ध के अनुसार संसार की सेवा करो, परमात्मा के प्रेमी बनो। पर न कुछ संसार से चाहो, न कुछ परमात्मा से मांगो। तो इस प्रकार संकल्प उठने बंद हो जायेंगे। संकल्प तो भुक्त इच्छाओं का प्रभाव है और पहले जो भोग कर चुके हैं, उसी के प्रभाव से उठता है। यदि एक संकल्प पूरा हो गया और उसका सुख भोगा, तो उसी के प्रभाव से दूसरा संकल्प उठेगा। संकल्पपूर्ति का सुख ही नवीन संकल्प को जन्म देता है। यदि हम संकल्प-पूर्ति का संख पसन्द करते रहेंगे, तो एक के बाद एक नवीन संकल्प उत्पन्न होता ही रहेगा और अभाव ही अभाव पल्ले पड़ेगा। तो संकल्प-पूर्ति का

सुख मत भोगो व संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण मत करो। बस, तब जीवन-मुक्ति प्राप्ति हो जाएगी। फिर संकल्प-अपूर्ति का दुःख भी नहीं होगा, क्योंकि संकल्प-पूर्ति का सुख भोगोंगे, तो ही संकल्प-अपूर्ति का दुःख होगा।

आज तक विश्व के इतिहास में क्या किसी के सभी संकल्प पूरे हुए हैं? कभी नहीं हुए। इसलिए जो संकल्प आपकी मर्जी के बिना उत्पन्न हुआ है, उसका समर्थन मत करो। उससे आपकी निर्विकल्पना बिगड़ नहीं जाएगी। कोई संकल्प उत्पन्न हुआ है, उसे आप चाहते नहीं हैं। संकल्प तो किसी वस्तु का संकेत है। वह स्वतः वस्तु नहीं है। अतः आपके किसी पुराने इतिहास का परिचय है संकल्प, या नवीन कार्यक्रम की सूचना है संकल्प, या किए हुए की स्मृति है संकल्प। संकल्प का उठना बन्द हो जाये, सो आपके वश की बात नहीं है। संकल्प उठना बन्द नहीं हो सकते, पर उनसे सम्बन्ध तोड़ना चाहिए। संकल्प अच्छे भी उठते हैं, बुरे भी उठते हैं।

ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार जो संकल्प उठे, उसे पूरा करके खत्म कर दो। संकल्प वह पूरा करना है जिसमें दूसरों का हित है। उसी को कर्त्तव्य कहते हैं। जो संकल्प कभी पूरा न हो, बार-बार उठे वह ज्ञान-विरोधी है, सामर्थ्य-विरोधी है। अतः उसका त्याग कर दो। इस प्रकार आप निर्विकल्प हो जायेंगे।

सेवा, त्याग और प्रेम तीनों इकट्ठे हो गए, भजन हो गया। भजन में सेवा भी है, त्याग भी है और प्रेम भी है। ध्यान क्या है? जिसकी जरूरत होती है, उसका ध्यान अपने आप होता है। कर्म से सेवा करो, अचाह होकर त्याग करो, भगवान को अपना मानकर प्रेमी हो जाओ- भजन हो गया। भगवान् को जब तक अपना नहीं मानोगे, तब तक भगवान् प्यारा लगेगा नहीं और भगवान् जब तक प्यारा लगेगा नहीं, तब तक उसकी याद आयेगी नहीं और जब तक याद नहीं आएगी, तब तक भजन होगा नहीं।

प्रभु की महिमा स्वीकार करो, स्तुति हो गई। प्रभु से सम्बन्ध स्वीकार करो, उपासना हो गई। प्रभु के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करो, प्रार्थना हो गई।

मनुष्य में तीन बातें होती हैं-भोग की वृत्ति होती है, जिज्ञासा होती है और भगवद् प्राप्ति की लालसा होती है। तो भोग की वृत्ति का त्याग कर दो, जिज्ञासा पूरी हो जाएगी और भगवत् प्राप्ति की लालसा उदय हो जाएगी।

अकिंचन,
शरणानन्द

## ४

साधक महानुभाव!

हमे देखना चाहिए कि हमारा सम्बन्ध हमारी ओर से किसके साथ है? परमात्मा के साथ है या जगत् के साथ है; अच्छाई के साथ हैं या बुराई के साथ? हमको क्या पसंद आता है? अगर हमको परमात्मा का सम्बन्ध अच्छा लगता है, तो संसार का सम्बन्ध अपने आप ही टूट जायेगा। अगर संसार का सम्बन्ध हमने तोड़

दिया है, तो परमात्मा से सम्बन्ध अपने आप हो जायेगा। तो आपके और परमात्मा के बीच संसार पर्दा नहीं है, उससे सम्बन्ध पर्दा है।

मांग तीन प्रकार से हो सकती है, कामना को लेकर, लालसा को लेकर और जिज्ञासा को लेकर। भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा, और ब्रह्म की लालसा। 'जिज्ञासा' कहते हैं, जानने की इच्छा। लालसा कहते हैं, पाने की इच्छा। और कामना कहते हैं, भोग की इच्छा। तो यह भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा और परमात्मा की लालसा- ये तीनों लक्षण जिसमें रहते हैं उसे हम 'मैं' कहते हैं। इन तीनों में जो कामना है, वह तो भूल से उत्पन्न होती है। और जिज्ञासा एवं लालसा स्वभाव से उत्पन्न है। जो भूल से उत्पन्न होती है उसकी तो निवृत्ति हो जाती है और जो स्वभाव से उत्पन्न होती है, उसकी पूर्ति हो जाती है एवं लालसा की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए कामना की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और परमात्मा की प्राप्ति मनुष्य को ही हो सकती है।

प्रेम करने का तरीका आज तक संसार में कोई बतला नहीं सका, और निकला भी नहीं है। तरीके से प्रेम नहीं हुआ करता, क्योंकि प्रेम का तरीका होता, तो जो काम तरीके से हो सकता है यह मशीन से भी हो सकता है। तब तो आज के वैज्ञानिक युग में प्रेम प्राप्त करने की मशीनें भी बन जाती। तो प्रेम करने का कोई तरीका नहीं है, पर प्रेम करना सब को आता है। जीवन में एक अनुभव की बात यह है कि हम जिसको अपना लेते हैं वह प्यारा लगता है और हम उसे अपना सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं। परमात्मा अपना है, उसे अपना बना लें, तो वह प्यारा लगता है। जब परमात्मा प्यारा लगता है, तो उस पर सर्वस्व अर्पण कर देते हैं। ईश्वर को हम अपना दिल दे बैठें, तो फिर हमारे पास अपना क्या रह जायेगा? मनुष्य के पास जब उसका दिल न रहे, तो वह भक्त हो जाये, मुक्त हो जाए और शांति पा जाए।

बातें करने को तो बहुत बातें हो सकती हैं। परन्तु आप बातें करने के साथ सोचो भी, विचारों भी और जीवन में अनुभव भी करो। आप सुनना और सीखना बंद करें और जानना और मानना प्रारम्भ करें, तो काम बन जाएगा। जानने के स्थान पर- ''मेरा कुछ नहीं है''- इसके सिवाय और कुछ नहीं जानना है। और मानने के स्थान पर सिवाय परमात्मा के और कोई मानने में आता नहीं है।

जब तक तुम बुरे नहीं होते, बुराई नहीं पैदा होती। मन में कोई विकृति नहीं है। ईश्वर में, मन में कोई खराबी होती ही नहीं। अपनी खराबी ठीक करो, मन ठीक हो जायेगा। तुम किसी को बुरा मत समझो, मन में बुरी बात कभी नहीं आएगी। तुम किसी का बुरा मत चाहो, मन में बुरी बात कभी नहीं आएगी। तुम किसी के साथ बुराई मत करो, मन में बुरी बात कभी नहीं आएगी। हमारी भूल हमें मन में दिखती है। भूल हम करते हैं और नाम मन का रख देते हैं। बुराई करने वाला खुद दुःखी होता है और दूसरों को भी दुःखी करता है।

अपने को बुरा मानोगे, तो बुराई करोगे। अपने को भला मानोगे, तो भलाई करोगे। और भला-बुरा कुछ नहीं मानोगे, तो परमात्मा में रहोगे।

अच्छाई और बुराई जब दोनों होती हैं, तब तो बनता है अहम् परिच्छिन्नता बनती है और जब बुराई बिल्कुल नहीं रही, अच्छा ही अच्छा रह जाता है, तो अहम् का नाश हो जाता है। द्वन्द्व में अहम् बनता है, द्वन्द्वातीत में अहम् नहीं बनता। मनुष्य सर्वांश में बुरा नहीं हो सकता, पर सर्वांश में भला हो सकता है।

गुरु वाणी से जो सुना, उसे मान लिया; वह निदिध्यासन हो गया।

जिसके करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, जिसमें किसी का अहित न हो, जिसके बिना करे नहीं रह सकते हो और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो-ऐसा काम ही जरूरी होता है।

किसी चीज की प्राप्ति के पहले उसकी आवश्यकता अनुभव होती है। अगर आप समाधि की आवश्यकता अनुभव करेंगे, तो भोग की वृत्ति नाश हो जायेगी, समाधि प्राप्त हो जायेगी। योग में भोग की रुचि ही बाधक है। आप योग की आवश्यकता अनुभव करें, योग मिल जाएगा।

ध्यान लगाने की बात, समाधि लगाने की बात तो आप करते हैं, पर ध्यान किसका होगा? जिसकी आवश्यकता आप अनुभव करोगे। जिसकी स्मृति जगेगी, उसका ध्यान होगा। स्मृति उसकी जगेगी जिसको आप अपना मानोगे। तो एकदम ध्यान कैसे कर लोगे? पहले तो यह देखो कि जिसका आप ध्यान करना चाहते हैं, वह आपका अपना है या नहीं, वह अभी है या नहीं?

ध्यान किसका करना है? ध्यान किसी का नहीं करना है। किसी का ध्यान नहीं करोगे, तो परमात्मा का ध्यान हो जाएगा। और किसी का ध्यान करोगे, तो वह फिर किसी और का ही ध्यान-मात्र रह जाएगा।

आप लोग जीवन से बिल्कुल अलग हो करके सोचते हो। अपनी वर्तमान दशा का ठीक अनुभव करो। आपकी वर्तमान दशा क्या है? आपकी मांग क्या है? आपकी जिम्मेदारी क्या है? इत्यादि बातों पर विचार करने पर ही साधना होती है।

संसार कभी आपसे नहीं कहता कि मुझे पसन्द करो, तुम्हीं पसन्द करते हो। संसार की किसी वस्तु ने कभी कहा है कि मैं तुम्हारी हूँ? तुम्हारे मकान ने कहा हो, तुम्हारी जेब के पैसों ने कहा हो, तुम्हारे हाथ ने कहा हो, तुम्हारी इन्द्रियों ने कहा हो। तुम्हारे शरीर से लेकर संसार की जितनी भी चीजें हैं, उनमें से किसने कहा है कि मैं तुम्हारी हूँ? तुम बिना वजह 'अपना-अपना' गीत गाते हो। कहते हो 'मेरा मन' 'मेरा हाथ' आदि।

जानी हुई बुराई करो मत और जो बुराई कर चुके हो, उसे दोहराओ मत। तो आगे बढ़ जाओगे।

आदमी अपनी जगह पर ठीक बना रहे। तुम जो जानते हो, सो मानते रहो, सो करते रहो। तो तुम्हारी सारी जरूरतें अपने आप पूरी

होंगी। आपको जो करना चाहिये, आप जो कर सकते हैं, उसको कीजिए। बस, फिर सारी बातें अपने-आप पूरी हो जायेंगी।

जो व्यक्ति कुछ भी जानना चाहता है, उसने गुरु मान लिया और जो व्यक्ति कुछ भी करना चाहता है, उसने धर्म मान लिया और जिसे अपने से कोई भी बड़ा दिखता है, उसने ईश्वर मान लिया। जीवन में ये तीन ऐसे सत्य हैं कि हर आदमी किसी-न-किसी रूप में इन्हें मान ही लेता है।

जगत् की उदारता, प्रभु की कृपालुता और सत्पुरुषों का सद्भावना- ये प्रत्येक साधक के साथ सदैव रहती है।

यह जीवन का सत्य है कि आप अपने विरोधी मत बनिये, तो कोई आपका विरोधी नहीं होगा। आप अपनी जगह पर ठीक बने रहें, तो गुरु भी हमारे साथ, प्रभु भी हमारे साथ और संसार भी हमारे साथ। कोई आपका विरोधी नहीं है, सब आपके अनुकूल है। आप अपने विरोधी मत बनिए।

अकिंचन
शरणानन्द

## ५

साधक महानुभाव!

एकान्त का पूरा लाभ तब होता है जब हमारा सम्बन्ध एक ही से रह जाये। अनेक सम्बन्ध लेकर एकान्त में जाते हैं तो उतना लाभ नहीं होता, जितना होना चाहिए। हमारे सम्बन्ध पहले बदलने चाहिए। एक से रहे, अनेक से नहीं। संसार परमात्मा की प्राप्ति में बाधक नहीं है, बल्कि सहायक है। उसका जो हम सम्बन्ध स्वीकार करते हैं वही बाधक है। परमात्मा कहां है, कैसा है, क्या है- इसके पीछे न पड़ते हुए 'परमात्मा है', यह मान लेना चाहिए। इससे बहुत लाभ होता है।

अपनी भूल को जान लेने से भी बड़ा लाभ होता है। क्योंकि भूल को जानने से वेदना होती है और वेदना से भूल नाश होती है और भूल रहित होने से अपना हित होता है।

यह जीवन का सत्य है कि हमारी और से सम्बन्ध एक से होना चाहिए, अनेक से नहीं और उसी एक के नाते, अनेक की सेवा होनी चाहिए। इससे प्रत्येक कर्म पूजा बन जायेगा, भजन होने लग जायेगा और परमात्मा की समीपता का, एकता का, अभिन्नता का बोध हो जायेगा।

मौन का अर्थ खाली चुप होना नहीं है, बल्कि न सोचना भी है, न देखना भी है अपनी ओर से। मुझे जो चाहिए सो तो मुझमें है, फिर इन्द्रियों की क्या अपेक्षा? मौन के पीछे एक दर्शन है कि हमको जो चाहिए वह अपने में है, अपना है और अभी है। यही सर्वश्रेष्ठ

परमात्मवाद है। भगवान् की महिमा का कोई पारवारा नहीं है। पसन्द भर करना हमारा काम है; बाकी तो भगवान् की अहैतुकी कृपा सारा काम स्वतः कर देती है।

मेरा कुछ नहीं है, यह जानने की बात है और बुराई रहित होना, यह धर्म है, धारण करने की बात है। तो धर्म को धारण करो, भूल रहित हो जाओ और परमात्मा को मान लो। आपका जीवन कल्याणमय हो जायेगा।

अतः मौन का तात्पर्य हुआ-बुराई रहित होना। यह बाहरी मौन धर्म के क्षेत्र का मौन हो गया। भूल रहित होना, यह उससे सूक्ष्म हो गया और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना, यह आन्तरिक हो गया।

भगवान् की दृष्टि से हम कभी ओझल नहीं हैं, उनकी सत्ता से हम कभी बाहर नहीं हैं। हम भगवान् की महिमा स्वीकार नहीं करते, उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, तो उससे भगवान् हमको दूर मालूम होते हैं। अगर हम उसकी महिमा स्वीकार करें, उसके अस्तित्व को स्वीकार करें, उनके सम्बन्ध को स्वीकार करें, तो भगवान् दूर नहीं हैं। भगवान् के अस्तित्व को स्वीकार करना ही तो आस्तिकता है और महत्त्व को स्वीकार करना ही भगवान् की स्तुति है और भगवान् के सम्बन्ध को स्वीकार करना ही उपासना है। भगवान् के अस्तित्व को, महत्त्व को और सम्बन्ध को स्वीकार करना अपना काम है और उस स्वीकृति को सजीव कर देना, यह प्रभु का काम है। जब हम अपना काम ठीक कर देते हैं तो प्रभु का काम ठीक होता रहता है, इसमें कमी होती नहीं है। ज्ञान के द्वारा हमारे और परमात्मा के बीच की दूरी और भेद मिटता है और विश्वास के द्वारा एकता होती है। परन्तु हम प्रभु में विश्वास करते नहीं, प्रभु से सम्बन्ध हम जोड़ते नहीं और चिन्तन करते हैं। वह चिन्तन ही बलपूर्वक करते हैं। चिन्तन शब्द का अर्थ है- जो अपने आप होने लगे। जब हम शान्त बैठते हैं तो अपने आप चिन्तन होने लगता है, यह संसार का चिन्तन होता है, क्योंकि हमने संसार से सम्बन्ध जोड़ा था। उस वक्त आपको इतनी सजगता होनी चाहिये कि अब तो हमने प्रभु के ही अस्तित्व को स्वीकार किया है, प्रभु के ही महत्त्व को स्वीकार किया है। आप अपनी स्वीकृति पर दृढ़ रहिये, तो चिन्तन अपने आप समाप्त हो जायेगा और स्मृति जाग्रत हो जायेगी। यह जो स्मृति है, यह भगवद् चिन्तन है। जैसे आज हम देखते हैं कि हमारे न चाहते हुए भी, हमारे न करने पर भी जीवन में विषय- चिन्तन दिखाई दे रहा है, ऐसे ही आपके द्वारा स्वतः भगवद्-स्मृति की भी जागृति हो जायेगी और जब स्मृति जाग्रत हो जाएगी, तो प्रेम और प्राप्ति- ये स्मृति के रूप हैं। तो भगवत् प्राप्ति अत्यन्त सुलभ है, सम्भव है।

अपने द्वारा होने वाली बात को अगर आप पूरा कर दें, तो आपको भगवत् साक्षात्कार होने में कोई कठिनाई नहीं होगी, लेकिन दुःख की बात तो यह है कि जो हम अपने द्वारा कर सकते हैं, उसको नहीं करते और जो शरीर के द्वारा कर सकते हैं, उसी के द्वारा करने की

कोशिश कर सकते हैं। प्रश्न यह है कि हम अपने द्वारा क्या कर सकते हैं? बहुत साधारण, पर बड़ी काम की बात है। जिस मौन साधन को आप बलपूर्वक करते हैं, तो आप सोचिये कि क्या अपने द्वारा आप बिना शरीर के बोल सकते हैं? तो मौन हो जाना चाहिये? या मौन रहना चाहिऐ?- अपने द्वारा तो कोई चीज हम कर नहीं सकते, जैसे परमात्मा के अस्तित्व को हम अपने द्वारा स्वीकार कर सकते हैं। उसके बल-बुद्धि की जरूरत होती, यदि वह बुद्धि की सीमा में आया होता। विश्वास से जो चीज सिद्धहोती है, उसमें बुद्धि का क्या उपयोग है? जो चीज स्वतः सिद्धहै, उसमें बल का क्या उपयोग है?

## ६

सत्संग प्रेमी महानुभाव!

संघ की नीति के अनुसार दैनिक सत्संग में पुस्तक का पाठ नहीं करना चाहिए। सभी का एक संकल्प होने पर यदि किसी ग्रन्थ विशेष की कथा की जाय, तो उसे श्रद्धापूर्वक श्रवण करना चाहिए। परन्तु सत्संग के बिना मानव हरि-कथा का अधिकारी नहीं होता। अब आप स्वयं सोचिये कि पुस्तकों के अध्ययन और सत्संग में क्या भेद है? सद्ग्रन्थ अल्पकाल के सत्संग की महिमा गाते थकते नहीं हैं। आपने कभी इस वास्तविकता पर विचार नहीं किया। यह आवश्यक नहीं है। कि केवल उपरी मन से प्रथा निभाने के लिए घण्टी बजाकर बैठ जायें। यदि ईमानदारी से हम लोगों को सामूहिक सत्संग करना है, तो सत्संग कीजिये। वह तभी सम्भव होगा, जब आप उसका आश्रय लेंगे, जो सदैव आप में है। मानव-सेवा-संघ की नीति में प्रवचन को भी सत्वर्चा कहा है, सत्संग नहीं। अब धीरज से विचार कीजिये कि सत्य अभी है, सभी में है, सदैव है। अतः सत्य आपका है, आप में है, और अभी है। अपने में अपने को सन्तुष्ट करना सत्संग है। ऐसा करने से तीनों शरीरों का तादात्म्य स्वतः टूट जाता है और सत्संगी सत्य से अभिन्न हो कृतकृत्य हो जाता है। इस अलौकिक, अनुपम, अद्वितीय आनन्द के लिए मानव सेवा-संघ का दैनिक नित्य-सत्संग है।

दैनिक-नित्य-सत्संग कब, कैसे करना चाहिए? प्रातःकाल। यह सर्वमान्य सत्य है कि निर्विकल्प-स्थिति में समस्त प्रवृत्तियों का अन्त होता है। जिसे निर्विकल्पता प्राप्त हो जाय, उसे श्रमयुक्त प्रवत्ति अपेक्षित नहीं है। प्रवृत्तियों की सार्थकता निर्विकल्पता में है। निर्विकल्प होने पर अवस्थितीत जीवन की ओर स्वतः प्रगति होती है। इस दृष्टि से निर्विकल्पता के लिए समस्त प्रवृत्तियां की जाती हैं। मानव-सेवा-संघ में मूक-सत्संग को मुख्य सत्संग माना है। उसी से साधक की योग्यता, सामर्थ्य, रुचि के अनुसार साधन की अभिव्यक्ति होती है। और, फिर साधन-तत्त्व से अभिन्नता हो जाती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्संग करना है। मूक-सत्संग का समय पूरा होने पर प्रार्थना की जाय और नित्य-कर्म के रूप में भजन-कीर्तन यदि रुचि हो, तो किया जाय। किन्तु उसका समय १०-१५ मिनट से अधिक न हो। विध्यात्मक

साधन को सामूहिक रूप देना एक रूढ़ि डाल देना है, और कुछ नहीं। उसके अन्त में पुनः सभी शान्त हो जायें। उसके पश्चात् यदि किसी के मन में कोई बात उठती हो और उस पर उसे परस्पर विचार-विनिमय करना हो, तो किया जाय। बात करने का ढंग मधुर हो, शान्त हो, आग्रह-रहित हो। तब तो विचार-विनिमय परस्पर चल सकेगा।

मूल प्रश्न तो मनुष्य मात्र में एक ही है, उसी को हल करना है। यह है-भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति जिसके लिए उस अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन दिया है। अन्त में दूसरी (अन्तिम) प्रार्थना की जाय। जिसकी वाणी में विकल्प-रहित विश्वास न हो, उसका व्याख्यान सुनने से कोई लाभ नहीं होगा।

सायंकाल की बैठक में प्रथम संघ के ग्यारह नियमों का पाठ एवं तत्पश्चात् उनकी व्याख्या की जाय।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आप सभी को 'सत्संग' करने की सामर्थ्य प्रदान करें। इसी सद्भावना के साथ आप सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनंद!

अकिंचन,

शरणानंद

## ७

मेरे निज स्वरूप परम स्नेही प्रभुके प्यारे प्रिय साधको!

'जीवन' अपने में है- यह सद्गुरु-वाक्य भी है और अनुभव-सिद्धसत्य भी है। इतना ही नहीं, समस्त कामनाओं के मूल में 'जीवन' की मांग सहज तथा स्वाभाविक भी है। फिर भी बड़े ही आश्चर्य की बात है कि साधक की की हुई तथा जानी हुई बुराइयों से रहित होकर और स्वतः होने वाली भलाई के अभिमान तथा फलासक्ति को त्याग कर सहज भाव से अपने में असन्तुष्ट होकर अविनाशी रसरूप चिन्मय जीवन को प्राप्त नहीं करते! सजग साधक शीघ्रातिशीघ्र सावधान होकर जीवन-धन को पाकर सदा के लिए कृतकृत्य होजायें, इसी सद्भावना से प्रेरित होकर सेवा में निवेदन है कि 'जीवन' की मांग वास्तविक मांग है, उसकी पूर्ति अनिवार्य है। इस सत्य में अविचल आस्था करो, तभी भूल से उत्पन्न हुए काम का नाश होगा और फिर सभी साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक सब ओर से विमुख होकर अपने में अपने प्रेमास्पद को पायेंगे। जो अपने में हैं, वही सदैव अपना है, उसी में अगाध प्रियता होनी चाहिए।

जो अपने में नहीं है, वह किसी भी काल में अपना नहीं है, इस वास्तविकता को स्वीकार कर सब ओर से विमुख होकर अपने में सन्तुष्ट होना अनिवार्य है। जो अपने में नहीं है, उसे पसन्द मत करो, इतने मात्र से ही अपनी समस्या हल हो जायेगी। जो अपना नहीं है, उसे बुरा समझना, उसमें समता करना। उसको बनाये रखने की सोचना भारी भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। भूल

का अन्त होने पर वास्तविकता का बोध स्वतः होता है और वास्तविकता के बोध में ही भूल का अत्यन्त अभाव है। भूल का अन्त करने के लिए सब प्रकार की पराधीनताओं का त्याग करना होगा और स्वाधीनतापूर्वक स्वाधीन होकर सजगता प्राप्त करनी होगी। बस, यही मानव का परम पुरुषार्थ है। इतना ही नहीं इसी वास्तविकता को स्वीकार करने के लिए ही मानव-जीवन मिला है।

जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है, उसकी माँग सबल होने पर उद्देश्य-पूर्ति की सामर्थ्य अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्रत्येक साधक को स्वतः प्राप्त होती है। साधक के जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है-इस महावाक्य में अविचल आस्था करते ही सफलता की उत्कृष्ट लालसा तीव्र होती है, जो समस्त कामनाओं को भस्मीभूत कर साधक को साध्य से अभिन्न कर देती है। यह सजग साधकों का अनुभव है।

अपने परम प्रेमास्पद सदैव अपने ही में है। उनमें अपनी अविचल आस्था रहनी चाहिए। प्रेमास्पद के अस्तित्व तथा महत्त्व को स्वीकार कर उनसे आत्मीय सम्बन्ध अत्यन्त आवश्यक है। आत्मीय सम्बन्ध से ही साधक में अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति होती है,अर्थात् साधक का अस्तित्व साधना से अभिन्न हो जाता है। साधना साध्य का स्वभाव तथा साधक का जीवन है। साधना और साध्य में जातीय एकता है। इसलिए साधक साधना से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए अविनाशी-रसरूप-चिन्मय जीवन को प्राप्ति कर कृतकृत्य हो जाता है।

इस दृष्टि से जीवन का जो सत्य है उसे स्वीकार करना सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। जो अपने में नहीं है, वह कभी भी अपने को नहीं चाहिए-यही वास्तविक त्याग है। इसको अपनाये बिना चिर-शांति, जीवन-मुक्ति तथा परम प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस कारण त्याग को अपनाकर ज्ञान का प्रकाश, प्रेम का रस एवं योग की सामर्थ्य प्राप्त कर सभी साधक कृतकृत्य हो जायें, इसी सद्भावना के साथ अनन्त के नाते सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐआनन्द, आनन्द, आनन्द!

अकिंचन,

शरणानंद

८

सत्संग प्रेमी महानु भाव!

निर्लोभता के बिना दरिद्रता का, निर्मोहता के बिना भय का, निष्कामता के बिना अशान्ति का, और असंगता के बिना पराधीनता का नाश नहीं होता। यह दैवी विधान है। विधान को सर्वांश में अपनाए बिना कोई भी साधक साधननिष्ठ नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, विधान के आदर में ही जीवन का आदर है। उसका अनादर करना अपने ही द्वारा अपना अनादर करना है। अपनी दृष्टि में आदर के योग्य हो जाने पर मानव बड़ी ही सुगमतापूर्वक सम्मान की वासना से मुक्त हो जाता है, अपने

साध्य को पाकर कृतकृत्य हो जाता है- यह अनुभव-सिद्धसत्य है। देहाभिमान रहते हुए कभी भी कोई भी पराधीनता आदि विकारों से रहित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सुख, सुविधा, सम्मान की वासना का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्य को स्वीकार करने पर ही सम्भव है।

मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में अपने द्वारा अपने लिए सत्य को स्वीकार करने से ही समस्त समस्याओं का हल हो सकता है। सत्वर्चा, सत्विन्तन और सत्कार्य तो देहाभिमानी भी कर सकता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि सत्वर्चा, सत्विन्तन आदि नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'स्व' के द्वारा सत्य को स्वीकार किए बिना चर्चा, चिन्तन एवं कार्य आदि मानव को मिथ्या अभिमान में आबद्धकरते हैं, जो भारी भूल है और इस भूल से ही अनेक विकार उत्पन्न होते रहते हैं। इस कारण मानव-सेवा-संघ का परामर्श है कि मानव-मात्र को सर्वप्रथम अपने द्वारा अपने लिए 'सत्य' को स्वीकार करना चाहिए। सत्य को स्वीकार करने पर सत्वर्चा, सत्विन्तन, सत्कार्य आदि देह-धर्म स्वतः होने लगते हैं और अभिमान की उत्पत्ति नहीं होती। निरभिमानता के बिना कभी भी किसी की एकता, समानता, स्वाधीनता आदि दिव्य-जीवन से अभिन्नता नहीं होती। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक सत्संग के द्वारा साधननिष्ठ हो जाय।

यह सभी को विदित है कि सर्वांश में तो कभी किसी के जीवन में अकर्त्तव्य तथा असाधन नहीं होता। किसी-न-किसी अंश में कर्त्तव्य-परायणता आदि साधना सभी के जीवन में रहती ही है। आंशिक साधना के आधार पर अपने को सन्तुष्ट करना बड़ी ही भयंकर असाधना है। इससे सजग साधक को बड़ी ही सावधानीपूर्वक अपने को बचाना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा जब साधक को अंशिक असाधना भी असह्य हो जाय। उसके लिए आंशिक साधना को साधना नहीं मानना चाहिए। साधना एक अलौकिक तत्त्व है। मानव ने उसकी खोज की है। साधना मानव की उपज नहीं है, अपितु ईश्वरीय शक्ति है। ईश्वरीय शक्ति अनन्त और अविनाशी है। उसका कभी नाश नहीं होता। यदि यह कह दिया जाए कि साध्य के समान ही साधना भी अनुत्पन्न हुआ तत्त्व है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। साधना में ही साधक का अस्तित्व विलीन हो जाता है। साधन सदैव साध्य से अभिन्न है। असाधन प्राक्रतिक नहीं है। मानव अपनी ही भूल से असत् के संग को अपनाकर असाधन को जन्म देता है। जिसे मानव ने अपनी भूल से उत्पन्न किया है, उसका नाश भूलरहित होने पर ही होगा। इस दृष्टि से भूल-रहित होने में ही मानव का पुरुषार्थ है। भूल-रहित होने के लिए अपनी भूल का अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है।

अपनी भूल का अनुभव तभी होगा, जब आंशिक साधना को अपनी साधना स्वीकार न किया जाय, अपितु आंशिक असाधन को भूल मान लिया जाए। भूल कितनी ही पुरानी क्यों न हो, यदि उसे नापसन्द कर दिया जाय, तो तुरन्त

मिट जाती है। भूल मिटाने में अधिक समय नहीं लगता। भूल को भूल अनुभव करने में भले ही समय लग जाय। जिस साधन को पर-दोष-दर्शन में सुख मिलता है वह बेचारा अपने ही द्वारा अपनी भूल को पुष्ट करता है और फिर अपने दुःख का कारण दूसरों को मानता है। यद्यपि सुख-दुःख प्राकृतिक तथ्य हैं, पर साधनरूप हैं। सत्य को स्वीकार करने पर सुख-दुःख साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाते। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय से आए हुए सुख-दुःख दोनों ही से साधक साधननिष्ठ हो सकता है। साधननिष्ठ होने में तो एकमात्र असत् का संग ही बाधक है। सत्य को स्वीकार करने पर सभी बाधाएँ स्वतः नाश हो जाती हैं। यह साधननिष्ठ साधकों का अनुभव है। अब यह भली-भाँति स्पष्ट हो गया कि सत्य को स्वीकार किये बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। इस कारण शीघ्रातिशीघ्र बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को सहन करते हुए भी सत् को स्वीकार करने के लिए सतत् प्रयत्नशील होना चाहिये। सफलता अवश्यम्भावी है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को 'सत्' को स्वीकार करने की प्रेरणा प्रदान करें, जिससे 'उनका' होकर सदा के लिए सब प्रकार से पूर्ण हो जाय। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

९

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय साधक महानुभाव!

क्षोभ और क्रोध के रहते हुए क्या किसी को कभी भी चैन मिल सकता है? कदापि नहीं। अब विचार यह करना है कि क्रोध तथा क्षोभ का मूल कारण क्या हो सकता है। अपनी रुचि-पूर्ति के लिए दूसरों से आशा करने से क्या सदैव रुचि-पूर्ति सम्भव है? जीवन का अनुभव तो यह है कि सदैव कभी किसी की रुचि-पूर्ति सम्भव है? जीवन का अनुभव तो यह है कि सदैव कभी किसी की रुचि पूरी नहीं होती। रुचि का जन्म पराधीनता से उत्पन्न होने वाली सुखलोलुपता से होता है। प्राकृतिक विधान के अनुसार सुखलोलुपता भयंकर दुःख की जननी है। रुचि की अपूर्ति होने से सजग साधन को रुचि-निवृत्ति की प्रेरणा लेना चाहिए। जब रुचि नाश हो जाती है, तब आनन्ददायक वास्तविक मांग सबल तथा स्थायी होती है, जिसके होते ही भूल से उत्पन्न होने वाली सभी कामनाएँ नाश हो जाती हैं और फिर प्रभु के मंगलमय विधान से अविनाशी-स्वाधीन-रसरूप जीवन की माँग पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से रुचि की पूर्ति न होना प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में सभी का मंगल है, किसी का अमंगल नहीं है। पर यह रहस्य वे ही सजग साधक जान पाते हैं जिन्होंने निजज्ञान के प्रकाश में अपने जीवन का अध्ययन किया है और उसके फलस्वरूप जीवन का जो सत्य है, उसे अपनाया है।

सच्चा आदर, सम्मान, प्यार किसे मिलता है? जिसके पास कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिए, तथा जिसका जीवन शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम से भरपूर है। शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम किसी परिस्थिति से प्राप्त नहीं होते, अपितु प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग पूर्वक सभी परिस्थितियों से अतीत जो वास्तविक जीवन है, उसकी आवश्यकता अनुभव करने से शान्ति की प्राप्ति होती है और शान्ति की पूर्णता में स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीनता में ही प्रेम अभिव्यक्ति होता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। हमसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि के द्वारा शान्ति प्राप्ति करना चाहते हैं, जो सर्वदा असम्भव है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तु आदि का कोई दोष है। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु आदि का आश्रय नहीं रखना चाहिए। वस्तुओं का सदुपयोग व्यक्तियों की सेवा में साधन-रूप हो सकता है। वस्तुओं का संग्रह और व्यक्तियों की ममता समस्त दुखों का मूल है। यद्यपि वस्तुओं का अभाव भी कष्टदायक है, परन्तु वस्तुओं का प्रभाव (दासत्व) अभाव से भी कहीं अधिक दुःखद है। इतना ही नहीं, वस्तुओं के अभाव से तो केवल शारीरिक कष्ट होता है, किन्तु वस्तुओं के प्रभाव से तो शारीरिक, मानसिक और आन्तरिक अनेक भयंकर कष्ट अनन्त काल तक भोगने पड़ते हैं।

इस दृष्टि से वस्तुओं का प्रभाव, अभाव से भी अधिक दुःखद है। इसी वास्तविकता को बताने के लिए प्रभु-विश्वासी भक्त ईसा ने कहा था कि 'सुई के छेद में-से ऊँट भले ही निकल जाय, किन्तु धन के गुलाम का सत्य के साम्राज्य में प्रवेश सम्भव नहीं है।' शरणागत साधकों का अनुभव है कि अकिंचन हुए बिना शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, अर्थ-सम्पन्न प्राणियों को स्थायी आदर तथा प्यार भी नहीं मिलता। यदि कोई उनकी सेवा भी करता है, तो पैसे वाला मान लेता है कि मेरे पैसे का प्रभाव है और यदि कोई सेवा नहीं करता है तो बेचारे पैसे वाले को क्रोध आता है। इतना ही नहीं, निम्न-कोटि के लोग तो उसके पैसे को छीन ही लेना चाहते हैं।

आज वर्तमान युग में अर्थ के अभाव तथा प्रभाव में आबद्धव्यक्तियों के बीच घोर संघर्ष प्रत्यक्ष हो रहा है। अर्थ से प्रदत्त जो सुविधायें थीं, वे आज घोर दुःख में बदल रही हैं। इस कारण सजग मानव को अर्थ के प्रभाव से मुक्त होकर प्राप्त अर्थ का सदुपयोग शीघ्र-से-शीघ्र करने का प्रयास करना चाहिए और अकिंचन होकर परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेम से भरपूर प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर सदा-सदा के लिए सर्व दुःखों की निवृत्ति, जीवन-मुक्ति एवं परा-भक्ति का अधिकारी हो जाना चाहिए। नहीं तो अनमोल मावन जीवन अपनी भूल से बरबाद हो जायेगा।

किसी दुःखी को देखकर करुणित होने पर जो प्रेरणा मिली वह अनन्त के नाते निवेदन कर दी। रुचे तो अपनाइए और मानव जीवन सफल बनाइए। इसी सद्भावना के साथ बहुत-

बहुत प्यार। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अर्थ के अभाव तथा प्रभाव से पीड़ित प्राणियों को साधनानिष्ठ बनायें-यही मेरा सद्भावना है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## १०

मेरे निजस्परूप परमस्नेही साधक महानुभाव तथा भगवत् अनुरागीसत्संग प्रेमी भाई तथा बहन!

"मानव" अनन्त की अनुपम रचना होने से मानव-जीवन बड़ा ही उपयोगी जीवन है। यद्यपि मानव में अपना कुछ नहीं है, वह अकिंचन है, फिर भी उपयोगी है। यह इस जीवन की विलक्षणता है। परन्तु मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग से वही मानव इतना गिर जाता है कि अपने लिए भी अपने को अनुपयोगी पाता है। अतएव मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग का सजग मानव के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। भूल रहित हुए बिना चैन से रहना जड़ता है। जड़ता मानवता नहीं है, अपितु अमानवता है। अमानवता पशुता से भी निम्नकोटि की होती है, कारण कि करोड़ों हिंसक जन्तुओं से भी उतनी हिंसा नहीं होती, जितनी कि एक-एक अमानव से अल्प काल में होती है। इतना ही नहीं, अमानवता जब तक जीवन रहती है, तब तक हिंसा होती ही रहती है। सर्वांश में अमानवता का अन्त किए बिना जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती। उसके बिना निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य-जीवन की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, जिसकी माँग सदैव सभी को है।

इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र अपने द्वारा अपने में से सजगता पूर्वक अपनी भूल से उत्पन हुई अमानवता को सर्वांश में सदा के लिए अलग कर ही देना चाहिए। तभी मानव में मानवता की अभिव्यक्ति होगी और फिर वह स्वतः सभी के लिए उपयोगी हो जायेगा, कारण कि मानवता में ही पूर्णता है। साधक पूर्णता से विमुख हुआ है, अलग नहीं हो गया है। जिससे जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध है, उससे स्वरूप से भिन्नता कभी नहीं होती और जिससे वास्तव में भिन्नता है, उससे एकता नहीं होती। यह प्राकृतिक विधान है। मानवता को मानव अपने में आरोपित कर लेता है, उससे अभिन्न नहीं होता। मानवता की विस्मृति होती है, उससे भिन्नता नहीं होती। जिससे अभिन्नता है, उससे दूरी अनुभव कर बैठना और जिससे भिन्नता है उसको अपने में स्वीकार कर लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जिसकी निवृत्ति सत्य को स्वीकार करने से सदा के लिए हो सकती है।

अतः वास्तविक जीवन से कभी भी, किसी भी साधक को निराश नहीं होना चाहिए, अपितु वास्तविकता के लिए नित-नव उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता रहे। नित-नव उत्साह से आवश्यक सामर्थ्य स्वतः अभिव्यक्त होती है-

यह प्रभु का मंगलमय विधान है। सामर्थ्य का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान है, जिसका उत्तर पक्ष 'योग' है। कर्त्तव्यपरायणता से ही परस्पर एकता और योग से चिरशान्ति सदैव सभी को प्राप्त होती है। एकता और योग से चिरशान्ति सदैव सभी को प्राप्त होती है। एकता और शान्ति मानवता का स्थूल रूप है अथवा यों कहो कि बाह्य रूप है। आन्तरिक रूप तो स्वाधीनता तथा अगाध प्रेम है। स्वाधीनता में कितना रस है, इसे तो वे ही जानें, जिन्हें स्वाधीनता प्राप्त है। जब स्वाधीनता के रस का ही वर्णन नहीं हो सकता, तो प्रेम के रस का तो कोई वारापार ही नहीं है।

जो मानव एकता, शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम का जन्मजात अधिकारी है, आज उसने अपनी ही भूल से अपनी जो दर्दशा की है, उसे देख हृदय विदीर्ण होने लगता है। यद्यपि पर-पीड़ा से पीड़ित होना विकास की भूमि है, परन्तु पर-पीड़ा गहरी होनी चाहिए। उसी से पर-सेवा की अभिव्यक्ति होती है। पर-सेवा और प्रिय चर्चा साधक का सहज स्वभाव है। किन्तु पर-चर्चा के समान और कोई भारी भूल नहीं है। इससे सभी साधकों को सदा के लिए बचना चाहिए। चर्चा उसकी करना चाहिए जो मौजूद है, पर दूर मालूम होता है। चर्चा की पूर्णता अखण्ड स्मृति में होती है, जो वास्तविक उपासना है और जिसे ''स्व'' के द्वारा किया जा सकता है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शक्तियाँ स्मृति में विलीन हो जाती हैं और स्मृति में बोध, प्रेम तथा प्राप्ति निहित है, अर्थात् बोध-प्रेम-प्राप्ति स्मृति का ही स्वरूप है।

पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपनी उत्पन्न की हुई भूल से रहित होकर सदा के लिए सत्य को स्वीकार करे। सत्य किसी को अप्राप्त नहीं है। मानव अपनी भूल से असत्य को मानने लगता है और सत्य से विमुख हो जाता है। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में सत्य को स्वीकार करना ही साधक का परम पुरुषार्थ माना गया है। अपनी स्वीकृति अपने से अभिन्न हो जाती है, यह जीवन विज्ञान है। सत्य को स्वीकार करते ही भूल नाश हो जाती है, यह जीवन दर्शन है। विज्ञान और दर्शन से जो सिद्धहै, उसका कभी नाश नहीं होता। जो अविनाशी है, वही जीवन है। जिसका कभी नाश नहीं होता, उसमें जड़ता की गन्ध भी नहीं है। इस दृष्टि से जीवन चिन्मय है। जिसमें जड़ता नहीं है, उसमें नीरसता भी नहीं है। अतएव जीवन नित-नव रस से भरपूर है। जीवन से विमुख होना, उसकी माँग का अनुभव न करना, उसके बिना किसी भी प्रकार से चैन से रना ही मानव की अपनी बनाई हुई जड़ता है। प्राकृतिक जड़ता व्यक्त-अव्यक्त शक्तियों के रूप में है। उससे साधक की कोई क्षति नहीं होती। यह सत्य से विमुख नहीं करती, अपितु सभी को सत्य की ओर प्रेरित करती है, संकेत करती है। इतना ही नहीं, जो कोई सत्य की माँग अनुभव करता है, उसकी सेवा करती है, स्वागत करती है। व्यक्त-अव्यक्त जगत् प्रसन्न होता है-यह शरणागत साधक का अनुभव है।

जिस काल में साधक स्वाधीन होना पसन्द करता है, उसी काल में दैवी-शक्तियाँ

उसकी सेवा करने के लिए लालायित होने लगती हैं। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। स्वाधीनता की माँग ही वह माँग है, जो पूरी हो सकती है। उसमें विकल्प करना भूल है। जिस माँग की पूर्ति में विकल्प नहीं होता, वही माँग सबल तथा स्थायी हो जाती है। जिसके होते ही काम का नाश, चिरशान्ति तथा जीवन-मुक्ति स्वतःप्राप्त होती है। यह अनुभव-सिद्धसत्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को भूल रहित होने की तीर्व लालसा प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन,

शरणानन्द

## ११

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा सत्संग प्रेमी भाई व बहन!

साधक में देहाभिमान की गंध भी नहीं होती है। कारण कि देहाभिमानी साधक नहीं हो सकता। अब विचार यह करना है कि देहाभिमान तथा आत्म-सम्मान में क्या भेद है? भौतिकवादी दृष्टिकोण से भी यह निर्विवाद सिद्धहै कि शरीर संसार-रूपी सागर की एक नन्हीं-सी लहर है। लहर और सागर में एकता जल की होती है, न लहर की और न सागर की। जब तक इस वास्तविकता का बोध नहीं होगा कि सत्तारूप से जल-ही-जल है, जल से भिन्न कभी कुछ हुआ ही नहीं, तब तक साधक अपन को भौतिक-वादी कह सकता है। भौतिकवाद भी जीवन का एक सत्य है। पर साधक होने के नाते भौतिकवादी के जीवन में भी उदारता, समता एवं एकता की अभिव्यक्ति होती है, जो बेचारे देहाभिमानी में सम्भव नहीं है। देहाभिमानी तो सुख-सुविधा-सम्मान का दास होकर वह भी करता है जो उसे करना चाहिए और वह भी कर बैठता है जो उसे नहीं करना चाहिए।

यह सर्वमान्य सत्य है कि आंशिक अच्छाई-बुराई तो उन सभी भाई-बहनों में होती है जो अपने को साधक स्वीकार नहीं करते। साधक स्वीकार करने पर बुराई रहित अच्छाई का व्रत अनिवार्य हो जाता है। किसी व्रत को पूरा करने के लिए तप, प्रायश्चित्त तथा प्रार्थना अनिवार्य है, जो बेचारा देहाभिमानी सही रूप से कर ही नहीं पाता। देहाभिमानी का तप उसके अहं को ही पोषित करने के लिए होता है। उसकी प्रार्थना कामना-पूर्ति के लिए होती है और उसका प्रायश्चित बलपूर्वक इन्द्रिय आदि को कुछ काल के लिए दबाने का होता है जो वास्तव में असाधन ही हैं।

प्राकृतिक विधान के अनुसार तप, प्रायश्चित और प्रार्थना किसी न किसी अंश में मानव-मात्र में रहती ही है। परन्तु तो साधक है, उसका तप अपने को अपने पर विजयी होने में, उसका प्रायश्चित्त सर्वांश में भूल-रहित होने में और उसकी प्रार्थना उदारता, समता स्वाधीनता

एवं प्रियता को प्राप्त करने के लिए होती है। तप और प्रायश्चित्त का अन्त वास्तविक प्रार्थना में ही होता है। इतना ही नहीं, साधक का अस्तित्व ही प्रार्थना हो जाता है, जिसे देख परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेम से भरपूर उसे अपना लेते हैं। यदि यह कह दिया जाय कि वास्तविक प्रार्थना ही साधक का अन्तिम पुरुषार्थ है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। पूर्ण जिज्ञासा तथा प्रिय लालसा एवं प्रेम की भूख प्रार्थना के ही रूप हैं। कभी-कभी साधक व्याकुलतापूर्वक यह आवश्यकता अनुभव करने लगता है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, हृदय प्रेम से भर जाय और अहं अभिमान-शून्य हो जाय-यह प्रार्थना ही तो है। साधक अपनी वास्तविक आवश्यकता का अनुभव करता है, इस दृष्टि से प्रार्थना ही साधक का अस्तित्व है।

अब आप विचार करें, प्रार्थी में देहाभिमान रह ही कैसे सकता है? जिसने अपनी वास्तविकता माँग का अनुभव ही नहीं किया, वह साधक श्रेणी में नहीं आ सकता। सुख-सुविधा-सम्मान तो प्राणी मात्र को पसन्द है। इसी दुर्बलता के कारण बेचारा प्राणी अनेक ऊँच-नीच भोग-योनियों में भटकता रहता है। अनन्त की अहैतुकी कृपा से जब उसे मानव जीवन मिलता है, तब उसे अपने को साधक स्वीकार करने की स्वाधीनता मिल जाती है। इसी वास्तविकता को बताने के लिए मानव-सेवा-संघ साधकों का संघ बना है। यह असाधकों को सिद्धों का नहीं है। इसका अर्थ कोई यह न मान बैठे कि मानव-सेवा-संघ में सम्मिलित होने मात्र से ही यह साधक हो जाता है। सम्मिलित होना तो साधन के लिए प्रवेश पाना है।

साधक के लिए आत्मा-निरीक्षण सर्वप्रथम पुरुषार्थ है। पर बेचारा पर-दोषदर्शी आत्म-निरीक्षण कर ही नहीं पाता। इस कारण बेचारा देहाभिमानी साधकों के संघ में सम्मिलित होने पर भी साधक श्रेणी को प्राप्त नहीं कर पाता। अतः प्रत्येक साधक को सजगता पूर्वक यह भली-भांति अनुभव करना चाहिए कि 'मैं शरीर नहीं हूँ।' साधक का पुरुषार्थ सत्संग है और साधन-तत्त्व की प्राति साधक का जीवन है। अर्थात् साध्य की अगाध प्रियता से भिन्न असाधक का और कोई अस्तित्व ही नहीं है।

साधन-तत्त्व से अभिन्न होने के लिए साधक समुदाय को अपने-अपने सम्बन्ध में विचार-विनिमय करना चाहिए। विचार-विनिमय का अर्थ विवाद नहीं है, दूसरों को समझाना भी नहीं है, अपितु भूल रहित होने के लिए अथक प्रयत्नशील रहना है। यह तभी सम्भव होगा जब मानव सुख-सुविधा-सम्मान की दासता से मुक्त होकर निज-ज्ञान के प्रकाश में अपनी भूल का अनुभव करे और भूल-रहित होकर साधन-तत्त्व का अधिकारी हो जाय। साधक को 'साधक' होने का ही अपनी दृष्टि में गौरव होता है, किसी को पराजित करने का नहीं। वह जब तक साधन-तत्त्व से अभिन्न न हो जाय, तब तक उसे एक गहरी वेदना रहती है। वेदना एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है, जो सभी निर्बलताओं को

मिटा कर साधक को साधन-तत्त्व का अधिकारी बना देता है।

गहरी वेदना तभी होती है, जब साधक सद्गुरु-वाक्य के आधार पर तथा निज माँग के द्धारा इस बात में अविचल आस्था करे कि मैं साधक होने के नाते साधक-तत्त्व से अभिन्न हो सकता हूँ। अभिन्न होने पर ही साध्य की उपलब्धि होती है। साधन-तत्त्व की माँग जाग्रत होते ही साधक दृश्य के आकर्षण से रहित हो जाता है, यही साधक का अपना आत्म-सम्मान है। अब यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि साधक देहाभिमानी नहीं होता और बेचारा देहाभिमानी साधक नहीं हो पाता।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को साधक स्वीकार करने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन,

शरणानंद

## १२

मेरे निज, स्वरूप परमस्नेही साधक महानुभाव तथा भगवत् अनुरागी एवं सत्संग प्रेमी भाई और बहन!

प्रत्येक कर्म का जन्म कर्त्ता में से ही होता है, अर्थात् कर्त्ता में से ही कर्म निकलता है। यदि कर्म से कर्त्ता बन सकता होता, तो आज वैज्ञानिक लोग ऐसी फैक्टरी बना देते कि जिसके द्वारा भले आदमी बन जाते और फिर सभी को अच्छे-से-अच्छे साथी जितने चाहिए, मिल जाते। पर आज मानव समाज ऐसा नहीं कर सका। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध है कि जब कर्त्ता भला होता है, जब कर्म भला होगा; और भले कार्यों से ही विश्व-शान्ति का प्रश्न हल होगा।

परिवार, समाज और संसार स्वरूप से एक हैं। जिस परिवार में रहते हैं, वह भी विश्व का ही एक रूप है। हमारे साथ वे क्या करते हैं, इस पर तो हम ध्यान देते हैं। पर क्यों करते हैं? इस पर विचार नहीं करते। उसका परिणाम यह होता है कि हम दूसरों को अपराधी मानकर क्षोभ तथा क्रोध से भर जाते हैं, जिससे अपनी बड़ी ही क्षति होती है। और उसे, जिसने हमारे साथ बुराई की, सर्वांश में बुरा मान लेते हैं। इसका भयंकर परिणाम यह होता है कि वह बेचारा हमारे संकल्प से ही विवश होकर पुनः बुराई करने लगता है। जैसे-जैसे हम उसे बुरा मानते जाते हैं, वैसे-वैसे वह बुराई करता जाता है और हम पुनः उसे बुरा मानते जाते हैं। हमारे बुरा मानने से जितनी क्षति होती है, उतनी क्षति उसके बुराई करने से नहीं होती।

यदि हम अपने प्रति होने वाली बुराई को हर्षपूर्वक सहन कर लेते और उसे अबोध बालक की भाँति विवश मानकर क्षमा कर देते और हृदय में उसके प्रति करुणा की धारा उदय होती, तो वह सदा के लिए और सभी के लिए बुरा न हरने से बुराई की उत्पत्ति ही नहीं होती। इससे सुन्दर बुराई का और कोई प्रतिकार नहीं है। यह जीवन-विज्ञान है। यदि कोई अकारण हमारे प्रति बुराई करता है, तो अच्छा तो नहीं

लगता, परन्तु क्षुब्ध होने से अपनी शांति भंग होती है, जिससे जीवन में शक्तिहीनता आती है और फिर हम अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं कर सकती।

दुःखी होने पर यदि हम निज-ज्ञान के आधार पर विचार करें, तो हम स्पष्ट विदित हो जायेगा कि बुराई करने वाला किसी-न-किसी नाते से अपना ही है। अपने दाँत से अपनी जीभ कट जाती है, तो क्या जीभ दाँतों पर क्रोध करती है? दाँतों को तोड़कर फेंकने के लिए आज्ञा देती है? क्या हम स्वयं दाँतों को तोड़कर फेंक देना चाहते हैं? कदापि नहीं। हम जानते हैं कि दोनों अपने ही है। अपने को सावधान रखते हैं। दाँत और जीभ को कुछ नहीं कहते। सावधानी का परिणाम यह होता है कि दोनों व्यक्तित्व एक हो जाते हैं। और हम व्यक्तित्व के मोह से रहित होकर अपने में अपने प्रेमास्पद को पा जाते हैं। यह क्षमाशीलता का फल है और कुछ नहीं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपने दुःख का कारण किसी और को नहीं मानता और न किसी से सुख की आशा ही करता है।

बुराई का मूल निज-ज्ञान का अनादर है। सर्वांश में कभी कोई मानव ज्ञान का अनादर नहीं करता, तो फिर सर्वांश में बुरा कैसे हो सकता है? बुरा कोई होता नहीं, बुराई उत्पन्न होती है। बुराई न दोहराई जाय, तो मिट जाती है। बुराई न रहे, इसके लिए सर्वोत्कृष्ट उपाय यही होगा कि हम स्वयं की हुई बुराई दोहरायें नहीं और अपने प्रति होने वाली बुराई का प्रतिकार न करें, अर्थात् बुराई करने वाले को बुरा न समझें। यदि सम्भव हो तो बदले में भलाई करें। उसके आक्रमण से क्षोभित न हों और उसके लिए सद्भाव रखें, उसे मूक प्यार करें तो अपना कल्याण अवश्य होगा। अपने को परम उदार, परम स्वतन्त्र, परम प्रेम से भरपूर प्रेमास्पद की प्राप्ति हो जायेगी। यह प्रभु विश्वासी साधकों का अनुभव है।

अब विचार यह करना है कि दूसरों की भूल अपने को क्षोभित न करे, इसके लिए उपाय क्या हो सकता है? इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम यह विचार करना चाहिए कि क्षोभित होने से सबसे बड़ी क्षति क्या होती है? उत्तर होगा-विस्मृति। विस्मृति के समान और कोई क्षति हो ही नहीं सकती। कारण कि समस्त विकार, पराधीनता, जड़ता, नीरसता, भेद, भिन्नता आदि सब विस्मृति के ही परिणाम हैं। स्मृति में जीवन है। जीवन में नीरसता की गन्ध भी नहीं है, न किसी प्रकार का अभाव है। अभाव-रहित, रसरूप, अविनाशी जीवन स्मृति में ही है। इस दृष्टि से सजग साधक को विस्मृति का अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब परिस्थितिवश आने वाले सुख-दुःख के आक्रमण से अपने को बचायें।

अपमान का दुःख एक बड़ा भयंकर दुःख है। उसी प्रकार सम्मान की पूर्ति सुख के रूप में बहुत बड़ी जड़ता है। अपमान का दुःख और सम्मान की जड़ता का मूल है-अपनी माँग को कभी न भूले, तो वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक आए हुए आक्रमण से बच सकता है और फिर माँग की पूर्ति हो जाने से जीवन की सभी समस्यायें स्वतः हल हो जाती हैं।

सर्व-सवर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से विद्यमान माँग को जगायें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

अकिंचन
शरणानन्द

## १३

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी भाई और बहन!

सत्संग ही एक मात्र मानव-मात्र पुरुषार्थ है। जीवन का जो सत्य है, उसे स्वीकार करना ही सत्संग है। प्रत्येक संयोग संयोग-काल से ही वियोग की अग्नि में जल रहा है-वह सर्वमान्य वैधानिक सत्य है। उसे स्वीकार करने पर संयोग तथा वियोग का स्वतः सदुपयोग होने लगता है। संयोग का सदुपयोग परस्पर एक-दूसरे के काम आने में और वियोग का सदुपयोग अपने में सन्तुष्ट होकर नित्य योग की प्राप्ति में है। नित्य योग में ही नित्य जीवन, नित्य रस की प्राप्ति होती है और परस्पर काम आने से जन्म, जन्मान्तर का विद्यमान राग निवृत्त हो जाता है। राग-रहित होते ही साधक बोध को प्राप्त कर सब प्रकार से अभय हो जाता है। पर यह रहस्य वही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने को अधिकार-लोलुपता से रहित कर लिया है। जिसने सभी पर से अपना अधिकार हटा लिया है, वह सदा के लिए क्रोध रहित हो जाता है; अर्थात् अधिकार देने से राग का और अधिकार छोड़ने पर क्रोध का नाश हो जाता है। राग तथा क्रोध से रहित होते ही योग एवं स्मृति का उदय होता है।

योग से चिरशान्ति एवं स्मृति से प्रमाद का नाश हो जाता है। चिरशान्ति सामर्थ्य की और स्मृति बोध की जननी है। सामर्थ्य का उदय होने पर अकर्त्तव्य का जन्म ही नहीं होता, कारण कि जो नहीं करना चाहिए उसको कर बैठना ही सबसे बड़ी असमर्थता है। बल का अभाव होने पर कोई क्षति नहीं होती, अपितु बल के दुरुपयोग पर तो साधक बुराई-रहित हो जाता है। कारण कि बुराई का सम्पादन भी तो बिना बल के नहीं होता। इस दृष्टि से शान्ति के सम्पादन से ही सामर्थ्य के सदुपयोग की सामर्थ्य प्राप्त करना अनिवार्य है।

अखण्ड स्मृति से ही बोध तथा प्रेम की प्राप्ति होती है, जिसको पाकर कुछ और पाना शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से साधक के जीवन में राग तथा क्रोध का कोई स्थान ही नहीं है। राग तथा क्रोध की निवृत्ति किसी परिस्थिति विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती। इस कारण उसकी प्राप्ति सत्संग के द्वारा सभी परिस्थितियों में हो सकती है। अतः राग तथा क्रोध-रहित होने के लिए प्रत्येक साधक को अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें और आपको मानव-जीवन मिला है। जब साधक राग तथा क्रोध रहित होने में विकल्प नहीं करता, तब राग तथा क्रोध रहित होने की

माँग सबल हो जाती है, जिससे होते ही देहाभिमान तथा काम का नाश हो जाता है और माँग स्वतः पूरी हो जाती है। यह प्रभु का मंगलमय विधान है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से आप सभी को साधन-निष्ठ बनायें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## १४

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा सत्संग प्रेमी भाई और बहन!

हम लोग बार-बार, क्यों दुःखी होते हैं? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जो सम्भव नहीं है, उसे सम्भव बनाना चाहते हैं और जो सम्भव है उसे पसन्द नहीं करते। सम्भव क्या नहीं है और सम्भव क्या है? शरीर का सदैव बना रहना सम्भव नहीं है। उसको बनाए रखने का संकल्प समस्त दुःखों का मूल है। शरीर के रहते हुए शरीर से असंग होकर अपने में सन्तुष्ट हो जाना प्रत्येक साधक के लिए सर्वदा सम्भव है। अपने में सन्तुष्ट होने से ही अपने को प्रेमास्पद की स्वतः प्राप्ति हो जाती है। कारण कि जो वास्तव में अपना है वह सदैव अपने ही में है। उसी में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना और उसी की माँग अनुभव करना प्रत्येक साधक का स्वधर्म है। स्वधर्म पालन किये बिना किसी भी अन्य प्रकार से सर्वांश में सदा के लिए सर्व दुःखों की निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि सर्व दुःखों की निवृत्ति की माँग मानव मात्र की अपनी माँग है। इस माँग की पूर्ति के लिए ही मानव-जीवन मिला है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तविक माँग को देहाभिमान से उत्पन्न हुई कामनाओं से शिथिल बनाना मानव की भारी भूल है। वेद-वाणी तथा गुरु-वाणी के आधार पर यह स्वीकार करना है कि वास्तविक माँग की पूर्ति अवश्य होती है। इस वास्तविकता में विकल्प-रहित विश्वास करने से ही माँग स्वतः सबल हो जायेगी और कामनायें स्वतः मिट जायेंगी। सर्वांश में सभी कामनाओं का नाश होते ही माँग स्वतः पूरी हो जाती है, यह अनुभव सिद्ध सत्य है। कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति का द्वन्द परिवर्तनशील शरीर की दो अवस्थायें हैं। इन दोनों अवस्थाओं से सजग साधक को कामनाओं के नाश की प्रेरणा मिलती ही है।

जब यह सर्वमान्य सत्य है कि सभी कामनाओं की पूर्ति कभी किसी की हुई नहीं और कुछ कामनाएँ प्राकृतिक विधान से सभी की पूरी हो जाती हैं, तब प्रत्येक साधक के लिए निष्काम होना अनिवार्य है और यही सम्भव है। इसको अपनाना मानव-मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है। निज-विवेक के प्रकाश में यह अनुभव करो कि शरीर आदि कोई भी वस्तु

किसी की व्यक्तिगत नहीं है। जिसका अपना कुछ नहीं है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक निष्काम होजाता है। जिसे कुछ नहीं चाहिए वह बड़ी ही सुगमता-पूर्वक समस्त विश्व से असंग और विश्वनाथ से अभिन्न हो जाता है।

असंगता से सर्व दुःखों की निवृत्ति और अभिन्नता से अलौकिक, अद्‌भुत, अद्वितीय, अनुपम आनन्द की प्राप्ति होती है, जो मानव-मात्र के लिए सर्वदा सम्भव है। जो सदैव नहीं है उससे असंगता, और जो सदैव सभी के लिए सम्भव है उससे अभिन्नता स्वीकार करना मानव-मात्र का अपने जीवन का सत्य है। जीवन के सत्य को स्वीकार करना वास्तविक सत्संग है।

कुछ साधक संसार की वास्तविकता का अनुभव कर उससे असंग होते हैं और कुछ साधक आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक जो सदैव, सर्वत्र और सभी के लिए सम्भव है उसके शरणागत होकर अभिन्न होते हैं। निजज्ञान से असंगता और विकल्प रहित विश्वास से शरणागति स्वीकार करना वास्तविक सत्संग है। अतः अपनी-अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के अनुसार जो सम्भव है, उसे अपनाकर सभी साधक कृतकृत्य हो सकते है। असंग होकर प्रत्येक प्रवृत्ति विद्यमान राग की निवृत्ति में साधनरूप है और शरणागत होकर प्रत्येक प्रवृत्ति शरण्य की पूजा है। राग का अत्यन्त अभाव होने पर योग, बोध की प्राप्ति होती है। पूजा भाव से ही हुई प्रवृत्ति का अन्त अगाध प्रियता में होत है। योग, बोध और प्रेम मानव के विकास को चरम सीमा है।

इस दृष्टि से सभी साधक भोग, मोह, आशक्ति की निवृत्ति एवं योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति में सर्वदा स्वाधीन हैं। अतः जो सम्भव है, उसे अपनाओ और जो असम्भव है उसका त्याग कर मानव-जीवन को सार्थक बनाने में अथक प्रयत्नशील रहो, सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## १५

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा सत्संग प्रेमी भाई और बहन!

पराश्रम में आस्था रखने पर कभी किसी को स्वाधीनता नहीं मिलती और स्वाधीनता के बिना स्वभाव से जीवन में उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती, यह विधान है। पराश्रय का त्याग तभी हो सकता है जब साधक यह स्वीकार करे कि सदैव-सर्वत्र, अद्वितीय-अनुपम अलौकिक जीवन है। यद्यपि उसकी माँग मानव-मात्र में विद्यमान है। यदि ऐसा न होता तो माँग ही न होती। परन्तु अपने में अपना जीवन होने पर भी साधक अपनी ही भूल से उससे विमुख हो जाता है। इस विमुखता को मिटाने के लिए सर्वप्रथम प्रेमियों को प्रेमास्पद की, जिज्ञासुओं को तत्त्वाज्ञान की, योगियों को परमतत्त्व की सत्ता गुरुवाणी, वेदवाणी, भक्तवाणी आदि किसी भी प्रकार से स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि किसी कारण ऐसा सम्भव

न हो, तो अपनी वास्तविक माँग के आधार पर भी यह विकल्प रहित विश्वास किया जा सकता है कि स्थायी माँग उसकी होती है जिसका अस्तित्व हो। इसी वास्तविकता को स्वीकार कराने के लिए मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव-मात्र में आस्था का तत्त्व प्रदान किया है। आस्था का सर्वोकृष्ट सदुपयोग यही है कि साधक अपने द्वारा अपने लिए अनन्त के अस्तित्व को स्वीकार करे और जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, उसे विचार पूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग हो जाय।

यह मानव-मात्र का अनुभव है कि प्रत्येक मानव में ज्ञान तथा आस्था का तत्त्व मौजूद है। और जिसके द्वारा हम कुछ कर सकते हैं, वह बल तो प्राणी-मात्र में है। केवल ज्ञान और आस्था के कारण ही मानव जीवन में विलक्षणता है। इसका उपयोग एकमात्र सत्य को स्वीकार करने में ही है। यही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है। यदि यह कह दिया जाय कि इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव जीवन मिला है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसे मानव जब चाहे तब कर सकता है उसको नहीं करता और वास्तव में जो नहीं करना चाहिए, उसी को कर बैठता है। और जो नहीं कर सकता उसके करने की सोचता रहता है। इसी भूल में जीवन की अनमोल घड़ियाँ बीतती जाती हैं। मानव सेवा संघ की प्रणाली में साधक समाज को यह परामर्श दिया गया कि जो नहीं करना चाहिए वह मत करो और जो नहीं कर सकते उसके करने की मत सोचो। और जो कर सकते हो, जो करना चाहिए उसे शीघ्र कर अपने को 'करने' के राग से मुक्त कर लो। 'करने' का राग मिटते ही स्वतः देह-देही विभाजन हो जाता है और फिर साधक अपने ही में अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

अब विचार यह करना है कि साधक को क्या नहीं करना चाहिए? तो कहना होगा कि उत्पन्न हुई परिवर्तनशील शरीर आदि वस्तुओं में ममता; अर्थात् यह अनुभव करो कि मिला हुआ शरीर मेरा नहीं है। यह अनुभव अपने ज्ञान द्वारा अपने लिए करना होगा कि मिला हुआ शरीर मेरा नहीं है और न मेरे लिए है। इस वास्तविकता में अविचल दृढ़ता होनी चाहिए। ज्यों-ज्यों साधक इस सत्य को स्वीकार करेगा, त्यों-त्यों उसमें स्वतः निर्विकारता की अभिव्यक्ति होगी। निर्विकारता दैवी सम्पत्ति है। उसमें आकर्षण है, वह सभी को प्यारी लगती है। सभी उसकी आवश्यकता अनुभव करते है। जिसे निर्विकारता प्राप्त हो जाती है, उसके जीवन में दृष्य का आकर्षण नहीं रहता और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने में सन्तुष्ट हो जाता है।

जीवन अपने में है, जीवन धन अपने हैं। जो अपने में है, उसी को पसन्द करना अध्यात्म-जीवन है। जो अपने हैं उन्हीं को अपना मानना आस्तिक जीवन है। जिन्होंने अपने ही में अपने को सन्तुष्ट किया, वे वर्तमान में ही

अमरत्व से अभिन्न हो गए। जिन्होंने जो सदैव अपने हैं, उन्हीं को अपना स्वीकार किया, वे अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता पाकर कृतकृत्य हो गए। इस दृष्टि से जो अपना नहीं है, उसे अपना मत मानो और न उसका दुरुपयोग करो। उसका परिणाम यह होगा कि मिले हुए बल का स्वतः सदुपयोग होने लगेगा। बल का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान तथा भौतिकवाद है। इससे साधक की भौतिक उन्नति होती है और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक योग का अधिकारी हो जाता है। कारण कि कर्त्तव्य-विज्ञान का उत्तर पक्ष योग है। इसी वास्तविकता को बताने के लिए धर्म की महिमा गाई गई है। धर्मात्मा बड़ी ही सुगमतापूर्वक संसार के चिन्तन से छूट जाता है। इतना ही नहीं, संसार धर्मात्मा की सदैव आवश्यकता अनुभव करता है। संसार जिसकी आवश्यकता अनुभव करे और जो संसार की आवश्यकता अनुभव न करे, इससे बढ़कर भौतिक उन्नति और क्या हो सकती है? जिन कर्त्तव्यनिष्ठ साधकों ने दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकारों का त्याग यिा है, वे बड़ी ही सुगमता पूर्वक योगयुक्त हो जाते हैं और फिर उन्हें अपने ही में अपना अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन मिल जाता है। यह कर्त्तव्यनिष्ठ साधकों का अनुभव है।

संसार पर अधिकार बनाये रखने से संसार पकड़ में आता नहीं और उस पर से अधिकार हटा लेने पर संसार अपने को पकड़ पाता नहीं। जैसे, कोई सूर्य की ओर मुँह करके दौड़े, तो उसकी छाया उसे पकड़ नहीं पाती; उसी प्रकार यदि कोई सूर्य से विमुख होकर छाया की ओर दौड़े, तो वह छाया को पकड़ नहीं सकता। अतएव वह निर्विवाद सिद्ध है कि जो देखने में आता है, उसकी प्राप्ति नहीं होती है, और जिसकी प्राप्ति होती है वह देखने में नहीं आता। जो देखने में नहीं आता उसी में अविचल आस्था करनी चाहिए। आस्था से देखे हुए का सम्बन्ध बड़ी ही सुगमतापूर्वक मिट सकता है और फिर साधक दृश्य के प्रभाव से रहित हो जाता है। जिसके होते ही चिर शान्ति, जीवन मुक्ति स्वतः प्राप्त होती है, यह सजग साधक के जीवन का सत्य है। इसमें विकल्प करना भारी भूल है। शान्ति, मुक्ति स्वतःभक्ति से अभिन्न हो जाती है। शान्ति संसार के लिए, मुक्ति अपने लिए और भक्ति भगवान् के लिए उपयोगी होती है, जो एकमात्र सत्य को स्वीकार करने से प्रत्येक साधक को मिल सकती है। शान्ति, मुक्ति, भक्ति के अतिरिक्त और कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो सभी को सदा के लिए मिल सके। यदि यह कह दिया जाय कि इससे भिन्न और कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अपितु यही जीवन की वास्तविकता है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को वास्तविकता में अविचल आस्था करने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

# १६

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा सत्संग भाई-बहन!

पराधीनता, नीरसता एवं अभाव में आबद्ध मानव सदैव सुख की दासता एवं दुःख के भय में आबद्ध रहता है और ऊँच-नीच योनियों में भटकता रहता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब साधक वेद-वाणी, गुरुवाणी, अथवा भक्तवाणी आदि के द्वारा अनुत्पन्न हुए अविनाशी, स्वाधीन, रसस्वरूप प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करे। प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करने पर फिर किसी और के अस्तित्व की अपने को अपने लिए अपेक्षा ही नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त सब ओर से स्वतः विमुख होकर अपने में जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनमें लग जाता है।

जीवन-विज्ञान से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब तक चित्त प्रभु से भिन्न किसी और में लगता है, तब तक उसका अस्तित्व रहता है और वह स्वभाव से ही स्थिर नहीं होता, अर्थात् मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता की अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना साधक शान्ति, मुक्ति, एवं भक्ति का अधिकारी नहीं होता। इस दृष्टि से चित्त का सब ओर से विमुख होकर जो अपने में अपना जीवन है, उससे अभिन्न होना अनिवार्य है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए आस्थावान साधकों ने सर्वसमर्थ प्रभु के अस्तित्व, महत्त्व और अपनत्व को स्वीकार किया। मानव जिनके अस्तित्व को स्वीकार करता है, उसका उसमें चिन्तन स्वतः होने लगता है। अतएव जिसके चिन्तन से अपने को मुक्त होना है, उसके अस्तित्व को ही स्वीकार मत करो। केवल प्रतीति एवं प्रवृत्ति के आधार पर उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भारी भूल है।

जिसकी प्राप्ति सम्भव है, भले ही उसकी प्रतीति न हो, किन्तु उसके अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है, प्राप्ति उसकी होती है, जो सदैव अपने में है और वही अपना है, उसी में सहज भाव से प्रियता होती है जो अपने में है उससे साधक अपनी ही भूल से विमुख होता है और फिर प्रवृत्ति द्वारा अपने को शक्तिहीन बनाता है। श्रम से शक्ति का ह्रास होता है, यह जीवन का विज्ञान है। श्रम का आरम्भ ही तब होता है जब मानव अपने में अपने जीवन तथा जीवन-धन को स्वीकार ही नहीं करता।

अब यदि कोई यह कहे कि जो सदैव अपने में है, उसे स्वीकार करने की क्या बात है! तो यह देखना चाहिए कि जो अपना नहीं है, अपने में नहीं है, सदैव नहीं है, केवल प्रतीति मात्र है, उसके अस्तित्व को अस्वीकार करने के लिए अपने में अपने प्यारे प्रभु को स्वीकार करना अनिवार्य होता है। उस पर भी यदि कोई प्रभु को स्वीकार किए बिना, जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं, उसे स्वीकार न करें, तो भी

साधक अपने साध्य को पा जाता है। संसार की निवृत्ति से परमात्मा की प्राप्ति और परमात्मा की प्राप्ति से संसार की निवृत्ति अपने आप हो जाती है। जिस अनन्त से समस्त स्वीकृति सिद्ध होती है, वह वास्तव में सभी का अपना है, अपने में है और अभी है-इस वास्तविकता में अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। अन्य विश्वास ने ही साधक को अन्य चिन्तन में आबद्ध कर अपने प्यारे प्रभु से विमुख किया है। अन्य विश्वास के त्योग से प्रभु विश्वास सजीव होता है, जिसके होते ही आत्मीयता की अभिव्यक्ति होती है। आत्मीयता अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की जननी है।

अभाव में आबद्ध रहना किसी को भी अभीष्ट नहीं है। अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करने मात्र से स्वतः अभाव का अभाव हो जाता है। जिसके होते ही किसी प्रकार की पराधीनता, जड़ता एवं नीरसता शेष नहीं रहती, अर्थात् अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। यह शरणागत साधकों का अनुभव है। जो अपने में हैं, अपने हैं, अविनाशी हैं, वही वास्तव में है। अपने में अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं, उन्हीं को अपना मानना अनिवार्य है। जिसका सदैव कोई अपना है, उसी में स्वतः प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता से ही प्रियतम को रस मिलता है। अतः सोई हुई प्रियता को जगाने के लिए भक्त-वाणी के आधार पर बिना देखे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना अनिवार्य है। आत्मीय सम्बन्ध से ही नित नव प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता प्रियतम के समान ही अविनाशी, अनन्त, चिन्मय तत्त्व है। कारण कि प्रीति और प्रियतम में जातीय भिन्नता नहीं है। इतना ही नहीं, प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य विहार ही भक्ति तत्त्व है, जिसकी प्राप्ति के लिए एकमात्र जीवन के सत्य, अर्थात् अपने में सदैव अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं-को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

अपने से भिन्न जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह कभी भी अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है। इस सत्य को अपना कर जो अपने में हैं, अपने हैं, उन्हीं को अपने को समर्पित कर सदा के लिए उन्हीं की प्रीति हो जाना अपना जीवन है। जो अपना जीवन है वही उनका स्वभाव है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब प्रभु-विश्वासी साधक अचाह-अप्रयत्न होकर सदा के लिए शरणागत हो जाय। शरणागति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु विश्वास है। निज-ज्ञान से असंगता और आस्था, श्रद्धा, विश्वास से आत्मीयता स्वीकार करना रसरूप जीवन की प्राप्ति का अचूक उपाय है।

यदि अपने को 'अपना' प्रिय नहीं हो सकता, तो प्रियता की प्राप्ति का और कोई उपाय हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार निर्ममता के बिना निर्विकारता एवं निष्कामता के बिना चिर-शान्ति तथा असंगता के बिना जीवन-मुक्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार आस्था, श्रद्धा, विश्वास के बिना अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र वर्तमान में ही पराधिनता, नीरसता एवं अभाव

का अन्त करना है। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपने में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाएँ, सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## १७

मेरे निजस्वरूप, परम स्नेही साधक महानुभाव तथा सत्संग प्रेमी, भाई, बहन!

निष्क्रिय दशा में यदि अनावश्यक कार्य का चिन्तन न हो, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान कार्य का पवित्र भाव से विधिवत् करने से कार्य के अन्त में स्वतः शान्ति का सम्पादन हो जाता है। किसी कार्य का चिन्तन नया कर्म नहीं है, अपितु किए हुए कार्य का परिचय है। उसका समर्थन अथवा विरोध न किया जाय, तो वह चिन्तन स्वतः निर्जीव हो जाता है और वास्तविक स्मृति जाग्रत हो जाती है। जिसके होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाते हैं। फिर स्मृति ही साधक का जीवन हो जाती है। स्मृति जिसकी है उसे देश-काल की दूरी नहीं है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में ही हो सकती हे। स्मृति प्रीति होकर प्रियतम से अभिन्न हो जाती है और जिज्ञासा तत्त्वज्ञान से। इस दृष्टि से लक्ष्य की प्राप्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है।

साधक के जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। असफलता का कारण साधक की एकमात्र अपनी भूल है। यह सर्वमान्य सत्य है कि प्रत्येक कार्य का आरम्भ तथा अन्त होता है। कार्य के अन्त में साधक और साध्य में दूरी-भेद-भिन्नता नहीं रहती; अर्थात् साधक को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है। यह मंगलमय विधान है। पर यह रहस्य तब तक स्पष्ट नहीं होता, जब तक साधक का प्रत्येक कार्य साधनमय न हो और साध्य के नाते न हो। जब कर्त्ता एक है, तो उसका प्रत्येक कार्य एक ही लक्ष्य के लिए होना चाहिए। क्योंकि जब कर्त्ता एक है, तो लक्ष्य भी एक है। परिस्थिति की भिन्नता के कारण कार्यों में भिन्नता है। अतएव भिन्न-भिन्न कार्य एक ही भाव से व एक ही लक्ष्य के लिए करना चाहिए।

प्रभु विश्वासी का प्रत्येक कार्य 'पूजा' है और अध्यात्मवादी का प्रत्येक कार्य 'साधना' है, तथा भौतिकवादी का प्रत्येक कार्य 'कर्त्तव्य' है। 'पूजा' का अन्त प्रेम में, 'साधना' का अन्त साध्य की प्राप्ति में और 'कर्त्तव्य' का अन्त नित्य योग में स्वतः होता है। योग की पूर्णता बोध में और बोध की पूर्णता प्रेम में स्वतः होती है। अतएव समस्त साधकों की परावधि साध्य की अगाध प्रियता में ही होती है, जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को साध्य की प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन शरणानन्द

## १८

मेरे निज स्वरूप, उपस्थित महानुभाव!

हम सभी किसी-न-किसी दृष्टि से एक ही है। कोई गैर तथा और नहीं है। पर इस वास्तविकता को भूल जाने पर मानव अपने को परिच्छिन्नता में आबद्ध कर लेता है। उसका भयंकर परिणाम यह होता है कि उसे अपना भी अपना नहीं मालूम होता। और फिर वह अपनी ही भूल है और कुछ नहीं।

साधक और साध्य में सदैव ही जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध है। साधक में साध्य और साध्य में साधक ओतप्रोत है। साधक को साध्य से कुछ भी नहीं चाहिए। कारण कि साध्य की प्रियता के समान साधक में और कोई महत्त्वपूर्ण सत्य नहीं है। प्रियता साधक का जीवन और साध्य का सहज स्वभाव है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने वेदवाणी-गुरुवाणी के आधार पर साध्य को अपने द्वारा अपने ही में स्वीकार किया है। साध्य के अस्तित्व को, महत्त्व को स्वीकार करना साधक का परम पुरुषार्थ है और इस स्वीकृति को सजीव कर साधक के जीवन को सेवा, त्याग, प्रेम से भरपूर कर देना साध्य का सहज स्वभाव है। साध्य की इस महिमा को हम सभी स्वीकार करें और सदा के लिए साध्य के होकर रहें। इस मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है।

आप सब प्रभु के नाते मेरे अपने हैं, इस वास्तविकता में विकल्प नहीं होना चाहिए। विकल्प रहित विश्वास ज्ञान के समान फलित होता है, ऐसा प्रभु-विश्वासी साधकों का अनुभव है। यदि कोई साधक प्रभु-विश्वास को नहीं अपना सकता, तो उसे अपने जीवन में से समस्त विश्वासों को निकाल कर एकमात्र ज्ञान के प्रकाश को अपनाकर, भूल रहित होकर सदा के लिए अपने ही में प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाना चाहिए। इसी में जीवन की सार्थकता है। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## १९

**प्रश्न-** ब्रह्म की स्मृति कैसे जाग्रत हो?

**उत्तर-** अन्तःकरण पर ब्रह्म की छाप लगने पर ब्रह्म की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। ब्रह्म से जातीय एकता व स्वरूप की एकता उसी प्रकार है, जिस प्रकार समुद्र, लहर और जल की एकता है। ब्रह्म से समीपता 'योग' की प्रतीक है, एकता 'बोध' की और अभिन्नता 'प्रेम' की सूचक है।

भोग का फल मोह और आसक्ति है। अतः योग होने पर बोध और प्रेम स्वतः होता है।

यही साधक के विकास की चरम सीमा है। साधक का जीवन योग, बोध, प्रेम हो जाय-यह साध्य की ही महिमा है। साध्य की यह महिमा सर्वकाल में है। इस महिमा से अभिन्न हो साधक साध्य से अभिन्न हो सकता है। इस प्रकार से साधक की साध्य से एकता हुई। फिर साधक में निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता स्वतः अभिव्यक्त हो जाती है।

**प्रश्न**- शान्ति का अनुभव क्यों नहीं होता?

**उत्तर**- साधक अपनी ही भूल से अपने को विकारों में, अशान्ति में, पराधीनता में, नीरसता में और अभाव में आबद्ध कर लेता है। जब साधक अपनी भूल-जनित दशा से पीड़ित होता है, तब अनन्त की करुणा उसे ज्ञान के प्रकाश से भूल रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करती है। भूल रहित होते ही साधक का अस्तित्व साध्य की महिमा से अभिन्न हो जाता है, अर्थात् वह चिरशान्ति, निर्विकारता व जीवन-मुक्ति से भरपूर हो जाता है। जब साधक दुःख-निवृत्ति यानी मुक्ति में सन्तुष्ट नहीं होता, तब उसे प्रेमास्पद अपना प्रेम प्रदान करते हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। प्रेमी और प्रेमास्पद का नित्य विहार ही विकास की चरम सीमा है। प्रेम स्वरूप से अनन्त, नित्य, और चिन्मय है। परन्तु प्रेमास्पद को रस प्रदान करने के लिए प्रेमास्पद का नित्य परिकर साकार होकर प्रेमास्पद को नित-नव रस प्रदान रहता करता है।

तब साधक को दुःख-निवृत्ति, चिर-शान्ति एवं जीवन मुक्ति भी भाती नहीं है और उत्कृष्ट माँग केवल प्रेमास्पद को रस प्रदान करने की रहती है, तब प्रेमास्पद स्वयं अपना नित्य स्वभाव 'प्रेम' प्रदान कर देते हैं। यही उनका साकार रूप है। साधक का बोध तक अपना भाव होता है, उसमें अहं रहता है। योग में भी अहं रहता है। पर प्रेम में अहं नहीं रहता। यही साधना की परावधि है।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन
शरणानन्द

## २०

मेरे निजस्वरूप परम स्नेही साधक महानुभाव!

प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, साध्य नहीं। साधन-सामग्री के सदुपयोग से साधक में स्वतः साधना की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधक का अस्तित्व साधना से भिन्न कुछ नहीं रह जाता। साधना सदैव साध्य से अभिन्न है, कारण कि साधना साध्य का स्वभाव तथा साधन का जीवन है। अब विचार यह करना है कि प्राप्त परिस्थिति के रूप में जो साधन-सामग्री साधक को मिली है, उसके सदुपयोग का वास्तविक अर्थ क्या है? प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील तथा सुख और दुःख से युक्त है। जो सतत् परिवर्तनशील है, उसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती। जिसकी स्थिति नहीं है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना साधक की भारी भूल है। जब साधक असंगतापूर्वक अपने लिए शरीर और संसार के अस्तित्व को

स्वीकार नहीं करता, तब अनन्त की अहैतुकी कृपा से उसमें सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से असंग होने की सामर्थ्य आ जाती है। असंगता आते ही जो सदैव अपना है, अपने में है, अद्वितीय है, समर्थ है और अभी है, उससे अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नता में अनन्त रस है, जीवन है। यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

अभिन्नता का क्रियात्मक रूप उदारता और अभिन्नता का विवेकात्मक रूप समता है तथा अभिन्नता अगाध प्रियता की जननी है, अर्थात् उदारता, समता और प्रियता साधन है और यही वास्तव में साधक का स्वरूप है। जब साधक अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब साध्य ही में सतत् वास करता है। इस वास्तविकता में विकल्प-रहित आस्था, श्रद्धा, विश्वास अनिवार्य है। विकल्प-रहित आस्था से ही साधक में साध्य की माँग सबल तथा स्थायी होती है, जिससे होते ही साधक की भूल से उत्पन्न हुआ काम स्वतः नाश हो जाता है। जिसके होते ही दृष्टि दृश्य के बिना स्थित तथा चित्त बिना आधार के शान्त हो जाता है। और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साध्य की समीपता प्राप्त कर लेता है। साध्य की समीपता-जनित रस का भोग न करने पर साधक को साध्य से एकता प्राप्त होती है।

जब साधक साध्य की समीपता तथा एकता को पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, तब उसमें स्वतः प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जो साध्य का स्वभाव है तथा साधक का जीवन है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक सत्य को स्वीकार करें। इस दृष्टि से सत्य को स्वीकार करने में ही साधक के पुरुषार्थ की चरम सीमा है।

प्रत्येक साधक जानी हुई तथा की हुई बुराइयों से रहित होने पर भौतिकवादी दृष्टिकोण से 'एकता' प्राप्त करता है और ज्ञानपूर्वक अचाह तथा अप्रयत्न होने से अध्यात्म-जीवन से 'अभिन्न' होता है एवं आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता से उदित अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता से साधक आस्तिकवादी दृष्टिकोण से अपने प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य-विहार में उसका प्रवेश हो जाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव सत्य को स्वीकार कर साधननिष्ठ हो जाता है। अतः प्रत्येक भाई-बहन को जाने हुए असत् के त्याग तथा सत् को स्वीकार करने के लिए सर्वदा तत्पर रहना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

साधक, साधन और साध्य-इन तीनों में जातीय एकता है अथवा यों कहो कि साधक और साधना में साध्य की ही सत्ता है। साध्य की सत्ता में अविचल आस्था अनिवार्य है। जिसको प्राप्त करते ही साध्य की अखण्ड स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। बोध, प्रेम और प्राप्ति स्मृति के ही रूप हैं, अर्थात् अखंड स्मृति में ही जीवन है, जिसकी माँग मानव-पात्र में जन्मजात विद्यमान है। वास्तविक माँग का अनुभव करने पर ही साधक को साध्य की प्राप्ति होती है, यह अनुभव सिद्ध सत्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को साधननिष्ठ होने की सामर्थ्यप्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## २१

साधक महानुभाव!

अपनी ही भूल से अपनी बरबादी होती है, यह सर्वमान्य सत्य है। सिद्धान्त रूप से कोई भी 'गैर' नहीं है, 'और' नहीं है। किसी न किसी नाते सभी अपने हैं और सभी में अपने प्रेमास्पद है। इस सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। जहाँ कहीं जो कुछ बुराई दिखाई देती है, उसका कारण केवल अपनी ही भूल है। भूल का कोई भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अपने सत्य को अपने द्वारा न मानना ही अपनी भूल हैं। यदि जीवन में भूल न होती तो हृदय में स्वभाव से सतत प्रीति की गंगा लहराती और जीवन आनन्द-विभोर हो जाता, यह वैधानिक तथ्य है। प्रीति किसी व्यक्तिविशेष के प्रति नहीं होती, अपितु सभी में जो सभी के अपने हैं, उन्हीं में प्रीति होती है। वे ही प्रीति के अधिकारी हैं। व्यक्तियों के सेाथ तो सद्भाव ही रह सकता है। व्यक्ति को प्रीति से भिन्न भी कुछ चाहिए, इस कारण वह बेचारा प्रीति का पान नहीं कर पाता। पर यह रहस्य किन्हीं इने-गिने अकिंचन, निरभिमानी, प्रभु-विश्वासी, शरणागत साधकों को ही स्पष्ट होता है। भले कहलाने की रुचि रखने वालों को भी इस सत्य का बोध नहीं हो पाता।

बुराई-रहित होना सत्संग से साध्य है और भला हो जाना दैवी विधान है। भलाई सीखी नहीं जाती, सिखाई नहीं जाती। बुराई रहित होने से भलाई स्वतः अभिव्यक्ति होती है। बुराई रहित होने से भी भलाई व्यापक होती है। अपनी भलाई का भास हो जाने पर भी भलाई ''भलाई'' नहीं रह जाती। तब सूक्ष्म रूप से बुराई का जन्म सम्भव हो जाता है। उसका अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब साधक सजगता पूर्वक आत्म-निरीक्षण करे और अपने को समर्पण कर शान्त हो जाए। शान्ति सम्पादन से अहं शुद्ध होता है और फिर स्वतः साधक में उसकी बनावट के अनुसार साधना फलने-फूलने लगती है। इस दृष्टि से समर्पणपूर्वक शान्त रहना बहुत ही आवश्यक है।

अपने द्वारा अपनेको समझा-बुझाकर बुराई रहित कर लेना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। यदि यह कह दिया जाय कि मानव-जीवन का यह अन्तिम पुरुषार्थ है, तो अत्युक्ति न होगी। अपनी बुराई देखने का ज्ञान अपने में है, पर असावधानी के कारण उसका उपयोग हम दूसरों की बुराई देखने में करते हैं, जिसका बहुत बड़ा भाग अपनी कल्पना ही होती है, वास्तविक नहीं। वास्तविक बुराई का ज्ञान तो अपने सम्बन्ध में ही सम्भव है और उसी से

साधक सदा के लिए बुराई-रहित होकर सभी के लिए उपयोग हो जाता है।

जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। अचाह हुए बिना जीवन उपयोगी हो नहीं सकता। अचाह होने की स्वाधीनता अपने को प्राप्त है। अचाह होना ही जीवन में मृत्यु का अनुभव करना है। जीवन में मृत्यु का अनुभव होने पर अविनाशी, स्वाधीन जीवन की प्राप्ति होती है। अचाह होने के लिए बल का सदुपयोग, ज्ञान का आदर एवं आस्था-श्रद्धा-विश्वास में निर्विकल्पता अनिवार्य है। बल के सदुपयोग में प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग निहित है और ज्ञान के आदर में अवस्थातीत जीवन की प्राप्ति है और विकल्प रहित विश्वास से आत्मीय सम्बन्ध, अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की प्राप्ति होती है। परिस्थिति का सदुपयोग धर्म-विज्ञान है और अवस्थातीत जीवन में ही तत्त्वज्ञान है एवं प्रियता से ही जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

प्रत्येक मानव साधननिष्ठ होने में सर्वदा स्वाधीन है। पर सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। सत्य को स्वीकार करने पर सफलता अवश्यम्भावी है, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## २२

सत्संग प्रेमी साधक महानुभाव!

वेदवाणी तथा प्रभु विश्वासी शरणागत साधकों से सुना है कि सर्व समर्थ परमात्मा अद्वितीय, सदैव, सर्वत्र सभी के हैं; अतः अपने भी हैं। इस वास्तविकता को अपना लेने पर साधक सनाथ हो जाता है। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि प्रभु को अपना मानना किस समस्या का निदान है? इससे पूर्व प्रत्येक साधक को यह भी भलीभाँति अनुभव करना चाहिए कि मेरी अपनी समस्या क्या है? समस्या उसे नहीं कहते जिसे अपने द्वारा हल कर सकते हों, अथवा जो स्वतः हल हो जाय; और समस्या उसे भी नहीं कहते जिससे निराश हो जायँ। भूतकाल की भूलों से हृदय पीड़ित है, उसके परिणाम से बचने के लिए अपने में कोई बल नहीं है और वर्तमान में नीरसता, अभाव तथा पराधीनता भाती नहीं है। यदि यह समस्या अपनी समस्या है, तो उसका उपाय एकमात्र प्रभु-विश्वासी साधक को यही मालूम होता है कि वह प्रभु की महिमा को अपनाकर प्रभु का हो जाय और यह स्वीकार करे कि मैं और किसी का नहीं हूँ, और कोई मेरा नहीं है। मैं स्वयं अपनी समस्या हल नहीं कर सकता और उसके हल हुए बिना मुझे चैन नहीं है। अतएव प्यारे प्रभु ही मेरे अपने हैं और मैंने इसी महामन्त्र को अपनाया है। इससे भिन्न और कोई मेरे लिए उपाय नहीं है। सर्वसमर्थ एवं पतित पावन ने ही असमर्थ तथा पतितों को अपनाया है। सद्गुरु वाक्य कभी मिथ्या नहीं होता, यह शरणागत साधकों का अनुभव है।

इस दृष्टि से शरणागति ही एकमात्र मूल उपाय है। शरणागत को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है, कारण कि उसमें अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध की बन्ध भी नहीं रहती। इस उपाय से ही सभी असमर्थ साधकों का कल्याण हो सकता है। जब अपना और कोई नहीं रह जाता, तब स्वतः अखण्ड स्मृति तथा प्रियता से भिन्न शरणागत का कुछ और अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। प्रभु को अपना मान लेने से ही अपने में प्रियता की अभिव्यक्ति होती है। प्रियता एक ऐसा अनुपम अलौकिक तत्त्व है जिसका आरम्भ तो होता है, पर अन्त नहीं। इस दृष्टि से प्रियता भी अविनाशी तथा अनन्त है। प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य-विहार में ही जीवन की पूर्णता है। सर्व-समर्थ प्रभु के अस्तित्व, महत्त्व एवं अपनत्व को स्वीकार करना प्रभु-विश्वासी का परम पुरुषार्थ है। जिसने इसे अपनाया उसे फिर कुछ और करना-पाना शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि जिसने शरणागति को अपनाया उसने सब कुछ पाया। शरणागति की साधना से अहंभाव रूपी अणु का नाश हो जाता है, जिसके होते ही सभी को सब कुछ मिल जाता है, और फिर किसी प्रकार का अभाव, पराधीनता एवं नीरसता शेष नहीं रहती, जो जीवन का लक्ष्य है।

शरणागति विश्वास है, अभ्यास नहीं। विश्वास विश्वासी का स्वरूप हो जाता है और उसमें सत्तारूप से एकमात्र विश्वासपात्र ही होते हैं, अर्थात् जिसमें विश्वास किया, वे ही रह जाते हैं। विश्वास से भिन्न विश्वासी का और कोई अस्तित्व नहीं होता। इस दृष्टि से विश्वास ही प्रभु-प्राप्ति का अचूक उपाय है। प्रभु-विश्वास के समान और कोई महान् बल नहीं है। यदि यह कह दिया जाय कि प्यारे प्रभु भी विश्वास के अधीन हैं, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। कारण कि विश्वास में सत्ता से ही होती है। इस दृष्टि से प्रभु-विश्वास ही प्रभु-प्राप्ति का अनुपम, अलौकिक एवं अद्वितीय उपाय है। प्रभु-विश्वास की माँग जीवन की मौलिक माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने किसी प्रभु-विश्वासी के द्वारा प्रभु-विश्वास को स्वीकार किया है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अपने शरणागतों को अपना विश्वास प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## २३

प्रिय साधक महानुभाव!

शरीर के द्वारा हमें वह नहीं मिला, जो हमारी माँग है। शरीर के बिना जो जीवन है, वही सभी को अभीष्ट है। उस जीवन के लिये शरीर की कोई अपेक्षा नहीं मालूम होती। शरीर के न रहने का जिन लोगों को भय है, वे विचार करें कि क्या शरीर को सदैव बनाये रखना सम्भव है? यदि सम्भव नहीं है, तो शीघ्र उस जीवन की माँग का अनुभव करना चाहिये अथवा खोज करना चाहिये; जो शरीर के बिना सदैव ज्यों-

का-त्यों है। जो शरीर से अतीत जीवन है, उसकी खोज शरीर के सहयोग से नहीं होगा।

अब विचार यह करना है कि शरीर के सहयोग के बिना हम क्या कर सकते हैं। हम अचाह हो सकते हैं, अप्रयत्न हो सकते हैं और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत हो सकते हैं। अचाह होने का हर्थ केवल इतना ही है कि हमें वह नहीं चाहिये, जो शरीर और संसार की सहायता से प्राप्त होता है। बेचारा शरीर और संसार हमारी माँग की पूर्ति में लेशमात्र भी बाधक अथवा सहायक नहीं है। जब तक इस सत्य का अनुभव नहीं होता, तब तक शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता। और उसके बिना हुये साधक अपने को अपने में सन्तुष्ट नहीं कर सकता। अपने में सन्तुष्ट हुए बिना अपने को अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपने में सन्तुष्ट होना ही वास्तविक योग है। योग की पूर्णता में बोध और प्रेम निहित है। योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

शरीर का सदुपयोग प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग लोक-हित में भले ही हेतु हो, किन्तु उससे अपनी वास्तविक माँग पूरी नहीं होती। वास्तविक माँग की तीव्र जागृति ही उसकी पूर्ति में हेतु है। वास्तविक माँग काम को खा लेती है। काम-रहित होते ही देह का तादात्म्य टूट जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने को अपने में सन्तुष्ट पाता है।

समस्त प्रयत्नों का फल अपने में अपने को सन्तुष्ट करना ही है। किसी भी परिस्थिति का अपने लिये आह्वान मत करो। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा उससे असंग हो जाओ। सफलता अवश्यम्भावी है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही साधक की स्वाधीनता है। परिस्थिति में जीवन-बुद्धि भारी भूल है।

जीवन तथा जीवनधन अपने में ही हैं, इस वास्तविकता में विकल्प मत करो। निर्विकल्प आस्था महान बलवती है। पर यह रहस्य प्रभु-विश्वासी शरणागत साधक को ही स्पष्ट होता है। शरीर के रहते हुये ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त होने के लिए यथाशक्ति प्रयत्नशील रहो। प्रत्येक साधक को आवश्यक सामर्थ्य बिना ही माँगे मिलती है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है। प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग होने पर सामर्थ्य से अतीत जो जीवन है, उसमें स्वतः प्रवेश हो जाता है। अल्प या विशेष सामर्थ्य होने से साधननिष्ठ होने में कोई अन्तर नहीं आता; कारण कि अपने को जो चाहिये, वह सदैव अपने ही में है।

वास्तविकता में अविचल आस्था करो और लक्ष्य से निराश मत हो, अपितु लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर नित-नव-उत्साह बढ़ाते रहना चाहिये। उत्साह हीनता तथा निराशा के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अतः सभी साधक महानुभाव साध्य की प्राप्ति के लिये अथक प्रयत्नशील रहें। सफलता

अवश्यम्भावी है। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## २४

मेरे निज स्परूप साधक महानुभाव!

कर्त्तव्य-परायणता अर्थात् परिस्थिति के सदुपयोग का यह शुभ परिणाम होना चाहिए कि साधक अपने में सन्तुष्ट हो जाय। यह वैधानिक तथ्य है कि अपने में जीवन तथा जीवनधन हैं। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखना चाहिए। 'जीवन' जड़ता, अभाव, पराधीनता, नीरसता आदि दोषों से रहित है। उसी को जीवन कहते हैं। जीवन में चेतना है, स्वाधीनता है और सरसता है, जिसकी माँग साधक को स्वभाव से ही रहती है। जीवन की माँग से ही काम का नाश होता है और कामरहित होते ही देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलती ही सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

साधकों को वास्तव में अपने लिए किसी भी काल में शरीर की आवश्यकता नहीं है। शरीर के सदुपयोग से परिवार, समाज एवं संसार के अधिकारों की रक्षा हो सकती है। इससे भिन्न शरीरों का कोई उपयोग नहीं हैं शरीर का सदुपयोग साधक को विद्यमान राग से रहित कर देता है और विवेकपूर्वक असंग होने से फिर नवीन राग उत्पन्न ही नहीं होता। रागरहित भूमि में ही योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक की वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति होने पर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है। शरीर का सदुपयोग और उससे असंगता अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करे। जिसकी वास्तविक माँग है, उसके अस्तित्व को स्वीकार करना सहज तथा स्वाभिविक होना ही चाहिए। माँग उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है; वही सभी साधकों का साध्य है।

जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, वह कभी किसी का साध्य नहीं हो सकता। यह सभी को विदित है, कि किसी भी परिस्थिति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतएव परिस्थिति साधन-सामग्री हो सकती है, साध्य नहीं। साधन-सामग्री का सदुपयोग और साध्य की माँग की जागृति में ही साधक का परम पुरुषार्थ है, जिसकी स्वाधीनता प्रत्येक साधक को जन्मजात प्राप्त है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में असफलता तथा निराशा के लिए कोई स्थान नहीं है।

साध्य में अविचल आस्था न रखने से और परिस्थिति का सदुपयोग न करने से साधक असफल होता है। असफलता वैधानिक तथ्य नहीं है, अपितु साधक का अपना प्रमाद है, जिसकी निवृत्ति के लिए ही सत्संग-योजना है। सत्य को स्वीकार करना ही सत्संग है। अपने में अपना प्रेमास्पद है-यह सत्य है। किसी भी

परिस्थिति में जीवन नहीं है, यह विचारकों का अनुभव है। अपने में अपने प्रियतम हैं-यह आस्थावान साधकों की अविचल आस्था है। विचार से संसार की निवृत्ति होती है। और आस्था से प्रेमास्पद की प्राप्ति। इस दृष्टि से ज्ञान का आदर तथा निर्विकल्प आस्था साधक के जीवन में सदैव रहनी चाहिए। बल का उपयोग तो एकमात्र प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही हेतु है। इसके अतिरिक्त बल के उपयोग का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। 'मानव' संज्ञा प्रारम्भ ही तब होती है, जब साधक बल का दुरुपयोग नहीं करता। बल के सदुपयोग से बल का अभिमान गल जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक-अपने में सन्तुष्ट होकर, अपने में परम प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

अपने में सन्तुष्ट हुए बिना कभी किसी को किसी भी प्रकार चैन से नहीं रहना चाहिए। अपने में सन्तुष्ट होने के लिए निर्मम, निष्काम तथा असंग होना अनिवार्य है जो एकमात्र निज-ज्ञान से सिद्ध है। ज्ञान का आदर, बल का सदुपयोग और निर्विकल्प आस्था में ही जीवन का सार है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने साध्य की प्राप्ति को वर्तमान की आवश्यकता अनुभव किया है।

साधन साधक का स्वरूप और साध्य का स्वभाव है। सत्संग से साधक में साधन की अभिव्यक्ति होती है। अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति असत् के संग का ही परिणाम है। सत्संग से स्वतः साधक में साधन परायणता आ जाती है। अतः सत्संग ही साधक का प्रथम और अन्तिम पुरुषार्थ है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी को सत्संगी बनाएँ, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## २५

मेरे निज स्वरूप साधक महानुभाव!

'मानव' है- किसी की सेवा, किसी का प्रेम। प्रेम श्रम-साध्य नहीं है, प्रेम का ह्रास नहीं होता। प्रेम के लेने में तृप्ति नहीं होती, देने में घटता नहीं, नित-नव बढ़ता ही रहता है। प्राण-शक्ति का नाश होता है, पर विश्वास का नाश नहीं होता। अपने द्वारा आपने यह स्वीकार किया कि प्रभु हैं, यहाँ से भजन का आरम्भ होता है। विश्वास इतना दृढ़ और स्वतन्त्र होना चाहिए कि शास्त्र आदि का प्रमाण भी न हो तब भी आप विश्वास करें कि 'प्रभु हैं'। जीवन में से प्रभु-विश्वास न निकले, तब भजन होगा। जिसे कोई वस्तु, परिस्थिति आदि सुख नहीं दे पाती, वही भजन करता है। जिसके जीवन में निरपेक्ष रस की माँग है, वह प्रभु-विश्वास कर सकता है। जगत् से अतीत के जीवन में जिसकी आस्था है, वह विश्वास कर सकता है। भजन कर सकता है।

प्रेमियों की सूची में नाम लिखाने चलें और कामना साथ ले कर चलें, तो क्या प्रेम

होगा? अपना मन रखकर क्या प्रेम होता है? कदापि नहीं। लोग ईश्वर को मानने चलते हैं। किसलिए? कि हमारी जो कामनाएँ हैं, वे पूरी हो जाएँ, यह ईश्वरवाद नहीं है। कामना-पूर्ति और मोक्ष चाहने वाला प्राणी ईश्वर प्रेमी नहीं हो सकता, ईश्वर से प्रेम नहीं कर सकता। 'दिल देवे, सो दिलवर को पावे।' कामना-पूर्ति, निवृत्ति और मोक्ष- तीनों को जो छोड़ देता है, वही दिल दे सकता है। प्रभु से कह दो-मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी इच्छा पूरी हो। मुझे चाहे बन्धन में डालो, चाहे मुक्त करो, जो चाहो, सो करो।' ऐसा दिल देने वाला भजन कर सकता है।

प्रभु को अपना मानो, इससे प्रियता बढ़ेगी। प्रियता न कभी घटेगी, न मिटेगी। यदि भगवान् का दर्शन नहीं होता है, तो इसमें भी एक रहस्य है। यदि दर्शन हो जाएँ, तो हम लोगों की प्रभु के प्रति प्रियता शिथिल हो जाएगी। यह भगवान् की विशेष कृपा है कि ध्यानी के ध्यान में से वे छिप जाते हैं, प्रेमी के बुलाने पर भी नहीं आते, छिपे से रहते हैं। हमारे न चाहने पर भी वे हमें चाहते हैं। हम भले ही उन्हें भूल जाएँ, पर वे हमें नहीं भूलते। इसलिए हम उन्हें अपना मानें, भजन हो जाएगा। जिसको सुख-भोग, दुःख-निवृत्ति, स्वाधीनता भी नहीं चाहिए, केवल वही चाहिए जो प्रभु को चाहिए, तो भजन होने लगेगा। प्रभु के मन में अपना संकल्प मिला दो, बेमन के हो जाओ। प्रभु-विश्वास, सम्बन्ध और आत्मीयता ही तुम्हारा जीवन हो, तब भजन होने लगेगा।

जो स्वतः हो रहा है, जो तुम्हारा किया हुआ नहीं है, वह तो प्यारे प्रभु का किया हुआ है। 'प्रभु मेरे अपने हैं और वे अपने सदा रहेंगे'- ऐसा विश्वास कर शान्त, निर्भय और निश्चिन्त हो जाएँ। भजन होने लगेगा, प्रियता बढ़ेगी। बिना कुछ भी चाहे, जो भगवान् को अपना मानता है, वही भजन कर सकता है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## २६

साधक महानुभाव!

वर्तमान की नीरसता से बड़ी क्षति होती है। नीरसता से काम का जन्म होता है, फिर वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि से सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसलिए नीरसता को शीघ्रातिशीघ्र मिटाना आवश्यक है।

जो किसी को भी दोषी नहीं मानता, उसके जीवन में दोष की उत्पत्ति नहीं होती। निर्दोष जीवन में ही प्रीति का प्रादुर्भाव होता है।

जो हमारे बिना रह सकता है, उस पर क्रोध मत करो, उससे द्वेष मत करो। किसी ने हमें दुःख दिया है, यदि ऐसा प्रतीत हो, तो समझना चाहिए कि दुःख देने वाला स्वयं दुःखी है, इसलिए उसने दुःख दिया है। अतः वह क्षमा का पात्र है।

यदि हमसे किसी को कष्ट मिला है, तो उसमें हमें क्षमा माँग लेनी चाहिए। सब प्रकार से निश्चिन्त व निर्भय हो जाने पर तथा संसार से

सम्बन्ध-विच्छेद कर देने पर प्रभु से सम्बन्ध स्वतः हो जाता है। प्रभु से सम्बन्ध हो जाने पर भय, चिन्ता, नीरसता शेष नहीं रहते।

जिससे सुख मिलता है, उससे राग हो जाता है और जो सुख में बाधक बनता है, उससे द्वेष हो जाता है। अपने दुःख का कारण अन्य को मानने से द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग और द्वेष दोनों ही के त्याग से जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रादुर्भाव होता है। जहाँ सत्य है वहाँ अभाव नहीं है, और जहाँ अहिंसा है वहाँ नीरसता नहीं है। इस दृष्टि से सत्य और अहिंसा के अपनाने से जीवन पूर्ण और सरस बन जाता है। हिंसायुक्त जीवन में भाग है और अहिंसा के जीवन में योग है। इसलिए क्षमा माँग कर और क्षमा प्रदान कर वर्तमान जीवन को सरस बनाओ।

संसार के सम्बन्ध में तीन दृष्टियाँ हैं- भौतिक दृष्टि, आध्यात्मिक दृष्टि और आस्तिक दृष्टि। भौतिक दृष्टि से संसार प्राकृतिक विधान से संचालित सत्य प्रतीत होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह संसार माया मात्र है और आस्तिक दृष्टि से यह संसार प्रभु की लीला है। जो कुछ हो रहा है वह अनन्त के विधान से हो रहा है। उसमें हस्तक्षेप करना विधान-विरोधी कृत्य है।

जिस दिन आप निश्चिन्त व निर्भय हो जाओगे, उसी समय प्रभु आपको अपना लेंगे। अपने लिए त्याग, जगत् की सेवा और प्रभु से प्रेम को अपनाना ही हमारा परम पुरुषार्थ है। जिसने अपने को प्रभु के समर्पित कर दिया बिना किसी शर्त के, उसने सब कुछ पा लिया। यदि प्रभु से कुछ माँगना ही है, तो उनका प्रेम माँगो। उनका प्रेम लेकर उन्हीं को रस दो और कृतकृत्य हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## २७

सत्संग प्रेम साधक महानुभाव!

दुःख के प्रभाव से जीवन में सजगता आती है और सजगता से वस्तु-स्थिति का परिचय मिलता है। तथा साधन का निर्माण होता है। दुःख घटना-जनित ही हो, ऐसी बात नहीं है। दुःख विवेक-जनित भी होता है। संयोग वियोग में बदलता ही है, इस सत्य को अपनाते ही सुख में दुःख का दर्शन होता है तथा सुख-भोग की रुचि का नाश होता है।

दुःख का जीवन में बड़ा महत्त्व है। दुःख के बिना जीवन का विकास नहीं हो सकता। इसलिए दुःख का पूरा प्रभाव अपने जीवन में होने दो। दुःख का प्रभाव दुःख को खा लेता है। तथा सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश कराता है। पर हम अपने पर दुःख का पूरा प्रभाव नहीं होने देते। एक सहारा छूटता है, तो दूसरा सहारा पकड़ लेते हैं। जब तक मानव सुख में दुःख का दर्शन नहीं करेगा, तब तक दुःख आता ही रहेगा, उसे कोई रोक नहीं

सकता। जब दुःख का प्रभाव पूरी तरह हो जाता है, तब दुःखहारी श्रीहरि स्वयं दुःख हर लेते हैं। वर्तमान की वेदना ही भविष्य की सत्ता हो जाती है।

दुःख के प्रभाव की पहचान क्या है? किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति से सन्बन्ध न रहे; न किसी से कुछ आशा रहे। दुःख का प्रभाव और दुःख के भोग में बड़ा अन्तर है। दुःख का प्रभाव साधन है और दुःख का भोग असाधन है। राग-द्वेष-जनित चिन्तन करना दुःख का भोग है।

दुःख का प्रभाव कैसे हो? दुखियों को देख करुणातित होने तथा सुखियों को देख प्रसन्न होने से दुःख का प्रभाव होता है। समस्त विकारों का मूल सुख-भोग का प्रलोभन है और समस्त विकास का मूल दुःख का प्रभाव है। जहाँ जीवन में दुःख का प्रभाव आया, वहाँ स्वतः सभी वस्तुओं, व्यक्तियों, अवस्थाओं व परिस्थितियों से सम्बन्ध स्वतः टूट जाता है। फिर दुःखी के जीवन में सुख की दासता नहीं रहती, दरिद्रता का नाश हो जाता है। निर्लोभता, निर्मोहता एवं उदारता की उसके जीवन में स्वतः अभिव्यक्ति होती है। उदारता से जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाता है। निर्लोभता और निर्मोहता से जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाता है।

निर्मोहता से सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति होती है, परिच्छिन्नता का नाश हो जाता है तथा स्वाधीनता की प्राप्ति होती है।

अतः दुख के प्रभाव से व्याकुलता की वृद्धि तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है, यह निर्विवाद सत्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधक भाई-बहनों को सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त कर परम् स्वाधीन अविनाशी जीवन से पवित्र कर दें, इसी सद्भावना के साथ आपको बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## २८

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभावतथा भाई और बहन!

जहाँ तक हो सके, कुछ काल के लिए हम लोग शान्त हो जाया करें; कारण कि प्रत्येक कार्य के मूल में या श्रम के मूल में सभी क्रिया-रहित होते हैं। यानी श्रम के मूल में श्रम-रहित और श्रम के अन्त में श्रम-रहित होना, यह सभी का अनुभव है। प्रत्येक गति के मूल में स्थिरता और गति के अन्त में भी स्थिरता है। यह प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक तथ्य है, कोई काल्पनिक बात नहीं है। इससे हम सबको यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में निवृत्ति यानी शान्ति होनी चाहिए और प्रवृत्ति के अन्त में भी शान्ति होनी चाहिए।

प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और प्रत्येक संकल्प की पूति के पश्चात् स्वभाव में निर्विकल्पता रहती ही है। इस निर्विकल्पता का

नाम ही 'मूक सत्संग' है, जिससे आवश्यक शक्ति का विकास होता है।

सुनने के पूर्व हम शान्त हो जाएँ और सुनने के पश्चात् भी शान्त हो जाएँ। सुनने के पूर्व की शान्ति हमें सुनने की यथेष्ट सामर्थ्य प्रदान करेगी और श्रवण के अन्त में जो शान्ति होगी, वह सुने हुए को स्थिर कर देगी। इस दृष्टि से हम सबको प्रवचन के आरम्भ में और अन्त में शान्त रहना चाहिए।

यह तो शान्त रहना है, यह बहुत बड़ा साधन है। पर इस रहस्य को केई बिरले ही जानते हैं। इसलिए जहाँ तक हो सके, हमें स्वभाव से ही शान्त रहना चाहिए। इसमें अहंकृति न लगाएँ अर्थात् 'हम नहीं बोलेंगे,' ऐसी भावना भी न हो। अपितु सहज भाव से न बोलना, न सोचना, न देखना आ जाए, अर्थात् इन्द्रियों को भीतर-बाहर से शान्त रहने का स्वभाव बना लें, तो बहुत लाभ होगा।

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणनन्द

## २९

मेरे निजस्वरूप साधन महानुभाव!

मानव-जीवन की तीन विभूतियाँ हैं- निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता।

जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधान से हो रहा है-ऐसा मान लेने पर निश्चिन्तता आती है।

जो शरीर, प्राण आदि किसी भी वस्तु को अपना नहीं मानता, वह निर्भय हो जाता है।

जो 'है' वही मेरा अपना है-इसमें जिसने आस्था स्वीकार कर ली, उसी में प्रियता उदित होती है।

निश्चिन्तता से शान्ति; निर्भयता से स्वाधीनता तथा प्रियता से रस की अभिव्यक्ति होती है। यही मानव की माँग है।

जो नहीं करना चाहिए और जिसे नहीं कर सकते, उसके न करने से, जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता हैं। इससे शान्ति मिलती है और फिर स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता को भी ठुकरा देने पर प्रेम की प्राप्ति होती है।

व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास के लिए मानव-सेवा संघ एक साधन प्रणाली है। वर्तमान युग की साधन प्रणालियाँ आधुनिक पीढ़ी की दृष्टि से असफल सिद्ध हो रही हैं। साधन-दृष्टि से प्रत्येक के सामने एक मौलिक प्रश्न है कि साध्य की प्राप्ति कैसे हो? यदि हम साधक हैं, तो साध्य की प्राप्ति अभी-अभी होनी चाहिए। हमारा साध्य हमारे बिना नहीं रह सकता। वह हमारा साध्य ही नहीं सकता, जिसकी प्राप्ति में लेशमात्र भी सन्देह हो।

अब प्रश्न यह है कि हमारे जीवन में साध्य के प्रति आस्था कितनी है, उसमें प्रियता कितनी है! यदि कोई कहे कि ईश्वर है तो, पर उसकी आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि साध्य में आस्था तो है, पर इतनी नहीं कि अन्य सभी छूट जाएँ। ऐसी दशा में मन

साध्य में बलपूर्वक लगाना पड़ता है, स्वतः नहीं लगता। जब हम सभी कामनाओं को मिटा देते हैं, तब मन स्वतः साध्य में लग जाता है। जब कुछ कामनाओं को पूरा करना चाहते हैं और कुछ को मिटाना चाहते हैं, तब भी मन स्वतः नहीं लगता।

जिसके लिए हम सब कुछ दे देते हैं, उसी में आस्था रहती है। देश-भक्ति में आस्था होने से देश की रक्षा में प्राण भी दे देते हैं। साध्य के सम्बन्ध में यह विचार करना आवश्यक है कि अपने साध्य में विवेक का विरोध तो नहीं है? विश्वास के आधार पर साध्य का निर्णय होता है। साध्य से भिन्न सत्ता ही न स्वीकार करे, तो तत्काल सिद्धि मिलती है।

साध्य चाहे जैसा हो, विश्वासी साधक उस पर अपने को न्यौछावर कर देते हैं। जिन साधकों में साध्य के प्रति आस्था कम है, उनको प्रभु की महिमा की बड़ी आवश्यकता है। इसी प्रकार साधन के सम्बन्ध में भी साधक को देखना होगा कि उसमें आस्था और प्रियता कितनी है। जिस साधन में आस्था और प्रियता की कमी हो, उससे कालान्तर में भले ही सिद्धि मिल जाए, वर्तमान में नहीं मिल सकती। इसलिए भाई, अपने साध्य और साधन में पूर्ण आस्था और प्रियता का होना अनिवार्य है।

साध्य की महिमा का विवेचन आप बुद्धि द्वारा नहीं कर सकते।अनन्त की हर चीज अनन्त है, महान् है और दिव्य है। आप ग्रन्थों में साध्य की महिमा पढ़ते और सुनते हैं, वह अल्प है। साध्य से अभिन्न होकर ही साध्य को जान पाओगे। साध्य से अभिन्न होने के लिए अपने साध्य और साधन में निस्सन्देह होना ही पड़ेगा। जीवन और साधन में एकता न होने के कारण ही आज निज-नये सिद्धान्त, मत, प्रणाली सम्प्रदाय बनते जा रहे हैं, पर मनुष्य जाति की समस्या हल नहीं हुई। आवश्यकता इस बात की है कि अपने साध्य और साधन में गहरी निष्ठा, आस्था और प्रियता हो।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को अपने साध्य और साधन में आस्था और प्रियता प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणनन्द

## ३०

मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!

परस्पर विचार-विनिमय के द्वारा साधक अपनी रुचि, योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप साधन का निर्माण करें। विचार-विनिमय का अर्थ है कि अपना दोष, अपनी दशा सामने रखें और सलाह लें।

साध्य में प्रियता उदित करने की योग्यता का नाम ही 'साधन' है। यह प्राप्त होता

है, विचार-विनिमय के द्वारा। इसलिए विचार-विनिमय की जीवन में बड़ी आवश्यकता है। अब सोचना यह है कि हम और आप अपने-अपने सम्बन्ध में क्या जानते हैं और क्या मानते हैं? अपने सम्बन्ध में निर्विकल्प होने का अर्थ क्या है? मान लो, आपने निर्णय किया कि मुझे भक्त होना है। तो फिर आपको भगवान् के सम्बन्ध में सन्देह नहीं होगा। भगवान् में विश्वास होगा, उनमें मन लगेगा, उनसे मन हटेगा नहीं। भक्त सभी हो सकते हैं। दीन से दीन, पतित से पतित भी भक्त हो सकता है। अतः हम भक्त हो ही सकते हैं।

साधन-दृष्टि से जीवन का मौलिक प्रश्न यह है कि अपने में विकल्प-रहित निर्णय होना चाहिए। साधक की पहचान यह है कि जिसके रोम-रोम में अपने साध्य की ही सत्ता हो, भिन्न का अस्तित्व ही न हो। क्या वह भी साधक हे, जिसके पास अपना मन हो, जिसके पास अपनी बुद्धि हो? कदापि नहीं।

जिससे सुख की आशा करते हैं, उससे राग हो जाता है और जिसे अपने दुःख का कारण मानते हैं, उससे द्वेष हो जाता है। साधक के जीवन में राग-द्वेष के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इसलिए साधक को किसी से सुख की आशा नहीं होती और न वह किसी अन्य को अपने दुःख का कारण ही मानता है। इसके लिए उसे वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा। तब विकार की उत्पत्ति ही नहीं होगी। संसार उसकी दृष्टि में नहीं रह जाएगा।

हमारे प्यारे प्रभु की यह महिमा है कि आप जिस आकृति में रुचि रखते हैं, उसी आकृति में वे मिल लेते हैं। अपना सर्वस्व देकर चाह-रहित होकर बिना किसी शर्त के चाहे किसी से प्रेम कर लो, भगवान् मिल जायेंगे। क्योंकि प्रेम उनका स्वभाव है, प्रेम उनका जीवन है। यह उनकी महिमा है कि वे अपने प्रेम को देकर स्वयं ही उसमें बँध जाते हैं।

साधक होने के लिए अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित हो जाओ। जब आप अपने सम्बन्ध में विकल्प-रहित हो जाओगे, तो अपने साध्य में आस्था, महिमा और प्रियता स्वतः विकल्प-रहित हो जाएगी। ध्यान करने का प्रश्न जीवन में कब आता है? जब ध्यान नहीं होता, तब ध्यान लगाना पड़ता है। बुद्धि-दृष्टि से विवेक के प्रकाश में देखने पर मालूम होता है कि ध्यान उसी का आता है, जिसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। इसलिए जड़-जगत् को ध्यान में-से निकाल दो, तो भगवान् में ध्यान लग जाएगा।

आपकी इस स्वीकृति से कि 'मैं भगवान् का हूँ और भगवान मेरे हैं'- इससे पूर्व की सभी स्वीकृतियाँ विस्मृत हो जाएँगी, सब सम्बन्ध टूट जाएँगे, निर्वासना आ जाएगी; वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाएगा। इनसे सम्बन्ध टूट जाने पर प्रभु से सम्बन्ध हो जाता है। 'मैं भक्त हूँ'-यह मान्यता साधनरूप है। निवार्सना आने पर यही जीवन बन जाती है, जो कि साधन की सिद्धि है। परन्तु इसके लिए अपने साधन के सम्बन्ध में निर्विकल्पता आवश्यक है। 'सत्य' असत्य का

नाशक नहीं है, वरन् प्रकाशक है। आस्था की दृढ़ता होने पर प्रभु बिना दुलार ही आ जाएँगे- इसमें दृढ़ आस्था करो।

कामना-रहित हुए बिना सत्य का अनुसरण हो ही नहीं सकता। परन्तु व्यक्ति कामना भी रखता है और सत्य की लालसा भी रखता है। ऐसी दशा में उसको किसी के शरणागत होना चाहिए! तब वह परम दयालु, परम सुहृद् अपने ऊपर कलंक लेकर तुम्हारे मन की कामना पूरी करा देंगे और निवृत्त भी करा देंगे तथा तुम्हें अपना भी लेंगे। फिर वे तुम्हें अपने से भी बड़ा बना देंगे। ऐसा 'एक' परम सुहृद हम सभी का है। ऐश्वर्य और माधुर्य की माँग हम सभी की है। ईश्वरवादी को भी और अनीश्वरवादी को भी, सभी को ऐश्वर्य की माँग है। फिर भी यह माँग कामनाओं के कारण शिथिल बना देते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार के प्रलोभन की आवश्यकता नहीं है।

जीवन में से प्रलोभन का नाश कैसे हो? जीवन को यदि प्रभु के लिए, जगत् के लिए उपयोगी बना दिया जाए, तो प्रलोभन मिट जाएगा।

जो चाह-रहित हो जाता है, वही सब के लिए उपयोगी हो सकता है। सर्व-समर्थ प्रभु आपको चाह-रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ३१

मेरे निजस्वरूप परम स्नेही साधक महानुभाव!

चाह रहित होने का अर्थ केवल इतना ही है कि अपने आपको सभी के लिए समर्पित कर दो;क्योंकि जो सभी के लिए नहीं है, वह प्रभु के लिए भी नहीं होता।

ऐसा कौन है, जिसके मन में सभी के लिए हित की बात है, हित का भाव है? उससे उसका भी अहित नहीं होता, जिसने उसका अहित किया है। वह वहीं है, जो चाह रहित है। दूसरों के दिए हुए दुःख को सहर्ष सहते हुए मन में यह भाव रहे कि हे प्रभु! दुःख देने वाले का अहित न हो, उसका भला हो। उसका भला हो जाएगा, तो उसमें दुःख की प्रवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि दुखी होकर ही आदमी किसी को दुःख देता है। इसलिए सब के हित का भाव रखे, किसी से कुछ मत चाहो। जब तुमसे किसी को भय नहीं होगा और न तुम्हें कोई भयभीत कर सकेगा। क्योंकि जो तुमने दिया नहीं है, वह तुम्हें मिलेगा कैसे?

अतः साधन में अस्वाभाविकता और असिद्धि नहीं है। किसी से कुछ न चाहें और किसी का अहित न करें, तो भक्त को भगवान, अशान्त को चिर-शान्ति और दुखी को दुःख-निवृत्ति मिल जाएगी। परन्तु आज साधन हमारे जीवन का बोझ मालूम होता है। साधन और जीवन में तो इतनी स्वाभाविकता आ जानी चाहिए कि उसका भास ही न हो। पर आज

साधन में श्रम क्यों मालूम होता है? इसलिए कि साधन की आवश्यकता नहीं है, साधन में प्रियता नहीं है; जिसकी सेवा कर रहे हैं, उसको अपना नहीं मानते।

जो साधन को अस्वभाविक ढंग से करेगा तथा जो साधन सिखाने को ही साधन मानेगा, उससे बहुत असाधन होगा। इसलिए साधन की अभिव्यक्ति जीवन में से होनी चाहिए। तब साधन में स्वाभाविकता आएगी। यह तब सम्भव होगा जब भय और प्रलोभन का नाश हो जाए। यह स्वीकार कर लें कि अपने पास जो कुछ है, वह किसी से मिला हुआ है तथा जो नहीं मिला है, उसकी कामना न करे। मिले हुए का दुरुपयोग मत करो, उससे देने वाले की पूजा करो।

पूजा का अर्थ है कि भगवान् के दिए मन को भगवान् में लगाएँ। जिस तन से सेवा हो रही हो, वह तन उसी का है, उसके तन से उसकी सेवा हो रही है। इन्द्रिय व बुद्धि ज्ञान से भी कोई 'और' नहीं है, जिसने दिया है वही है। उसी ने प्रेम, विश्वास, विवेक, सामर्थ्य, वस्तु आदि दी हैं। उसकी दी हुई वस्तु उसी को दे दो। किसके लिए? प्रभु-प्राप्ति के रस के लिए। उनका दिया हुआ सब कुछ उन्हीं को समर्पित कर दो।

किसी भी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि हमें उसका ज्ञान है। अपना अस्तित्व किसी के सम्बन्ध, विश्वास और प्रेम के रूप में है। यह सम्बन्ध, विश्वास और प्रेम भी उसी का दिया हुआ है। यदि ऐसा न होता, तो हम में सम्बन्ध, विश्वास और प्रेम कहाँ से आता? वह हमें अपना न मानता, तो हम कैसे उसको अपना मानते? इसलिए भाई, अपने में अपना करके कुछ नहीं है।

जो लोग अपने को 'ब्रह्म' मानते हैं, यह भी विश्वास है और जो अपने को 'जीव' मानते हैं, यह भी विश्वास है। किन्तु जो लोग अपने को 'देह' मानते हैं, यह विश्वास विवेक-विरोधी है। जिस विश्वास में विवेक का समर्थन न भी हो, परन्तु विवेक का विरोध न हो, तो वह विश्वास साधनरूप मान्य होता है।

हमें ऐसे जीवन की मांग नहीं है, जिसमें रस और सामर्थ्य न हो। हमारी माँग सामर्थ्य, अमरत्व और रस से परिपूर्ण जीवन की है। किसी को अपना मानने में हम सब स्वाधीन हैं। प्रभु हमारे हैं और उनकी आत्मीयता और विश्वास हमारा जीवन है। प्रभु को अपना मानने में कोई कठिनाई या पराधीनता नहीं है। कोई कहे कि हम तो 'अपनी' सत्ता मानते हैं; तो उसमें आत्मरति की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यदि कोई कहे कि हम तो जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं, तो उसमें विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

किसी की दृष्टि से देखा जाए, तो विश्वास, आत्मीयता और प्रेम ही जीवन मालूम होता है। दर्शन-भेद से नाम बदल जाता है। जीवन एक ही रहता है। पहला साधन हुआ-साध्य की सत्ता स्वीकार करना। आत्मीयता और विश्वास जिसमें है, वही तुम्हारा साध्य है। प्रियता से साध्य और साधक दोनों को रस मिलता है।

इसमें कोई भी परिस्थिति बाधक नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति में आत्मीयता और प्रियता प्राप्त कर सकते हैं। किसकी? जिसकी हमें प्यास है।

मानव जीवन किसी कर्म का फल नहीं है, वरन् अनन्त की कृपा-शक्ति से निर्मित है। इस जीवन का आरम्भ किसी की उदारता में निहित है। मिली हुई वस्तु को अपना मान कर व्यक्ति दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है। अपने में जब तक दीनता और अभिमान है, तब तक प्रभु में विश्वास नहीं हो सकता। दीनता और अभिमान मिटेगा, किसी भी वस्तु को अपना न मानने से। विचारशील साधक, प्रभु विश्वासी साधक और भौतिक दर्शन का ज्ञाता-ये तीनों किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानते।

यह देने वाले प्रभु की दयालुता है कि उनके ही सामने व्यक्ति उनकी दी हुई वस्तुओं का दुरुपयोग करते हैं, फिर भी वे वस्तु देना बन्द नहीं करते। ऐसे कृपालु प्रभु को हम अपना नहीं मानते, यह कितनी दुःखद बात है!

यदि आपके पास अपना करके कुछ है, तो आप भगवान् को अपना नहीं कह सकते। यदि आपके पास अपना करके कुछ नहीं हे, तो आप भगवान् को अपना कह सकते हैं, और यही जीवन का सत्य है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ३२

साधक महानुभाव!

वस्तुओं की ममता छोड़ते ही समता आती है, योग होता है, सामर्थ्य आती है, स्वाधीनता आती है, और प्रभु-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। इसका साधन क्या है? जो वस्तुएँ मिली हैं, वे अपनी नहीं हैं। जो वस्तु मिली है, वह अपनी नहीं है-इस स्वीकृति मात्र से निर्विकल्पता आ जाती है। जब हमारी कोई वस्तु व्यक्तिगत है ही नहीं, तो प्रभु हमारे हैं, और अपने हैं- इसको स्वीकार करने में क्या कठिनाई है! प्रभु हमारे हैं और उनमें हमारी प्रियता है, इससे जीवन प्रतिपल सरस होगा। सरस जीवन में कामनाओं की उत्पत्ति होती ही नहीं।

भगवान् के मन की बात पूरी करने के लिए मानव-जीवन मिला था। पर अपने मन की बात पूरी करने लगे, यही हमारी भूल है। प्रतीति इन्द्रियों का विषय है, पर भगवान् इन्द्रियों का विषय नहीं है। भगवान् सबको प्राप्य हैं। पर प्रभु-प्राप्ति की प्यास नहीं है, इसलिए उसे छोड़कर दूसरी वस्तुओं की प्राप्ति का प्रयास करते हैं। सही काम करो, पर उसका फल मत चाहो। जब उसके बदले में प्रभु-प्रेम मिलेगा। कर्म का फल तो स्वतः उसी प्रकार मिलेगा, जैसे कि फलदार वृक्ष को खरीदने पर छाया और हवा अपने आप मिल जाती है।

आज जो मूल बात है वह यह है कि अपने जीवन में यह दो बातें उतार लो-अप्राप्त

जगत् अपना नहीं है। जो वस्तु प्राप्त जैसी मालूम होती है, उसके द्वारा प्रत्येक प्रवृत्ति प्रभु-पूजा बन जाए। प्रेमी को प्रभु-पूजा के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना है। मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करने से प्रभु-प्रेम की प्राप्ति होती है। अपने लिए तप करना भी भोग है। पर प्रभु के लिए झाड़ू लगाना भी पूजा है।

साधन का सार यह है कि साधक साधननिष्ठ होकर साध्य को रस प्रदान करे! तो साधक का जीवन हुआ-साध्य को रस देना। यह नियम है कि जो जिसको उत्पन्न करता है, वह उसके लिए रस-रूप हो जाता है। हमारे साध्य ने हमें उत्पन्न किया है, इसलिए हम उसके लिए रसरूप हैं, इसमें सन्देह नहीं है। जिसने हमें बनाया है और साधन-सामग्री दी है, क्या उसे हमारी पूजा रस नहीं देगी? हमारा जीवन प्रभु ने अपने रस सम्पादन के लिए बनाया है।

इसमें दिन-रात यह सजगता बनी रहे कि प्रभु को हमसे रस मिलता रहे, यही हमारा जीवन है। हे प्रभु! तुम्हारी इच्छा पूरी हो! जब आपका अपना मन ही नहीं है, तो बन्धन कैसा? बन्धन और मोक्ष का प्रश्न उन्हीं के सामने है, जिन्होंने सुने हुए प्रभु पर अपने को न्यौछावर नहीं किया तथा जिन्होंने विवेकपूर्वक वस्तुओं की ममता का त्याग नहीं किया। जिस किसी ने सुने हुए प्रभु पर अपने को न्यौछावर कर दिया है और विवेकपूर्वक वस्तुओं की ममता का त्याग कर दिया है, उसके सामने बन्धन और मोक्ष का प्रश्न ही नहीं है।

भाई! मन को अपना मत मानो! अपने मन को चाहे जिसे दे दो! तब स्वतः शक्ति, मुक्ति और भक्ति मिलेगी। बेमन का जीवन संकल्प-विकल्प तथा निःसंकल्पता-इन तीनों से अतीत है। बेमन के जीवन की विभूतियाँ हैं- पराधीनता का अभाव, स्वाधीनता, अमरत्व और सरसता। जिसने हमें बनाया है, उसने हमें यह स्वाधीनता भी दी है कि हम दिव्य-चिन्मय जीवन प्राप्त कर सकते हैं। वस्तु की चाह भूल-जनित है। यह तुम्हारा वास्तविक जीवन नहीं है। इस चाह-रूपी भूल को मिटा सकते हो। इसका दायित्व तुम पर ही है, किसी और पर नहीं। इसको कठिन मत मानो। मन उस अनन्त की अनुपम विभूति है। आप उसकी निन्दा भी मत करो। क्रोध नहीं आएगा, तो विस्मृति का दोष नहीं होगा। पराए कर्त्तव्य की स्मृति में अपने कर्त्तव्य की विस्मृति है।

कोई एक साधन सहजभाव से अपना लीजिए। श्रमरहित साधन तब होगा, जबकि पहले साधन का निर्माण कर लिया जाए। साधन निर्माण के लिए तीन बातों का अपनाना अनिवार्य है (१) सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था-श्रद्धा और विश्वास तथा उन्हीं के होकर रहना। (२) अपने दुःख का कारण किसी और को न मानना (३) किसी से सुख की आशा न करना।

अपनी निर्बलता का ज्ञान हो और अपने को निर्बल मानते हों, तो अनन्त की निर्भरता स्वीकार करनी चाहिए। निर्भर हो जाने पर अनन्त से आत्मीयता स्वतः हो जाती है। तब जीवन में असफलता के लिए स्थान ही नहीं

रहता। जीवन में दो ही बातें हो सकती हैं, चाहे वस्तुओं की ममता का त्याग अथवा अनन्त की निर्भरता तथा प्रियता। अनन्त की निर्भरता तथा प्रियता से निर्बल-से-निर्बल भी अनन्त से बल प्राप्त कर सकता है।

जीवन में कठिनाई तब जाती है, जब हम प्राप्त बल के द्वारा सुख भोग करने लगते हैं। संसार हमारे मन का हो जाए, भगवान् हमारे मन के हो जाएँ-यही सबसे बड़ी निर्बलता है। मन की बात पूरी न होना ता निर्बलता है ही, पर मन की बात पूरी हो जाना बड़ी भारी निर्बलता है, कारण कि जिन साधनों पर हम आश्रित हो जाते हैं। वे साधन ऐसे नहीं हैं कि जिनसे हमारा नित्य सम्बन्ध हो। उन साधनों के आश्रित होने में पराधीनता है। इस पराधीनता का ज्ञान जिसको हो जाता है तथा जो पराधीनता के दुःख से दुखी हो जाता है, उसका सम्बन्ध वस्तुओं से नहीं रहतां जब जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं होना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती।

किसी एक निर्बलता के आने से अनेक निर्बलताएँ आ जाती हैं और मौलिक निर्बलता के मिटने से सारी निर्बलताएँ मिट जाती हैं। पराधीनता का नाश किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति के आश्रय से नहीं हो सकता। इससे साफ मालूम होता है कि किसी वस्तु, व्यक्ति परिस्थिति का सम्बन्ध अपने लिए नहीं है अथवा उनसे नित्य सम्बन्ध नहीं है। अपने में इनसे अतीत के जीवन की माँग है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो स्वयंप्रकाश हो, इसलिए वस्तु जगत् के काम आएगी, शरीर जगत् के काम आएगा, क्योंकि शरीर और वस्तु जगत् की जाति के हैं। आप सभी साधननिष्ठ बनें, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ३३

साधक महानुभाव!

सत्संग का अर्थ है कि अपना जाना हुआ असत् निकल जाए। सबसे बड़ा असत् जो जीवन में ठहरा हुआ है वह है-शरीर की ममता। इस पर विचार करके देखिये कि शरीर आपके किस काम आएगा। उसकी ममता करने से वह पराधीनता ही देगा, इस बात को हम सब जानते हैं। फिर भी हम शरीर को अपना मानते हैं, उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं, यह बड़ी भारी पराधीनता है। यह पराधीनता आई है अविवेक से, भूल से, विस्मृति से और असत् के संग से। हम पराधीनता में ही जीवन-बुद्धि रखते हैं।

भगवान् के हम भक्त हो जाएँ, जगत् से अतीत का जीवन प्राप्त हो जाए, इसमें प्रसन्नता नहीं अनुभव करते। मन की बात पूरी करने में जीवन-बुद्धि रखते हैं। यह जीवन का सबसे काला समय है।

दिन भर हम करते क्या हैं? संकल्प-पूर्ति में लगे रहते हैं। विचार करने पर मालूम

होगा कि पराधीनता सबसे बड़ी निर्बलता है जीवन में। उसकी उत्पत्ति अविवेक से हुई है। निज-विवेक से यह स्पष्ट मालूम होता है कि पराधीनता गुण नहीं, दोष है। कामनापूर्ति का प्रलोभन ही पराधीनता से मुक्त कराती है। मैं जो चाहता हूं सो हो जाए, यही पराधीनता है, यही निर्बलता है।

आज का गुरु इतना पराधीन हो गया है कि यदि शिष्य बात न माने, तो गुरु बैचेन हो जाता है; पर आदर, मान और पूजा चाहता है। इतनी दयनीय दशा हो गई है! कारण, कि हम कामना-पूर्ति चाहते हैं और कामना-पूर्ति के लिये किसी-न-किसी वस्तु के साथ अपने को तद्रूप कर लेते हैं।

वस्तु ने हमसे कभी सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया। हमने ही उससे ममता कर ली है। आपको ज्ञान मिला है। उस ज्ञान से यह सिद्ध है कि तुम्हारा सम्बन्ध वस्तु से नहीं है। जीवन का यह प्रश्न है कि तुम क्या हो? पर इतना तो अनुभव-सिद्ध है कि तुम वस्तु नहीं हो। यह पराधीनता जो जीवन में आ गई है कि संसार और परमात्मा मिलकर हमारे मन की बात पूरी कर दें अर्थात् दूसरे लोग हमारे काम आ जाएँ, तो जीवन में पराधीनता, जड़ता और अभाव रहेगा ही। भाई, परमात्मा ने हमें अपने काम आने के लिए बनाया है, हम उनके काम आएँ। यदि यह स्वीकार कर लिया जाए, तो जीवन में पराधीनता नहीं रहेगी। परमात्मा ने हमें और आपको अपने खेलने के लिये बनाया है। अगर हम उनसे काम लेना चाहते हैं तो यह हमारी निर्बलता है। इस निर्बलता को मिटाने के लिए हमें परमात्मा के निर्भर होना पड़ेगा। जिसने हमें उत्पन्न किया है, यदि हमारा जीवन उस अनन्त के निर्भर हो जाए, तो इसमें हमारी कोई विशेषता नहीं है। वे जैसा चाहें हमारा उपयोग करें। इस निर्भरता में उनसे आत्मीयता होगी और प्रियता की अभिव्यक्ति होगी।

जिसने हमारा-आपका निर्माण किया है, उसने हमें यह स्वाधीनता भी दी है कि हम दिव्य-चिन्मय जीवन को प्राप्त कर सकते हैं। वस्तु-युक्त जीवन तुम्हारा वास्तविक जीवन नहीं है। वस्तु की चाह तुम्हारी उपजाई हुई भूल है, उसे तुम मिटा सकते हो। इसका दायित्व तुम पर ही हे, और किसी पर नहीं। इसे कठिन काम मत समझो। यदि इसे कठिन मानोगे, तो वर्तमान में कभी सिद्धि नहीं मिलेगी।

मन उस अनन्त की विभूति है। आप उसकी निन्दा मत करो। किसी को अपने दुःख का कारण मत मानो और सिद्धि में सन्देह मत करो। फिर क्रोध नहीं आएगा और अपने स्वरूप की विस्मृति नहीं होगी, अपने कर्त्तव्य की विस्मृति नहीं होगी। किसी भी एक साधन को आना लीजिए। ऐसा श्रमरहित साधन कब होगा? जब कि पहले सत्संग द्वारा साधन-निर्माण करें। सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था, उन्हीं का होकर रहना, अपने दुःख का कारण किसी और को न मानना और किसी से सुख की आशा न करना साधन है। इस सत्य को स्वीकार करने पर सफलता अवश्यम्भावी है, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! अकिंचन
शरणानन्द

## ३४

सत्संग प्रेमी साधक महानुभाव!

प्रार्थना प्रत्येक प्राणी की निधि है। प्रार्थना के बिना अपनी माँग की जानकारी नहीं होती। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसमें साध्य और साधन की माँग न हो। अर्थात् सभी में कुछ-न-कुछ माँग है। और जिसमें माँग है, वहीं प्रार्थी है। प्रार्थी और प्रार्थ्य अर्थात् माँगने वाला और देने वाला, दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है और परस्पर में रस का आदान-प्रदान है। प्रार्थना का दार्शनिक अर्थ क्या है? जिसके जीवन में प्रार्थना जगती है, उसी में स्तुति और उपासना भी आती है। स्तुति का अर्थ है, किसी की महिमा में आस्था-श्रद्धा करना। उपासना का अर्थ है, किसी से स्थायी सम्बन्ध स्थापित करना। भौतिकवादी की प्रार्थना चिर-शान्ति और विश्व प्रेम के लिए, अध्यात्मवादी की प्रार्थना आत्मरति के लिए तथा ईश्वरवादी की प्रार्थना प्रभु को रस देने के लिए होती है।

सबसे आसान काम है, प्रभु की प्राप्ति। जो साधन कर सकते हो, उसी से परमात्मा प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु हम चाहते हैं, संसार का भोग। भोग करने वाले को परमात्मा कभी नहीं मिलता। जो भगवान् को चाहता है, उससे भगवान् कभी अलग हुए ही नहीं। पराधीनता का ही दूसरा नाम भोग है। जिसने प्राणों के रहते ही भोग-वासनाओं को त्याग दिया, उसका तीनों शरीरों से सम्बन्ध -विच्छेद हो जाता है। यही मोक्ष है। इसी से चिर-शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त होती है।

प्रेम और जिज्ञासा की जागृति सुख-लोलुपता तथा दुःख के भय के त्याग से स्वतः होती है। हमारे और प्रभु के बीच दूरी केवल विस्मृति के कारण भासती है, वास्तव में है नहीं। विस्मृति का नाश स्मृति से होता है, किसी अभ्यास से नहीं, राग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति और योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति युगपद् होती है। योग में बोध और बोध में प्रेम समाहित है। योग की माँग सबल होने पर भोग की रुचि नाश होती है, अथवा भोग की रुचि नाश होने पर योग की प्राप्ति होती है। जो नहीं है, उससे नाता तोड़ने पर, जो है, उससे नाता स्वतः हो जाता है। जो है, उसी को अपना मानो और किसी को अपना मत मानो, तो 'है' से सम्बन्ध हो जाता है, 'नहीं' से सम्बन्ध तोड़ने के लिए 'नहीं' को पसन्द मत करो, 'नहीं' का समर्थन या विरोध भी मत करो अर्थात् नहीं से असहयोग करो।

प्रत्येक मानव साधक है, पर आत्मा और शरीर साधक नहीं है। आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा और अनात्मा की कामना जिसमें है, वही मानव है। भूल जाने हुए की होती है। जो भूलता है, वही अपनी भूल का अनुभव कर, उसे मिटा सकता है। इसके लिए उसे विवेक मिला है। विवेक में ही कर्त्तव्य-विज्ञान

निहित है, जो बल के सदुपयोग की प्रेरणा देता है। बल का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान का मूर्तिमान चित्र है, जो राग रहित कर योग प्रदान करता है। योग कर्त्तव्य-विज्ञान का उत्तर पक्ष है। योग से अध्यात्म-विज्ञान में प्रवेश होता है।

जिसने ज्ञानपूर्वक अनुभव किया कि इतने बड़े संसार में मेरा करके कुछ भी नहीं है, उसी ने स्वाधीनता पाई। स्वाधीनता का अर्थ है, 'स्व' अर्थात् अपने के अधीन। आस्तिक प्रभु की रजा में राजी रहता है, अतः वह भी स्वाधीन है। किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति के आश्रित रहना स्वाधीनता नहीं, घोर पराधीनता है।

बल, विवेक या ज्ञान और विश्वास-यह तीन अनुपम शक्तियाँ भगवान् ने आपको दी हैं। आप बल के सदुपयोग से जगत् के काम आ सकते हैं, विवेक के आदर से अपने काम आ सकते हैं और विकल्प-रहित विश्वास से सर्व-समर्थ प्रभु के काम आ सकते हैं। इस प्रकार आपका जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

प्रभु को अपना मानने से प्रभु की प्रीति, प्रभु के नाते संसार के काम आने से उदारता और किसी को भी अपना न मानने से स्वाधीनता मिलेगी। उदार, स्वाधीन और प्रेमी होने से प्रभु को भी रस मिलता है। इन तीनों के समावेश का नाम ही मानव या साधक है। उदारता, स्वाधीनता और प्रेम ही साधन-तत्त्व हैं।

आप मुक्ति और भक्ति को पसन्द नहीं करते, यही बन्धन का कारण है। योग माने, सब ओर से हट कर एक में लगना, बोध माने, सभी पसन्दगियों को एक पसन्दगी में विलीन करना और प्रेम माने केवल किसी एक को ही अपना मानना और उससे भी कुछ न चाहता। जैसे, जहाँ भोग है, वहाँ मोह और आसक्ति है, वैसे ही जहाँ योग है, वहाँ बोध भी है और जहाँ बोध है, वहाँ प्रेम भी है।

आप सभी मुक्त और भक्त हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ३५

प्राण प्यारे के प्रिय जनो!

सविनय सेवा में निवेदन है कि जो सदैव होने से अभी और सभी का होने से अपना और सर्वत्र होने से अपने में मौजूद है, वही समर्थ है, वहीं ईश्वर है और वही प्रेमियों का प्राणेश्वर है। उसी को साधन तत्त्व अर्थात् गुरु तत्त्व एवं साध्य तत्त्व भी कहते हैं। वह गुरु तत्त्व साध्य का ही प्रतिरूप है। साध्य की कृपा मूर्ति ही गुरु मूर्ति है, यह प्रेमीजनों का ही अनुभव है। साधक की गुरु तत्त्व से ही अभिन्नता होती है और गुरु तत्त्व सर्वदा ही साध्य तत्त्व से अभिन्न है। निज-ज्ञान-गुरु के प्रकाश में अनुभव करो कि प्रतीति का प्रकाशक और उत्पत्ति का आधार जो है वहीं अनादि, अनन्त, अविनाशी तत्त्व है। उसी से साधकों की जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध है और वे ही सबके अपने हैं। यह वास्तविकता

सद्गुरु-वाणी के द्वारा ही स्वीकार की जाती है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति स्वतः होने लगती है। अतः जिन भागवतजनों ने गुरुमुख द्वारा उसे, जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि के द्वारा देखा नहीं, अपितु गुरुवाणी के द्वारा स्वीकार किया है, वे धन्य हैं। गुरु तत्त्व के बिना अनन्त, अगोचर, प्राणेश्वर से आत्मीय सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इस दृष्टि से गुरु तत्त्व ही एकमात्र श्रीहरि के मिलने में हेतु है।

ज्ञान का प्रकाश दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है और साधक के सर्व दुःखों की निवृत्ति हो सकती है। किन्तु नित-नव रस की उपलब्धि के लिए तो आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक गुरुवाणी द्वारा ही 'उसे' स्वीकार किया जाता है, जो सभी का सब कुछ हैं। आत्मीय सम्बन्ध ही एकमात्र अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की अभिव्यक्ति में हेतु है। यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सद्गुरु-वाणी को अपनाया है। गुरु तत्त्व की प्राप्ति होने पर ही भगवत्त्व की प्राप्ति होती है। यह भगवत्त्व-प्राप्त साधकों का अनुभव है। निज ज्ञान के आदर से साधक चिरशान्ति, जीवन-मुक्ति प्राप्त कर सकता है। परन्तु भक्तितत्त्व की प्राप्ति में तो एकमात्र सद्गुरु-वाणी में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास की अचूक उपाय है। यह जीवन का सत्य है।

हमें अपने सम्बन्ध में सजीवता लानी चाहिए। वह तभी सम्भव होगी, जब हम अपने में अपने परम प्रेमास्पद को स्वीकार कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाएँ। सर्व समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से अपने विश्वासी जनों को अपनी आत्मीयता प्रदान करें, जिससे वे पावन प्रीति पाकर कृतकृत्य हो जाएँ, यही मेरी सद्भावना है। विवेक ही ज्ञान गुरु है। विवेक में अपने बनाए हुए दोष का ज्ञान और उसकी निवृत्ति का उपाय विद्यमान है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब विवेकदृष्टि का उपयोग केवल अपने वर्तमान जीवन पर ही किया जाए, किसी अन्य पर नहीं। विवेक से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इतना ही नहीं, समस्त दृष्य किसी का प्रकाश है। वस्तु आदि के परिवर्तन का ज्ञान नित्य जीवन की आवश्यकता जाग्रत करता है तथा प्रकाश प्रकाशक की ओर गतिशील होने की प्रेरणा देता है। नित्य जीवन की आवश्यकता अनित्य जीवन की कामनाओं को खा लेती है। कामनाओं की निवृत्तिमें निर्दोषता और आवश्यकता की पूर्ति में नित्य जीवन की प्राप्ति निहित है।

निर्दोषता आते ही राग-द्वेष का अन्त हो जाता है। राग-द्वेष रहित होते ही इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि अपने प्रकाशक में विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से समस्त दृश्य उस अनन्त का प्रकाश है। प्रकाश में सत्ता प्रकाशक की ही होती है। अतः प्रकाश और प्रकाशक का विभाजन नहीं हो सकता, अपितु प्रकाश अपने प्रकाशक से अभिन्न हो सकता है। वास्तव में यही नित्य योग है।

नित्य योग संयोग की दासता और वियोग के भय से मुक्त करने में समर्थ है, जिसके होते ही चिर शान्ति, अमरत्व एवं प्रीति की जागृति स्वतः हो जाती है। अथवा यों कहो कि प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है।

इस प्रकार विवेक की दृष्टि साधन का आरम्भ है और दृष्टि का अन्त अथवा प्रीति की दृष्टि साधन का अन्त है। यदि प्रीति समस्त दृश्य की ओर प्रवाहित हो, तो उसका नाम विश्व-प्रेम है, यदि 'स्व' की ओर प्रवाहित हो, तो उसे आत्म-रति कहते हैं। और वही यदि अनन्त की ओर प्रवाहित हो, तो उसी का नाम प्रभु-प्रेम हो जाता है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ३६

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय साधक महानुभाव!

संयोग-काल से ही वियोग आरम्भ हो जाता है। संयोग-काल में यदि सेवा नहीं की, तो भोग होगा और परिणाम में रोग, शोक और आशक्ति मिलेगी, जो बन्धन का हेतु है। यदि सेवा की, तो सर्व दुःखों की निवृत्ति, स्वाधीनता और अमर जीवन मिलेगा।

संयोग और नित्य-योग में एक बड़ा भेद है। संयोग उसी से होता है, जिससे हमारी जातीय और स्वरूप की एकता नहीं है तथा जिसका वियोग भय उत्पन्न करता है। जबकि नित्य-योग उसी से होता है, जिससे जातीय तथा स्परूप की एकता है एवं उससे कभी वियोग भी नहीं होता। उससे देश-काल की दूरी भी नहीं है। जिससे केवल मानी हुई एकता है, जातीय नहीं, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने में जो भय प्रतीत होता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि हमें विश्वास नहीं रहा है कि वस्तु, व्यक्ति, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत भी जीवन है।

निज-विवेक का प्रकाश यह स्पष्ट करता है कि वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि परिवर्तनशील तथा अनित्य हैं। परन्तु उनका प्रकाशक ज्यों-का-त्यों है। हम परिवर्तनशील और अनित्य की आसक्ति में आबद्ध होकर अनन्त से विमुख हो जाते हैं। यह वास्तव में प्राप्त विवेक का अनादर है। मानव-जीवन में विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नहीं है।

हमारा नित्य-योग उसी से हो सकता है, जो सर्वत्र और सर्वकाल में हो तथा जिसमें किसी प्रकार का अभाव न हो, अपितु जो सभी अभावों का अभाव करने में समर्थ हो। जो सर्वकाल में है वह वर्तमान में भी है। अतः नित्य-योग की प्राप्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसे भविष्य पर छोड़ना अपना सर्व नाश करना है। अनित्य के वियोग में ही नित्य-योग की सामर्थ्य निहित है। परिस्थितियों के सदुपयोग में ही परिस्थितियों से असंग होने की योग्यता विद्यमान है।

जब हम अपने को देह मान लेते हैं, तो देह की उपस्थिति में ही हमें अपना अस्तित्व

भासने लगता है। उसी प्रकार जितनी ऐसी मान्यताएँ हैं जिनकी अपने में अभेद-भाव से स्थापना कर ली जाती है वे सभी अपने अस्तित्व के रूप में मालूम होती हैं। फिर हम अपने को सीमित मानकर अनेक प्रकार की ममताओं को उत्पन्न कर लेते हैं। क्योंकि जो सीमित है, उसे अपने को जीवित रखने के लिए वस्तु, व्यक्ति आदि की आवश्यकता हो जाती है। फिर वह उनकी दासता में आबद्ध हो जाता है तथा उनके नष्ट होने पर प्राणी क्षुब्ध होने लगता है। वस्तु-व्यक्ति आदि के बने रहने पर अपने को अभिमानी बनाता है और मिटने पर दीन तथा अनाथ मानने लगता है। इस प्रकार वह दीनता तथा अभिमान की अग्नि में निरंतर दग्ध होता रहता है।

अहं और मम का सम्बन्ध ही भोग है, जो रोग और शोक को उत्पन्न करता है। भोग से विमुख होकर योग के सम्मुख होने के लिए यह आवश्यक है कि जिनसे हमारी ममता है, उन्हें जो देना है वह दे दिया जाए और लेने की आशा का त्याग कर दिया जाए। इससे भोग योग में बदल जाता है। भोग जीवन की अस्वाभावित अवस्था है, जबकि योग स्वाभाविक तथा अविनाशी है। भोग प्राणी को जड़ता, परतन्त्रता, शक्तिहीनता तथा अभावों में आबद्ध करता है। योग सामर्थ्य, चिन्मयता स्वाधीनता और अमरत्व की ओर गतिशील करता है। इस दृष्टि से भोग का योग में परिवर्तन करना अति आवश्यक है।

जिनसे ममता है, उनके अधिकार की रक्षा करने से उनके राग की निवृत्ति हो जाती है, तथा अपने अधिकार के त्याग से उनसे असंगता हो जाती है। राग-रहित होकर जब हम सब ओर से विमुख हो जाते हैं, तब नित्य-योग स्वतः प्राप्त होता है। दूसरों के अधिकार की रक्षा के बिना मानव जड़ता से विमुख होकर चिन्मय जीवन में प्रवेश नहीं कर पाता और अपने अधिकार के त्याग के बिना विस्मृति का नाश नहीं होता। क्रोध से विस्मृति की उत्पत्ति होती है, अपने स्वरूप की विस्मृति से ही हम अपने को देह मान लेते हैं। कर्त्तव्य की विस्मृति से ही हम अकर्त्तव्य में प्रवृत्त होते हैं। प्रभु की विस्मृति से ही हम नाशवान में आसक्त होते हैं। इस दृष्टि से विस्मृति का नाश आवश्यक है, जो अपने अधिकार के त्याग से ही सम्भव है।

अधिकार-लालसा का जन्म कब होता है? जब हम अपने को देह मान लेते हैं, जो कि अविवेक सिद्ध है। अतः देह की ममता का त्याग कर, जब मानव लेना बन्द कर देता है और सर्वस्व देकर देने से मुक्त हो जाता है, जब वह दिव्य-चिन्मय प्रीति से अभिन्न हो जाता है। फिर वह प्रीति होकर अनेक रूपों में, अनेक परिस्थितियों में अपने प्रीतम को ही लाड़ लड़ाता है। जब प्रीति से अभिन्नता हो जाती है, तब समस्त भौतिक जगत् उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति प्रतीत होता है। प्रेम के साम्राज्य में उन्हीं का प्रवेश होता है, जो विवेकपूर्ण कर्म, चिन्तन और स्थिति से अपने को असंग कर लेते हैं। आप सभी प्रीति के साम्राज्य में प्रवेश पा जाएँ, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

## ३७

मेरे निज स्वरूप परमप्रिय साधक महानुभाव!

मानव-जीवन क्या है? कर्त्तव्य का प्रतीक। हमारी जिम्मेदारी है कि हम अपने साथ, जगत् के साथ और प्रभु के साथ कर्त्तव्य का पालन करें। साधक को कर्म-सामग्री मिली है और कर्त्तव्य-पालन की स्वाधीनता मिली है। अपने साथ अपना कर्त्तव्य है कि हम अपने को बुरा न बनाएँ, जगत् के साथ हमारा कर्त्तव्य है कि हम जगत् को बुरा न समझें। और प्रभु के साथ हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनको अपना मानें। हम इन तीनों में से एक भी नहीं करते, फिर चाहते हैं साधक होना। यह नहीं हो सकता।

हम प्रभु की चीज को अपना मानते हैं। इस बेईमानी से चित्त कैसे शुद्ध होगा? चित्त-शुद्धि के लिए किसी भी वस्तु को अपना मत मानो। त्याग द्वारा जीवन अपने लिए, सेवा द्वारा जीवन जगत् के लिए और प्रेम द्वारा जीवन भगवान् के लिए उपयोगी हो जाता है। त्याग के द्वारा हम चित्त को शुद्ध कर सकते हैं। त्याग नहीं करेंगे, तो राग रहेगा। उसके परिणाम में अभाव, पराधीनता, जड़ता, सुख और दुःख-इन पाँच फलों को भोगना पड़ेगा। और फिर जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध न होगा।

सेवा का व्रत ले लीजिए, तो जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाएगा। आप अपने द्वारा स्वीकार कीजिए कि प्रभु मेरे अपने हैं। प्रभु में विश्वास करने पर उनसे आत्मीयता हो जाती है और फिर प्रियता उदित होती है। प्रियता से प्रभु को रस मिलता है, अर्थात् प्रियता के रस से आनन्दघन भी आनन्दित होते हैं।

त्याग का अर्थ है-किसी भी वस्तु को अपना न मानना; स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों से सम्बन्ध न रखना; कर्म, चिन्तन और स्थिति-किसी भी अवस्था में जीवन-बुद्धि न रखना, किसी का भी आश्रय न लेना और किसी से सुख की आशा न करना।

क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारा जीवन किसी का प्रेम हो जाए? यदि चाहते हो, तो उसकी सेवा करो, पर तुम कुछ न चाहो। प्रेम वह तत्त्व है, जिसका ह्रास नहीं होता, लेने पर तृप्ति नहीं होती, देने पर घटता नहीं। अर्थात् प्रेम-तत्त्व का रस क्षति, पूर्ति और निवृत्ति से रहित है। वह नित-नव वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

शान्ति का सम्पादन सत्संग से होता है। सत्संग में ही साधक के पुरुषार्थ की परावधि है। सत्संग का अर्थ है, अविनाशी का संग अर्थात् जो 'है' उसका संग। साधक को अपनी भूल का ज्ञान शान्ति-काल में ही होता है। चित्त में कोई विकार नहीं है, अविनाशी में भी कोई विकार नहीं है। फिर विकार किसमें है? विकार कहो या दोष। दोष अनेक नहीं हैं, किन्तु परिस्थिति-भेद से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। वह मूल दोष क्या है? सुख का प्रलोभन और दुःख का

भय। सुख के न रहने पर भी सुख का प्रलोभन रह जाता है और दुःख से पूर्व ही दुःख का भय आक्रमण करने लगता है। सुख-लोलुपता हमें असमर्थ बना देती है। दुःख के भय से सुख-लोलुपता पुष्ट होती है। सुख-लोलुपता का नाश करने के लिए ही दुःख आता है। दुःख का न आना ही सभी को अभीष्ट है। परन्तु फिर भी दुःख क्यों आता है, इस पर मानव विशेष ध्यान नहीं देता, अपितु दुःख से भयभीत हो जाता है। जो अपने आप आता है, वह मंगलमय विधान से आता है। विधान किसी के लिए अहितकर नहीं होता, अपितु सभी के लिए हितकर होता है। परन्तु यह बात वे ही जान पाते हैं, जो अपनी रुचि के विरुद्ध होने पर भी विधान का आदर करते हैं।

शान्ति-सम्पादन के समय जो व्यर्थ चिन्तन होता है, उसका कारण 'नहीं' का राग है। उसको मिटाने के लिए उसका समर्थन मत करो, उसका विरोध भी मत करो और उससे तादात्म्य भी मत करो। उससे सुख मत लो और भयभीत न हो। उससे केवल असहयोग करो। समर्थन और विरोध से सम्बन्ध टूटेगा नहीं।

व्यर्थ चिन्तन के नाश होने पर सार्थक चिन्तन उदय होगा, जो अखण्ड स्मृति में हेतु है। अखण्ड स्मृति दृश्य नहीं है। अखण्ड स्मृति में चेतना है, प्रियता है। उसका नाश नहीं होता। उसके लिए शरीर आदि की आवश्यकता नहीं है। स्मृति 'है' की होती है। स्मृति प्रियता, और प्राप्ति के अर्थ में आती है। यही जीवन की पूर्णता है। अतः अखण्ड स्मृति की जागृति कर कृतकृत्य हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ३८

मेरे निज स्वरूप साधक महानुभाव!

यह जीवन का सत्य है कि जो कभी भी अलग होगा, वह अभी भी अलग है। और जो कभी मिलेगा, वह अभी भी मिला हुआ है। इस सत्य को अपनाने पर परमात्मा अपने में ही पाओगे। इसका अनुभव कैसे हो? इसका अचूक अनुपम उपाय है, अचाह हो जाना। अचाह होने का फल है, अप्रयत्न होजाना। अप्रयत्न होते ही अपना परमात्मा अपने में ही अनुभव हो जाएगा। इस दृष्टि से परमात्मा के सिवाय और कोई अपना नहीं है।

शरीर को अपना मानने से लोभ, मोह, आसक्ति आदि विकार उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवन सभी के लिए अनुपयोगी हो जाता है। अतः इस भूल का अन्त करना अनिवार्य है। शरीर अपना है भी नहीं। वह तो संसार-सागर की एक नन्ही-सी बूँद है। उसे संसार की सेवा में लगाना ही उसका सदुपयोग है। ईश्वरवादी ईश्वर का काम समझकर संसार की सेवा करता है, अध्यात्मवादी अपनी ही एक अवस्था मान कर सेवा करता है। इस प्रकार शरीर और मिली हुई वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्य संसार की सेवा-सामग्री है और कुछ नहीं।

भौतिकवाद का अर्थ यह नहीं है कि खाओ, पीओ, मौज करो। भौतिकवाद का अर्थ है कि योग विज्ञान की प्राप्ति होजाए। योग में बड़ी अलौकिक शक्तियाँ आती हैं। परन्तु उनका सदुपयोग लोक-हित में ही होना चाहिए। तभी अध्यात्म-जीवन में प्रवेश होगा। अध्यात्म विज्ञान ही बोध है और प्रेम आस्तिक विज्ञान है। योग, बोध, प्रेम में इतनी एकता है कि पूर्ण योग होने पर बोध और बोध प्राप्त होने पर प्रेम अवश्य प्राप्त होता है।

योग की प्राप्ति तीन उपायों से होती है- (१) धर्मात्मा होने से (२) अचाह होने से (३) शरणागत होने से।

इन तीनों उपायों में-से किसी भी एक को अपनाने पर पूर्ण योग प्राप्त हो जाता है। सुखमय परिस्थिति में धर्मात्मा होकर योग प्राप्त किया जा सकता है। दुःखमय परिस्थिति में अचाह होकर योग प्राप्त करें। यदि जीवन में विश्वास-पक्ष प्रबल है, तो शरणागत होकर योग प्राप्त कीजिए। योग से शक्ति प्राप्त होगी, जो बोध और प्रेम की ओर गतिशील करेगी। योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति ही मानव-जीवन का लक्ष्य है।

सेवा करने से हमें अपने को जानने की और प्रभु को अपना मानने की सामर्थ्य आती है। सेवा करने से अचाह और निर्मम होने का भी बल आता है। सेवक के पास अपना कुछ नहीं होता। उसे रागरहित होने के लिए केवल सेवा करना ही अभीष्ट है। चाह और प्रयत्न जब तक जीवन में रहेंगे, तब तक देह के साथ मिले रहोगे और पराधीनता में आबद्ध रहोगे तथा जीवन-मरण के चक्कर में घूमते रहोगे, मुक्ति नही मिलेगी। इसलिए यदि करो, तो सेवा करो। नहीं तो विश्राम में रहो। विश्राम आलस्यया आकर्मण्यता नहीं है। विश्राम शक्ति और शान्ति का स्त्रोत है।

सामर्थ्य ओर ज्ञान के अनुरूप दूसरों के संकल्प पूरा करना सेवा कहलाती है। इसी को आवश्यक कार्य भी कहते हैं। सेवा के लिए निर्विकार होना आवश्यक है। इसके लिए आत्म-निरीक्षण करना तथा अपने जाने एवं किए हुए दोषों का त्याग अनिवार्य है। पर-दोष-दर्शन के दोष से भी बचना आवश्यक है।

हर सुख का भोग एक भयंकर दुःख में आबद्ध करता है। यदि यह बात समझ में आ जाए, तो सुख-भोग से अरुचि हो जाए और सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जाए। सर्व दुःखों की निवृत्ति का अर्थ है, परमानन्द की प्राप्ति।

प्रभु ने मानव-जीवन का निर्माण इसलिए किया है कि मानव सुख की दासता तथा दुःख के भय से रहित होकर सदा-सदा के लिए अभय और अमर हो जाए। जो उस जीवन को पसंद करता है, उसके यह अमर जीवन अवश्य प्राप्त होता है। उससे हमें निराश नहीं होना चाहिए। जो नहीं है, उसे पसन्द कर लेने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं होती। पर जो है, उसको प्राप्त करने का मुख्य उपाय है, केवल उसे ही पसन्द करना। आज दुःख के साथ कहना पड़ता है कि केवल भगवान् पसन्द कहाँ है? यदि हम केवल भगवान् को ही पसन्द करें,

उन्हीं से सम्बन्ध रखें और उन्हीं के होकर रहें, तो भगवान् की हिम्मत नहीं है कि वे हमें न अपनाएँ। भगवान् आज भी हमारे-आपके लिए वैसे ही है, जैसे मीरा जी आदि भक्तों के लिए थे।

हाय! हाय!! अब भी यही पसन्द करते रहेंगे कि रुचिकर भोजन मिले, शरीर सदा बना रहे, अनुकूलता बनी रहे और प्रतिकूलता न आए! आपको प्राणों के रहते ही स्वाधीन, अमर जीवन प्राप्त करना है। इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ३९

मेरे निज स्वरूप साधक महानुभाव!

यह जीवन का सत्य है कि जो कभी अलग होगा वह अब भी अलग है और जो कभी मिलेगा वह अब भी मिला हुआ है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और अवस्था सदैव हमसे अलग हैं और प्रभु नित्य प्राप्त है। वह कभी अलग है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। क्यों? उसी की हम सब अभिव्यक्ति हैं। हम से वह दूर नहीं है। केवल उससे विमुखता हो गई है। विमुखता की निवृत्ति एकमात्र मूक-सत्संग से होती है। मूक-सत्संग निर्मम, निष्काम और अचाह होने से सिद्ध होता है।

निर्मम तथा निष्काम होने में प्रत्येक मानव सदैव स्वाधीन है। कारण कि ममता और कामना का त्याग करने की स्वाधीनता मानव मात्र को जन्मजात प्राप्त है। यह अनुभव की मिली हुई वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, मानव को निर्मम बना देता है। इस निज अनुभव के अनादर से ही ममता उत्पन्न होती है। ममता के कारण ही शरीरादि वस्तुओं से तादात्म्य होने पर कामनाओं का जन्म होता है। कामनाओं की पूर्ति और अपूर्ति ही मानव को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध करती है। दासता तथा भय किसी को भी अभीष्ट नहीं है। किन्तु प्रमाद-वश मानव अपने को भय, चिन्ता तथा नीरसता में आबद्ध कर लेता है। यही व्यक्तिगत जीवन की असफलता है। इस असफलता का अन्त हो सकता है। परन्तु इसके लिए प्रत्येक मानव को मिले हुए की ममता तथा देखे हुए की कामना का त्याग करना आवश्यक है। मिले हुए का दुरुपयोग न करने से कर्त्तव्यपरायणता और मिले हुए की ममता के त्याग से असंगता स्वतः अभिव्यक्त होती है। उसके पश्चात् अचाह होने की सामर्थ्य आती है।

कर्त्तव्यपरायणता से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और असंगता से सभी परिस्थितियों से अतीत दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता स्वतः होती है, जिसके होते ही अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता जाग्रत होती है, जो वास्तविक जीवन है। अतः वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए निज अनुभव का आदर करते हुए प्रत्येक मानव को निर्ममता, निष्कामता तथा असंगता को अपनाना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से ही साध्य है।

अहंकृति-रहित होने से असत् का त्याग तथा सत् का संग स्वतः हो जाता है।

अहंकृति रहित होने के लिए वर्तमान कार्य को लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए फलासक्ति को छोड़कर पूरा करना है तथा अनावश्यक कार्य का त्याग करना है। अहंकृति का नाश तथा चिर-विश्राम की अभिव्यक्ति युगपद् है। विश्राम में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है।

मानव जीवन इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है कि इसे विवेक का प्रकाश मिला है। इस विवेक के प्रकाश में मानव यह अनुभव कर सकता है कि कोई भी परिस्थिति जीवन नहीं है, चाहे वह कितनी ही अनुकूल क्यों न हो। फिर वह सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन की आवश्यकता अनुभव करता है। मानव उसी विवेक के प्रकाश से अपनी भूल को जानने और मिटाने की सामर्थ्य को पाता है। वह विवेकरूपी प्रकाश उसे जन्मजात प्राप्त है। इसलिए मानव को असफलता से निराश नहीं होना है। वह प्राप्त का सुदपयोग कर सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है। सुन्दर समाज के निर्माण में अपना भी कल्याण है। यही वर्तमान युग की माँग है।

मानव का विकास सत्संग से होता है। सत्संग असत् के आश्रय से नहीं हो सकता। श्रम-साध्य प्रयास शरीर के माध्यम से होते हैं। परन्तु सत्संग के लिए तो इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि के सहयोग की भी आवश्यकता नहीं होती। सत्संग स्वधर्म है, शरीर धर्म नहीं। सत्संग में तीन मुख्य शर्तें हैं- (१) जाने हुए का अनादर न किया जाए, (२) मिले हुए का दुरुपयोग न किया जाए और (३) सुने हुए प्रभु की आस्था में विकल्प न किया जाए।

सत्संग का प्रभाव यह होता है कि असत् के संग का त्याग और समाधान का नाश हो जाता है। लोभ, मोह, असक्ति आदि विकारों का नाश होने पर विश्राम मिलता है, जो विकास की भूमि है। विश्राम अकर्मण्यता या आलस्य नहीं है, इसलिए आवश्यक कार्य के सम्पादन तथा अनावश्यक कार्य के त्याग से साध्य है। वर्तमान कर्त्तव्य कर्म में क्रियाशीलता का सदुपयोग है, जिसके करने से विद्यमान राग की निवृत्ति होती है, और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। वर्तमान राग निवृत्त हो जाए और नवीन राग की उत्पत्ति न हो, यही योग विज्ञान की भूमि है।

राग-रहित भूमि में ही 'करना' 'होने' में और 'होना' 'है' में विलीन हो जाता है। अतः करने का दायित्व मिले हुए के सदुपयोग में है। बल का सदुपयोग और विवेक का आदर ही एक ऐसा सूत्र है जो मानवमात्र को मानव-सेवा-संघ की विचारधारा से अभिन्न करने में समर्थ है। इसी सूत्र के अपनाने से मानव में मानवता आती है। अपना कल्याण सभी को अभीष्ट है। इसके लिए इस सूत्र को जीवन में अपनाना अत्यन्त आवश्यक है।

सर्व-समर्थ प्रभु से प्रार्थना है कि आप सभी को बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने की सामर्थ्य प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

## ४०

मेरे निज स्वरूप साधक महानुभाव!

मानवमात्र की तीन माँगें हैं-विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम। विश्राम में शान्त रस, स्वाधीनता में अखण्ड रस तथा प्रेम में अनन्त रस है। रस और सुख में बड़ा भेद है। सुख में दुःख का भय रहता है, परन्तु रस भयहीन होता है। भय किसी को अभीष्ट नहीं है। इसलिए सुख की अपेक्षा नित्य रस की प्राप्ति में ही मानव का कल्याण है।

सुख जिस विधान से आता है, उसी विधान से चला जाता है। उसे बनाए रखने में कोई भी समर्थ नहीं है। हाँ, हम लोग सुख का प्रलोभन बनाए रखते हैं, जो दुःख का मूल है। इसलिए साधक का यह दायित्व है कि वह सुख के प्रलोभन का नाश करे।

प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में मानव स्वाधीन है, परन्तु परिस्थिति परिवर्तन में सभी पराधीन हैं। इस पराधीनता में भी प्राणी का विकास है, क्योंकि यह अनन्त का मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से जो कुछ हो रहा है उसमें प्रसन्न रहना ही हितकर है। पर इस तथ्य को वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने मानव जीवन के महत्त्व को भलीभाँति जान लिया है। प्रत्येक परिस्थिति साधन सामग्री है, जीवन नहीं। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, उसके सदुपयोग में सफलता अवश्यम्भावी है।

जब मानव अपनी माँग को अपने ज्ञान से जान लेता है, तब परिस्थिति के अनुसार जो उस पर दायित्व है उसे अवश्य पूरा कर डालता है। दायित्व को पूरा करते ही माँग अपने आप पूरी हो जाती है, यह विधान है। इस दृष्टि से अपनी माँग का ज्ञान और दायित्व को पूरा करना ही सफलता की कुँजी है।

विवेक-विरोधी कर्म, विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विवेक-विरोधी विश्वास के त्याग में ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और शरणागति निहित है। कर्त्तव्यपरायणता से जीवन जगत् के लिए, असंगता से जीवन अपने लिए और शरणागति से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी हो जाता है। यही मानव-जीवन की महिमा है।

जब तक साधन-निर्माण नहीं होता, तभी तक परस्पर में विचार विनिमय की अपेक्षा है। रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधन-निर्माण हाते ही बाह्य सत्संग की आवश्यकता नहीं रहती। साधक जो कुछ कर सकता है उसी से उसे सिद्धि मिल सकती है। इस मंगलमय विधान में आस्था होने पर प्रत्येक साधक निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है।

असाधन-जनित सुख-लोलुपता असाधन के त्याग करने में बाधक बनती है। इस दृष्टि से सर्व प्रथम अकर्त्तव्य से उत्पन्न हुए सुख-लोलुपता का नाश करना अनिवार्य है। यद्यपि आया हुआ सुख अपने आप चला जाता है, किन्तु उसका प्रलोभन साधक को सुख की दासता में आबद्ध कर देता है। सुख की दासता ही दुःख के भय को जन्म देती है। प्राकृतिक विधान के

अनुसार दुःख न चाहने पर भी आ जाता है और सुख चाहने पर भी चला जाता है। विचारशील साधक आये हुए सुख-दुख का भोग नहीं करते, अपितु सदुपयोग करते हैं। सुख-दुःख का भोग असाधन है और सदुपयोग साधन है।

सुख-दुःख परिवर्तनशील जीवन की दो अवस्थाएँ हैं। साधक को इन दोनों से अतीत के जीवन में प्रवेश पाना है। सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि न रहने से सुख-दुःख के सदुपयोग की सामर्थ्य अपने आप आ जाती है। सुख-दुःख का सदुपयोग वे प्राणी नहीं कर पाते, जो सुख-दुःख को ही जीवन मान लेते हैं, उनको साधन-सामग्री नहीं जानते। सुख उदारता का और दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। उदारता करुणा और प्रसन्नता उतपन्न करती है। करुणा सुख भोग की रुचि को और प्रसन्नता खिन्नता को खा लेती है। उदारचरित मानव ही दुखी को देखकर करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होता है। उदारता ही अहं और मम का नाश कर निर्वासना प्रदान करती है। इस दृष्टि से सुख-दुःख दोनों का सदुपयोग अति आवश्यक है। यह रहस्य भली भांति जान लेने पर न तो मानव सुख की दासता में ही आबद्ध होता है और न दुःख से ही भयभीत होता है। उसके लिए सुख-दुःख दायें-बायें पैर के समान है। अतः प्रत्येक परिस्थिति में साधक साधननिष्ट हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

सेवा करने की सामर्थ्य उन्हीं साधकों को प्राप्त होती है जो दुखियों को देख कारुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होते हैं। सेवा मानव-जीवन को जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध करती है तथा विवेकपूर्वक असंग होते ही जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाता है एवं प्यारे प्रभु की आत्मीयता स्वीकार करने पर जीवन प्रभु के लिए भी उपयोगी हो जाता है। इस दृष्टि से कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति में समस्त साधनों की अभिव्यक्ति निहित है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ४१

प्रिय साधको!

साधन की लालसा मानवमात्र में विद्यमान है, परन्तु उस लालसा को असाधनयुक्त कामनाओं ने आच्छादित कर रखा है। यह सर्व मान्य है कि असाधन का आरम्भ सुखद और अन्त दुःखद है। असाधन के परिणाम का प्रभाव ज्यों-ज्यों स्थायी और सबल होता जाता है, त्यों-त्यों असाधन-जनित सुखलोलुपता स्वतः मिटती जाती है। असाधन का त्याग और साधन का आरम्भ युगपद् होते हैं। असाधन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो सभी दोषों का मूल है।

जो साधक प्रतिकूलता और अनुकूलता का सदुपयोग करता है वह बड़ी ही सुगमता से साधननिष्ट हो जाता है। प्राकृतिक नियमानुसार अनुकूलताएँ और प्रतिकूलताएँ अपने आप आती और जाती हैं, वे सदैव रहती नहीं। इस

अनुभूति का आदर करने से साधन का आरम्भ हो जाता है। प्रतिकूलताओं से भयभीत होने पर भी साधन सुलभ हो जाता है, क्योंकि जो सदैव नहीं रहता वह जीवन नहीं है। सदैव न हरने वाली वस्तु से सम्बन्ध-विच्छेद तथा उसका सदुपयोग करने में सभी साधक स्वाधीन और समर्थ हैं।

जिन विवेक के प्रकाश में वस्तु-व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करने पर लोभ, मोह आदि विकारों का सदैव के लिये नाश हो जाता है। इस दृष्टि से निज-ज्ञान के आदर से भी साधन आरम्भ हो जाता है। फिर प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा स्वतः होती रहती है।

हम किसी का बुरा नही चाहें, इस सद्भावना को सबल और स्थायी बनाने पर भी साधन का आरम्भ हो सकता है। इस पवित्र भाव से अपवित्रता का नाश हो जाता है। किसी का बुरा न चाहना विश्व की सबसे बड़ी सेवा है। इस सद्भावना से उसे प्रसन्नता होगी जिसने मानव और जगत् का निर्माण किया है, क्योंकि जगत् उसी अव्यक्त का व्यक्त रूप है।

उत्पत्ति-विनाश रहित अविनाशी तत्त्व में अविचल आस्था, श्रद्धा और विश्वास होने पर भी साधन का आरम्भ हो जाता है। वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान और उसकी ममता का त्याग ही अनुत्पन्न तत्त्व में अविचल आस्था, श्रद्धा विश्वास जाग्रत करता है। अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास से आत्मीयता और प्रियता जाग्रत होती है। प्रियता स्वभाव से ही रसरूप है।

अतः साधन के आरम्भ के लिए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, शरीर और संसार से असंगता और सर्व-समर्थ में आस्था, श्रद्धा, विश्वास होना आवश्यक है। जिसे जो अनुकूल पड़े उसी को अपनाकर साधक साधननिष्ठ हो सकते हैं और सफलता पा सकते हैं।

वास्तव में साधन ही साधक का अस्तित्व है। साधन नित्य तत्त्व है। इस कारण प्रत्येक मानव को साधननिष्ठ होना अनिवार्य है। जब तक साधक के जीवन में साधन के साथ-साथ असाधन भी रहता है, तब तक साधक को अपने और साधन में किसी-न-किसी प्रकार का भेद प्रतीत होता है। जब साधक को यह भेद असह्य हो जाता है, तब सर्वांश में असाधन का नाश हो जाता है। साधन की लालसा असाधन का अन्त करने में सदैव समर्थ है।

साधन के महत्त्व को जाने बिना कोई भी व्यक्ति अपने को साधक स्वीकार नहीं कर सकता। जब तक व्यक्ति अपने को साधक स्वीकार नहीं करता, तब तक उसे परिस्थिति ही जीवन प्रतीत होती है और वह परिस्थितियों की दासता में आबद्ध रहता है। कोई भी परिस्थिति जीवन हो नहीं सकती, क्योंकि वह सतत् परिवर्तनशील है। अतः व्यक्ति अपने को साधक स्वीकार करने पर ही परिस्थितियों का सदुपयोग कर परिस्थितियों से असंग होता है। परिस्थितियों से असंग होते ही जीवन साधन और साधन जीवन हो जाता है।

साधन ही साधक को साधन-तत्त्व से अभिन्न कर साध्य को रस देने में समर्थ है। सत्

असाधन को प्रकाशित करता है, पर उसका नाश नहीं करता। परन्तु सत् की लालसा असत् और असाधन को खाकर साधक को सत् से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से साध्य की अपेक्षा साधन का कहीं अधिक महत्त्व है। यह अवश्य है कि साधन में सत्ता साध्य की ही होती है। यह साध्य की महानता है कि साधन को सत्ता देकर अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया। साधक का साध्य से सम्बन्ध साधन द्वारा ही होता है।

साधक का पुरुषार्थ असाधन के त्याग में है। विवेक-विरोधी स्वीकृति, कर्म, सम्बन्ध और चिन्तन असाधन हैं। असाधन का त्याग सभी मत, सम्प्रदाय, विचारधारा के साधकों के लिए समान रूप से आवश्यक है। अर्थात् भौतिकवादी, अध्यात्मवादी, विचार मार्गी और विश्वासमार्गी सभी के लिए असाधन का त्याग अनिवार्य है।

सर्व-समर्थ प्रभु सभी साधकों को असाधन के त्याग का बल प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ४२

मेरे निज स्वरूप साधक महानुभाव!

अपने से भिन्न मानी हुई सत्त का शासन स्वीकार करना ही बन्धन है। मानी हुई सत्त की अस्वीकृति होने पर तत्त्व-दृष्टि होती है। तत्त्वदृष्टि में तत्त्व से भिन्न कुछ नहीं प्रतीत होता। भाव का सद्भाव होने पर भक्त-दृष्टि होती है। भक्त-दृष्टि में प्रेम-पात्र से भिन्न कुछ नहीं रहता। तत्त्व-दृष्टि और भक्त-दृष्टि दोनों में ही सृष्टि का अभाव है। सृष्टि तो केवल अपने में विषय-भाव को धारण करने पर प्रतीत होती है। विषयासक्त प्राणी मानी हुई सत्ता को स्वीकार करता है। सृष्टि की प्रतीति का कारण विषयासक्ति ही है। अतः विषय-जन्य स्वभाव का अन्त करना अनिवार्य है।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों से असंग होने पर तुरीयावस्था का अनुभव होता है। अथवा यों कहिए, तीनों शरीरों-स्थूल, सूक्ष्म और कारण-से असंग होने पर तुरीयावस्था प्राप्त होती है। स्थूल शरीर से जो अनुभव में आता है वह जाग्रत है, सूक्ष्म शरीर से जो अनुभव में आता है वह स्वप्न है, और जो केवल कारण शरीर से अनुभव में आता है वह सुषुप्ति है। स्थूल शरीर से जाग्रत की प्रवृत्ति होती है, मन से चिन्तन होता है। अतः जाग्रत अवस्था से असंग होने के लिए इन्द्रिय-विषयों से सम्बन्ध-विच्छेद करना होगा और विषय-चिन्तन को त्याग कर अचिन्त होना होगा। अचिन्त होते ही निर्विकल्प स्थिति प्राप्त होगी और निर्विकल्प स्थिति से असंग होने पर निर्विकल्प बोध होगा, जो तीनों शरीरों से असंग करने में समर्थ है। अथवा यों कहिए कि निर्विकल्प-बोध होने पर तीनों शरीरों से असंगता होती है। यही तुरीयावस्था है।

सविकल्प समाधि में बुद्धि सूक्ष्म शरीर में लय होती है और निर्विकल्प समाधि में बुद्धि

कारण शरीर में सम होती है। कार्य कारण की अपेक्षा परतन्त्र है। इसी कारण निर्विकल्प समाधि में सविकल्प की समाधि की अपेक्षा अधिक रस है। यह सही है कि अनित्य रसों में निर्विकलप समाधि का रस सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु जिज्ञासु को तो सभी अनित्य रसों का त्याग करना है। अनित्य रसों का तग करना ही पूर्ण जिज्ञासा है। पूर्ण जिज्ञासा होने पर तत्त्व-ज्ञान स्वतः हो जाता है। तत्त्व-ज्ञानपूर्वक तत्त्वनिष्ठा होने पर शक्ति और शान्ति दोनों ही की प्राप्ति होती है। ज्ञान-रहित निष्ठा यानी केवल समाधि से सिर्फ शक्ति प्राप्त होती है। यदि शक्ति का सदुपयोग न किया गया, तो वह शक्ति समाप्त हो जाती है। शक्ति का सदुपयोग करने के लिए चित्त-शुद्धि आवश्यक है, जो केवल विषय-विराम से ही हो सकती है।

विश्व के साथ एकता का भाव रखना आवश्यक है और विश्व की सेवा विश्वनाथ के नाते करनी है। सेवा की पूर्णता में विषय-विराग को जाता है। जिस कर्म से विषय-विराग न हो, वह कर्म अधूरा है। अधूरा कर्म करने वाला प्राणी कर्म के राग से छूट नहीं पाता। करने का अन्त तभी हो सकता है, जब कर्त्ता पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखकर, पूरी शक्ति लगाकर कर्म को करता है।

भक्त प्रेमपात्र के नाते सेवाभावपूर्वक सभी आवश्यक कर्म करता है। कर्म के अन्त में भक्त को प्रेमास्पद का स्मरण या ध्यान स्वतः होता है। स्मरण-ध्यान से जब असह्य व्याकुलता होती है, उसी काल में भक्त प्रेमपात्र से अभिन्न हो जाता है।

चित्त पर जब विषयों का प्रभाव होता है, जब प्राणी की प्रत्येक प्रवृत्ति दोष-पूर्ण होती है। चित्त के शुद्ध हो जाने पर उसकी प्रवृत्ति स्वाभाविक दोष-पूर्ण होती है। चित्त के शुद्ध प्रवृत्ति होने पर अन्तःकरण अपने कारण में विलीन हो जाता है। फिर इन्द्रियों की क्रिया निर्जीव मशीन की भांति होती रहती है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर सत्य की जिज्ञासा जाग्रत होती है और फिर सत्य के कृपा से सत्य का स्वतः अनुभव हो जाता हे। अतः सत्य का अनुभव करने के लिए और जीवन की पूर्णता के लिए अन्तःकरण की शुद्धता अत्यावश्यक है।

विचार-मार्ग और विश्वास-मार्ग, दोनों के भिन्न-भिन्न उसूल हैं। विचार-मार्ग में ज्यों-ज्यों विचार बढ़ता है, ज्यों-त्यों क्रिया की कमी होती जाती है। पूर्ण विचार होने पर पूर्ण अक्रियता हो जाती है। पूर्ण अक्रियता से पूर्ण अनुभव और फिर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है। फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती।

विश्वास-मार्ग में स्मरण, चिन्तन और ध्यान बार-बार करना होता है। जब विरहाग्नि असह्य हो जाती है, तब सत्य से मिलन हो जाता है। विरह और मिलन दोनों का रस नित्य है तथा उत्तरोक्त बढ़ता रहता है।

सर्व-समर्थ प्रभु आपको अखण्ड आनन्द प्रदान करें।इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन शरणानंद

## ४३

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव!

ज्ञान क्या है? अनन्त का प्रकाश। यह प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को स्वतः प्राप्त है। ज्ञान के आदर से त्याग का बल आता है। त्याग क्या है? मैं शरीर और संसार से अलग हूँ। इसका फल क्या है? अचाह होना, निर्मम होना और निष्काम होना। अचाह से निर्वासना की अभिव्यक्ति हुई और योग की प्राप्ति हुई। योग जो है वह शक्ति का प्रतीक है, अर्थात् योग से सामर्थ्य आती है। यदि उस सामर्थ्य का दुरुपयोग न किया जाए तो स्वतः बोध की ओर प्रगति होती है। सामर्थ्य का स्वरूप है कि जो करना चाहिए, वह होने लगे तथा जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही न हो। यानी कर्त्तव्यपराणता जीवन में आ जाए।

समाज में विद्रोह की उत्पत्ति तभी होती है, जब व्यक्ति कर्त्तव्य-परायण नहीं रहता। यदि सभी अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करें, जो समाज में किसी के अधिकार का अपहरण न हो और स्नेह का आदान-प्रदान होने लगे। परन्तु जब ऊपरी भेद में सद्भाव करने पर मानव में असहनशीलता, संकीर्णता, दुराग्रह आदि विकास उत्पन्न हो जाते हैं, तब स्नेह की भूख होने पर भी स्नेह का आदान-प्रदान असम्भव हो जाता है। अपनी-अपनी विचारधारा और स्वार्थ भाव को लेकर प्राणी वह कर बैठता है, जो नहीं करना चाहिए। अकर्त्तव्य के साथ-साथ किया हुआ कर्त्तव्य वास्तव में अकर्त्तव्य ही है। अकर्त्तव्य के नाश होने पर अल्प से अल्प कर्त्तव्य भी शान्ति, सामर्थ्य और स्वाधीनता में हेतु बन जाता है। अकर्त्तव्य के त्याग में ही मंगलमय विधान से अकर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होती है। अथवा यों कहिये कि जो नहीं करना चाहिए, उसका न करना ही प्राणी का पुरुषार्थ है।

जिस प्रकार भाषा का भेद होने पर भी अर्थ का भेद नहीं होता, उसी प्रकार कर्त्तव्य को प्रेरित करने वाली मान्यताओं में भेद होने पर भी वास्तविक जीवन में कोई भेद नहीं है। क्योंकि सभी की माँग में एकता है। भेद से अभेद की ओर, असत्य से सत्य की ओर एवं अकर्त्तव्य से कर्त्तव्य की ओर अग्रसर होने में ही सभी का हित निहित है। जिन मान्यताओं से अकर्त्तव्य की उत्पत्ति हो, वे सभी के लिए त्याज्य हैं, और जो मान्यताएँ कर्त्तव्य को जन्म देती हों, वे सभी को मान्य हैं।

जिस व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश से दूसरे व्यक्ति, वर्ग, समाज तथा देश को भय होता हो, तो समझना चाहिए कि भय देने वाला पक्ष विश्व में विद्रोही तथा संघर्ष को जन्म दे रहा है। भय देने वाला दूसरों से भयभीत भी रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार भयभीत उन्हीं को होना पड़ता है, जो अपने को निर्बलों को भय देते हैं। भय का कारण भेद है। यदि अनेक प्रकार से बाह्य भेद होने पर भी स्नेह की एकता स्वीकार कर ली जाए, तो भेद में अभेद का

दर्शन होने लगे और सभी प्रकार के भय मिट जाएँ।

प्राकृतिक नियमानुसार शरीर विश्वरूपी सागर की एक नन्हीं सी बूंद है। शरीर की ममता ने ही विश्व-प्रेम का हनन किया है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि प्रीति की एकता नहीं रही। यह किसी भी दृष्टिकोण से सिद्ध नहीं होता कि समस्त विश्व एक इकाई नहीं है। फिर सुख-लोलुपता और स्वार्थभाव के कारण सर्वात्मभाव की अपेक्षा कर संकीर्णता में आबद्ध है, वह तो ममता, मोह और आसक्ति है, जिनसे सभी का अहित ही होता है।

सच्चे गुरु की पहचान क्या है? जो स्वयं अपना गुरु, नेता और शासक है और जिसके पीछे चलकर समाज प्रगति करता है। ऐसे गुरु को अपने लिए संसार की आवश्यकता नहीं होती, संसार को उसकी आवश्यकता रहती है। जिस प्रकार हिमालय से अनेक नदियाँ निकलकर भूमि को हरा-भरा बनातीं हैं, उसी प्रकार सच्चे गुरु से प्रेम की धारा निकल कर विश्व में चिर-शान्ति तथा आनन्द का वातावरण तैयार करती है। ऐसा गुरुपद मानवमात्र को मिल सकता है। परन्तु कब? जब वह निज विवेक के प्रकाश में अपने जीवन में से विवेक-विरोधी कर्म, विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विवेक-विरोधी-विश्वास का अन्त कर सब प्रकार से निश्चिन्त और निर्भय हो जाए।

आप अपने निज-ज्ञान के प्रकाश में विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध और विश्वास का अन्त कर अपने नेता, गुरु और शासक बन जाएँ, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ४४

मेरे निज स्वरूप साधक वृन्द!

वास्तव में ज्ञान में ही जीवन है और जीवन में ही ज्ञान है। जीवन और ज्ञान में विभाजन सम्भव ही नहीं है। वास्तविक ज्ञान में निस्सन्देहता है और अधूरे ज्ञान में सन्देह हैं, सन्देह की वेदना में ही जिज्ञासा की जागृति है। जिज्ञासा की पूर्ति में ही वास्तविक ज्ञान है। अधूरी जानकारी में ही प्रश्न उत्पन्न होते हैं। जब तक सन्देह की वेदना सबल नहीं होती, तब तक कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन नाश नहीं होता। सुख के प्रलोभन से कामना-पूर्ति की दास्ता उत्पन्न हो जाती है। जिसके कारण जिज्ञासा की पूर्ति और परम प्रेम का उदय नहीं होता।

किसी भी प्राणी को रस-विहीन जीवन प्रिय नहीं है। सभी को रस और जीवन प्रिय है। सभी को रस और जीवन दोनों की ही आवश्यकता है। जीवन उसे नहीं कहते, जिसका कभी अभाव हो अथवा जिसमें परिवर्तन हो और रस उसे नहीं कहते, जिसकी क्षति, पूर्ति या निवृत्ति हो। यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील तथा विनाशी है। इस दृष्टि से वस्तु से अपने को तद्रूप करने में न तो जीवन ही है और न रस की उपलब्धि है। जब प्रत्येक वस्तु

उत्पत्ति-विनाश-युक्त है और उसका अदर्शन होता है, तब उसमें जीवन-बुद्धि रखना कुछ अर्थ नहीं रखता।

वस्तुओं में सत्यता और सुन्दरता का भास मृत्यु की ओर ले जाता है और वस्तुओं के परिवर्तन तथा अदर्शन का ज्ञान जीवन और रस की माँग जाग्रत करता है। खिन्नता और मृत्यु का भय सजगता प्रदान करता है। पर कब? जब खिन्नता और मृत्यु के भय से साधक अधीर न हो, अपितु उस भय और खिन्नता का नाश करने के लिये नित-नव उत्साह उस भय और खिन्नता का नाश करने के लिये नित-नव उत्साहपूर्वक साधन में तत्पर रहे।

जिज्ञासा और कामना का द्वन्द्वात्मक रूप वस्तुओं में अहं-बुद्धि होने से बनता है। जिज्ञासा की पूर्ति के बाद उस द्वन्द्वात्मक रूप का अन्त हो जाता है। अतः वस्तु में से अहम्-भाव का त्याग अनिवार्य है। फिर ज्ञान और जीवन में भेद नहीं रहता। यही सफलता की कुंजी है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ४५

मेरे निज स्वरूप साधक महानुभाव!

सच बात तो यह है कि जब अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों का नाश हो जाता है, तब आवश्यक और शुद्ध संकल्प अपने आप पूरे होने लगते हैं और साधक निःसंकल्पता की शान्ति प्राप्त कर लेता है। उस शान्ति में से विचार का उदय होता है जो अविनाशी का बोध कराता है अथवा यों कहो कि असत् की वास्तविकता का अनुभव हो जाता है। उसी शान्ति में से अखण्ड समृति जाग्रत होती है, जो प्रेम-तत्त्व से अभिन्न करती है। और उसी शान्ति में से वह सामर्थ्य प्राप्त होती है, जो साधक को कर्त्तव्य-परायण बनाती है। अतः निःसंकल्प होना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि हम निःसंकल्प क्यों नहीं हो पाते? इसके मूल में अपनी यही भूल है कि हमने संकल्प को ही अपना जीवन मान लिया है। सोचते हैं कि हमारा कोई संकल्प नहीं होगा तो हमारा जीवन ही नहीं रहेगा। यह बात भूल जाते हैं कि संकल्प की पूर्ति विधान से होती है, न कि संकल्प करने से। यदि संकल्प करने से ही संकल्प पूरे हो जाते, तो सभी संकल्प सभी के पूरे हो गए होते। परन्तु आज तक विश्व के इतिहास में ऐसा कोई मानव नहीं हुआ कि जिसके सभी संकल्प पूरे हो गए हों। इसका अर्थ है कि संकल्प किसी विधान से ही पूरे होते हैं। मूल बात तो यह है। फिर भी यदि आप संक प पूर्ति को ही जीवन मानते हैं, तो गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर स्पष्ट विदित होगा कि प्रत्येक संकल्प की पूर्ति नवीन संकल्प को जन्म देती है और अन्त में संकल्प अपूर्ति ही शेष रहती है। तो इससे मिला क्या? अशान्ति,

क्षोभ, क्रोध और पराधीनता। यह तो कोई जीवन नहीं हुआ। यदि देखा जाय, तो अपना संकल्प ही अपनी दुर्गति का मूल कारण है।

यह सही है कि अहं में संकल्प का स्फुरण होता है। साधक का कर्त्तव्य है कि उस उठने वाले संकल्प पर विचार करें। यदि वह विवेक-विरोधी है कि उस उठने वाले संकल्प पर विचार करें। यदि वह विवेक-विरोधी है अर्थात् किसी के लिए भी अहितकर है, तो उसे वहीं समाप्त कर देना है। यदि विवेक से समर्थित है, परन्तु उसे पूरा करने की सामर्थ्य नहीं है, तो उस संकल्प को विश्व के संकल्पमें विलीन कर दो, कि यदि विश्व चाहेगा, तो उसको पूरा करेगा। जीवन में अध्ययन से यह पता चलता है कि कालान्तर में विश्व की ओर से शुद्ध संकल्प की पूर्ति के लिए स्वतः संकल्पकर्त्ता में सामर्थ्य आ जाती है, फिर उसे वह पूरा कर डालता है। आस्तिक साधक सामर्थ्य-विरोधी शुद्ध संकल्प को प्रभु के संकल्प में विलीन कर निश्चिन्त हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध संकल्प स्वतः पूरे हो जाते हैं। विवेक-विरोधी अर्थात् अशुद्ध संकल्पों को स्थान ही नहीं देना है।

जो संकल्प वर्तमान से सम्बन्ध नहीं रखता, अर्थात् जिसको भविष्य में पूरा करना है, उसे भी कार्य-योजना बनाकर, छोड़ देना है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो संकल्प वर्तमान में पूरा करने का हो, विवेक-विरोधी न हो, सामर्थ्य-विरोधी न हो, किसी के लिए भी हानिकारक न हो, उसे तुरन्त पूरा कर डालो तथा निश्चिन्त होजाओ। उसके परिणाम पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

देखो, यदि आप संकल्प-पूर्ति में ही अपने जीवन का सर्वस्व मान लेते हैं, तो आपको निःसंकल्पता नहीं मिलेगी और निःसंकल्पता के बिना आपका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। यह भी ध्यान रखना है कि संकल्प-निवृत्ति की शान्ति प्राप्त हो करनी है, परन्तु उसमें रमण नहीं करना है। शान्ति में रमण करने से स्वाधीनता प्राप्त नहीं होगी। यानी आप अमर जीवन नहीं प्राप्त कर पाएँगे। स्वाधीनता के बिना आप परम प्रेम के अधिकारी नहीं हो पाएँगे। परम प्रेम की प्राप्ति में ही वह अगाध-अनन्त रस है, जो साधक और साध्य दोनों को ही आह्लादित करता है। यही मानव-जीवन की पूर्णता है। यही जीवन का लक्ष्य है।

कहने का तात्पर्य क्या निकला? साधक को सर्वप्रथम अपने अहं में उठने वाले संकल्प पर विचार करना है। अशुद्ध संकल्पों का त्याग करना है, अनावश्यक संकल्पों को छोड़ देना है। शुद्ध और अनावश्यक संकल्प को परिस्थिति के अनुसार पूरा कर निश्चिन्त हो जाना है। जो संकल्प सामर्थ्य-विरोधी है, पर सर्व-हितकारी है, उसे विश्व अथवा विश्वनाथ को समर्पित कर निश्चिन्त होना है। यह हमारा-आपका पुरुषार्थ है। आप इस पुरुषार्थ को पूरा करने में समर्थ हों, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ४६

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय साधक महानुभाव!

साधन तत्त्व है, अपने साधक की अगाध प्रियता। इसका वास्तविक मूल्य है, आत्मीयता। साधनरूप प्रवृत्ति की कसौटी यह है कि जो अपने लिए प्रसन्नता देने वाली हो और दूसरों के लिए हितकर हो। निवृत्ति की कसौटी यह है कि वह विश्रामप्रद हो। जिस साधन से विश्राम नहीं मिलता वह असाधन ही है।

दार्शनिक भेद होने पर भी जीवन में भेद नहीं होता। नित्य जीवन की ओर गतिशील होने पर प्रीति की एकता सुरक्षित हो जाती है। प्रीति स्वतन्त्र नित्य तत्त्व है। सेवा प्रीति का क्रियात्मक रूप है। सेवक सेवा होकर सेव्य की प्रीति हो जाता है, जो वास्तविक जीवन है। प्राकृतिक नियमानुसार सेवा की सद्‌भावना तथा तत्परता ज्यों-ज्यों बढ़ती होती है, त्यों-त्यों सेवा की सामर्थ्य स्वतः मंगलमय विधान से प्राप्त होती जाती है।

सेवक के हृदय में सतत् पर-पीड़ा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, जिससे वह सेवा से अभिन्न हो जाता है और फिर बड़ी ही सुगमता पूर्वक प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश पा जाता है, जो समस्त साधनों का फल है।

साधक का अर्थ है कि जिसे सत्संग करने की स्वतंत्रता हो और सिद्धि का अर्थ है कि जीवन उपयोगी हो जाए। सत्संग का अर्थ अभ्यास नहीं है, असत् का त्याग ही सत्संग है। असत् का त्याग ही सत्संग का मूल आधार है। हमारे शरीर, मन, वाणी, कर्म से कभी किसी का बुरा न हो, यही वास्तविक सत्संग है। हम कभी भी बुराई नहीं करेंगे, इस सत्य को स्वीकार कर लें। प्राप्त बल का दुरुपयोग ही बुराई है। हमारे पास जो तन का, धन का, योग्यता का बल है, उसका सदुपयोग करना ही सत्संग का रहस्य है।

राष्ट्र और मजहब दोनों का निर्माण जीवन में से बुराई निकाल देने के लिये हुआ। परन्तु इसकी आड़ में बुराई हुई और हो रही है। राष्ट्र न्याय का पाठ पढ़ाता है और मजहब प्रेम का। न्याय का अर्थ है, अपराधी अपने अपराध से परिचित हो जाए, फिर पीड़ित हो जाए और अपराध न करने से व्रती हो जाए। ऐसा न्यास तो मनुष्य अपने साथ ही कर सकता है। जब तक मनुष्य अपने साथ न्याय नहीं करता, तब तक वह सत्संग का अधिकारी नहीं है।

प्रेम कहता है कि अपने अधिकार का त्याग करो। अधिकार-त्याग के बिना एकता रह नहीं सकती, जो प्रेम की प्रतीक है। जहाँ अपने ही लाभ का ध्यान है, वहाँ ईमानदारी रह नहीं सकती। ईमानदारी के बिना प्रेम का प्रादुर्भाव होता ही नहीं। ईमानदारी से मुहम्मद ने ईश्वर को अपना दोस्त माना, ईसा ने पिता माना और मीरा ने पति माना। सच तो यह है कि ईश्वर ही हम सबका अपना है। उसके सिवा और कोई अपना नहीं। अतः केवल ईश्वर को ही अपना मानना ईमानदारी है।

ईमानदारी का मूल्य सुख-सुविधा नहीं है। ईमानदारी स्वयं में फल है। यदि प्रत्येक भाई-बहन अपने जीवन में ईमानदारी को अपना लें, तो विश्व शान्ति, अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाए।

भक्ति भक्त का जीवन है और भगवान् का स्वभाव है। भक्त वह है, जो केवल भगवान् को ही अपना मानता है। भगवान् मिलें, न मिलें। उनकी इच्छा। उनसे कुछ लेना नहीं है। केवल भगवान को अपना मान लेना ही भगवान् को प्रिय है। शान्ति, मुक्ति से भी बढ़कर भक्ति है।

भगवान् के होकर सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय हो जाओ, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ४७

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय साधक महानुभाव!

नियम है कि जो किसी को भी भय देता है अथवा दबाता है, उसे स्वयं भी भयभीत होना पड़ता है और उसकी विरोधी शक्ति उसे अवश्य दबाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में किसी को भी भय देने तथा दबाने का कोई स्थान नहीं है।

वस्तु, व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा से भोग की रुचि पुष्ट होती है। वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होता जाता है, ज्यों-त्यों वस्तु-व्यक्ति आदि के द्वारा सुख की आशा का त्याग स्वतः होता जाता है। जिस काल में वस्तुओं की वास्तविकता का बोध हो जाता है, उसी काल में उनके द्वारा सुख की आशा का सर्वांश में नाश हो जाता है। जिसके होते ही समस्त वस्तुओं से स्वतः विमुखता हो जाती है। वस्तुओं की विमुखता में ही अनन्त की सम्मुखता निहित है।

समस्त सृष्टि को वस्तु के अर्थ में ही लेना चाहिए। क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान से भले ही वस्तुएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हों, पर बुद्धि के ज्ञान से समस्त वस्तुएँ एक हैं और बुद्धि से अतीत के ज्ञान में वस्तुओं का अभाव है। अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान से अनेक वस्तुएँ सत्य प्रतीत होती हैं और बुद्धि-ज्ञान से अनेक वस्तुओं में एकता और परिवर्तन प्रतीत होता है। और बुद्धि से अतीत के ज्ञान में समस्त वस्तुएँ अभावरूप हैं।

संकल्प-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करने पर कोई भी व्यक्ति, जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता, आदि दुःखों से नहीं बच सकता और न अपने को देह से भिन्न अनुभव कर सकता है। अथवा यों कहो कि वह अपने में से देहभाव का त्याग नहीं कर सकता। संकल्प-पूर्ति के जीवन ने ही देह से तादात्म्य दृढ़ किया है। इसी कारण बेचारा संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध साधक अपने को देहाभिमान से रहित नहीं कर पाता।

इस जड़ता के जीवन से ऊपर उठने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्राप्त वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य का सद्व्यय दुखियों की संकल्प-पूर्ति में हो। ऐसा करने से चित्त करुणित होगा। चित्त के करुणित होने से जड़ता कोमलता में परिवर्तित हो जाएगी और सुख-भोग की रुचि स्वतः मिट जाएगी, जिसके मिटते ही सभी का दुःख अपना और अपना सुख सभी का हो जाएगा।

ऐसा होते ही प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं का चिन्तन मिट जाएगा, जिसके मिटते ही वस्तुओं से असंगता हो जाएगी, जो सभी दोषों को अन्त करने में समर्थ है। दोषों के अन्त में निर्दोषता की उपलब्धि स्वतः सिद्ध है। आप सभी साधक महानुभावों का जीवन निर्दोष हो जाए तथा आप योग, बोध, प्रेम प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ४८

मेरे निज स्वरूप उपस्थित साधक महानुभाव!

साधन और जीवन में एकता प्राप्त करने के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। परिस्थिति-परिवर्तन की कामना उन्हीं प्राणियों में रहती है, जो परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं। यद्यपि परिस्थिति-परिवर्तन के लिये भी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग ही करना पड़ता है। साधन-बुद्धि से परिस्थिति का सदुपयोग अभाव का अभाव करने में असमर्थ है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधन में ही जीवन स्वीकार कर लिया जाए। अतः साधन से भिन्न भी जीवन है, इस स्वीकृति का अत्यन्त अभाव अनिवार्य है।

भौतिक दृष्टि से वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को सुन्दर समाज के निर्माधण तथा विश्व-प्रेम की प्राप्ति के लिए साधन-बुद्धि से करना है। अध्यात्म दृष्टि से वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को राग-निवृत्ति और सर्वात्म दृष्टि से प्रत्येक वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म अपने प्यारे की पूजा के भाव से करना है। यह नियम है कि जिसकी पूजा की जाती है, पुजारी को पूजा के अन्त में उसी का प्रेम प्राप्त होता है।

साधन जीवन है और जीवन साधन है। प्रत्येक साधक साधन होकर ही अपने साध्य से अभिन्न होता है। इसके लिए साधक को प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म साधन-बुद्धि से ही करना होगा। साधन-बुद्धि से किया हुआ कार्य भौतिकवादी साधक को आत्म-रति तथा आस्तिकवादी साधक को प्रभु-प्रेम प्रदान करता है। तीनों की दृष्टियों से साधकों को एकमात्र प्रेम ही प्राप्त होता है। उस प्रेम का आरम्भ चाहे जैसे हों, अन्त में प्रेम विभु होकर अनन्त बन जाता है। प्रेम-प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता तथा साधन की पूर्णता निहित है।

विवेक का अनादर करने से प्राणी व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध हो जाता है, जो समस्त अनर्थों का मूल है। व्यक्तित्व का मोह भेद और भिन्नता को जन्म देता है। भेद से भय पैदा होता है, जो साधक को साधननिष्ठ नहीं होने देता। भिन्नता द्वेष को उत्पन्न करती है, जो स्नेह की एकता का अपहरण कर लेती है और मानव को कर्त्तव्यपरायणता से विमुख करती है।

सुख-दुःख का भाग असाधन और सदुपयोग साधन है। संकल्प की उत्पत्ति में और अपूर्ति में दुःख होता ही है। संकल्प की पूर्ति में क्षणिक सुख प्रतीत होता है। सुख-दुःख का सदुपयोग वही साधक कर पाता है, जो अपने सभी संकल्पों को विश्व अथवा विश्वनाथ के संकल्प में विलीन कर देता है और स्वयं निःसंकल्प हो जाता है। निःसंकल्पता को सुरक्षित रखने के लिए संकल्प-पूर्ति में जो महत्त्व-बुद्धि बन गई है, उसका अन्त करना अनिवार्य है।

वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि से नित्य सम्बन्ध बना रहे, यह सम्भव नहीं है। अतः यह विवेक-विरोधी मान्यता है जो असाधन है। भूतकाल की घटनाओं का चिन्तन करना और उनके अर्थ को न अपनाना भी विवेक-विरोधी है। इस व्यर्थ-चिन्तन ने ही सार्थक चिन्तन को उदित नहीं होने दिया और वर्तमान को नीरस बना दिया। इस दृष्टि से जो हो चुका है उसका चिन्तन करना और उसके अर्थ को न अपनाना असाधन ही है।

वर्तमान की नीरसता ने ही मानव को क्षोभित तथा क्रोधी बना दिया। क्षोभ और क्रोध ने अपने कर्त्तव्य की, निजस्वरूप की और अनन्त की विस्मृति करा दी। कर्त्तव्य की विस्मृति से अकर्त्तव्य को जन्म मिला, निज-स्वरूप की विस्मृति से मानव देह-अभिमान में आबद्ध हुआ और अनन्त की विस्मृति ने प्राणी को आशक्ति से पीड़ित किया।

आप सभी महानुभाव साधननिष्ठ होकर कृतकृत्य हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ४९

मेरे निज स्वरूप परम प्रिय साधक महानुभाव!

सच बात तो यह है कि जिसको अमरत्व की अभिलाषा होती है, उसी को अमरत्व प्राप्त होता है। मानव जीवन दो प्रकार की इच्छाओं का समूह है, भोग की चाह और अमरत्व की अभिलाषा। भोग की चाह के लिए शरीर आदि मिले हैं परन्तु अमरत्व की अभिलाषा के लिए किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की आवश्यकता नहीं होती। जिस काल मे अमरत्व की अभिलाषा पूर्णरूप से जाग्रत हो जाती है, उसी समय भोग की चाह मिट जाती है। फिर अमरत्व की अभिलाषा स्वतः पूरी हो जाती है।

भोग की चाह मिटते ही इन्द्रियाँ अविषय हो जाती हैं। फिर मन निर्विकल्प हो जाता है और बुद्धि अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाती है। यही योग है। इस योग से वह सामर्थ्य आती है, जिससे मानव कर्तव्य-कर्म में प्रवृत्त होता है। अर्थात् जो करना चाहिए वह स्वतः होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती।

अपने साधन के प्रति यह आवश्यक है कि वह अपने लिए रुचिकर हो। हाँ, यह अवश्य है कि साधन रुचिकर होते हुए भी विवेक-विरोधी न हो। क्योंकि जो रुचि विवेक-विरोधी होती है, वह भोग है, साधन नहीं। असाधन के रूप में साधन करना साधन नहीं है, अपितु असाधन ही है, जो वास्तव में त्याज्य है। वस्तु, व्यक्ति आदि में सत्यता और सुन्दरता रुचिकर हो सकती है, किन्तु वह रुचि विवेक-विरोधी है, क्योंकि कोई भी वस्तु ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसकी सुन्दरता नित्य हो, जिसमें मलीनता न हो और जो अविनाशी हो तथा जिससे नित्य सम्बन्ध सुरक्षित रह सके। ऐसी स्थिति में वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा साधन हो सकता है, उनकी ममता और उनका भोग साधन नहीं हो सकता। अतः योग्यता, ईमानदारी, परिश्रमपूर्वक उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन तथा उनका सदुपयोग एवं निर्मोहतापूर्वक व्यक्तियों की सेवा करने की रुचि में निज-विवेक का विरोध नहीं है।

वह साधन भी साधक के लिए स्वाभाविक तथा हितकर नहीं हो सकता, जो साधन उसकी परिस्थिति के प्रतिकूल हो। क्योंकि परिस्थिति के प्रतिकूल साधन कभी क्रियात्मक नहीं हो सकता। यह नियम है कि सक्रिय साधन के बिना करने के राग का नाश सम्भव नहीं है, जिसके हुए बिना साधन सार्थक सिद्ध नहीं होगा और न उस साधन की अभिव्यक्ति होती है, जो स्वभाव से ही निरन्तर होता रहे, जिसमें करने की गन्ध न हो। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वह साधन नहीं है, जो प्राप्त परिस्थिति के प्रतिकूल हो।

समस्त साधनों का आरम्भ होता है, सुख की आशा से रहित की हुई सेवा से; क्योंकि वह कर्त्तव्य-विज्ञान है। और समस्त साधनों का अन्त होता है, प्रीति की अभिव्यक्ति में। क्योंकि प्रीति से ही अपने साध्य को रस मिलता है। इस दृष्टि से सुख की आशा का त्याग और प्रेमास्पद को रस देने की उत्कृष्ट लालसा में ही साधनतत्त्व से अभिन्नता हो सकती है, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविकता आ जाती है, जो सभी साधकों को अभीष्ट है।

साधन की लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों असाधन-जनित कामनाएँ अपने आप मिटती जाती है। ज्यों-ज्यों असाधन-जनित कामनाएँ मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों साधन की लालसा वर्तमान जीवन की वस्तु होती जाती है। यह नियम है कि जो लालसा वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखती है, उसकी पूर्ति स्वतः हो जाती है। साधन की लालसा की पूर्ति में ही साधक का अस्तित्व साधन होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

साधन साधन-तत्त्व के समान ही नित्य-तत्त्व है। इस कारण प्रत्येक साधक का साधन-सम्पन्न होना अनिवार्य है।

आप सभी महानुभाव साधन-सम्पन्न हो, साधन-तत्त्व से अभिन्न, हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ५०

मेरे परम प्रिय साधनका महानुभाव

वर्तमान की नीरसता कर्त्तव्य से विमुख कर देती है और फिर प्राणी अकर्त्तव्यपूर्वक गलत ढंग से उस नीरसता को मिटाने का प्रयास करता है। परन्तु उससे नीरसता मिटती नहीं, प्रत्युत उत्तरोत्तर बढ़ती ही है। वर्तमान में नीरसता के कारण ही प्राणी क्षोभित और क्रोधित होता है। क्षोभित होने से शक्ति का ह्रास और क्रोधित होने से प्रमाद की उत्पत्ति होती है। फिर प्राणी प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में अपने को असमर्थ बना लेता है।

यह नियम है कि प्राणी अधीर हो जाने पर जानते हुए भी न जानने के समान हो जाता है। इतना ही नहीं, वह जो कर सकता है, उसके करने में अपने को असमर्थ मान बैठता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह न तो होने वाली बातों का चिन्तन करने लगता है। इस भयंकर परिस्थिति में प्राणी पागल हो जाता है। वह कभी-कभी आत्म-हत्या तक कर डालता है।

प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही वर्तमान सरस होता है। अतः प्राप्त परिस्थिति की अनादर करना सर्वथा त्याज्य है। प्राप्त परिस्थिति के अनादर या दुरुपयोग से अपने प्रति ग्लानि तथा प्राप्त परिस्थिति से खीझ होने लगती है, जिससे स्वभाव में चिड़चिड़ापन और कटुता आ जाती है और मानसिक व्यथा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

ऐसी दशा में किसी प्रकार यदि उसे अपने पर विश्वास हो जाए और प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में लग जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक उसके सभी दोष मिट जाएँगे तथा वर्तमान सरस हो जाएगा। इसके लिये उसे अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी-न-किसी शुभ कार्य में लग जाना चाहिए।

जब शरीर श्रमी हो जाता है, तब संयम तथा सदाचार स्वतः आने लगते हैं, जिनके आते ही मानसिक खीझ स्वतः मिटने लगती है। ज्यों-ज्यों खीझ मिटती जाती है, त्यों-त्यों मन स्थिर और शान्त होने पर पराधीनता मिटने लगती है और स्वाधीनता जीवन में आ जाती है। स्वाधीनता से जीवन सभी के लिये उपयोगी बन जाता है।

ऐसी बात नहीं है कि नीरसता केवल प्रतिकूलता से ही आती है। कितनी ही भयंकर प्रतिकूलता क्यों न हो, यदि प्राणी हार स्वीकार न करे और धैर्य को न त्यागे, तो प्रतिकूलता उसका

कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। अपितु प्रतिकूलता तो नवीन सामर्थ्य को जन्म देती है। इस दृष्टि से प्रतिकूल परिस्थिति विकास का ही साधन है, विनाश का नहीं।

प्यारी लगने वाली अनुकूलता तो प्राणी को सुख में ही आबद्ध करती है। सुख से दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। यह नियम है कि दबा हुआ दुःख बढ़ता ही है। वर्तमान को सरस बनाने में अनुकूलता तभी समर्थ हो सकती है, जब प्राणी में उदारता-जनित करुणा आ जाए, यानी वह पर-दुःख को अपना ले। इस दृष्टि से सरसता का हेतु दुःख ही है।

आप सभी पराये दुःख को अपना कर अपने वर्तमान को सरस बनायें, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ५१

उपस्थित साधक महानुभाव!

वर्तमान दशा का अध्ययन साधन-निर्माण की भूमि है। अब प्रश्न यह है कि वर्तमान दशा का अध्ययन कैसे किया जाये? तो निज-विवेक के प्रकाश में अपनी उस रुचि को देखा जाए, जो बीजरूप से विद्यमान है और उस योग्यता को देखा जाए, जिससे विद्यमान रुचि की पूर्ति और निवृत्ति हो सके। यह नियम है कि विद्यमान रुचि की पूर्ति और निवृत्ति के बिना वास्तविक जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। यानी इस परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवन से मुक्ति नहीं मिल सकती।

वर्तमान दशा के अध्ययन से दो बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं एक तो यह कि इस परिवर्तनशील जीवन के प्रति अपना राग है और दूसरे नित्य जीवन की लालसा भी है। यही दो अपनी वर्तमान में विद्यमान रुचियाँ हैं। परिवर्तनशील से जो हमारा राग हो गया है, उसकी निवृत्ति हो जाए और नित्य जीवन की प्राप्ति हो जाए। इसी के लिये साधन-निर्माण की अपेक्षा है। और साधन-निर्माण तभी हो सकता है, जब हम अपनी वर्तमान दशा, यानी वस्तुस्थिति को भलीभाँति जान लें।

वस्तु-स्थिति को जानने के लिये हमें अपने सभी संकल्पों को भली प्रकार देखना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी हैं, यानी किसी के लिये भी अहितकर हैं और जिनको वर्तमान में पूरा करना आवश्यक नहीं है, उनका त्याग करना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी नहीं है, उनका त्याग करना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी नहीं है, लेकिन अपनी सामर्थ्य से परे हैं, यानी जिन्हें हम पूरा नहीं कर सकते, उन्हें प्रभु अथवा विश्व के समर्पित कर निश्चिन्त हो जाना है। ऐसा अनुभव में आया है कि कालान्तर में ऐसे शुभ संकल्प को पूरा करने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

जो शुद्ध संकल्प होते हैं, और उन संकल्पों की पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, वे स्वतः पूरे होते हैं, ऐसा विधान है। अशुद्ध संकल्पों के त्याग से निर्वैरता और निर्भयता आ

जाती है। निर्वेरता से द्वेष मिट जाता है और प्रीति की जागृति हो जाती है और निर्भयता से आत्म विश्वास में दृढ़ता आ जाती है और अपने साधन में अविचल श्रद्धा हो जाती है। साधननिष्ठ होने के लिये हमें इन तीन प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है-

(१) हमें क्या करना है? (२) हमें क्या जानना है? (३) हमें अपने को क्या मानना है? साधन की दृष्टि से हमें प्राप्त बल का सदुपयोग तथा प्राप्त विवेक का आदर करना है। बल के सदुपयोग से सभी निर्बलताएँ मिट जाती हैं और विवेक के आदर से नासमझी मिट जाती है और निःसन्देहता आ जाती है। निःसन्देहता से जीवन और ज्ञान में भेद नहीं रहता।

हम इन्द्रियों के द्वारा विषयों को और बुद्धि द्वारा शरी, वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदि के परिवर्तनों को जानते हैं। जब तक प्राणी पर इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव रहता है, तब तक राग और द्वेष की उत्पत्ति होती रहती है। जब बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव होने लगता है, तब राग और द्वेष त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं।

हम अपने को साधक मानकर ही साधन-निर्माण कर सकते हैं और अपने साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि साधक की कोई माँग होती है और उसका कोई दायित्व भी होता है। हमारी माँग है अविनाशी रसरूप जीवन की और हमारा दायित्व है, असत् के त्याग का, यानी हम प्राप्त बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करें!

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानंद

## ५२

मेरे निज स्परूप साधक महानुभाव!

मानवता की प्राप्ति के लिए निर्मलता, स्नेह और एकता अनिवार्य है। यह तीनों मानवता के ही विशेषण हैं। निर्मलता प्राप्त करने के लिए सेवा अनिवार्य है। सेवा उसी की हो सकती है, जिसकी दी हुई कोई भी वस्तु अपने पास हो। जो वस्तु संसार से मिली है, उसे संसार की ही सेवा में लगा देना चाहिए। सेवा का फल निर्मलता है, भोग नहीं।

निर्मलता आ जाने पर स्नेह की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। स्नेह की पूर्णता भेद को खा लेती है और एकता में विलीन हो जाती है। इस दृष्टि से निर्मलता प्राप्त होने पर स्नेह की एकता सिद्ध होती है। अथवा यों कहों कि निर्मलता रूपी भूमि में ही एकतारूपी लता फैलती है और स्नेहरूपी फल लगता है, जो स्वभाव से ही सरस और मधुर है। उस मधुर फल को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है।

यह बात प्रत्येक साधक को समझ लेनी चाहिए कि हमें मुक्त उसी से होना है जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है। इस प्रकार हमें शरीर और संसार देनों से मुक्त होना है। वह तभी सम्भव है जबकि हमारी कोई कामना न रहे, यानी हम अचाह हो जाएँ। जिस प्रकार वस्त्र में जो मलिनता आ जाती है उसी

को भिन्न-भिन्न प्रकार से हटाया जाता है, उसी प्रकार हमने जो अनेक प्रकार के माने हुए सम्बन्ध स्वीकार कर लिये हैं, हमें अपने अलौकिक विवेक के प्रकाश में उनसे मुक्त होना है।

यह स्पष्ट है कि भविष्य की आशा उसके लिये की जाती है, जिसके लिये कोई कर्म अपेक्षित हो और कर्म उसी के लिए अपेक्षित होता है, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त हो और जिससे देश-काल की दूरी हो। परन्तु मुक्ति के लिये कोई कर्म अपेक्षित नहीं है, क्योंकि मुक्ति किसी ऐसे तत्त्व की ओर नहीं ले जाती, जो सर्वत्र-सर्वदा न हो और जिससे जातीय तथा स्वरूप एकता न हो। मुक्ति का अभिलाषी जब चाहे तब मुक्त हो सकता है। मुक्त होने में कोई भी भाई-बहन पराधीन नहीं है। पर कठिनाई तो यह है कि मुक्त होना ही नहीं चाहते।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुक्त होने में बाधा क्या है? तो कहना होगा कि हम सुख-भोग की आसक्ति को भी सुरक्षित रखना चाहते हैं और मुक्ति भी चाहते हैं। पर यह दोनों साथ-साथ सम्भव नहीं है। सुख-भोग की आसक्ति को तो मिटाना ही पड़ेगा। उसके लिये हमें सभी कामनाओं की निवृत्ति करनी होगी और कामनाओं की निवृत्ति एकमात्र विवेक का आदर करने पर होती है।

विवेक का आदर करने की सामर्थ्य तब आती है, जब हम प्राप्त सुख को दुःखियों की सेवा में लगा देते हैं। अपने से दुःखी को देख कर ही हमें सुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार सुख दुखियों की देन है। यदि हम प्राप्त सुख को उदारतापूर्वक बिना किसी प्रत्युपकार की आशा के दुखियों की सेवा में लगा दें, यानी उनकी सेवा कर दें, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख-भोग की आसक्ति मिट सकती है और मुक्त हो सकते हैं।

यह सभी को अनुभव है कि अपने को देह मानकर कभी भी किसी का मन संसार से अलग नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि शरीर और संसार में जातीय एकता और गुणों की भिन्नता है। यदि विवेकपूर्वक अपने को देह न स्वीकार किया जाए, तो मन स्वभाव से ही चिन्तन रहित होकर उस चेतन में विलीन हो जाता है जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

आप सभी साधक महानुभाव विवेकवित् होकर अमरत्व को प्राप्त करें, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ५३

मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!

जब हम निर्वैर हो जाते हैं, तब हम किसी का बुरा नहीं चाहते। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके हृदय में प्रीति का संचार होता है। प्रीति एकमात्र निर्वैरता से ही प्राप्त होती है, किसी अभ्यास का फल नहीं है।

निर्वैर हम तभी हो पाते हैं, जब हम किसी को भी बुरा न समझें, किसी का भी बुरा न चाहें और किसी का किसी भी कारण से बुरा न करें।

यह भी नियम है कि निर्वैर होने से हमारे सभी मोहजनित सम्बन्ध मिट जाते हैं। जिसका फल होता है कि हमारा नित्या सम्बन्ध सर्व समर्थ प्रभु से जुड़ जाता है, जो हमें भक्त बना देता है। इतना ही नहीं, मोहजनित सम्बन्धों के मिटने से हम संसार से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार मुक्ति और भक्ति दोनों के लिए निर्वैर होना अति आवश्यक है।

जब हम निर्वैर हो जाते हैं और प्रभु से नित्य सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, तब हमारे जीवन में किसी प्रकार की जड़ता नहीं रहती। हमारा प्रवेश प्रेम के साम्राज्य में हो जाता है। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रसरूप है। वास्तव में यही भक्ति-रस है।

प्रेम का उदय होने पर एक ही, दो मालूम होते हैं। यह नहीं है कि दो होने पर प्रेम होगा। प्रेम के साम्राज्य में प्रेम के आदान-प्रदान के लिये एक ही दो हो जाते हैं। जैसे- राधा-कृष्ण, सीता-राम, शिव-पार्वती। ये सभी एक-दूसरे के अभिन्न हैं। इनका विहार नित्य है। कोई भी विचारक यह सिद्ध नहीं कर सकता कि प्रेम द्वैत सूचक है। दो में न्याय हो सकता है, प्रेम नहीं।

यह भी स्पष्ट है कि भक्ति और मुक्ति का विभाजन नहीं हो सकता। कारण, कि जो मुक्त है वहीं भक्त हो पाता है और जो भक्त है वहीं संसार से मुक्त है। शरीर और संसार से मुक्त हुए बिना क्या कोई केवल प्रभु को अपना मान सकता है और क्या प्रभु का होकर रह सकता है? कदापि नहीं।

संसार में जितने भी भक्त हुए, सभी ने संसार से नाता तोड़ा। मीरा ने क्या कहा? मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई। जब उन्होंने केवल सर्व-समर्थ प्रभु को ही अपना माना तथा सभी सगे-सम्बन्धियों से नाता तोड़ा और केवल प्रभु-विश्वास ही उनका एकमात्र सम्बल रह गया, तब वे अनन्य भक्ति की अधिकारी हुई। जब सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में, सब विश्वास एक विश्वास में उन्होंने विलीन कर दिया, तब वे भक्त हुईं।

तात्पर्य क्या निकला? भक्त होने के लिये मुक्त होना आवश्यक है। जिज्ञासु तत्त्वज्ञ होकर प्रभु-प्रेम प्राप्त करता है और सरल विश्वासी साधक सारे सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में, सभी विश्वासों को एक विश्वास में विलीन कर संसार से मुक्त हो जाता है। यानी विचारक पहले शरीर और संसार की वास्तविकता जानकर निःसन्देह होता है, जिसका फल होता है कि उसकी सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं और वह मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् वह सर्व-समर्थ से सम्बन्ध जोड़ता है, जो उसे भक्त बना देता है।

निर्वैरता वह साधना है जो साधक को साध्य से मिला देती है। अतः आप सभी निर्वैरता को अपना कर मुक्त और भक्त हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ५४

साधक महानुभाव!

पाने के प्रलोभन में पराधीनता और जीने के प्रलोभन में मृत्यु का भय विद्यमान है। यदि इन दोनों प्रकार के प्रलोभनों का अन्त कर दिया जाए, तो स्वाधीन अमर जीवन प्राप्त हो जाता है। यह जानते हुए भी कि कोई भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था आदि में स्थायित्व नहीं है, फिर भी इनके पाने का प्रलोभन रखते हैं और यह जानते हुए भी कि शरीर हमेशा नहीं रहेगा, इसे सदैव बनाये रखने की सोचते हैं। क्या यह अपनी जानकारी का सरासर अनादर नहीं है? इस पर साधक महानुभावों को भली प्रकार मनन करना चाहिए।

अपने कल्याण का अर्थ क्या है? अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता न रहे। अर्थात् हमें अपने लिए किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की आवश्यकता न हो। हम स्वयं में आनन्दित रहें।

सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ क्या है? जिस समाज में सभी प्राणियों के अधिकार सुरक्षित हों। कोई किसी के अधिकार का अपहरण न करता हो। गुण, परिस्थिति, कर्म आदि की भिन्नता होने पर भी आपस में प्रीति की एकता हो। जहाँ बल द्वारा बात मनवाने की आवश्यकता न हो।

सुन्दर समाज का निर्माण किसी राष्ट्र के द्वारा कभी हुआ नहीं, हो सकता नहीं। प्रत्येक भाई-बहन यह निर्णय कर लें कि इस क्षण से हम बल का दुरुपयोग नहीं करेंगे। बस, स्वतः सुन्दर समाज का निर्माण हो जाएगा।

अतः बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करना ही हर मानव का पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थ से अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण होता है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ५५

मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!

यह सर्व विदित है कि समस्त विश्व का आश्रय और प्रकाशक एक ही है, दो नहीं। यानी विश्व जिसका कार्य है, वह कारण एक ही है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि कारण में एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता होती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक कार्य अपने कारण के आश्रित ही रहता है। यानी कार्य में सत्ता कारण की ही होती है। पर कारण की अपेक्षा कार्य में गुणों की भिन्नता होने के कारण एकता में अनेकता भासित होती है।

यदि सर्वात्मभाव स्वीकार कर लिया जाये, यानी यह जान लिया जाये कि विश्व की प्रत्येक वस्तु-व्यक्ति आदि विश्व रूपि सागर की ही लहरें हैं अथवा आस्था के आधार पर यह मान लिया जाए कि जो सारे विश्व का आश्रय

तथा प्रकाशक हैं, उसी की अनुपम लीला के रूप में यह सारा विश्व है, जो अनेकता में एकता का दर्शन बहुत ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। इसका परिणाम यह होगा कि विश्व में राग-द्वेष का अन्त हो जाएगा और प्रेम का प्रादुर्भाव होगा।

प्रीति एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है, जिसके प्रादुर्भाव से अकर्त्तव्य और राग-द्वेष की जड़ ही कट जाती है। अकर्त्तव्य के नाश में कर्त्तव्यपरायणता निहित है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण होता है। आसक्ति के नाश होने पर असंगता प्राप्त होती है, जिससे अपना कल्याण होता है, हम स्वाधीन होते हैं। प्रीति के प्रादुर्भाव से मानव हृदयशील बनता है और दूसरों के काम आता है।

मानव-समाज में जो आज अनर्थ दिखाई दे रहा है, उसका मूल कारण अकर्त्तव्य ही है। देहाभिमान में आबद्ध प्राणी ही अकर्त्तव्य में प्रवृत्त होता है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ५६

साधक महानुभाव!

वर्तमान का सदुपयोग ही भविष्य को उज्ज्वल बनाता है। वर्तमान का सदुपयोग तभी सम्भव है, जब प्राप्त कार्य को ही सर्वोत्कृष्ट कार्य मानें। विधान के अनुरूप कार्य को सम्पन्न किया जाए तथा अपने को बचाया न जाए।

जिन कार्यों से दूसरों का अहित हो, उनको तो किसी भी परिस्थिति में नहीं करना है। अकरणीय कार्यों के त्याग में ही करणीय कार्य की सामर्थ्य-निहित है। जो करना चाहिये उसके करने पर निर्विकल्पता स्वतः प्राप्त होती है।

निर्विकल्पता से साधक को चिर शान्ति तथा नित्य योग की प्राप्ति होती है। यदि निर्विकल्पता का दुरुपयोग किया गया, तो निर्विकल्पता भी नाश हो जाती है और साधक का विकास रुक जाता है। पुनः राग-द्वेष और व्यर्थ चेष्टा आदि दोषों में आबद्ध हो जाता है।

प्रेमी तथा जिज्ञासु होने के लिए प्रत्येक कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना आवश्यक है। कारण कि कार्य की सुन्दरता कर्त्ता को स्वयं कार्य के चिन्तन से मुक्त कर देती है। कार्य के चिन्तन से मुक्त होते ही प्रिय-लालसा अथवा तत्त्व-जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है, जो प्रेमी तथा जिज्ञासु बनाने में समर्थ है।

किए हुए कार्य का राग तभी अंकित होता है, जब कर्त्ता कार्य में ही जीवन-बुद्धि कर लेता है। अथवा किए हुए कार्य का फल स्वयं भोगना चाहता है। सुख-भोग की आसक्ति ही कर्त्ता को परिस्थितियों में आबद्ध कर देती है और फिर प्राणी अपने को कर्त्ता मान लेता है। यह जिज्ञासु और प्रेमी नहीं हो पाता।

कर्त्ता फल की आशा में आबद्ध होकर अपने को भोग के अधीन कर लेता है और दीन हो जाता है। दीनत्व के रहते हुए अभिमान रहित हो नहीं सकते। दीनता और अभिमान का अन्त

करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कर्त्ता प्रत्येक कार्य का राग-निवृत्ति के भाव से अथवा अपने प्रिय की प्रसन्नता के भाव से सम्पादन करे।

जिस भाव से कार्य किया जाता है, कर्त्ता उसी भाव में विलीन होता है। यदि राग-निवृत्ति के भाव से कार्य किया जाएगा, तो कर्त्ता वीतराग हो जाएगा। वीतराग होते ही निरभिमानता आ जाती है और फिर किसी प्रकार का दीनत्व शेष नहीं रहता। दीनता और अभिमान के नाश से जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है।

जिस प्रकार कर्त्ता, कर्म और फल में जातीय एकता है, उसी प्रकार प्रेमी, प्रेम और प्रेमस्पद में जातीय एकता है। वीतराग होने पर कर्त्ता प्रेमी हो जाता है और उसके बाद प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। प्रेमी होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति में अपने प्रीतम का ही दर्शन होने लगता है।

यह सर्व मान्य है कि प्रीतम प्रीति में ही विद्यमान है। प्रीति से ही प्रीतम को रस मिलता है। अतः प्रत्येक कार्य सुन्दरता पूर्वक करके आप सभी साधक महानुभाव अपना जीवन परम प्रेम से भरपूर कर लें, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ५७

मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!

सच्ची असमर्थता जीवन का वरदान है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है कि सर्व-समर्थ असमर्थ को मिलते हैं, अपना लेते हैं और अपना अमूल्य प्रेम प्रदान करते हैं। पर यह रहस्य उन्हीं साधकों को स्पष्ट होता है, जिन्होंने अपने द्वारा अपनी असमर्थता का अनुभव किया है।

अब विचार यह करना है कि असमर्थता क्या है? पराश्रय और परिश्रम के आधार पर अपने को सन्तोष देना बड़ी भारी असमर्थता है। इसी असमर्थता ने जो अपने हैं, अपने में है, अभी हैं और सर्व समर्थ हैं, उनमें अविचल आस्था नहीं होने दी।

विचार उस पर किया जा सकता है जो बुद्धि की सीमा में हो, सीमित हो, परिवर्तनशील हो और अभावरूप हो। पर जो सदैव है, अनन्त है और असीम है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता। वह तो आस्था का विषय है।

आस्था का स्वतन्त्र पथ है। उस पथ पर वे ही साधक चल पाते हैं, जो असमर्थता से पीड़ित हैं। अपनी असमर्थता का अनुभव मानव का सर्वोत्कृष्ट अनुभव है। मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर आवश्यक सामर्थ्य बिना माँगे ही मिलती रहती है। सामर्थ्य का सदुपयोग ही विश्वशान्ति का मूल मन्त्र है।

सामर्थ्य का सदुपयोग तभी सम्भव है, जब यह मान लिया जाए कि मिला हुआ अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है। सामर्थ्य भी सर्व-

समर्थ की देन है। अतः उसके सदुपयोग में अभिमान के लिए कोई स्थान नहीं है।

जो सभी के अपने हैं, वे ही सर्व-समर्थ हैं। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग उसी सर्व-समर्थ के नाते उसकी विश्व-वाटिका की सेवा में करना है। ऐसी सेवा वही कर सकता है, जो वाटिका के फल की आशा ही नहीं करता।

मानव-जीवन में जो करने की बात है वह ज्ञान के अनुरूप ही होना चाहिए। ज्ञान-विरोधी कार्य तो अकर्त्तव्य ही है, जिसका मानव जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को जन्मजात प्राप्त है। पर मानव अपनी भूल से कर्त्तव्य से विमुख होकर अकर्त्तव्य में प्रवृत्त हो जाता है।

मानव ने मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर अपने को अनुपयोगी बना लिया है। साथ ही वह स्वयं पराधीन होकर अनेक प्रकार की बेबसी अनुभव करता है। यद्यपि स्वभाव से ही उसे स्वाधीनता प्रिय है।

मानव जगत् के प्रति उदार, अपने लिए स्वाधीन तथा प्रभु के लिए प्रेमी होने की आवश्यकता अनुभव करता है। पर भूल से आसक्ति में आबद्ध होकर वह उदारता, स्वाधीनता और प्रेम से वंचित हो गया है।

जिन्होंने मानव का निर्माण किया है, वे अपने दुलारे मानव को निरन्तर देखते रहते हैं और प्रतीक्षा करते रहते हैं कि मेरा दुलारा असमर्थता का अनुभव करे और मैं उसे अपना लूँ! असमर्थता का अनुभव होने पर साधक को जो वेदना होती है, वह करुणामय से सही नहीं जाती।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ५८

मेरे आत्म स्वरूप साधक महानुभाव!

'पर' के द्वारा 'मैं' का बोध न किसी को हुआ है और न होगा। 'स्व' के द्वारा ही अपना परिचय सम्भव है। 'पर' से विमुख होते ही 'स्व' के द्वारा 'स्व' की खोज होती है। बुद्धि के सम होते ही स्वतः 'स्व' में विचार कर उदय होता है। यही विचार 'मैं' की वास्तविकता का परिचय देता है।

बुद्धि के सम होने पर उपाय क्या है? सबसे पहले बुद्धि-दृष्टि से इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव को मिटाना है। इन्द्रिय-दृष्टि उसी को मल-मूत्र की थैली और क्षणभंगुर बताती है। इस बुद्धि-दृष्टि के प्रयोग से इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव नाश हो जाता है। फिर इन्द्रिय-दृष्टि मन में विलीन हो जाती है और मन निर्विकल्प हो जाता है। मन

विवेकपूर्वक शरीर से अपने को अलग स्वीकार करने पर जगत् की आवश्यकता नहीं रहती। यह भी सत्य है कि वस्तु आदि से रहित 'मैं' की जगत् को आवश्यकता नहीं है। यानी 'मैं' की जातीय एकता अनन्त के साथ और मानी हुई एकता जगत् के साथ है।

यदि ममता और कामना का त्याग कर दिया जाए, तो 'मैं' की अन्तिम परिणति अगाध प्रियता में होती है। इस प्रकार 'मैं' सब कुछ और जगत् का बीज रखते हुए 'मैं' कुछ नहीं।

'मैं' स्वभाव से तो सत्-पथ का यात्री है। पर प्रमादवश वह असत् की ओर गतिशील होता है और परिणाम में अभाव ही पाता है। अभाव से पीड़ित मानव अपने जाने हुए असत् से विमुख होता है और फिर उसकी प्रगति सत्-पथ में स्वतः होती है।

सत्-पथ में गमन बेसाथी और बेसामान के होता है। इस राह में श्रम की गंध भी नहीं है। यह कैसी अलौकिक बात है कि इसमें गति है, पर श्रम नहीं। श्रम-रहित होते ही 'मैं' स्वयं उस वास्तविकता से अभिन्न होता है जिसमें अभाव, पराधीनता, जड़ता, नीरसता आदि विकारों की गंध भी नहीं है। इस दृष्टि से 'मैं' की कितनी महिमा है।

बेचारा मानव अपने दर्शन का अनादर कर अपनी महिमा को भूल जाता है। अपनी महिमा को भूलते ही उसमें उत्पन्न हुई उन वस्तुओं की, जिनमें स्थायित्व की बंध भी नहीं है, अपितु सतत् परिवर्तन है, महिमा अंकित हो जाती है, जिसके होते ही राग उत्पन्न होता है।

राग की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। दोषों के उत्पन्न होते ही वास्तविकता का पुजारी घोर आपत्तियों में आबद्ध हो जाता है। पर वास्तविकता से जातीय एकता होने के कारण वास्तविकता की लालसा बीज रूप से विद्यमान रहती है।

ज्यों-ज्यों आपत्ति-जनित पीड़ा सबल होती जाती है, ज्यों-त्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है और ज्यों-ज्यों असत् के संग का प्रभाव मिटता जाता है, ज्यों-ज्यों वास्तविकता की माँग सबल होती जाती है। जब वास्तविकता की माँग वर्तमान की माँग हो जाती है, तब असत् के संग का सर्वांश में नाश हो जाता है और फिर सत् का पथ स्वतः खुल जाता है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ५९

मेरे आत्म स्वरूप साधक महानुभाव

संसार से सुख की आशा के रहते त्याग नहीं होता; ममता के रहते विकार नहीं मिटते और कामनाओं के रहते शान्ति नहीं मिलती। चाह-रहित हुए बिना योग की सिद्धि नहीं मिलती, असंगता के बिना बोध नहीं हो सकता और आत्मीयता के बिना प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह सब आतें ध्रुव-सत्य हैं। या कहो कि प्रभु का ऐसा कुछ विधान ही है। इसलिए संसार से सुख की आशा मत करो। प्राप्त की ममता और अप्राप्त की कामना मत करो। निष्काम-भाव से सभी कर्म करो।

सब प्रकार की स्वीकृतियों से असंग रहो और भगवान् को अपना मानो। फिर तुम जो कुछ भी साधन करोगे, उसमें सफलता अवश्य मिलेगी। परन्तु जो साधन करो वह रुचिकर हो;

संदेह-रहित हो और सामर्थ्य के बाहर न हो। कारण, रुचिकर होने से मन और सन्देह-रहित होने से बुद्धि साधन में लग जाती है। और सामर्थ्य के भीतर होने से उकताहट तथा थकावट नहीं होती। इनके अतिरिक्त सफलता न मिलने से और कोई कारण नहीं है।

जानकारी, मान्यता और जो हम करते हैं उसमें सफलता मिलना ही साधन की सिद्धि है और सिद्धि कुछ नहीं। परन्तु आज क्या होता है कि हम संसार की वास्तविकता को जानते हुए भी उसकी आशा का त्याग नहीं कर पाते। हम भगवान् को मानते हैं, उनसे प्रेम करना चाहते हैं, परन्तु नहीं कर पाते। हम ब्रह्म हैं अथवा आत्मा हैं, ऐसा मानते हैं, परन्तु बोध नहीं होता। हम निर्दोष होना चाहते हैं, परन्तु नहीं कर पाते।

हम भगवान् का चिन्तन-ध्यान करते हैं, परन्तु चित्त में शान्ति नहीं मिलती। हम धर्म को जानते और मानते हैं, परन्तु आचरण में नहीं ला पाते। हमने योग की क्रिया करते हुए जीवन का बड़ा भाग बिता दिया, परन्तु प्रवृत्तियों का निरोध नहीं कर पाए। यह तो है आज के साधकों की दशा! अब बताओ, क्या ऐसी जानकारी, क्रिया और मान्यता से हमारा काम चल सकेगा? कहना होगा, नहीं चलेगा।

जानकारी, मान्यता और क्रियाओं का जब तक जीवन पर प्रभाव नहीं होगा, तब तक तो उन्हें वास्तविकता भी नहीं कह सकते। फिर उनसे हमें लक्ष्य की प्राप्ति हो ही कैसे सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। तो बताओ, त्याग और प्यार करना भी किसी से सीखना पड़ता है क्या? जिसको असार और दुःखरूप जान लेंगे उसका त्याग और जिसे अपना तथा सुखरूप मान लेंगे उससे प्यार तो स्वतः होना चाहिए।

हम संसार को असत्य और दुःखद जानकर भी उसका त्याग और भगवान् को अपना तथा सुखधाम मानकर भी उनसे प्रेम नहीं कर पाते। इसका एकमात्र कारण यही है कि हम संसार से सुख की आशा करते रहते हैं एवं उस सर्व-समर्थ प्रभु को सरल हृदय से अपना नहीं मानते।

याद रहे, और कुछ भी अपना है और परमात्मा भी अपना है- यह दोनों बातें एक साथ नहीं होतीं। जब तक हम और कुछ भी अपना मानते हैं, तब तक तो मुख से कहते हुए भी हमने सच्चे हृदय से भगवान् को अपना नहीं माना। यही इसकी पहचान है।

अतएव यदि इसी जन्म में सफलता चाहते हो, तो उपर्युक्त बातें जीवन में उतारो, सफलता अवश्य मिलेगी। यह बात परम सत्य है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ६०

यदि हम संकल्पों और क्रियाओं से कर्त्तापन का भाव हटा लें अथवा जोड़े ही नहीं, तो फिर उनसे होने वाले फलों को भी हमें नहीं भोगना पड़ेगा। कारण, जो कर्त्ता है, वहीं भोक्ता

है। यदि हम 'मैं' कर्त्ता हूँ- इस भाव को मिटा दें, तो 'मैं भोक्ता हूँ'- यह भाव भी अपने आप मिट जाए। और, सब प्रकार की चाहों का त्याग कर दें तथा स्वाभाविक उठने वाले संकल्पों और क्रियाओं में रस लेना छोड़ दें तो कर्त्तृत्वभाव भी स्वतः मिट जाय।

कर्त्ता-भाव और भोक्ता-भाव का मिट जाना ही जीवन्मुक्ति है। अतः भोग-सुखों एवं उनकी कामनाओं का त्याग करो, तुरन्त शान्ति मिलेगी। यह बात परम सत्य है।

सबके हृदय में संकल्प स्वाभाविक ही होते हैं और उन संकल्पों के अनुसार क्रिया भी स्वाभाविक ही होती है। यदि हम उनसे अपनापन नहीं जोड़ें और न ही उनसे किसी प्रकार के सुख की चाह करें, तो वे हमारे बन्धन का कारण नहीं हो सकते। परन्तु हम उनसे अपनापन जोड़ लेते हैं, जिससे राग की उत्पत्ति हो जाती है। और उनसे सुख की चाह कर लेते हैं, जिससे कामनाओं की उत्पत्ति होती है।

राग और कामनाओं के कारण अनेक प्रकार के दोष हमारे जीवन में आ जाते हैं और भोगों में हमारी प्रवृत्ति हो जाती है। जिसके कारण जो नहीं करना चाहिए वह भी हम करने लग जाते हैं और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ जाते हैं। मनुष्य-जन्म तो मुक्त होने के लिए ही मिलता है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ६१

प्रिय साधक महानुभाव

सिद्धान्त रूप से कोई भी 'गैर' नहीं है कोई 'और' नहीं है। किसी न किसी नाते सभी अपने हैं औरन सभी में अपने प्रेमास्पद हैं। इस सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। जहाँ कहीं जो कुछ बुराई दिखाई देती है, उसका कारण केवल अपनी ही भूल है। अपने सत्य को अपने द्वारा न मानना ही अपनी भूल है।

यदि जीवन में भूल न होती, तो हृदय में स्वभाव से सतत् प्रीति की गंगा लहराती और जीवन आनन्द विभोर हो जाता। वे सभी के अपने हैं उन्हीं में प्रीति होती है, वे ही प्रीति के अधिकारी हैं। व्यक्तियों के साथ तो सद्भाव ही रह सकता है। व्यक्ति को प्रीति से भिन्न भी कुछ चाहिए, इस कारण वह बेचारा प्रीति का पान नहीं कर पाता। पर यह रहस्य किन्हीं इने-गिने अकिंचन, निरभिमानी, प्रभु-विश्वासी, शरणागत साधकों को ही स्पष्ट होता है।

बुराई-रहित होना सत्संग से साध्य है। भलाई सीखी नहीं जाती, बुराई-रहित होने से भलाई स्वतः अभिव्यक्त होती है। बुराई-रहिति होने से ही भलाई व्यापक होती है। अपनी भलाई का भास हो जाने पर भी भलाई, भलाई नहीं रह जाती, सूक्ष्म रूप से बुराई का जन्म हो जाता है। उसका अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह तभी सम्भव होगा जब साधक सजगता पूर्वक आत्म-निरीक्षण करे और अपने को समर्पण कर शान्त हो जाए। शान्ति सम्पादन से अहं शुद्ध होता है और फिर स्वतः साधक में उसकी बनावट के अनुसार साधना होने लगती है। इस दृष्टि से समर्पणपूर्वक शान्त रहना बहुत ही आवश्यक है।

अपने द्वारा अपने को समझा-बुझाकर बुराई-रहित कर लेना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। यदि यह कह दिया जाय कि मानव जीवन का यह अन्तिम पुरुषार्थ है, तो अत्युक्ति न होगी। अपनी बुराई देखने का ज्ञान अपने में है, पर असावधानी के कारण उसका उपयोग हम दूसरों की बुराई देखने में करते रहते हैं, जिसका बहुत बड़ा भाग अपनी कल्पना ही होता है, वास्तविक नहीं। वास्तविक बुराई का ज्ञान तो अपने सम्बन्ध में ही सम्भव है और उसी से साधक सदा के लिए बुराई-रहित होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाता है।

जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। अचाह हुए बिना जीवन उपयोगी हो नहीं सकता। अचाह होने की स्वाधीनता अपने को प्राप्त है। अचाह होना ही जीवन में मृत्यु का अनुभव करना है। जीवन में मृत्यु का अनुभव होने पर अविनाशी, स्वाधीन जीवन की प्राप्ति होती है।

अचाह होने के लिए बल का सदुपयोग, ज्ञान का आदर एवं आस्था-श्रद्धा-विश्वास में निर्विकल्पता अनिवार्य है। बल के सदुपयोग में प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग निहित है और ज्ञान के आदर में अवस्थातीत जीवन की प्राप्ति है और विकल्प रहित विश्वास से आत्मीय सम्बन्ध, अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की प्राप्ति होती है। प्रियता से ही जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। सत्य को स्वीकार करने पर सफलता अवश्यम्भावी है, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ६२

मेरे निज स्वरूप साधक महानुभाव!

आजकल मन को कोसने की हम लोगों की आदत पड़ गयी है। देखो! मन कोई भूत नहीं है जो बिना ही कारण हमको तंग करता है। यह तो हमारे में सुख-भोग की जो रुचि है उसी का नाम मन रख दिया है। जो वस्तु हमको रुचिकर होगी, जिसको हम पसन्द करेंगे, चाहेंगे, मन उसी का चिन्तन करेगा। यानी जहाँ हमारी आवश्यकता होगी, मन वहीं जायेगा। यदि हमारी आवश्यकता में भगवान् होंगे, तो हमारा मन भगवान् की ओर जायेगा। यदि हमारी आवश्यकता किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की होगी, तो मन उन्हीं में भटकेगा।

लाख उपाय करने पर भी भगवान् में नहीं लगेगा।

देखो! मन कर्त्ता नहीं, करण है। गुण-दोष जो होते हैं वे सब कर्त्ता में होते हैं, करण तो केवल उनको दिखा देता है। जैसे, किसी मनुष्य का मुख कृष्ण-वर्ण है तो वह दर्पण में काला ही दिखायी देगा। अब, यह कोई दर्पण का दोष तो नहीं है। या मान लो, किसी मनुष्य को १०४ डिग्री बुखार चढ़ा हो और थर्मामीटर १०४ डिग्री बुखार दिखाये, तो क्या यह थर्मामीटर का दोष है? कहना पड़ेगा इन दोनों अवस्थाओं में दर्पण या थर्मामीटर का दोष नहीं है। ठीक इसी भांति मन भी एक दर्पण अथवा थर्मामीटर के समान है। वह तो हमारी असलियत को बताता है।

यदि हम संसारी हैं, हमारा सुख संसार में है, हमें संसार पसंद है, हमारे मन में संसार बसा है, हम संसार को चाहते हैं, तो हमारा मन भी संसार में ही भटकेगा। तो अब बताओ, यह मन का दोष है या हमारी असलियत का कच्चा चिट्ठा! कहना होगा, इसमें मन का कोई दोष नहीं है।

अतः भाई यदि मन को भगवान् में लगाना चाहते हो तो भगवान् के होकर रहो। भगवान् के सिवाय और कुछ भी पसन्द मत करो, और कुछ भी मत चाहो। देखो, फिर मन भगवान् में लगता है या नहीं। जो वस्तु सुन्दर होती है, सुखद होती है और अपनी मालूम होती है उसी का मन में चिंतन होता है, यानी उसी में मन लगता है। यह सभी का अनुभव है।

भगवान् तो परम सुन्दर हैं, परम सुखद हैं, अपने परम सुहृद हैं, परम प्यारे हैं। फिर भी मन भगवान् में नहीं लगता, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमने भगवान् को पसन्द नहीं किया। यदि हम सब कुछ को नापसन्द करके केवल भगवान् को ही पसन्द कर लें, और कुछ न चाह कर केवल भगवान् में लग जावेगा, हटाने से भी नहीं हटेगा। यह बात परम सत्य है।

मन रस तथा शान्ति का पुजारी है। वह निरन्तर उसी की खोज में लगा है, जो सभी अवस्थाओं से अतीत है। इस दृष्टि से मन के समान प्राणी का और कोई हित-चिन्तक तथा आज्ञाकारी नहीं है। परन्तु प्राणी असावधानी से अपने दोष को मन का दोष मान बैठता है।

बल पूर्वक दबाया हुआ मन शुद्ध तथा शान्त नहीं होता। मन की शुद्धि के लिये बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करना है, बल से मन को दबाना नहीं है। बल के सदुपयोग का अर्थ है, निर्बलों की सेवा।

विवेक का आदर करते ही साधक देह आदि वस्तुओं से असंग हो जाता है। वस्तुओं की असंगता कामनाओं का अन्त कर देती है। कामनाओं के अन्त में ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति निहित है। जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति में मन स्वतः शुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से विवेक का आदर मन की शुद्धि में समर्थ है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ६३

साधक महानुभाव!

'कोई गैर नहीं', यह जीवन का सत्य है। हम सब स्वभाव से सबसे आदर, प्यार और अपनी रक्षा की माँग करते हैं। यदि हमारी सबसे किसी प्रकार की एकता न होती, तो हम में यह माँग भी न होती। यह नियम है कि जिससे हमारी एकता नहीं होती उससे हमारी कोई माँग भी नहीं होती। इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि मानव-मात्र में एकता स्वाभाविक है। जब हम इस सत्य को भूल जाते हैं तब हममें भेद तथा भिन्नता की उत्पत्ति हो जाती है, जो राग-द्वेष आदि अनेक विकारों की जननी है और संघर्ष का कारण है। हम अपने प्राप्त बल का सदुपयोग न करके दुरुपयोग करने लगते हैं, अर्थात् कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। यदि हम चाहते हैं कि कोई हमारे प्रति अपने बल का दुरुपयोग से रहित करना होगा। इसी को कर्त्तव्य कहते हैं। यह तभी सम्भव होगा, जब हम स्वीकार करें कि कोई गैर नहीं है, अपितु सभी अपने हैं।

जीवन में जो भेद और भिन्नता दिखाई देती है वह एकता की ही पोषक है। प्रत्येक मानव बल, योग्यता और परिस्थिति में समान नहीं है। यह असमानता ही कर्त्तव्य की जननी है। समानता में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। एक सबल दूसरे सबल के क्या काम आ सकती है? किसी निर्बल के ही काम आ सकता है? वह तो किसी रोगी के ही काम आ सकता है। इस दृष्टि से यह असमानता ही हम सबको कर्त्तव्य-निष्ठ होने की प्रेरणा देती है, जो मानवमात्र में एकता प्रदान करने में समर्थ है। और इससे हमें इस सत्य का भी अनुभव होता है कि कोई गैर नहीं है। अर्थात् अनेकता में एकता का दर्शन होता है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ६४

साधक महानुभाव!

अपने लक्ष्य की प्राप्ति से निराश हो जाना साधक की सबसे बड़ी भूल है। इस भूल के दो कारण होते हैं- एक तो साधक उसमें जो आंशिक गुण होते हैं, उनका अभिमान कर लेता है; यानी जब उसे यत्किंचित् साधन करते रहने पर भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती तो वह सोचने लगता है कि, 'भगवान् सब किसी को थोड़े ही मिल जाते हैं। वह तो लाखों में किसी बिरले बड़भागी को ही मिलते हैं। चलो, अपने को तो जितना लाभ हो गया वही ठीक है। अनेकों से तो मैं अच्छा ही हूं।'

इस प्रकार अनेक साधक आंशिक गुणों के आधार पर ही संतोष कर बैठ जाते हैं और साधना में शिथिलता ले आते हैं। नहीं तो

गुणों के आधार पर साध्य की प्राप्ति से निराश हो जाना कोई समझदारी की बात नहीं है।

आंशिक गुण तो कमोबेश सभी में होते हैं; पूर्ण दोषी तो संसार में कोई भी नहीं हो सकता। बल्कि विचार कर देखने से तो ऐसा मालूम होता है कि सभी मनुष्यों में सभी गुण मौजूद हैं। अलबत्ता दोषों के कारण वह दबे हुए से रहते हैं।

यदि मनुष्य अपने दोषों का परित्याग कर दे, तो गुण कहीं से लाने नहीं पड़ेंगे, वरन् दोषों के मिटते ही स्वतः चमक उठेंगे। इस दृष्टि से गुणों का अभिमान करना तो वृथा ही है।

साधक जब साधन करते-करते थक जाता है और उसे सफलता नहीं मिलती, तो वह सोच बैठता है कि, 'अरे भाई! मेरे जैसे साधारण प्राणी को भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है! जब बड़े-बड़े योगी हजारों वर्षों तक प्रयत्न करके भी जिसको नहीं पा सके, तो हम कलियुगी जीव भला कैसे पा सकेंगे।' यह भी साधक की एक भूल ही है, नहीं तो अपने साध्य की प्राप्ति तो मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।

यदि भक्ति चाहते हो, तो अपने जाने हुए असत् का त्याग करो। भक्ति भक्त के लिए तो स्वरूप है ही, भगवान् के लिए भी रसरूप है। भक्ति स्वतन्त्र इसलिए है कि जगत् का आश्रय उसे नहीं चाहिए। भगवान् से भी उसे कुछ नहीं चाहिए।

भोग की प्राप्ति का निकटतम काल जो होता है वह बड़ा ही सुख कर प्रतीत होता है। परन्तु सुख-भोग से शक्ति का ह्रास होता है, भोग से अरुचि होती है और पराधीनता का जन्म होता हे। मानव में रस की माँग है। रस के तीन स्रोत हैं-

(१) निष्कामता से उदित शान्त-रस।

(२) असंगता से उदित अखंड-रस।

(३) आत्मीयता से उदित प्रियता का रस।

आत्मीयता को स्वीकार करने पर प्रभु के लिए प्रियता उत्पन्न होती है। प्रिय की स्मृति अपने आप आती है। इसी का नाम है भजन। भक्ति एक रस है जो प्रियता से उदित होती है। प्रियता आत्मीयता से और आत्मीयता श्रद्धा और विश्वास से होती है।

अतः श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रभु से आत्मीयता स्वीकार कर लेने पर भक्ति का उदय होना स्वाभाविक है। भक्ति का वैधानिक उपाय है-निर्ममता, निष्कामता और आत्मीयता।

वैसे यह प्रभु की मौज है कि किसी को किसी भी प्रकार से अपनी भक्ति दें। यह तो उनकी बात हुई। साधक की ओर से वैधानिक उपाय है-निर्ममता, निष्कामता तथा आत्मीयता अथवा अपनी असमर्थता के परिचय में सर्व-समर्थ की महिमा में आस्था एवं उन पर निर्भरता।

साधक को अपने साध्य से भिन्न जो भी दिखाई दे, उसे न तो अपना माने, न अपने लिए माने और न ही उसके पाने तथा बने रहने की कामना ही करे। कारण, अपना मानने से उसमें ममता हो जाएगी, जोकि सभी दोषा की जननी है।

अपने लिए मानने से भोग-वासनाओं का उदय होगा यानी उससे सुख-प्राप्ति की आशा जगेगी, और उनकी कामना करने से चित्त में उनका चिन्तन होगा तथा उनको पाने के लिए सकाम कर्मों में प्रवृत्ति होगी। यदि सही करने से उनकी प्राप्ति नहीं होगी, तो अज्ञानवश हम लोग गलत भी करने लग जाएंगे। गलत करने में प्रधान हेतु कामना ही होती है।

प्रारब्धवश जो भी अपने को मिला हो, उसका अपने साध्य के नाते-वस्तु मिली हो तो उनका सदुपयोग करे और व्यक्ति मिले हों तो उनकी सेवा करे। बदले में उनसे किसी प्रकार के भी सुख की आशा न करें और न ही उनका चिन्तन करे। यदि अपने आप उनका चिन्तन होता हो, तो उस चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करे, वरन् उससे असहयोग करे; यानी उस होने वाले चिन्तन से सम्बन्ध विच्छेद कर ले।

जब वस्तु-व्यक्ति से सम्बन्ध ही नहीं रहेगा, तो कुछ काल में चिन्तन अपने आप बन्द हो जाएगा। चिन्तन का कारण उनसे सम्बन्ध बनाए रखना ही है।

साधक को चाहिए कि वह अपने साध्य को अपना माने, उसमें आस्था और आत्मीयता करे तथा उसकी महिमा में विश्वास करे, जिससे उसकी प्रीति जाग्रत होगी। फिर प्रेमास्पद का चिन्तन करना नहीं पड़ेगा, स्वतः होगा, बल्कि छोड़ने से भी नहीं छूटेगा।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ६५

साधक महानुभाव!

साधक के जीवन में इन दो बातों का होना आवश्यक है। यदि वह सेवा करे तो जिसकी भी करे उसको अपने व्यक्तित्व से ज्यादा महत्व दे और प्रत्युत्तर में उससे मान, भोग तथा आशीर्वाद आदि कुछ भी न चाहे। भगवान् की आज्ञा तथा अपना कर्त्तव्य समझ कर सेवा करे।

यदि वह प्रेमपथ का साधक है तो भगवान् को अपना साध्य मानें, साधन न बनाए। भगवद्-भजन के बदले कुछ माँगता तथा भगवान् के सिवाय और कुछ चाहता-यह भगवान् को साधन बनान है। यदि भजन करके भगवान् से हम धन, सन्तान आदि कुछ माँगते हैं, तो हमारा साध्य तो वह इच्छित पदार्थ ही हुआ, भगवान् तो उसकी प्राप्ति के साधन हुए। यही तो भगवान् को साधन बनाना है।

जो भक्त भगवान् को छोड़कर कुछ भी चाहता है या भगवान् से कुछ भी माँगता है, उसका साधन हुए-भगवान। इस प्रकार भगवान् को मानने वाले तथा भजने वाले के लिए यह बात बहुत हानिप्रद है।

भगवान् तो सबको सदैव प्राप्त ही है। भला, जब वे अनन्त, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं, तो किसी को भी अप्राप्त कैसे हो सकते हैं! आवश्यकता है उनके योग, बोध और प्रेम की, जिनके बिना सदैव प्राप्त प्रभु भी अप्राप्त से भासते हैं।

हमने अपने में जो चाह पैदा करली है, यही हमारे और प्रभु के बीच में मोटा परदा कहो, चाहे गहरी खाई कहो, बन गई है। इस चाह के कारण ही हम उन सर्व-शक्तिमान के योग-बोध-प्रेम से वंचित हैं। इसलिए साधक को चाह-रहित होना अनिवार्य है।

जो मनुष्य गलती नहीं करता, वही सबसे बड़ा त्यागी है और जो ठीक करता है वही सबसे बड़ा सेवक है। जो हर हाल में प्रसन्न रहता है वहीं सबसे बड़ा तपस्वी है।

की हुई भूल पर पश्चात्ताप करने के समान कोई प्रायश्चित नहीं। भविष्य में भूल न करने के निश्चय के समान कोई दूसरा व्रत नहीं!

भगवान् को अपना मानने के बराबर प्रेम-प्राप्ति का अन्य साधन नहीं है। यह बातें जिसके जीवन में आ गईं, उसका कल्याण निश्चित है। यह बात परम सत्य है।

भुक्ति और मुक्ति का त्याग करने पर ही प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रेम अनन्त और अगाध रस से पूर्ण है और अनिर्वचनीय है।

ममता और कामना का त्याग करने पर मन का स्वतः निरोध होने से योग सिद्ध हो जाता है। इसका फल है, शान्ति की अभिव्यक्ति। इसी भाँति सभी प्रकार के दोष और कामनाओं का त्याग करने पर चित्त शुद्ध होकर असंग और मोह-रहित हो जाता है, जिसके होने से बोध का उदय होता है। इसका फल है, स्वाधीनता की अभिव्यक्ति।

जो मनुष्य शान्ति में भी रमण नहीं करता और स्वाधीनता में भी सन्तुष्ट नहीं होता, उसी को प्रेम की प्राप्ति होती है। इसलिए सही मायनों में तो जीवन्मुक्त होने के बाद मनुष्य प्रेम प्राप्ति का अधिकारी होता है।

जिसके हृदय में भोग-सुखों का लालच और काम-क्रोधादि विकार मौजूद हैं वह प्रेम की प्राप्ति तो क्या, प्रेम की चर्चा करने तथा सुनने का भी अधिकारी नहीं है। वास्तव में तो जिसके हृदय में ममता, आसक्ति, कामना और स्वार्थ की गन्ध भी न हो, वहीं प्रेमी हो सकता है।

इन दोषों का सर्वथा अभाव होने पर ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इन दोषों के रहते हुए अपने को प्रेमी मानना, अपने को और दूसरों को धोखा देना है। इसलिए यदि सच्चा प्रेम होना है, तो सभी दोषों का त्याग करो, प्रेम अवश्य मिलेगा।

ॐआनन्द

अकिंचन
शरणानन्द

## ६६

प्रिय साधक महानुभाव!

यह सभी को विदित है कि सर्वांश में तो कभी किसी के जीवन में अकर्त्तव्य तथा असाधन नहीं होता। किसी-न-किसी अंश में कर्त्तव्यपरायणता आदि साधन सभी के जीवन में रहते ही हैं। आंशिक साधन के आधार पर अपने को सन्तुष्ट करना बड़ा ही भयंकर असाधन है। इससे सजग साधक को बड़ी ही सावधानी पूवक अपने को बचाना चाहिये।

यह तभी सम्भव होगा, जब साधक को आंशिक असाधन भी असह्य हो जाय। आंशिक साधन को साधना नहीं मानना चाहिए। साधना एक अलौकिक तत्त्व है। मानव ने उसकी खोज की है। साधन मानव की उपज नहीं है, अपितु ईश्वरीय शक्ति है। ईश्वरीय शक्ति अनन्त और अविनाशी है। उसका कभी नाश नहीं होता।

यदि यह कह दिया जाए कि साध्य के समान ही साधना भी अनुत्पन्न हुआ तत्त्व है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। साधना में ही साधक का अस्तित्व विलीन हो जाता है। साधना सदैव साध्य से अभिन्न है। असाधन प्राकृतिक नहीं है। मानव अपनी ही भूल से असत् के संग को अपना कर असाधन को जन्म देता है।

जिसे मानव ने अपनी भूल से उत्पन्न किया है, उसका नाश भूल-रहित होने पर ही होगा। इस दृष्टि से भूल-रहित होने में ही मानव का पुरुषार्थ है। भूल-रहित होने के लिए अपनी भूल का अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है।

अपनी भूल का अनुभव तभी होगा, जब आंशिक साधना को अपनी साधना स्वीकार न किया जाय, अपितु आंशिक असाधन को भूल मान लिया जाए। भूल कितनी ही पुरानी क्यों न हो, यदि उसे नापसन्द कर दिया जाय, तो तुरन्त मिट जाती है। भूल मिटाने में अधिक समय नहीं लगता। भूल को भूल अनुभव करने में भले ही समय लग जाय।

जिस साधक को पर-दोष-दर्शन में सुख मिलता है, वह बेचारा अपने ही द्वारा अपनी भूल को पुष्ट करता है और फिर अपने दुःख का कारण दूसरों को मानता रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि नित नये दुःख में आबद्ध होता रहता है। यद्यपि सुख-दुःख प्राकृतिक तथ्य हैं, पर साधन-सामग्री हैं।

सत्य को स्वीकार करने पर सुख-दुःख साधन-सामग्री के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाते। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय से आए हुए सुख-दुःख दोनों ही से साधक साधननिष्ठ हो सकता है। साधननिष्ठ होने में तो एक मात्र असत् का संग बाधक है।

सत्य को स्वीकार करने पर सभी बाधाएँ स्वतः नाश हो जाती हैं-यह साधननिष्ठ साधकों का अनुभव है। यह भली-भाँति स्पष्ट है कि सत्य को स्वीकार किए बिना काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। इस कारण शीघ्रातिशीघ्र बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को सहन करते हुए भी सत् को स्वीकार करने के लिए सतत् प्रयत्नशील होना चाहिए। सफलता अवश्यम्भावी है।

सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-मात्र को 'सत्' को स्वीकार करने की प्रेरणा प्रदान करें, जिससे मानव 'उनका' होकर सदा के लिए सब प्रकार से पूर्ण हो जाए। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ६७

साधक महानुभाव!

देखो, मनुष्य को जब वैराग्य होता है, तब सत्य की खोज के अलावा मेरा और भी कोई कर्त्तव्य है- यह बात नहीं सूझती। वह तो सब कुछ का त्याग करके तत्परता के साथ सत्य की खोज में लग जाता है।

वृद्ध माता-पिता, नव-विवाहित पत्नी तथा छोटे-छोटे बच्चे घर में बिलखते ही रह जाते हैं। वह इन सबकी कुछ भी परवाह नहीं करता। वह अपने शारीरिक सुख को, ऐश-आराम को, बढ़िया-बढ़िया भोगों को तृण के समान त्याग देता है तथा गली के रोड़े की भाँति ठुकरा देता है।

उसको तो हर समय सामने मौत खड़ी दिखाई देती है। वह समझता है कि यदि सत्य की प्राप्ति किये बिना ही मृत्यु हो गई, तो इस हानि की पूर्ति किसी तरह से भी न हो सकेगी। ऐसा समझ कर वह सब कुछ का परित्याग कर सत्य की खोज में लग जाता है और जब तक सत्य की प्राप्ति नहीं होती, तब तक किसी भी हाल में चैन से नहीं रहता।

ऐसे वैरागी मनुष्य को माता-पिता तथा स्त्री-बच्चों को छोड़ देने का कोई पाप नहीं लगता। यदि लगता भी हो तो वह उस पाप के फल स्वरूप नरक का भी भय नहीं करता।

वास्तव में में तो जब तक संसार से हमारा सम्बन्ध रहता है और उससे हम कुछ लेना चाहते हैं, तभी तक उसकी सेवा का हमारा कर्त्तव्य रहता है।

जब मनुष्य संसार से अपना बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना है, उसकी ओर से मिलने वाले सुखों को ठुकरा देता है तथा सब कुछ का परित्याग करके सत्य की खोज के लिए निकल पड़ता है, तब संसार के प्रति उसका कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता।

देखो! जिसको वैराग्य हो गया अथवा आत्मरति की प्राप्ति हो गई, उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता। धर्म का पालन तो वैराग्य होने तक ही करना पड़ता है। कारण, धर्म के पालन से वैराग्य जगता है।

वैराग्य होने पर तो सब प्रकार के धर्म और कर्त्तव्य की समाप्ति हो जाती है। ऐसे ही आत्मरति और प्रेम की प्राप्ति होने पर भी कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता।

अब प्रश्न यह रहा कि वैराग्य की प्राप्ति कैसे हो? तो कहना होगा कि जब तक जीवन में राग है, तब तक वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

राग कैसे मिटे? इसके लिए सन्तों ने अनेक उपाय बताए हैं- किसी ने कहा, वैरागी पुरुषों का संग करने से, तो किसी ने कह दिया वैराग्य-सम्बन्धी पुस्तकों के पढ़ने से और वैराग्य की बातें सुनने से वैराग्य होता है।

किसी ने कहा, एकान्त में बैठकर जगत् की नश्वरता पर विचार करने से, तो किसी ने कह दिया कि प्रभु का भजन-ध्यान करने से वैराग्य होता है।

और भी अनेक प्रकार के साधन सद्ग्रन्थों में मिलते हैं, और वे सभी साधन किसी-न-किसी अंश में सत्य भी हैं। परन्तु वैराग्य की प्राप्ति का अचूक साधन तो अपने विवेक का आदर करना है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ६८

साधक महानुभाव!

श्रद्धा की प्रगाढ़ता का नाम ही निष्ठा है। जिस बात में मनुष्य की निष्ठा होती है वह उसका त्याग किसी हालत में भी नहीं कर सकता। जैसे, किसी की सत्य में निष्ठा है तो वह किसी भी भय अथवा प्रलोभन के कारण सत्य का त्याग नहीं कर सकता। उसको यदि स्वप्न में भी कोई सत्य के त्याग की बात कहें, तो उसे वह स्वीकार नहीं करेगा।

उसके जीवन में चाहे जितनी कठिनाइयाँ आएँ, परन्तु सत्य के त्याग की बात उसके मन में कभी नहीं आती। न ही उसके मन में कभी यह भाव आता है कि सत्य के लिए मैं इतने कष्ट उठा रहा हूँ। सत्य को त्याग कर वह जीना भी नहीं चाहता।

जैसे, राजा हरिश्चन्द्र पर कितनी विपत्तियाँ आई, परन्तु न तो वह घबराए और न सत्य को त्यागने की बात ही कभी उनके मन में आई। सहर्ष सब कठिनाइयों को सहन करते हुए सत्य के पालन में तत्पर रहे। यह है सत्य में निष्ठा की पहचान!

अब रही निष्ठा की प्राप्ति की बात। तो सत्यनिष्ठ होने के लिए प्रथम सत्य-प्रतिज्ञ होना पड़ेगा। सत्य की प्रतिज्ञा किए बिना कोई भी मनुष्य सत्यनिष्ठ नहीं हो सकता। इसलिए पहले हमें सत्य की प्रतिज्ञा, यानी सत्य का व्रत लेना होगा। फिर सत्य में पूर्ण-विश्वास तथा प्रगाढ़-श्रद्धा होने पर सत्य-निष्ठा की प्राप्ति होगी।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ६९

सत्संग प्रेमी साधक महानुभाव!

प्रभु-विश्वासी शरणागत साधकों से सुना है कि सर्व-समर्थ परमात्मा अद्वितीय, सदैव, सर्वत्र, सभी के हैं; अतः अपने भी हैं। इस वास्तविकता को अपना लेने पर साधक सनाथ हो जाता है। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि प्रभु को अपना मानना किस समस्या का निदान है? इससे पूर्व प्रत्येक साधक को यह भी भलीभाँति अनुभव करना चाहिए कि मेरी अपनी समस्या क्या है? समस्या उसे नहीं कहते, जिसे अपने द्वारा हल कर सकते हों, अथवा जो स्वतः हल हो

जाय; और समस्या उसे भी नहीं कहते जिससे निराश हो जाएँ।

भूतकाल की भूलों से हृदय पीड़ित है, उसके परिणाम से बचने के लिए अपने में कोई बल नहीं है और वर्तमान में निरसता, समस्या है, तो उसका उपाय एकमात्र प्रभु-विश्वासी साधक को यही मालूम होता है कि वह प्रभु की महिमा को अपनाकर प्रभु का हो जाय और यह स्वीकार करे कि मैं और किसी का नहीं हूँ, कोई और मेरा नहीं है। मैं स्वयं अपनी समस्या हल नहीं कर सका और उसके हल हुए बिना मुझे चैन नहीं है।

अतएव प्यारे प्रभु ही मेरे अपने हैं और मैंने इसी महामन्त्र को अपनाया है। इससे भिन्न और कोई मेरे लिए उपाय नहीं है। सर्व-समर्थ एवं पतित-पावन ने ही असमर्थ तथा पतितों को अपनाया है। सद्गुरुवाक्य कभी मिथ्या नहीं होता, यह शरणागत साधकों का अनुभव है।

इस दृष्टि से शरणागति ही एकमात्र मूल उपाय है। शरणागत को योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति होती है। कारण कि, उसमें अन्य विश्वास तथा अन्य सम्बन्ध की गन्ध भी नहीं रहती।

सत्संग में सर्वतोमुख विकास निहित है और सत्संग की मानवमात्र को सुविधा तथा स्वाधीनता है। कारण कि, अपने द्वारा जो करना है उसके करने में पराधीनता नहीं है। यह स्वाधीनता मानवमात्र को मंगलमय विधान से मिली है।

मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग न करना मानव की अपनी भूल है। अपनी भूल को मिटाने का दायित्व मानव के रचयिता ने मानव पर ही रखा है।

दायित्व पूरा करने में स्वाधीनता है। कारण कि, दायित्व पूरा करने के लिए आवश्यक सामर्थ्य, योग्यता आदि सब कुछ स्वतः प्राप्त होता है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अपनी वास्तविकता माँग का अनुभव किया है। माँग और दायित्व का पुंज ही मानव का अस्तित्व है। माँग की पूर्ति होती है। दायित्व पूरा करना है।

माँग की जागृति में दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य स्वतः आती है। ममता, कामना तथा तादात्म्य के कारण माँग की विस्मृति हो जाती है, माँग का नाश नहीं होता। उस विस्मृति को मिटाने के लिए ही अभाव-जनित वेदना उत्पन्न होती है। परन्तु प्रमादवश मानव अभाव-जनित वेदना को कामना-पूर्ति के सुख से मिटाने का मिथ्या प्रयास करने लगता है; जबकि प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है।

अपनी कामना से ही मानव आप पराधीन हो गया है। निष्कामता को अपनाये बिना असंगता की अभिव्यक्ति नहीं होती। असंगता के बिना तादात्म्य नाश नहीं होता, जिसके बिना हुए सत् का संग सम्भव नहीं है। सत्संग के बिना असाधन का नाश तथा साधन की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो वास्तविक जीवन है।

उत्पन्न हुए असाधन के नाश का प्रश्न मानव-जीवन का मौलिक प्रश्न है, जिसका हल

एकमात्र सत्संग से ही है। उत्पन्न हुआ असाधन स्वतः दिखाई देता है। उसे देख उसके कारण की खोज कर उसका सदा के लिए अन्त करना अनिवार्य है।

असाधन के रहते हुए चैन से रहना ही असाधन को पोषित करना है। असाधन-जनित वेदना साधन की उत्कट लालसा को पोषित करती है, जो विकास का मूल है। मानव की माँग साधन-निष्ठ होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न होना है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ७०

साधक महानुभाव!

सामर्थ्य की माँग, जीवन की माँग और पवित्रता की माँग-ये हुई अपनी माँग। और जिससे मिलेगी उसके प्रेम की माँग-यह हुई सार्वभौमिक माँग। साधक की पहली माँग होगी-हमें जीवन मिले, हमें सामर्थ्य मिले और हम शुद्ध-पवित्र हो जायें। अन्तिम माँग होगी कि जिसने हमारी माँग पूरी की है उससे हमारा प्रेम हो जाय।

आप कहेंगे, यह अन्तिम माँग क्यों होगी? तो भाई, आपको वह जीवन प्राप्त हो जाय, सामर्थ्य प्राप्त हो जाय और पवित्रता भी प्राप्त हो जाय-उससे जो रस मिलेगा वह अखण्ड तो होगा, परन्तु अनन्त नहीं होगा। जिसने हमारी माँग पूरी की, उसमें हमारा प्रेम हो जाय-यह साध्यरूप माँग है, साधन रूप माँग नहीं है।

आपको जीवन मिल गया, सामर्थ्य भी मिल गई और पवित्रता भी मिल गई। उससे आपको अखण्डरस, नित्यरस, शान्तरस अर्थात् ऐसा रस जो कभी खण्डित न हो सके, जिसका कभी नाश न हो, वह प्राप्त होगा।

अशान्ति की गन्ध किसमें नहीं होती? जो होने में तो प्रसन्न रहता है, किन्तु करने में सावधान रहता हे। जहाँ करने में सावधानी नहीं, वहाँ मानसिक अशान्ति आती है। लेकिन जब 'होना' 'है' में परिवर्तित हो जाता है, तो फिर करने का प्रश्न समाप्त हो जाता है। तब आप कहते हैं कि भाई! करने की बात रही नहीं, अब जो होता है वह ठीक है-यह शान्त रस है।

इस प्रकार साधक की जो पहली माँग है-वह शान्ति की है। और जो अन्तिम माँग है वह अनन्त रस की अभिव्यक्ति की है।

जब हम अपनी निर्बलताओं से परिचित हुए, तब किसी की महिमा में आस्था की अथवा हो गई। हम बिना माने आस्था कर लें या मानकर आस्था कर लें, बिना जाने आस्था कर लें, अथवा जानकर आस्था करलें-आस्था हो जाती है।

आस्था बिना जाने भी होती है और बिना माने भी होती है। जितने भी विचारक हैं, वे बिना माने सत्य में आस्था करते हैं। वे संदेह से चलते हैं। जानते नहीं हैं, पर आस्था है।

जितने विश्वासी हैं वे मानते भी हैं और आस्था भी करते हैं और जितने तत्त्वज्ञ हैं, वे जानते भी हैं और आस्था भी करते हैं।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ७१

प्रीतिस्वरूप साधननिष्ठ!

हमें देखना चाहिए कि हमारा सम्बन्ध हमारी ओर से किसके साथ है? परमात्मा के साथ है या जगत् के साथ है? अच्छाई के साथ है या बुराई के साथ? हमको क्या पसंद आता है? अगर हमको परमात्मा का सम्बन्ध अच्छा लगता है, तो संसार का सम्बन्ध अपने आप ही टूट जायेगा। अगर संसार का सम्बन्ध हमने तोड़ दिया है, तो परमात्मा से सम्बन्ध अपने आप हो जायेगा। तो आपके और परमात्मा के बीच संसार पर्दा नहीं है, उससे सम्बन्ध पर्दा है।

माँग तीन प्रकार से हो सकती है, कामना को लेकर, लालसा को लेकर और जिज्ञासा को लेकर। भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा और ब्रह्म की लालसा। 'जिज्ञासा' कहते हैं-जानने की इच्छा और कामना कहते हैं-भोग की इच्छा। तो यह भोग की कामना, सत्य की जिज्ञासा और परमात्मा की लालसा-ये तीनों लक्षण जिसमें रहते हैं उसे 'मैं' कहते हैं।

इन तीनों में जो कामना है, वह तो भूल से उत्पन्न होती है। और जिज्ञासा एवं लालसा स्वभाव से है। जो भूल से उत्पन्न होती है उसकी निवृत्ति हो जाती है एवं लालसा की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए कामना की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और परमात्मा की प्राप्ति मनुष्य को हो सकती है।

प्रेम करने का कोई तरीका नहीं है, पर प्रेम करना सब को आता है। जीवन में एक अनुभव की बात यह है कि हम जिसको अपना मान लेते हैं वह प्यारा लगता है और हम उसे अपना सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं। परमात्मा अपना है, उसे अपना बना लें, तो वह प्यारा लगता है।

जब परमात्मा प्यारा लगता है, तो उस पर सर्वस्व अर्पण कर देते हैं। ईश्वर को हम अपना दिल दे बैठें, तो फिर हमारे पास अपना क्या रह जायेगा? मनुष्य के पास जब उसका दिल न रहे, तो वह भक्त हो जाये, मुक्त हो जाए और शांति पा जाए।

आप सुनना और सीखना बंद करें, और जानना और मानना प्रारम्भ करें, तो काम बन जाएगा। जानने के स्थान पर 'मेरा कुछ नहीं है'। इसके सिवाय और कुछ नहीं जानना है। और मानने के स्थान पर सिवाय परमात्मा के और कोई मानने में आता नहीं है।

जब तक तुम बुरे नहीं होते, बुराई नहीं पैदा होती। मन में कोई विकृति नहीं है। अपने में कोई खराबी हो, तो ठीक करो, मन ठीक हो जायेगा। तुम किसी को बुरा मत समझो, मन में बुरी बात कभी नहीं आयेगी। तुम किसी का बुरा मत चाहो, मन में बुरी बात कभी नहीं आयेगी। तुम किसी के साथ बुराई मत करो, मन में बुरी

बात कभी नहीं आएगी।हमारी भूल हमें मन में दिखती है। भूल हम करते हैं और नाम मन का रख देते हैं। बुराई करने वाला खुद दुःखी रहता है।

अपने को बुरा मानोगे, तो बुराई करोगे। अपने को भला मानोगे तो भलाई करोगे। और भला-बुरा कुछ नहीं मानोंगे, तो परमात्मा में रहोगे।

अच्छाई और बुराई जब दोनों होती हैं, तब तो बनता है अहम्। परिच्छिन्नता बनती है। और जब बुराई बिल्कुल नहीं रही, अच्छा ही अच्छा रह जाता है, तो अहम् का नाश हो जाता है। द्वन्द्व में अहम् बनता है, द्वन्द्वतीत में अहम् नहीं बनता। मनुष्य सर्वांश में बुरा नहीं हो सकता, पर सर्वांश में भला हो सकता है।

गुरु वाणी से जो सुना, उसे मान लिया। यह निदिध्यासन हो गया।

जिसके करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, जिसमें किसी का अहित न हो, जिसके बिना करे रह न सकते हों और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो-ऐसा काम ही जरूरी काम होता है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ७२

साधक महानुभाव!

कर्त्तव्य-परायणता अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग का यह शुभ परिणाम होना चाहिए कि साधक अपने में सन्तुष्ट हो जाय। यह वैधानिक तथ्य है कि अपने में जीवन तथा जीवनधन है। इस वास्तविकता में अविचल आस्था रखनी चाहिए। 'जीवन' जड़ता, अभाव, पराधीनता, नीरसता आदि दोषों से रहित है। उसी को जीवन कहते हैं।

जीवन में चेतना, स्वाधीनता है और सरसता है, जिसकी माँग साधक को स्वभाव से ही रहती है। जीवन की माँग से ही काम का नाश होता है और कामरहित होते ही देहाभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही सभी समस्याएं स्वतः हल हो जाती हैं। यह अनुभव सिद्ध सत्य है।

साधकों को वास्तव में अपने लिए किसी भी काल में शरीर की आवश्यकता नहीं है। शरीर के सदुपयोग से परिवार, समाज एवं संसार के अधिकारों की रक्षा हो सकती है। इससे भिन्न शरीरों का कोई उपयोग नहीं है।

शरीर का सदुपयोग साधक को विद्यमान राग से रहित कर देता है और विवेकपूर्वक असंग होने से फिर नवीन राग ही उत्पन्न नहीं होता। रागरहित भूमि में ही योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जो साधक की वास्तविक माँग है, जिसकी पूर्ति होने पर साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है।

शरीर का सदुपयोग और उससे असंगता अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब साधक श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करे। जिसकी वास्तविक माँग है, उसके अस्तित्व को स्वीकार

करना सहज तथा स्वाभाविक होना चाहिए। माँग उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। वही सभी साधकों का साध्य है।

साधक को विचार करना चाहिए कि क्या मैंने अपनी प्राप्त शक्ति का सदुपयोग कर लिया है या कमी रखी है? विचार करने पर मालूम होगा कि कमी रखी है। मैंने अपने को पूरा नहीं लगाया है।

हरेक मनुष्य अपने मन में भरी हुई बातों को पूरे-पूरे ढंग से बाहर नहीं निकालता। किन्तु ऊपर से कुछ-न-कुछ भरता रहता है। अतः साधक को चाहिए कि अपने मन को टटोले कि उसमें क्या-क्या भरा है। उसे भलीभाँति देखे और सोचे कि मुझमें कौन-सी असमर्थता है, जिसने मुझे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचने दिया।

अवश्य ही मुझे किसी ऐसे सुख में रस आता है, जिसने मुझे फंसा रखा है। इस प्रकार सोच कर उस रुकावट को विवेक-बल से अथवा विश्वास-बल से दूर करे। तभी वह साधन में अग्रसर हो सकता है।

आश्चर्य तो इस बात का है कि साधक को जो कुछ करना चाहिए, उसे करता भी नहीं और न करने के दुःख से दुखी भी नहीं होता। वह जितना समय और मन अनावश्यक कामों में लगाता है, उतना अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं लगाता।

यदि साधक अपने मन की वास्तविकता को विवेक के प्रकाश में खोलकर रखे, तो उसे मालूम होगा कि मन में बहुत से ऐसे संकल्प भरे हैं, जिनको मैं न तो पूरा करता हूँ और न मिटाता ही हूँ। यही कारण है कि मन संकल्पों के जाल में फँसा रहता है और शुद्ध नहीं हो पाता। चित्त शुद्ध न होने के कारण ही मुझे अपने लक्ष्य की प्राप्ति में विलम्ब हो रहा है।

मनुष्य अपने मन के असली फोटो को तो छिपाता चला जाता है और जो जानता है उसके विपरीत आचरण करता है। साधारण मनुष्यों में और सन्त में यही अन्तर होता है कि सन्त जो जैसा जानता है वैसा मानता है और जैसा मानता है वैसा ही करता है। परन्तु साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं करता। अतः साधक को सन्तों का अनुकरण करना चाहिए।

मनुष्य की स्थिति सदैव एक सी नहीं रहती, बदलती रहती है। अतः साधक को सोचना चाहिए कि जब मैं वर्तमान स्थिति से अलग हो जाऊँगा, तब कहाँ और कैसे रहूँगा? इसका विवेकपूर्वक अध्ययन करने से साधक प्राप्त स्थिति से ऊपर उठने के लिए अग्रसर हो सकता है।

संसार की रुचि हमेशा बदलती रहती है। एक रुचि की पूर्ति होते ही दूसरी पैदा हो जाती है। इस प्रकार रुचि की उत्पत्ति और पूर्ति के जाल में प्राणी फँसा रहता है।

रुचि की पूर्ति के रस से मोहित रहने के कारण उसे करने का दुःख नहीं होता और जो सबसे अच्छी चीज है उसे न पाने का भी दुःख नहीं होता। इसलिए साधक अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ पाता। यदि उसके जीवन में

वास्तविक दुःख का उदय हो गया, तो उसे बहुत शीघ्र लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ७३

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव!

साधक को कर्त्तव्य-पालन के लिए सामग्री मिली है। साधक का अपने प्रति, जगत् के प्रति तथा प्रभु के प्रति क्या कर्त्तव्य है? अपने प्रति हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने को बुरा न बनाएँ, जगत् के प्रति कर्त्तव्य है कि हम जगत् को बुरा न समझें और प्रभु के प्रति कर्त्तव्य है कि हम उनको अपना मानें।

हम तीनों में से एक भी नहीं करते, फिर चाहते हैं साधक होना। तो यह नहीं हो सकता। प्रभु की चीज को अपना मानते हैं, इस बेइमानी से चित्त शुद्ध नहीं होगा।

इसलिए किसी भी वस्तु को अपना न मानें। त्याग द्वारा जीवन अपने लिए; ऐसा द्वारा जीवन जगत् के लिए; और प्रेम द्वारा जीवन भगवान् के लिए उपयोगी हो जाता है। त्याग, सेवा और प्रेम के अपनाते ही चित्त शुद्ध हो जाएगा।

कर्त्तव्य से भिन्न मानव-जीवन का कोई अर्थ नहीं है। साधन से भिन्न साधक का जीवन नहीं है। त्याग के द्वारा हम चित्त शुद्ध कर सकते हैं।

त्याग नहीं करेंगे, तो राग रहेगा। उसके परिणाम स्वरूप अभाव, पराधीनता, जड़ता, सुख और दुःख-ये पाँच फल भोगने पड़ेंगे और जीवन अपने लिए उपयोग सिद्ध नहीं होगा।

आप स्वीकार करिए कि, 'प्रभु मेरे हैं', इससे जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाएगा। सेवा का व्रत ले लीजिये, जो जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाएगा। अकिंचन और अचाह होने से जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाएगा।

यदि आप इन तीनों में-से किसी को भी स्वीकार नहीं करते, तो अनन्त जन्मों तक आप से कोई साधन नहीं करा सकता। इसलिए सत्संग के द्वारा जीवन की समस्या का हल वर्तमान में ही हो सकता है।

त्याग, सेवा, प्रेम अपनाइए, साधनपरायणता आएगी। निज-ज्ञान के आदर से जीवन में त्याग आता है। प्रभु में विश्वास करने से उनमें आत्मीयता हो जाती है। उनको अपना मानने से उनकी प्रियता उदित होती है।

किसी को बुरा न मानने से जगत् के प्रति सद्भाव और सेवा होती है। सेवा का अर्थ है-किसी को बुरा मत समझो, किसी का बुरा मत चाहो, किसी की बुराई मत करो एवं किसी से सुख की आशा मत करो।

प्रेम का अर्थ है कि प्रभु को अपना मानो, उनमें आत्मीयता रखो। प्रभु चाहे जहाँ हो, जैसे हों, चाहे जो करें, मिलें, न मिलें, पर उनको अपना मानो।

त्याग का अर्थ है कि किसी वस्तु को अपना मत मानो। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्ध मत रखो। कर्म, चिन्तन एवं स्थिति किसी भी अवस्था में जीवन-बुद्धि मत रखो।

किसी का आश्रय मत लो। किसी से सुख की आशा मत करो। फिर जीवन जगत् के लिए, अपने लिए और प्रभु के लिए उपयोगी हो जाएगा, साधन में सिद्धि हो जाएगी, इसी सद्भावना के साथ, सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ७४

प्रिय साधको!

मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन तो अवश्य करना चाहिए किन्तु उसमें रस नहीं लेना चाहिए। कारण, उसमें रस लेने से करने का अन्त नहीं होता और करने का अन्त हुए बिना विश्राम नहीं मिलेगा।

देखो, करना तो करने का अन्त करने के लिए ही किया जाता है। सदा करते ही रहना-यह तो कोई सिद्धान्त नहीं है और न यह किसी को भाता ही है।

करने में रस लेने से करने के राग की निवृत्ति नहीं होती और चाह-युक्त करने से नए राग की उत्पत्ति होती रहती है। राग के रहते किसी का भी कल्याण नहीं हो सकता-यह पक्का सिद्धान्त है।

करना तो लोक-हितार्थ होना चाहिए; निज-सुख के लिए करना तो भोग है। पर-हित के भाव से करने से राग की निवृत्ति और करने का अन्त हो जाता है। इसलिए जो हम कर सकते हैं, उसको सही ढंग से कर दें, बाकी न रखें, और जो नहीं कर सकते, उसको भुला दें अर्थात् उसके करने की न सोचें।

करना शेष रहने के कारण ही जीने की आशा होती है और जीने की आशा के रहते मृत्यु का भय उत्पन्न होता है। नहीं तो यह जीव तो अमर है, प्रभु का अंश ही है, इसकी मृत्यु कैसी? परन्तु जीने की आशा रहने के कारण मरने से भय लगता है।

जब तक जीने की आशा है, तब तक मरने का भय नहीं मिट सकता और करने लायक बाकी बना रहने से जीने की आशा नहीं मिटती।

जो व्यक्ति करने योग्य काम को सही ढंग से पूरा कर देता है वह फिर जीने की आशा किसलिए रखेगा?

करने लायक को सही ढंग से पूरा करते ही जीने की आशा और मरने का भय मिट जाता है। यही सही ढंग से करने की पहचान है। जीने की आशा और मरने का भय मिट जाना ही मुक्ति है। इसलिए करने लायक को सही ढंग से पूरा करके करने का अन्त कर देना चाहिए और सब प्रकार की कामनाओं का त्याग करके चाह-रहित हो जाना चाहिए।

मनुष्य के जीवन में करना और पाना ही श्रम है। अतएव इसका अन्त होने पर ही

सच्चा विश्राम है। चाह-मात्र से और तो कुछ होता नहीं। हाँ, बन्धन अवश्य हो जाता है।

चाह तो एकमात्र भगवान् की ही होनी चाहिए, करने-पाने की नहीं। जिसके हृदय में भगवान् को पाने की सच्ची लालसा उत्पन्न हो गई, समझो उसके सब साधन हो गए। इसलिए भगवत्-प्राप्ति की लालसा रखो, यही सबका सार है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ७५

साधक महानुभाव!

सबसे बड़ा असत् जो जीवन में ठहरा हुआ है वह है-शरीर की ममता। उसकी ममता करने से वह पराधीनता ही देगा, इस बात को हम सब जानते हैं। फिर भी हम शरीर को अपना मानते हैं, उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं, यह बड़ी भारी पराधीनता है।

भगवान् के हम भक्त हो जाएँ, जगत से अतीत का जीवन प्राप्त हो जाए, इसमें प्रसन्नता नहीं अनुभव करते। मन की बात पूरी करने से जीवन-बुद्धि रखते हैं। यह जीवन का सबसे काला समय है।

निज-विवेक से यह स्पष्ट मालूम होता है कि पराधीनता गुण नहीं, दोष है। कामनापूर्ति का प्रलोभन ही पराधीनता है और यही हमारी निर्बलता है। कामना-आपूर्ति की वेदना पराधीनता से मुक्त कराती है।

यह पराधीनता जो जीवन में आ गई है कि संसार और परमात्मा मिलकर हमारे मन की बात पूरी कर दें, अर्थात् दूसरे लोग हमारे काम आ जाएं, तो जीवन में पराधीनता, जड़ता और अभाव रहेगा ही।

परमात्मा ने हमें सबके काम आने के लिए बनाया है। हम सबके काम आएं- यदि यह स्वीकार कर लिया जाए, तो जीवन में पराधीनता नहीं रहेगी। परमात्मा से आपकी उत्पत्ति हुई है और आपमें परमात्मा की ही सत्ता है।

यदि हमारा जीवन उस अनन्त के निर्भर हो जाए, तो इसमें हमारी कोई विशेषता नहीं है। वे जेसा चाहें हमारा उपयोग करें। इस निर्भरता में उनसे आत्मीयता होगी और प्रियता की अभिव्यक्ति होगी। जिसने हमारा-आपका निर्माण किया है, उसने हमें यह स्वाधीनता भी दी है कि हम दिव्य-चिन्मय जीवन को प्राप्त कर सकते हैं।

वस्तु की चाह तुम्हारी उपजाई हुई भूल है, उसे तुम मिटा सकते हो। इसका दायित्व तुम पर ही है, और किसी पर नहीं। इसे कठिन काम मत समझों यदि इसे कठिन मानोगे, तो वर्तमान में कभी सिद्धि नहीं मिलेगी।

प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग द्वारा जब साधक व्यक्तियों की यथेष्ट सेवा करने लगता है और उसके बदले में किसी प्रकार के सुख की आशा नहीं रखता, यहाँ तक कि सेवक कहलाने की भी जिसमें कामना नहीं है, तब उसका

किसी वस्तु से तथा व्यक्ति से सम्बन्ध नहीं रहता।

जो कुछ भी चाहता है उसी का वस्तु-व्यक्ति आदि से सम्बन्ध रहता है, जिसके रहते हुए न तो निर्विकारता ही प्राप्त होती है और न अहम् का ही नाश होता है। विकारों के रहते हुए पराधीनता का नाश सम्भव नहीं है। पराधीनता का नाश हुए बिना जड़ता का अभाव हो नहीं सकता। उसके हुए बिना चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होती।

अहम् का नाश हुए बिना भेद का नाश नहीं होता और उसके हुए बिना अनन्त के प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। अतः वस्तु व्यक्ति आदि से सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य है।

सम्बन्ध-विच्छेद से किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की क्षति नहीं होती और न प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा में ही बाधा होती है। मंगलमय विधान के अनुसार प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग में ही आवश्यक वस्तुओं की उपलब्धि और व्यक्तियों की सेवा में ही सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति निहित है। सम्बन्ध-विच्छेद बिना किए न तो प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग ही सम्भव है और न व्यक्तियों की सेवा।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ७६

प्रिय साधक महानुभाव!

सच बात तो यह है कि जिसको अमरत्व की अभिलाषा होती है, उसी को अमरत्व प्राप्त होता है। जिस काल में अमरत्व की अभिलाषा पूर्णरूप से जाग्रत हो जाती है, उसी समय भोग की चाह मिट जाती है। फिर अमरत्व की अभिलाषा स्वतः पूरी हो जाती है।

अपने साधन के प्रति यह आवश्यक है कि वह अपने लिए रुचिकर हो। साधन रुचिकर होते हुए भी विवेक-विरोधी न हो। क्योंकि जो रुचि विवेक-विरोधी होती है, वह भोग है, साधन नहीं।

वस्तु, व्यक्ति आदि में सत्यता और सुन्दरता रुचिकर हो सकती है। किन्तु वह रुचि विवेक-विरोधी है, क्योंकि कोई भी वस्तु ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसकी सुन्दरता नित्य हो, जिसमें मलीनता न हो और जो अविनाशी हो तथा जिससे नित्य सम्बन्ध सुरक्षित रह सके। ऐसी स्थिति में वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा साधन हो सकता है, उनकी ममता और उनका भोग साधन नहीं हो सकता।

अतः योग्यता, ईमानदारी, परिश्रमपूर्वक उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन तथा उनका सदुपयोग एवं निर्मोहतापूर्वक व्यक्तियों की सेवा करने की रुचि-विवेक का विरोध नहीं है।

समस्त साधनों का आरम्भ होता है-सुख की आशा से रहित की हुई सेवा से। क्योंकि वह कर्त्तव्य-विज्ञान है। और समस्त साधनों का अन्त होता है-प्रीति की अभिव्यक्ति

में। क्योंकि प्रीति से ही अपने साध्य को रस मिलता है।

इस दृष्टि से सुख की आशा का त्याग और प्रेमास्पद को रस देने की उत्कृष्ट लालसा में ही साध-तत्त्व से अभिन्नता हो सकती है, जिसके होते ही साधन में स्वाभाविकता आ जाती है जो साधकों को अभीष्ट है।

साधन की लालसा ज्यों-ज्यों सबल और स्थायी होती जाती है, ज्यों-त्यों असाधन-जनित कामनाएँ अपने आप मिटती जाती है। ज्यों-ज्यों असाधन-जनित कामनाएँ मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों साधन की लालसा वर्तमान जीवन की वस्तु होती जाती है।

यह नियम है कि जो लालसा वर्तमान जीवन से सम्बन्ध रखती है, उसकी पूर्ति स्वतः हो जाती है। साधन की लालसा की पूर्ति में ही साधक का अस्तित्व साधन होकर साधन-तत्त्व के समान ही नित्य-तत्त्व है। इस कारण प्रत्येक साधक को साधन-सम्पन्न होना अनिवार्य है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन-

शरणानंद

## ७७

मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!

यह बात प्रत्येक साधक को समझ लेनी चाहिए कि हमें मुक्त उसी से होना है जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है। इस प्रकार हमें शरीर और संसार दोनों से मुक्त होना है। वह तभी सम्भव है जबकि हमारी कोई कामना न रहे, यानी हम अचाह हो जाएँ।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुक्त होने में बाधा क्या है? तो कहना होगा कि हम सुख-भोग की आसक्ति को भी सुरक्षित रखना चाहते हैं और मुक्ति भी चाहते हैं। पर यह दोनों साथ-साथ सम्भव नहीं है। सुख-भोग की आसक्ति को तो मिटाना ही पड़ेगा। उसके लिये हमें सभी कामनाओं की निवृत्ति करनी होगी और कामनाओं की निवृत्ति एकमात्र विवेक का आदर करने पर होता है।

विवेक का आदर करने की सामर्थ्य तब आती है, जब हम प्राप्त सुख को दुःखियों की सेवा, में लगा देते हैं। अपने से दुःखी को देखकर ही हमें सुख की अनुभूति होती है। इस प्रकार सुख दुःखियों की देन है। यदि हम प्राप्त सुख को उदारतापूर्वक बिना किसी प्रत्युपकार की आशा के दुःखियों की सेवा में लगा दें, यानी उनकी सेवा कर सकें, तो बहुत ही सुगमतापूर्वक सुख-भोग की आसक्ति मिट सकती है और मुक्त हो सकते हैं।

यदि विवेकपूर्वक अपने को देह न स्वीकार किया जाए, तो मन स्वभाव से ही चिन्तन-रहित होकर उस चेतन में विलीन हो जाता है जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। आप सभी साधक महानुभाव विवेकवित् होकर अमरत्व हो प्राप्त करें, इसी सद्भावना के साथ!

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ७८

मेरे निज स्वरूप!

सत्संग का अर्थ है- सत्य का संग करना, यानी अपने जीवन में सत्यनिष्ठा का धारण करना, यानी सत्य का व्रत लेना। सत्य का संग करने के लिये साधक को पहले तो श्रम-रहित होना पड़ेगा।

शरीर से काम न करने का नाम श्रम-रहित होना नहीं है। श्रमरहित होने का अर्थ है कि संकल्प-रहित होना। करने और पाने के जो संकल्प हैं, यही साधक के जीवन में श्रम है।

मनुष्य करने और पाने में ही उलझा रहता है। इसलिए संकल्प-रहित होना बहुत जरूरी बात ह। प्रश्न होता है कि हम श्रम रहित कैसे बनें?

श्रम-रहित होने का यह उपाय है- जो काम करने लायक हो, उसको फलासक्ति छोड़कर सही ढ़ंग से पूरा करके राग-रहित हो जायें। और पाने का लालच छोड़कर चाह रहित हो जाये, और करने की रुचि का भी त्याग करके कर्त्तव्य के अभिमान से रहित हो जायँ।

ये तीनों बातें चाहे तो कर्त्तव्य-परायण होकर कर लें, चाहे असंग होकर कर लें और चाहे भगवान् की शरण होकर कर लें। इन तीनों बातों के होने पर ही मनुष्य श्रम-रहित हो सकता है।

श्रम-रहित होने पर ही सत्य का संग होता है और तभी सत्य की प्राप्ति होती है। यही मानव जीवन का उद्देश्य है।

साधन सभी अवस्थाओं में किया जा सकता है। जो परिस्थिति विशेष की अपेक्षा रहता है, उसको तो साधन ही नहीं कह सकते।

शरीर से काम कर देने तथा वस्तु दे देने का नाम ही सेवा नहीं है। सेवा तो हृदय का भाव है, जो हर परिस्थितियों में मानव भली प्रकार कर सकता है।

सेवा का मूल-मन्त्र यह है कि जो हमको मिला है वह मेरा नहीं है और मेरे लिये भी नहीं है। यहाँ से सेवा का आरम्भ होता है।

अपने को जो मिला है उसको पर-सेवा में लगा देना सेवा है। सबसे बड़ी सेवा तो अपने को सदाचारी और संयमी बना लेना है अथवा किसी को बुरा न मानना और किसी का बुरा नहीं चाहना है, अथवा सुखी को देखकर प्रसन्न और दुःखी को देखकर करुणित होना है।

अपना सुधार कर लेना ही सच्ची सेवा है। जिसने अपना सुधार कर लिया, उसको सारे विश्व की पूरी सेवा से उत्पन्न होने वाले फल की प्राप्ति होती है।

अपना सुधार क्या है? शरीर को श्रमशील और सदाचारी बना लेना- स्थूल शरीर का सुधार है।

मन को संयमी और संकल्प-रहित बना लेना, बुद्धि को विवेकवती तथा इन्द्रियज्ञान पर विजयी बना लेना, चित्त को अनुरागी और व्यर्थ चिन्तन से रहित तथा अहं को सब प्रकार के अभिमान से रहित बना लेना- सूक्ष्म शरीर का सुधार है।

सर्व प्रकार की वासनाओं का त्याग करके असंग हो जाना कारण शरीर का सुधार है।

इस प्रकार जिसने अपने तीनों शरीरों का सुधार कर लिया उसको सारे विश्व की सेवा का फल मिलता है।

उसके शरीर के परमाणुओं द्वारा सारे विश्व का हित होता है। और सबका हित करना तथा चाहना ही सबसे उत्तम सेवा है।

जो दीख रहा है, वह मेरा नहीं है और मेरे लिए भी नहीं है- यह भजन का मूल मन्त्र है।

सेवा और भजन दोनों से ही प्रेम की प्राप्ति होती है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ७९

मेरे निजस्वरूप!

मनुष्य अपनी बुद्धिमानी को दूसरों पर लगाता रहता है, यानी दूसरों को समझाने में बुद्धि का उपयोग करता है और बदले में सज्जन कहला कर बड़ाई का रस लेता रहता है। यही उसकी सबसे बड़ी असावधानी है।

यदि वह अपनी बुद्धि से अपनी ही गुत्थी सुलझावे, तो उसको बड़ा भारी लाभ हो सकता है। कारण, मानव को बुद्धि अपनी उलझन सुलझाने के लिये ही मिली है। अपनी वस्तु-स्थिति को सामने रखकर उस पर विचार करना ही अपनी गुत्थी सुलझाना है।

हम करते यह हैं कि अपनी वस्तु-स्थिति पर तो विचार करते नहीं, या तो भूत की घटनाओं की स्मृति करते रहते हैं और उन्हीं के द्वन्द्व में फँस कर अपने को दीन या अभिमानी मानते रहते हैं। अथवा जीवन की आशाओं के चिन्तन में फँसकर चिन्तित बने रहते हैं।

अपनी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करते और न ही अपनी वस्तु-स्थिति पर ही विचार करते। इसलिए हमारी उलझनें सुलझ नहीं पातीं।

गुरुजनों से सुनकर थोड़ी शुभ क्रिया और आंशिक साधन करते हैं, परन्तु जब उनमें शान्ति नहीं मिलती; तो कहते हैं कि हमें कोई अच्छा गुरु नहीं मिला, अथवा हमारा भाग्य अच्छा नहीं है, हम पर भगवान् की कृपा नहीं है, या हमारी परिस्थिति अच्छी नहीं है। इत्यादि-इत्यादि।

ॐआनंद!

अकिंचन

शरणानन्द

## ८०

साधक महानुभाव!

जो मनुष्य भगवान् को छोड़कर कुछ भी चाहता है तथा भगवान् का भजन करके भगवान् से कुछ भी माँगता है, वह भगवान् के प्रेम का पात्र नहीं होता, यानी उसको भगवान्

का प्रेम नहीं मिलता है। उसका कल्याण भी नहीं होता।

इसलिए मनुष्य के जीवन में कुछ भी चाहने तथा माँगने का स्थान ही नहीं है। भक्तों को भगवान् आवश्यक वस्तु तो बिना माँगे और बिना चाहे ही देते रहते हैं और अनावश्यक वस्तु भक्त के चाहने और माँगने पर भी नहीं देते।

अतः भक्त का भगवान् के अलावा कुछ भी चाहना उसकी भूल के सिवाय और कुछ नहीं है।

भक्ति मार्ग के साधक को तो 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। कारण, 'स्व' में सन्तुष्ट हुए बिना मनुष्य न तो उदार हो सकता है और न प्रेमी हो सकता है।

उदार हुए बिना जगत् प्रसन्न नहीं होता और प्रेमी हुए बिना भगवान् प्रसन्न नहीं होते। उदार और प्रेमी से जगत् और जगत्पति दोनों प्रसन्न रहते हैं। इसलिए 'स्व' में रहो।

दोष और कामना वाला मनुष्य निर्भय और निश्चिन्त नहीं रह सकता। दोषों के नाश होने पर भय मिटता है और कामनाओं के नाश होने पर ही चिन्ता मिटती है। निर्भय और निश्चिन्त होने पर ही ज्ञज्ञन का प्रादुर्भाव होता है। इस दृष्टि से 'स्व' में सन्तुष्टि अत्यावश्यक है।

जो मनुष्य पराश्रय और प्रवृत्ति को पसन्द कर लेते हैं, तभी हमारे जीवन में दोष और कामनाओं की उत्पत्ति होती है।

जिस वस्तु को हम पसन्द नहीं करेंगे, हमारे पास पड़ी होने पर भी उसमें हमारा मन नहीं लगेगा। उसकी तरफ हमारा खिंचाव नहीं होगा।

जिसको हम पसन्द कर लेंगे तो पास न होने पर भी उसकी याद आएगी, उसकी तरफ खिंचाव होगा। उसकी चाह पैदा हो जावेगी, वह प्यारी लगने लगेगी।

याद आना, प्यारा लगना, अभिलाषा पैदा होना-यही तो भजन है! विचारकों ने एसे 'साधन' कह दिया है और श्रद्धालुओं ने 'भजन' कह दिया। यानी विचारकों ने कह दिया-विनाशी को नापसन्द कर दो; श्रद्धालुओं ने कहा-अविनाशी को पसन्द करो।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ८१

मेरे निज स्वरूप!

चाह-रहित होने का अर्थ केवल इतना ही है कि अपने आपको सभी के लिए समर्पित कर दो, क्योंकि जो सभी के लिए नहीं है, वह प्रभु के लिए भी नहीं होता।

ऐसा कौन है, जिसके मन में सभी के लिए हित की बात है, हित का भाव है? उससे उसका भी अहित न हो, उसका भला हो। उसका भला हो जाएगा, तो उसमें दुःख देने की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि दुःखी होकर ही आदमी किसी को दुःख देता है। इसलिए सब के हित का भाव रखो, किसी से कुछ मत चाहो। तब तुमसे किसी को भय नहीं होगा और न तुम्हें

कोई भयभीत कर सकेगा। क्योंकि जो तुमने दिया नहीं है, वह तुम्हें मिलेगा कैसे?

अतः साधन में अस्वाभाविकता और असिद्धि नहीं है। किसी से कुछ न चाहें और किसी का अहित न करें, तो भक्त को भगवान् अशान्त को चिर-शान्ति और दुःखी को दुःख-निवृत्ति मिल जाएगी। परन्तु आज साधन हमारे जीवन का बोझा मालूम होता है।

साधन और जीवन में तो इतनी स्वाभाविकता आ जानी चाहिए कि उसका भास ही न हो। पर आज साधन में श्रम क्यों मालूम होता है? इसलिए कि साधन की आवश्यकता नहीं है, साधन में प्रियता नहीं है, जिसकी सेवा कर रहे हें, उसको अपना नहीं मानते।

जो साधन को अस्वाभाविक ढंग से करेगा तथा जो साधन सिखाने को ही साधन मानेगा, उससे बहुत बड़ा असाधन होगा। इसलिए साधन की अभिव्यक्ति जीवन में से होनी चाहिए, तब साधन में स्वाभाविकता आएगी।

मानव-जीवन किसी कर्म का फल नहीं है, वरन् अनन्त की कृपा-शक्ति से निर्मित है। इस जीवन का आरम्भ किसी की उदारता में निहित है। मिली हुई वस्तु को अपना मान कर व्यक्ति दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है।

अपने में जब तक दीनता और अभिमान है, तब तक प्रभु में विश्वास नहीं हो सकता। दीनता और अभिमान मिटेगा, किसी भी वस्तु को अपना न मानने से। विचारशील साधक, प्रभु-विश्वासी साधक और भौतिक दर्शन का ज्ञाता-ये तीनों किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानते।

यह देने वाले प्रभु की दयालुता है कि उसके ही सामने व्यक्ति उनकी दी हुई वस्तुओं का दुरुपयोग करते हैं, फिर भी वे वस्तु देना बन्द नहीं करते। ऐसे कृपालु प्रभु को हम अपना नहीं मानते, यह कितनी दुःखद बात है।

यदि आपके पास अपना करके कुछ है, तो आप भगवान् को अपना नहीं कह सकते। यदि आपके पास अपना करके कुछ नहीं है, तो आप भगवान् को अपना कह सकते हैं, और यही जीवन का सत्य है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ८२

मेरे निज स्वरूप साधक महानुभाव!

'मानव' है- किसी की सेवा, किसी का प्रेम। प्रेम श्रम-साध्य नहीं है, प्रेम का ह्रास नहीं होता। प्रेम के लेने में तृप्ति नहीं होती, देने में घटता नहीं, नित-नव बढ़ता ही रहता है। प्राण-शक्ति का नाश होता है, पर विश्वास का नाश नहीं होता। अपने द्वारा आपने यह स्वीकार किया है कि प्रभु हैं- यहाँ से भजन का आरम्भ होता है।

विश्वास इतना दृढ़ और स्वतन्त्र होना चाहिए कि शास्त्र आदि का प्रमाण भी न हो, तब भी आप विश्वास करें कि 'प्रभु' हैं। जीवन में से

प्रभु विश्वास न निकले, तब भजन होगा। जिसे कोई वस्तु, परिस्थिति आदि सुख नहीं दे पाती, वही भजन करता है। जिसके जीवन में निरपेक्ष रस की माँग है, वह प्रभु विश्वास कर सकता है। जगत् से अतीत के जीवन में जिसकी आस्था है, वह विश्वास कर सकता है, भजन कर सकता है।

हमारी जो कामनाएँ हैं, वे पूरी हो जाएँ, यह ईश्वरवाद नहीं है। कामना-पूर्ति और मोक्ष चाहने वाला प्राणी ईश्वर-प्रेमी नहीं हो सकता, ईश्वर से प्रेम नहीं कर सकता। 'दिल देवे, सो दिलवर को पावे।' कामना-पूर्ति, निवृत्ति और मोक्ष, तीनों को जो छोड़ देता है, वही दिल दे सकता है। प्रभु से कह दो- 'मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी इच्छा पूरी हो'।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ८३

मेरे निज स्वरूप!

जहां तक हो सके, कुछ काल के लिए लोग शान्त हो जाया करें, कारण कि प्रत्येक कार्य के मूल में या श्रम के मूल में सभी क्रिया-रहित होते हैं। यानी श्रम के मूल में श्रम रहित और श्रम के अन्त में श्रम रहित होना- यह सभी का अनुभव है। प्रत्येक गति के मूल में स्थिरता और गति के अन्त में भी स्थिरता है। यह प्राकृतिक तथा वैज्ञानिक तथ्य है।

प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के पश्चात् स्वभाव से निर्विकल्पता रहती ही है। इस निर्विकल्पता का नाम ही 'मूक सत्संग' है, जिससे आवश्यक शक्ति का विकास होता है।

सुनने के पूर्व हम शान्त हो जायें और सुनने के पश्चात् भी शान्त हो जायें सुनने के पूर्व की शान्ति हमें सुनने की यथेष्ट सामर्थ्य प्रदान करेगी और श्रवण के अनत में जो शान्ति होगी, वह सुने हुए को स्थिर कर देगी।

यह जो शान्त रहना है, यह बहुत बड़ा साधन है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते हैं। इसलिए जहाँ तक हो सके, हमें स्वभाव से ही शान्त रहना चाहिए। इसमें अहंकृति न लगाएँ अर्थात्, 'हम नहीं बोलेंगे' ऐसी भावना भी न हो। अपितु सहज भाव से न बोलना, न सोचना, न देखना आ जाए, अर्थात् इन्द्रियों को भीतर-बाहर से शान्त रहने का स्वभाव बना लें, तो बहुत लाभ होगा।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ८४

उपस्थित साधक महानुभाव!

वर्तमान दशा का अध्ययन साधन-निर्माण की भूमि है। अब प्रश्न यह है कि वर्तमान दशा का अध्ययन कैसे किया जाये? तो निज-विवेक के प्रकाश में अपनी उस रुचि को देखा जाए, जो बीज रूप से विद्यमान है और उस

योग्यता को देखा जाए, जिससे विद्यमान रुचि की पूर्ति और निवृत्ति हो सके।

यह निमय है कि विद्यमान रुचि की पूर्ति और निवृत्ति के बिना वास्तविक जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। यानी इस परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवन से मुक्ति नहीं मिल सकती।

वर्तमान दशा के अध्ययन से दो बातें स्पष्ट दिखाई देती हैं- एक तो यह कि इस परिवर्तनशील जीवन के प्रति अपना राग है और दूसरे नित्य जीवन की लालसा भी हैं यही दो अपनी वर्तमान में विद्यमान रुचियाँ हैं। परिवर्तनशील से जो हमारा संग हो गया है, उसकी निवृत्ति हो जाए और नित्य जीवन की प्राप्ति हो जाए। इसी के लिए साधन-निर्माण की अपेक्षा है। और साधन-निर्माण तभी हो सकता है, जब हम अपनी वर्तमान दशा, यानी वस्तुस्थिति को भलीभाँति जान लें।

वस्तुस्थिति को जानने के लिए हमें अपने सभी संकल्पों को भली प्रकार देखना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी हैं, यानी किसी के लिए भी अहितकर हैं, और जिनको वर्तमान में पूरा करना आवश्यक नहीं है, उनका त्याग करना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी नहीं है, लेकिन अपनी सामर्थ्य से परे हैं, यानी जिन्हें हम पूरा नहीं कर सकते, उन्हें प्रभु, अथवा विश्व के समर्पित कर निश्चिन्त हो जाना है। ऐसा अनुभव में आया है कि कालान्तर में ऐसे शुभ संकल्प हो पूरा करने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

जो शुद्ध संकल्प हैं, और जिन संकल्पों की पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, वे स्वतः पूरे होते हैं, ऐसा विधान है। अशुद्ध संकल्पों के त्याग से निर्वैरता रता और निर्भयता आ जाती है। निर्वैरता से द्वेष मिट जाता है और प्रीति की जागृति हो जाती है और निर्भयता से आत्म-विश्वास में दृढ़ता आजाती है और अपने साधन में अविचल श्रद्धा हो जाती है।

साधननिष्ठ होने के लिए हमें इन तीन प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है-

(१) हमें क्या करना है? (२) हमें क्या जानना है? (३) हमें अपने को क्या मानना है? साधन की दृष्टि से हमें प्राप्त बल का सदुपयोग तथा प्राप्त विवेक का आदर करना है। बल के सदुपयोग से सभी निर्बलतायें मिट जाती हैं और विवेक के आदर से नासमझी मिट जाती है और निःसन्देहता आ जाती है। निःसन्देहता से जीवन और ज्ञान में भेद नहीं रहता।

हम इन्द्रियों के द्वारा विषयों को और बुद्धि के द्वारा शरीर, वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदि के परिवर्तनों को जानते हैं। जब तक प्राणी पर इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव रहता है, तब तक राग और द्वेष की उत्पत्ति होती रहती है। जब बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव होने लगता है, तब राग और द्वेष त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं।

हम अपने को साधक मानकर ही साधन-निर्माण कर सकते हैं और अपने साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि साधक की कोई माँग होती है और उसका कोई दायित्व भी होता है। हमारी माँग है अविनाशी रसरूप जीवन की और हमारा दायित्व है- असत् के

त्याग का, यानी हम प्राप्त बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करें।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ८५

साधक महानुभाव!

जो किसी को भी दोषी नहीं मानता, उसके जीवन में दोष की उत्पत्ति नहीं होती। निर्दोष जीवन में ही प्रीति का प्रादुर्भाव होता है।

जो हमारे बिना रह सकता है, उस पर क्रोध मत करो, उससे द्वेष मत करो। किसी ने हमें दुःख दिया है, यदि ऐसा प्रतीत हो, तो समझना चाहिए कि दुःख देने वाला स्वयं दुःखी है, इसलिए उसने दुःख दिया है, अतः वह क्षमा का पात्र है।

यदि हमसे किसी को कष्ट मिला है, तो उससे हमें क्षमा माँग लेनी चाहिए। सब प्रकार से निश्चिन्त व निर्भय हो जाने पर तथा संसार से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर भय, चिन्ता, नीरसता शेष नहीं रहते।

जिससे सुख मिलता है, उससे राग हो जाता है और जो सुख में बाधक बनता है, उससे द्वेष हो जाता है। अपने दुःख का कारण अन्य को मानने से द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग और द्वेष दोनों ही के त्याग से जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रादुर्भाव होता है।

जहां सत्य है, वहाँ अभाव नहीं है और जहाँ अहिंसा है, वहाँ नीरसता नहीं है। इस दृष्टि से सत्य और अहिंसा के अपनाने से जीवन पूर्ण और सरस बन जाता है। हिंसा-युक्त जीवन में भाग है और अहिंसा के जीवन में योग है। इसलिए क्षमा माँग कर और क्षमा प्रदान कर वर्तमान जीवन को सरस बनाओ।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ८६

उपस्थित महानुभाव!

वस्तु-स्थिति को जानने के लिये हमें अपने सभी संकल्पों को भली प्रकार देखना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी हैं, यानी किसी के लिये भी अहितकर हैं और जिनको वर्तमान में पूरा करना आवश्यक नहीं है, उनका त्योग करना होगा। जो संकल्प विवेक-विरोधी नहीं हैं, लेकिन अपनी सामर्थ्य से परे हैं, यानी जिन्हें हम पूरा नहीं कर सकते, उन्हें प्रभु अथवा विश्व के समर्पित कर निश्चिन्त हो जाना है। ऐसा अनुभव में आया है कि कालान्तर में ऐसे शुभ संकल्प को पूरा करने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

जो शुद्ध संकल्प होते हैं, और जिन संकल्पों की पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, वे स्वतः पूरे होते हैं, ऐसा विधान है। अशुद्ध संकल्पों के त्याग से निर्वैरता से द्वेष मिट जाता है और प्रीति की जागृति हो जाती है और निर्भयता से आत्म-निर्भयता से आत्म विश्वास में दृढ़ता आ

जाती है और अपने साधन में अविचल श्रद्धा हो जाती है।

साधन की दृष्टि से हमें प्राप्त बल का सदुपयोग तथा प्राप्त विवेक का आदर करना है। बल के सदुपयोग से सभी निर्बलताएँ मिट जाती हैं और विवेक के आदर से नासमझी मिट जाती है और निःसन्देहता आ जाती है। निःसन्देहता से जीवन और ज्ञान में भेद नहीं रहता।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ८७

मेरे निजस्वरूप!

मानी हुई सत्ता की अस्वीकृति होने पर तत्त्व-दृष्टि होती है। तत्त्व-दृष्टि में भिन्न कुछ नहीं प्रतीत होता। भाव का सद्भाव होने पर भक्ति-दृष्टि होती है। भक्ति-दृष्टि में प्रेम-पात्र से भिन्न कुछ नहीं रहता। तत्त्व-दृष्टि और भक्ति-दृष्टि और भक्ति-दृष्टि दोनों में ही सृष्टि का अभाव है। सृष्टि तो केवल अपने में विषय-भाग को धारण करने पर प्रतीत होता है।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों से असंग होने पर तुरीयावस्था का अनुभव होता है। अथवा यो कहिए, तीनों शरीरों-स्थूल, सूक्ष्म और कारक-से असंग होने पर तुरीयावस्था प्राप्त होती है। स्थूल शरीर से जो अनुभव में आता है वह जाग्रत है, सूक्ष्म शरीर से जो अनुभव में आता है वह स्वप्न है और जो केवल कारण शरीर से अनुभव में आता है वह सुषुप्ति।

यह अविचल होते ही निर्विकल्प स्थिति प्राप्त होगी और निर्विकल्प स्थिति से असंग होने पर निर्विकल्प बोध होगा, जो तीनों शरीरों से असंग करने में समर्थ है। अथवा यों कहिए कि निर्विकल्पबोध होने पर तीनों शरीरों से असंगता होती है। यही तुरीयावस्था है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ८८

साधक महानुभाव!

शरीर के द्वारा हमें वह नहीं मिला, जो हमारी माँग है। शरीर के बिना जो जीवन है, वही सभी को अभिष्ट है। उस जीवन के लिये शरीर की कोई अपेक्षा नहीं मालूम होती। शरीर के न रहने का जिन लोगों को भय है, वे विचार करें कि क्या शरीर को सदैव बनाये रखना सम्भव है? यदि सम्भव नहीं है, तो शीघ्र उस जीवन की माँग अनुभव करना चाहिये अथवा खोज करना चाहिये, जो शरीर के बिना सदैव ज्यों-का, त्यों है। जो शरीर से अतीत जीवन है, उसकी खोज शरीर के सहयोग से नहीं होगी।

अब विचार यह करना है कि शरीर के सहयोग के बिना हम क्या कर सकते हैं। हम अचाह हो सकते हैं, अप्रयत्न हो सकते हैं और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत हो सकते हैं।

अचाह होने का अर्थ केवल इतना ही है कि हमें वह नहीं चाहिये, जो शरीर और संसार की सहायता से प्राप्त होता है।

बेचारा शरीर और संसार हमारी माँग की पूर्ति में लेशमात्र भी बाधक अथवा सहायक नहीं हैं। जब तक इस सत्य का अनुभव नहीं होता, तब तक शरीर और संसार से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता। और उसके बिना हुये साधक अपने को अपने में 'सन्तुष्ट' नहीं कर सकता। अपने में सन्तुष्ट हुये बिना अपने को अपने प्रेमास्पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। अपने में सन्तुष्ट होना ही वास्तविक योग है। योग की पूर्णता में बोध और प्रेम निहित है। योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।

शरीर का सदुपयोग प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग लोक हित में भले ही हेतु हो। उससे अपनी वास्तविक माँग पूरी नहीं होती। वास्तविक माँग की तीव्र जागृति ही उसकी पूर्ति में हेतु है। वास्तविक माँग काम को खा लेती है। काम-रहित होते ही देह का तादात्म्य टूट जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने को अपने में सन्तुष्ट पाता है।

प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा उससे असंग हो जाओ सफलता अवश्म्भावी है। प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही साधक की स्वाधीनता है। परिस्थिति में जीवन-वृद्धि भारी भूल है।

जीवन तथा जीवनधन अपने में ही है, इस वास्तविकता में विकल्प मत करो। निर्विकल्प आस्था महान बलवती है। पर यह रहस्य प्रभु-विश्वासी शरणागत साधक को ही स्पष्ट होता है। शरीर के रहते हुये ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त होने के लिये यथा शक्ति प्रयत्नशील रहो। प्रत्येक साधक को आवश्यक सामर्थ्य बिना ही माँगे मिलती है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

वास्तविकता में अविचल आस्था करो और लक्ष्य से निराश मत हो, अपितु लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर नित-नव उत्साह बढ़ाते रहना चाहिये। उत्साह हीनता तथा निराशा के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अतः सभी साधक महानुभाव साध्य की प्राप्ति के लिये अथक प्रयत्नशील रहें, सफलता अवश्यम्भाव है। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ८९

सत्संग प्रेम साधक महानुभाव!

'कोई गैर नहीं' -यह जीवन का सत्य है। हम सब स्वभाव से सबसे आदर, प्यार और अपनी रक्षा की माँग करते हैं यदि हमारी सबसे किसी प्रकार की एकता न होती, तो हम में यह माँग भी न होती। यह नियम है क जिससे हमारी एकता नहीं होती उससे हमारी कोई माँग भी

नहीं होती। इस दृष्टि से यह सिद्ध है कि मानव-मात्र में एकता स्वाभाविक है।

जब हम इस सत्य को भूल जाते हैं तब हममें भेद तथा भिन्नता ही उत्पत्ति हो जाती है, जो राग-द्वेष आदि अनेक विकारों की जननी है और संघर्ष का कारण है। हम अपने प्राप्त बल का सदुपयोग न करके दुरुपयोग करने लगते हैं अर्थात् कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं।

यदि हम चाहते हैं कि कोई हमारे प्रति अपने बल का दुरुपयोग न करे, तो हमको अपने को प्राप्त बल के दुरुपयोग से रहित करना होगा। इसी को कर्त्तव्य कहते हैं। यह तभी सम्भव होगा जब हम स्वीकार करें कि कोई गैर नहीं है, अपितु सब अपने हैं।

जीवन में जो भेद और भिन्नता दिखाई देती हे, वह एकता की ही पोषक है। कोई भी मानव बल, योग्यता और परिस्थिति में समान नहीं है। यह असमानता ही कर्त्तव्य की जननी है। समानता में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। एक सबल दूसरे सबल के क्या काम आ सकती है? किसी निर्बल के ही काम आ सकता है? वह तो किसी रोगी के ही काम आ सकता है।

इस दृष्टि से यह असमानता ही हम सबको कर्त्तव्य-निष्ठ होने की प्रेरणा देती है, जो मानव-मात्र में एकता प्रदान करने में समर्थ है। और इससे हमें इस सत्य का भी अनुभव होता है कि कोई गैर नहीं है अर्थात् अनेकता में एकता का दर्शन होता है।

इस एकता के अनुभव से हम सब बुराई-रहित हो जाते हैं, क्योंकि अपनों के साथ कोई बुराई नहीं करता। बुराई सदैव गैरों के साथ होती है। बुराई-रहित होते ही हम योग के अधिकारी हो जाते हैं। योग सामर्थ्य का प्रतीक है। यह सामर्थ्य हमको उस तत्त्व से साक्षात्कार कराती है, जिससे हमारी जातीय एकता है।

तत्त्व-साक्षात्कार होते ही हमारी पराधीनता मिटकर हमें स्वाधीनता प्राप्त होती है, यानी हमारे सभी बन्धनों को नष्ट कर यह योग-सामर्थ्य हमें मुक्ति का आनन्द दिलाती है। मुक्ति के बाद हमारी सहजगति उस साम्राज्य में होती है, जहाँ प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जहाँ प्रेम होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करने में समर्थ होता है।

प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव है और प्रेमी का जीवन है। इस जीवन में हर व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति में प्रेमास्पद का ही दर्शन होता है। विषमता समता में विलीन हो जाती है और इस सत्य का अनुभव होता है कि एक ही अनेक हैं; अर्थात् कोई और नहीं है। अपने प्रेमास्पद ही नाना रूपों में लीला कर रहे हैं। यह अनुभव ही मानव को सर्व-विकारों से रहित कर अभाव का अभाव कर पूर्णता प्रदान करता है।

अतः यदि हम सब जीवन के इस सत्य को अनायें कि 'कोई गैर नहीं है, कोई और नहीं है।' तो सफलता निश्चित है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ९०

मेरे निजस्वरूप साधक महानुभाव!

यह जीवन का सत्य है कि जो कभी अलग होगा वह अब भी अलग है और जो कभी मिलेगा वह अब भी मिला हुआ है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और अवस्था सदैव हमसे अलग हैं और प्रभु नित्य प्राप्त है। वह कभी अलग है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। क्यों? उसी की हम सब अभिव्यक्ति हैं। हम से वह दूर नहीं है, केवल उससे विमुखता हो गई है। विमुखता की निवृत्ति एकमात्र मूक सत्संग से होती है। मूक-सत्संग निर्मम, निष्काम और अचाह होने से सिद्ध होता है।

यह अनुभव कि मिली हुई वस्तु व्यक्तिगत नहीं है, मानव को निर्मम बना देता है। इस निज-अनुभव के अनादर से ही ममता उत्पन्न होती है। ममता के कारण ही शरीरादि वस्तुओं से तादात्म्य होने पर कामनाओं का जन्म होता है। कामनाओं की पूर्ति और आपूर्ति ही मानव को सुख की दासता तथा दुःख के भय में आबद्ध करती है।

दासता तथा भय किसी को भी अभीष्ट नहीं है, किन्तु प्रमादवश मानव अपने को भय, चिन्ता तथा नीरसता मे आबद्ध कर लेता है। यही व्यक्तिगत जीवन की असफलता है। इस असफलता का अन्त हो सकता है। परनतु इसके लिए प्रत्येक मानव को मिले हुए की ममता तथा देखे हुए की कामना का त्याग करना आवश्यक है।

मिले हुए का दुरुपयोग न करने से कर्त्तव्यपरायणता और मिले हुए की ममता के त्याग से असंगता स्वतः अभिव्यक्त होती है। उसके पश्चात् अचाह होने की सामर्थ्य आती है।

तुम्हारा अभेदस्वरूप
शरणानन्द

## ९१

मेरे निजस्वरूप!

पराधीनता, नीरसता एवं अभाव में आबद्ध मानव सदैव सुख की दासता एवं दुःख के भय में आबद्ध रहता है और ऊँच-नीच योनियों में भटकता रहता है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब साधक वेदवाणी, गुरुवाणी, अथवा भक्तवाणी आदि के द्वारा अनुत्पन्न हुए अविनाशी, स्वाधीन, रसस्वरूप प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करे।

प्रभु के अस्तित्व को स्वीकार करने पर फिर किसी और के अस्तित्व की अपने को अपने लिए अपेक्षा ही नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त सब ओर से स्वतः विमुख होकर अपने में जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनमें लग जाता है।

जीवन-विज्ञान से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब तक चित्त प्रभु के भिन्न किसी और में लगता है, जब तक उसका अस्तित्व रहता है और वह स्वभाव से ही स्थिर नहीं होता, अर्थात्

मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता की अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना साधक शान्ति, मुक्ति एवं भक्ति का अधिकारी नहीं होता।

इस दृष्टि से चित्त का सब ओर से विमुख होकर जो अपने में अपना जीवन है उससे अभिन्न होना अनिवार्य है। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए आस्थावान साधकों ने सर्वसमर्थ प्रभु के अस्तित्व, महत्त्व और अपनत्व को स्वीकार किया।

मानव जिसके अस्तित्व को स्वीकार करता है, उसका उसमें चिन्तन स्वतः होने लगता है। अतएव जिसके चिन्तन से अपने को मुक्त होना है, उसके अस्तित्व को ही स्वीकार मत करो। केवल प्रतीति एवं प्रवृत्ति के आधार पर उसके अस्तित्व को स्वीकार करना भारी भूल है।

अकिंचन
शरणानन्द

## ९२

मेरे निजस्वरूप!

सच्ची असमर्थता जीवन का वरदान है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है कि सर्व समर्थ असमर्थ को मिलते हैं, अपना लेते हैं। और अपना अमूल्य प्रेम प्रदान करते हैं। पर यह रहस्य उन्हें साधकों को स्पष्ट होता है, जिन्होंने अपने द्वारा अपनी असमर्थता का अनुभव किया है।

अब विचार यह करना है कि असमर्थता क्या है? पराश्रय और परिश्रम के आधार पर अपने को सन्तोष देना बड़ी भारी असमर्थता है।

इसी असमर्थता ने जो अपने हैं, अपने में हैं, अभी हैं और सर्व समर्थ हैं, उनमें अविचल आस्था नहीं होने दी।

विचार उस पर किया जा सकता है, जो बुद्धि की सीमा में हो, सीमित हो, परिवर्तनशील हो और अभावरूप हो। पर जो सदैव है अनन्त है और असीम है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता। वह तो आस्था का विषय है।

आस्था का स्वतन्त्र पथ है। उस पथ पर वे ही साधक चल पाते हैं, जो असमर्थता से पीड़ित हैं। अपनी असमर्थता का अनुभव मानव का सर्वोत्कृष्ट अनुभव है।

मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर आवश्यक सामर्थ्य बिना माँगे ही मिलती रहती है। सामर्थ्य का सदुपयोग ही विश्व-शान्ति का मूल मन्त्र है।

सामर्थ्य का सदुपयोग तभी सम्भव है, जब यह मान लिया जाए कि मिला हुआ अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है। सामर्थ्य भी सर्व समर्थ की देन है। अतः उसके सदुपयोग में अभिमान के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

जो सभी के अपने हैं वे ही सर्व समर्थ हैं। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग उसी सर्व समर्थ के नाते उसकी विश्व वाटिका की सेवा में करना है। ऐसी सेवा वही

कर सकता है, जो वाटिका के फलों की आशा ही नहीं करता।

मानव जीवन में जो करने की बात है वह ज्ञान के अनुरूप ही होना चाहिए। ज्ञान-विरोधी कार्य तो अकर्त्तव्य ही है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को जन्मजात प्राप्त है। पर मानव अपनी भूल से कर्त्तव्य से विमुख होकर अकर्त्तव्य में प्रवृत्त हो जाता है।

मानव ने मिली हुई स्वाधनीता का दुरुपयोग कर अपने को अनुपयोगी बना लिया है। साथ ही वह स्वयं पराधीन होकर अनेक प्रकार की बेबसी अनुभव करता है। यद्यपि स्वभाव से ही उसे स्वाधीनता प्रिय है।

मानव जगत् के प्रति उदार, अपने लिए स्वाधीन तथा प्रभु के लिए प्रेम होने की आवश्यकता अनुभव करता है। पर भूल से आसक्ति में आबद्ध होकर वह उदारता, स्वाधीनता और प्रेम से वंचित हो गया।

जिन्होंने मानव का निर्माण किया है, वे अपने दुलारे मानव को निरन्तर देखते रहते हैं और प्रतीक्षा करते रहते हैं कि मेरा दुलारा असमर्थता अनुभव करे और मैं उसे अपना लूँ! असमर्थता का अनुभव होने पर साधक को जो वेदना होती है, वह करुणामय से सही नहीं जाती है।

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

शरणानन्द

## ९३

साधक महानुभाव!

सत्य की लालसा किसी अभ्यास से जाग्रत नहीं होती। वह तो पाने का लालच और करने की रुचि का त्याग तथा गलत करना छोड़ने से अपने आप जाग्रत होती है। इस पर यदि कोई कहे कि ये सब कैसे छूटे? तो कहना होगा कि पहले हमें पाने का लालच छोड़ना होगा। फिर करने की रुचि और गलत करना अपने आप छूट जाएगा, कारण, जो कुछ भी नहीं चाहता वह गलत किसलिए करेगा? और जो गलत नहीं करेगा उसका करने का राग भी मिट जावेगा और उसको विश्राम भी मिलेगा। फिर सत्य की लालसा जाग्रत होगी।

सही करने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है और पाने के लालच तथा करने की रुचि के त्याग की योग्यता भी आ जाती है। जब तक हम गलत करते रहेंगे, तब तक न तो हमारा राग ही मिटेगा और न हम करने-पाने के चक्र से मुक्त होंगे। इसलिए पहले सही करना सीखो और उसका भी फल मत चाहो। चाह-रहित होने पर मनुष्य को योग की सिद्धि मिलती है; यानी शान्ति की प्राप्ति होती है।

ममता, कामना और तादात्म्य के त्याग का नाम ही संन्यास है। कपड़े रँगना और किसी सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षा लेना तो संन्यास का बाहरी चिन्ह है। केवल बाह्य-चिन्ह धारण करने से किसी की मुक्ति नहीं होती।

करना-पाना छोड़ने पर ही बोध का उदय एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है; और प्रभु को अपना मान कर उनके शरणागत होने से प्रेम की प्राप्ति होती है। सही करना, कुछ न चाहना और प्रभु के शरणागत होना-यह योग, बोध प्रेम की तैयारी है और इसी से योग-बोध, प्रेम की प्राप्ति होती है।

जगत् से सम्बन्ध टूट कर उस अनन्त के साथ अहं का सम्बन्ध जुड़ जाने का नाम ही योग है। इसी से सब संकल्पों की निवृत्ति होती है। और उस अनन्त को सब जगह सब में देखना ही बोध है। योग से दोष और कामनाओं का त्याग होता है और उस अनन्त को अपना मानना एवं अहं को उनके समर्पित करना ही प्रेम है, यानी प्रेम की प्राप्ति होती है। केवल गृहत्याग करने एवं वस्त्र रंगने मात्र से किसी को योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह त्याग नहीं वरन् त्याग के भेष में अपने कर्त्तव्य से पलायन करना है। जैसा कि 'रामायण' में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है-

नारि मुई घर सम्पत्ति नासी।
मूंड़ मुड़ाय भये संन्यासी।।

कई भाई सती-साध्वी पत्नी और छोटे-छोटे अबोध बालकों को निराश्रित छोड़कर घर-बार का त्याग कर जाते हैं। पूछने पर कहते हैं, उनका पालन तथा रक्षा भगवान् करेंगे।

एक दृष्टि से तो बात ठीक है कि सब जीवों का पालन और रक्षा तो भगवान् ही करते हैं; परन्तु तुम तो अपने कर्त्तव्य से च्युत हो गए। तुम्हारे ऊपर आश्रित उन प्राणियों के प्रति भी तुम्हारा कुछ कर्त्तव्य था-इस बात का तुमने विचार नहीं किया।

यदि यही बात थी तो घर क्यों बसाया था? यदि तुम उनकी ममता को त्याग कर घर में ही साथ रहते, उनको सदाचार और ईमानदार बनाते, उनको सही करना सिखाते। रक्षा तो तब भी उनकी भगवान् ही करते और तुम्हारा कर्त्तव्य भी पूरा हो जाता। जब वह समर्थ हो जाते, तब उनसे अलग रहकर अपना भजन करते। तुमने तो भगवान् पर विश्वास किया, उनको साथ रखना झंझट समझकर अपने आराम से सुख पूर्वक रहने के लिये उनको छोड़ दिया। किन्तु अपने आराम और सुख को न छोड़ा। अब जब भजन में मन नहीं लगता तो कहते हैं, क्या बतायें, हमने तो सब कुछ का त्याग कर दिया। परन्तु सच्ची शान्ति नहीं मिली।

अकिंचन
शरणानन्द

## ९४

साधक महानुभाव!

अपनी ही भूल से अपनी बरबादी होती है, यह सर्वमान्य सत्य है। सिद्धान्त रूप से कोई भी 'गैर' नहीं है, 'और' नहीं है। किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं और सभी में अपने प्रेमास्पद हैं। इस सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। जहाँ कहीं जो कुछ बुराई दिखाई देती है, उसका कारण केवल अपनी ही भूल है। भूल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

अपने सत्य को अपने द्वारा न मानना ही अपनी भूल है।

यदि जीवन में भूल न होती तो हृदय में स्वभाव से सतत प्रीति की गंगा लहराती और जीवन आनन्द-विभोर हो जाता, यह वैधानिक तथ्य है। प्रीति किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं होती, अपितु सभी में जो सभी के अपने हैं, उन्हें में प्रीति होती है। वे ही प्रीति के अधिकारी हैं।

बुराई-रहित होना सत्संग से साध्य है और भला हो जाना देवी विधान है। भलाई सीखी नहीं जाती, सिखाई नहीं जाती। बुराई-रहित होने से भलाई स्वतः अभिव्यक्त होती है। बुराई रहित होने से भलाई व्यापक होती है।

शान्ति-सम्पादन से अहं शुद्ध होता है और फिर स्वतः साधक में उसकी बनावट के अनुसार साधना फलने-फूलन लगती है। इस दृष्टि से समर्पणपूर्वक शान्त रहना बहुत ही आवश्यक है।

अपनी बुराई देखने का ज्ञान अपने में है, पर असावधानी के कारण उसका उपयोग हम दूसरों की बुराई देखने में करते रहते हैं जिसका बहुत बड़ा भाग अपनी कल्पना ही होती है, वास्तविक नहीं। वास्तविक बुराई का ज्ञान तो अपने सम्बन्ध में ही सम्भव है और उसी से साधक सदा के लिए बुराई रहित होकर सभी के लिए उपयोगी हो जाता है।

जीवन सभी के लिए उपयोगी हो जाय, यही मानव की वास्तविक माँग है। इस माँग की पूर्ति अवश्य होती है। अचाह हुए बिना जीवन उपयोगी हो नहीं सकता। अचाह होने की स्वाधीनता अपने को प्राप्त है। अचाह होना ही जीवन में मृत्यु का अनुभव करना है। जीवन में मृत्यु का अनुभव होने पर अविनाशी, स्वाधीन जीवन की प्राप्ति होती है।

अचाह होने के लिए बल का सदुपयोग, ज्ञान का आदर एवं आस्था-श्रद्धा-विश्वास में निर्विकल्पता अनिवार्य है और ज्ञान के आदर में अवस्थातीत जीवन की प्राप्ति है और विकल्प रहित विश्वास से आत्मीय सम्बन्ध, अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता की प्राप्ति होती है। परिस्थिति का सदुपयोग धर्म-विज्ञान है। अवस्थातीत जीवन में ही तत्त्वज्ञान है एवं प्रियता से ही जीवन प्रेमास्पद के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

सत्य को स्वीकार करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। सत्य को स्वीकार करने पर सफलता अवश्यम्भाव है। इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!!

अकिंचन

शरणानन्द

## ९५

मेरे निज स्वरूप!

जब भगवान् हमारे हैं और हमारे भीतर ही हैं तो फिर चिन्ता कैसी? शोक कैसा? वह सर्व-समर्थ है, उनकी महिमा का वारपार नहीं, तो फिर भय कैसा? उनकी सत्ता से कोई बाहर नहीं, आँखों से कोई ओझल नहीं, तो फिर

पश्चात्ताप कैसा? इन बातों का अपने जीवन में उतार लेने वाले मनुष्य के आनन्द की कोई सीमा नहीं रहती।

यदि भगवान् को ही पसन्द कर लें, तो हममें उनका प्यारपैदा हो जायेगा, उनकी याद आने लगेगी और मन भी लग जायेगा। यदि हम उन्हीं के नाते सब काम करें, तो विस्मृति कभी न होगी।

भगवान् प्यारे लगे, उनकी याद बनी रहे, मन लग जावे, इसी का नाम भजन है। यही तो भक्ति है। परहित का भाव हो, सबके साथ सद्भावना हो-यही तो सेवा है। कुछ नहीं चाहना ही तो त्याग है। भगवान् के समर्पण हो जाना ही तो प्रेम है। इसी का नाम सच्चा भजन है। अपने स्थान पर ठीक बने रहें, तो सभी धर्मात्मा हैं।

काम छोटा-बड़ा कोई नहीं है। अपने वर्णाश्रम के अनुसार सही बना रहे-यही धर्म है। विचारपूर्वक सबसे असंग रहना ही सचा वेदान्त है। श्रद्धा-विश्वास पूर्वक भगवान् की शरण ग्रहण करना ही वैष्णवता है। इन बातों के जीवन मे आ जाने पर सभी का कल्याण हो जाता है। केवल कथन से तथा क्रिया-मात्र से कभी किसी का कल्याण नहीं हो सकता।

आपका

शरणानन्द

## ९६

साधक महानुभाव!

देखो! मायिक पदार्थ और ऐहिक सुख, यह सब नाशवान हैं। इनमें ममता-आसक्ति करना तथा इनकी कामना-यह मनुष्य की भूल ही है। कारण, इनका वियोग तो एक दिन होगा ही।

अगर इनमें ममता-आसक्ति होगी, तो इनके वियोग-काल में दुःख भी होगा ही, इसीलिए इनको दुःखस्वरूप भी कहा है। अतः इन नाशवान और दुःख रूप पदार्थों के लिए अपना परलोक बिगाड़ लेना बड़ी भारी भूल है।

देखो! एक गरीब किसान सुबह से शाम तक कितना परिश्रम करता है। उसकी स्त्री भी कितना परिश्रम करती है। पर बाल-बच्चों में ममता और आसक्ति होने के कारण बड़ा भारी परिश्रम करके भी उनको अन्न-वस्त्र भली प्रकार नहीं मिलता, और लड़का-लड़की का विवाह करके तो कर्जदार भी हो जाते हैं।

यदि वही दम्पत्ति इस झूठे मोह को छोड़कर ब्रह्मचर्य से रहे और शुद्ध कमाई करके अपना निर्वाह करें और बचा हुआ सेवा के कार्यों में लगाते रहें, तो उनकी इस लोक में बड़ाई और सुख मिले और परलोक भी नहीं बिगड़ें।

यदि सेवा-भाव से दूसरों के काम आवे और भगवान् का भजन करे तब तो उनका कल्याण ही हो जाये। परन्तु इन ऐहित सुख और पदार्थों में आसक्ति हो जाने के कारण अपना लोक और परलोक दोनों बिगाड़ लेते हैं। यह है, मोह की महिमा।

इसी तरह सभी मनुष्य नाशवान भोग-सुखों के पीछे अपने जीवन और जन्म को बिगाड़ रहे हैं। यह सब मोह की महिमा ही है।

अतएव कल्याणभावी साधकों को इन भोग-सुखों को ओर इनकी ममता-आसक्ति-कामना को त्यागकर अपना भजन-साधन करना चाहिए। इसी में मनुष्य की बुद्धिमानी है।

बहुत-सा धन इकट्ठा कर लेना, ऊँचा पद प्राप्त कर लेना, बहुत-सी भोग-सामग्री का संग्रह कर लेना सच्ची बुद्धिमानी नहीं है। वह लोगों की दृष्टि में बड़ा बुद्धिमान होकर तथा बुद्धिमान कहाकर भी महामूर्ख ही है।

सच्चा बुद्धिमान तो वही है जिसने भोग-सुखों की ममता आसक्ति को त्याग कर भगवान् में आत्मीयता करके उनके शरणागत होकर अपना लोक और परलोक बना लिया एवं अपना कल्याण कर लिया।

भोगों की आसक्ति को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण करो-यही सब शास्त्रों का सार है और यही कल्याण का सच्चा मार्ग है। इसी में मनुष्य जन्म की सफलता तथा सार्थकता है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ९७

मेरे निजस्वरूप!

मनुष्य का जन्म मिलना जीव के किसी कर्म का फल नहीं है। वह तो प्रभु की अहैतुकी कृपा से जीव के कल्याण के लिए ही मिलता है। जब चौरासी लक्ष योनियों में भटकता-भटकता जीवन महान दुःखी हो जाता है, तब बिना कारण ही कृपा करने वाले प्रभु जीव के कल्याण के लिए मनुष्य जन्म देते हैं।

जैसे भगवान् का अवतार कर्म-भोग के लिए नहीं होता, जीवों के कल्याण के लिए ही होता है, वैसे ही यह मनुष्य-जन्म भी जीव को भोग भोगने के लिए नहीं मिलता, जीव के अपने कल्याण के लिए ही मिलता है।

यदि यह जीव उन प्रभु की अहैतुकी कृपा का सदुपयोग नहीं करके सदुपयोग करता है, तो उसको फिर से दूसरी बार मनुष्य जन्म मिलना बहुत कठिन है। मनुष्य जन्म पाकर भी भोगों में भटकने वाला प्राणी अयोग्य माना जाता है और अयोग्य को वस्तु बार-बार नहीं मिलती। अतएव इस मनुष्य जन्म को पाकर तो अपने कल्याण के लिए ही साधन करना चाहिए।

यदि इस पर कोई कहे कि कलिकाल में कल्याण होना तो कठिन है। तो इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु जिस काम के लिए होती है, उसके लिए वह काम कइिन नहीं होता। यह मनुष्य जन्म केवल जीव के कल्याण के लिए ही मिलता है। इसलिए इसको पाकर कल्याण की प्राप्ति को कइिन मानना भारी भूल है।

देखो! साधन करने वाले मनुष्य का कल्याण इसी जन्म में बड़ी सुगमतापूर्वक हो सकता है। यह बात परम सत्य है। क्योंकि यह मानव प्रभु का दुलारा है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## ९८

मेरे निजस्वरूप!

मनुष्य-जन्म का असली उद्देश्य है, कल्याण की प्राप्ति। दुर्लभ मानव-जीवन प्राप्त कर यदि हम कल्याण की प्राप्ति न कर सके, तो कितने ही धनवान, कितने ही बलवान, कितने ही विद्वान और कितने ही उच्च पद-प्रतिष्ठा से सम्मानित क्यों न हो जायें, वास्तविक कल्याण से संचित रहते हुए ये सब बातें बिल्कुल व्यर्थ ही हैं।

जिस कल्याण की इतनी महिमा है उसकी प्राप्ति में मनुष्य मात्र सर्वथा स्वतन्त्र है, क्योंकि प्रभु ने कल्याण-प्राप्ति की सामर्थ्य मनुष्य-मात्र को प्रदान की है। यदि कोई प्रश्न करे कि कल्याण साधन का उपाय क्या है, तो उत्तर में कहना होगा कि मनुष्य का कल्याण इन चार बातों पर आधारित है:-

१. धर्म-निष्ठ होने पर।

२. योगी होने पर।

३. ज्ञानी होने पर।

४. भक्त होने पर।

विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि धर्म-निष्ठ होने के लिए निर्दोषता प्राप्त करना नितान्त अनिवार्य है। दोष-निवृत्ति होते ही हम सब धर्म-निष्ठ हो जाते हैं। इसी प्रकार निष्कामता प्राप्त होते ही समत्वरूप योग और चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग स्वतः ही सिद्ध हो जाता है और असंगता-पूर्वक अपने में ही सन्तुष्ट होने पर सभी ज्ञान-प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं। प्रभु में आत्मीयता स्थापित करके शरणागत होने पर सभी भक्त हो सकते हैं। यह परम सत्य है।

अब विचार कीजिये कि निर्दोष, निष्काम तथा असंग होने और प्रभु को अपना मानने में कठिनाई नहीं है। इसीलिए मानव को कल्याण-प्राप्ति में सर्वथा स्वाधीन बताया गया है।

'मेरा कुछ भी नहीं है'-ऐसा दृढ़ विश्वास करते ही निर्दोषता की प्राप्ति हो जाती है। कारण, कि ममता ही सब दोषों की जननी है। अतः निर्मम होने पर सहज ही सभी निर्दोषता के अधिकारी हो जाते हैं।

'मेरा कुछ नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए' इस निश्चय पर पहुँचते ही हम सहज ही निष्काम हो जाते हैं।

'मेरा किसी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं', ऐसा मानने से सभी असंग हो सकते हैं। 'केवल प्रभु ही अपने हैं', अपने द्वारा ऐसा मानने से प्रभु के प्रति आत्मीयता की प्राप्ति होती है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन

शरणानन्द

## ९९

मेरे जिन स्वरूप!

सामर्थ्य का सदुपयोग सेवा में है और सेवा का फल सेव्य को अपना मानने में है।

अपना मानने से ही अपने में 'स्मृति' जाग्रत होती है। स्मृति से भिन्न अपना कुछ अस्तित्व ही न रह जाय, यही साधक का परम पुरुषार्थ है। प्रभु-विश्वासी को अपने लिए प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध से भिन्न कुछ भी अभीष्ट नहीं है।

बड़े ही आश्चर्य तथा दुःख की बात है कि हम सामर्थ्य अपने लिए पसन्द करते हैं, सेवा के लिए नहीं। उसी का यह परिणाम होता है कि हम प्रभु से विमुख होकर वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता में अपने को आबद्ध कर लेते हैं।

यह भाली-भाँति अनुभव करो कि अपने बन्धन का कारण अपनी भूल ही है। भूल का नाश भूल के ज्ञान से होता है। भूल का ज्ञान सत्संग से और सत्संग शान्ति के सम्पादन से सम्भव है। इस दृष्टि से सेवा कार्य के आदि और अन्त में साधक को सर्वदा शान्ति में ही रहना चाहिए।

शान्ति प्रेमास्पद का महल है, जिसका दरवाजा आत्मीय सम्बन्ध से जाग्रत अखण्ड स्मृति से ही खुलता है, किसी अन्य प्रयोग से नहीं यह शरणागत साधक का अनुभव है।

बल की माँग भोगी के जीवन में होती है और ज्ञान की माँग जिज्ञासु के जीवन में। किन्तु प्रेमियों के जीवन में तो एकमात्र अगाध प्रियता की ही माँग रहती है। प्रेमीजन बल के द्वारा प्रेमास्पद की नगरी की सेवा करते हैं। उन्हें अपने लिए कभी भी किसी प्रकार का बल नहीं चाहिए। कारण कि प्रेमियों को जो चाहिए, उसकी उपलब्धि बल से नहीं होती।

ज्ञान से सृष्टि का प्रभाव नाश होता है और आस्था, श्रद्धा, विश्वास से प्यारे प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित होता है। 'प्रभु विश्वास' किसी प्रभु विश्वासी के वाक्य में अविचल आस्था करने से ही सम्भव है। सर्व-समर्थ प्रभु साधकों को सत्संग के द्वारा साधननिष्ठ बनायें, इसी सद्भावना के साथ, सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## १००

मेरे निज स्वरूप!

नापसन्द करने से नाशवान् की विस्मृति होगी- यह साधन हुआ; और पसन्द करने से अविनाशी की स्मृति जगेगी, लालसा जगेगी- यह भजन हो गया। विचारकों ने कहा-गलत मत करो और श्रद्धालुओं ने कह दिया-सही करो। जो गलत नहीं करता वह मुक्त हो जाता है और जो सही करता है वह भक्त है। जो गलत नहीं करता वह किसी को बुरा नहीं लगता और जो सही करता है वह सबको प्यारा लगता है।

गलत नहीं करने में मनुष्य-मात्र स्वाधीन है; इसमें अन्य व्यक्ति तथा वस्तु की जरूरत नहीं होती। इसीलिए मुक्त होने में तो सभी स्वाधीन हैं। परन्तु सही करने में किसी सबल का सहारा लेना पड़ता है, और सबल तो एक प्रभु ही है।

इसलिए भक्त होने के लिए भगवान् का सहारा लेना पड़ता ही है। परन्तु दोष और कामनाओं का त्याग तो दोनों को ही करना पड़ेगा। क्योंकि जब तक दोष और कामनायें रहेंगी, तब तक तो गलत ही करेगा। गलत करने वाला न तो मुक्त ही हो सकता है और न भक्त ही।

जो 'स्व' में सन्तुष्ट हो जाता है उसमें उदारता और प्रेम की स्वतः अभिव्यक्ति हो जाती है। कारण, जब वह पराश्रय-युक्त अपने पूर्व जीवन को देखता है, तब दूसरों को भी पराश्रम से दुःखी पूर्व जीवन को देखता है, तब दूसरों को भी पराश्रय से दुःखी देखकर करुणित हो उठता है और जब 'स्व' में सन्तुष्ट अपने वर्तमान जीवन को देखता है तो हमारा कोई रचयिता भी है-इस बात की याद आते ही उसके हृदय में प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है।

अतएव गलत मत करो और ठीक करने का फल मत चाहो, अभिमान मत करो और प्रभु का आश्रय ग्रहण करो।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## १०१

बम्बई अस्पताल,
७-१२-५६

समय-रात्रि २ बजे

आस्था, श्रद्धा विश्वास से युक्त शरणागत, शरणानन्द से अभिन्न होता है। निश्चिन्तता, निर्भयता एवं आत्मीयता शरणागत का सहज स्वभाव है। उसे शरीर विशेष में आबद्ध कर के देखना भूल है। अब यदि कोई यह कहे कि जिस व्यक्तित्व के द्वारा प्रकाश मिला है उसे कैसे भूला जा सकता है? गम्भीरता से विचार करो, व्यक्तित्व में जीवन-बुद्धि अन्धकार है, प्रकाश नहीं, प्रकाश में तो साधक अपने ही व्यक्तित्व को सदा के लिये खो बैठता है। तो फिर किसी अन्य के व्यक्तित्व की बात ही क्या है। इस पर भी यदि अपने व्यक्तित्व को गलाने के लिये किसी व्यक्तित्व में श्रद्ध, विश्वास, आवश्यक है, तो मानव सेवा संघ उसी विचार-धारा का प्रतीक है, जो प्रियजनों को निरन्तर नाश होने वाले व्यक्तित्व से मिला था। जिस प्रकार अर्थ को सुरक्षित रखने के लिये भाषा अपेक्षित होती है, उसी प्रकार किसी विचार-धारा को सुरक्षित रखने के लिये किसी न किसी प्रतीक की आवश्यकता होती है। मानव-सेवा-संघ उसी विचार धारा का प्रतीक है, जिसका शरणानन्द। इस दृष्टि से संघ की सेवा ही शरणानन्द की सेवा है। सत्संग-योजना को चरितार्थ बनाकर संघ की विचार-धारा को प्रत्येक भाई-बहिन के कानों तक पहुँचाया जा सकता है। संघ ने मानव मात्र को अपनी आंखों देखो और अपने पैरों पर चलो-की प्रेरणा दी है। प्रत्येक साधक स्वाधीनतापूर्वक अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्न हो सकता है; क्योंकि उससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। पराधीनता को सहन करते रहना साधक का अपना प्रमाद है। जिसका शीघ्रतिशीघ्र अन्त

करना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा जब साधक अपने जाने हुए असत् का त्याग करे। संयोग-वियोग विधान के अधीन है। संयोग परस्पर में स्नेह तथा सेवा के लिये प्राप्त होता है और वियोग नित्य योग का पाठ पढ़ाता है। इसी कारण विवेकीजन संयोग में ही वियोग का अनुभव कर नित्य योग से अभिन्न हो जाते हैं। नित्य योग से एकता मानव मात्र का जन्मजात अधिकार है। जिस प्रकार संयोग सुरक्षित होने में कोई भी असमर्थ नहीं है, उसी प्रकार नित्ययोग से अभिन्न होने में कोई भी असमर्थ नहीं है। जिसकी प्राप्ति सर्वदा सम्भव है उससे निराश होना और जिसको सुरक्षित रखना सम्भव ही नहीं है उसकी आशा करना ही वास्तविक प्रमाद है। लगभग एक वर्ष पूर्व कार्यक्रम न बनाने की प्रेरणा मिली थी, किन्तु उसकी ओर पूरा ध्यान न दिया गया। उसी का यह परिणाम है कि बना हुआ कार्यक्रम पूरा नहीं हो सका, पर उसका आन्तरिक दुःख नहीं है। कारण-कि कार्यक्रम केवल अपनी ही ओर से नहीं बना था, परिस्थितिवश बना था-अब यदि शरीर रहेगा तो कार्यक्रम न बनाने की जो प्रेरणा है उस पर पूरा-पूरा प्रयास किया जायेगा। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं- इस समय जो अकस्मात् परिस्थिति सदैव नहीं रहेगी, यह निर्विवाद सत्य है। अतः प्रत्येक साधक उत्साह पूर्वक पूरी शक्ति लगा कर प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा अपने प्रेमास्पद की पूजा करते हुये उसी की प्रीति हो जाये। प्रीति से अभिन्न होने में ही जीवन की पूर्णता है। कारण, कि प्रीति स्वभाव से ही दिव्य-चिन्मय तथा अनन्त रस की प्रतीक है। इस रोगावस्था में जो भाव उत्पन्न हुआ सेवा में प्रकट कर दिया। सभी साधकों के प्रति सद्भावना तथा बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## १०२

साधक महानुभाव!

सावधानी में सर्वतोमुखी विकास तथा जीवन है, इस महामंत्र को अपनाना प्रत्येक सजग मानव के लिये अनिवार्य है। किसी भी व्रत को पूरा करने के लिये तप, प्रायश्चित्त तथा प्रार्थना अनिवार्य है। आप महानुभाव बड़े ही भाग्यशाली हैं, जिन्होंने मानव-हितकारी मानव-सेवा-संघ की आजीवन सेवा स्वीकार की है। सेवापरायण मानव का जीवन ही प्राकृतिक तथा दैवी विधान के अनुरूप हो जाता है; कारण कि विधान और जीवन में एकता है। वह विधान नहीं है, जिसके अपना लेने पर अविनाशी, स्वाधीन मानव को जन्मजात प्राप्त हो। मानव अपनी ही भूल से पराधीन होकर सभी के लिए अनुपयोगी हो गया है। शान्तिपूर्वक अपनी ओर देखने से अपनी भूल का अनुभव हो सकता है और भूल-रहित न होने की वेदना मानव को सदा के लिए भूल रहित कर देती है, यह वैधानिक तथ्य है। वर्तमान की वेदना ही भविष्य की उपलब्धि

होती है। लक्ष्य से निराश न होने पर स्वतः वेदना की उत्पत्ति होती है। वेदना वह तत्त्व है, जो व्यथित को सदा के लिये व्यथारहित कर देती है। आप सजग मानव हैं। आपको अपने व्रत को पूरा करने के लिए बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों को सहर्ष सहन करना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा, जब आप मानव-जीवन के महत्त्व को अपनायेंगे। मानव-जीवन में निराश होने तथा हार स्वीकार करने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। की हुई भूल न दोहराना ही वास्तविक प्रायश्चित है और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नित-नव उत्साह तथा परम व्याकुलता ही प्रार्थना है। केवल माँग को जगाना है, वह अपनी पूर्ति में आप समर्थ है।

अपनी सेवा और मानव की सेवा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ज्यों-ज्यों मानव अपने को अपन लिए उपयोगी बनाता जाता है, त्यों-त्यों वह संघ के लिए उपयोगी होता जाता है। मानव-सेवा-संघ ने हमें प्रेरणा दी है कि अपने लिए उपयोगी हुए बिना कोई मानव-सेवा-संघ की सेवा कर ही नहीं सकता और न वह जगत् तथा जगत्पति के काम आ सकता है। संघ की सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि अचाह होकर प्राप्त बल का सदुपयोग किया जाय। मानव-जीवन में बल के दुरुपयोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है। पदलोलुपता, अधिकार-लालसा की जीवन में गंध भी न रह जाय, जीवन उदारता तथा प्रेम से भरपूर हो जाय; यह माँग सतत अपने समक्ष रखनी है।

आजीवन कार्यकर्त्ता को त्याग को अपनाकर उसकी फलासक्ति से और प्रेम को अपनाकर प्रेमी होने के भास से रहित हो जाना है।

यह तभी सम्भव होगा, जब यह अनुभव किया जाय कि बल अपन लिए नहीं है, अपितु 'पर' के लिए है। ज्ञान अपने लिए है और प्रेम प्रभु के लिए है। इस सत्य से जीवन को अभिन्न करना है। भूतकाल की भूल से भयभीत होकर निराश न हो जावें, अपितु वर्तमान निर्दोषता के आधार पर अभय हो जावें। जो भयरहित हो जाता है, उससे किसी को भय नहीं होता। वह सभी का अना हो जाता है और सभी उसके अपने हो जाते हैं। अर्थात् मानव-सेवा-संघी का विश्व और विश्वनाथ से अभिभाज्य सम्बन्ध है और सेवा, त्याग, प्रेम उसका सहज स्वभाव है, जो सभी को अभीष्ट है।

यह भलीभाँति अनुभव करो कि अल्प सामर्थ्य से विकास में कोई बाधा नहीं होती; अपितु पवित्र भाव से प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से सभी का सर्वतोमुखी विकास होता है। यह कैसा अनुपम अलौकिक विधान है! अब आप महानुभावों को यह मान ही लेना चाहिए कि अपने लिए उपयोगी होकर सभी के लिए उपयोगी होने का दायित्व पूरा करना है। जो अपनी आप सहायता करता है, उसके लिए जगत् और जगतपति दोनों ही अनुकूल हो जाते हैं। इस वास्तविकता में आस्था करो और लक्ष्य पर दृढ़ रहो- सफलता अवश्यम्भावी है।

ॐ आनन्द!

अकिंचन
शरणानन्द

## १०३

साधक महानुभाव!

पराश्रय में आस्था रखने से कभी किसी को स्वाधीनता नहीं मिलती और स्वाधीनता के बिना स्वभाव से जीवन में उदारता तथा प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती, यह विधान है। पराश्रय का त्याग तभी हो सकता है, जब साधक यह स्वीकार करे कि सदैव, सर्वत्र, अद्वितीय, अनुपम, अलौकिक जीवन है, यद्यपि उसकी माँग मानव मात्र में विद्यमान है। यदि ऐसा न होता तो उसकी माँग ही न होती। परन्तु अपने में अपना जीवन होने पर भी साधक उससे अपनी ही भूल से विमुख हो जाता है। इस विमुखता के मिटाने के लिए सर्वप्रथम प्रेमियों को प्रेमास्पद की, जिज्ञासुओं को तत्त्व-ज्ञान की, योगियों को परम तत्त्व की सत्ता को गुरुवाणी, वेदवाणी, भक्तवाणी आदि किसी भी प्रकार से स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि किसी कारण ऐसा सम्भव न हो तो अपनी वास्तविकता माँग के आधार पर भी यह विकल्प-रहित विश्वास किया जा सकता है कि स्थायी माँग उसी की होती है जिसका अस्तित्व है। इसी वास्तविकता को स्वीकार कराने के लिए मानव के रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मानव-मात्र में आस्था का तत्त्व प्रदान किया है। आस्था का सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग यही है कि वह अपने द्वारा अपने लिए अनन्त के अस्तित्व को स्वीकार करे और जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसे विचार पूर्वक निर्मम, निष्काम तथा असंग हो जाय। यह मानव-मात्र का अनुभव है कि प्रत्येक मानव में ज्ञान तथा आस्था का तत्त्व मौजूद है और जिसके द्वारा हम सब कुछ कर सकते हैं। उसका बल तो प्राणीमात्र में है।

केवल ज्ञान और आस्था के कारण ही मानव-जीवन में विलक्षणता है। इसका उपयोग एकमात्र सत्य को स्वीकार करने में ही है। यही मानव-जीवन का परम-पुरुषार्थ है। यदि कह दिया जाय कि इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए मानव-जीवन मिला है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह है कि जिसे मानव जब चाहे तब कर सकता है, उसी को नहीं करता और जो वास्तव में नहीं करना चाहिए, उसी को कर बैठता है, जो नहीं कर सकता उसी को करने को सोचता रहता है। इसी भूल से मानव की अनमोल घड़ियाँ व्यर्थ बीत जाती हैं। मानव-सेवा-संघ की प्रणाली में साधक-समाज को यह परामर्श दिया गया कि जो नहीं कर सकते, उसे करने की मत सोचो और जो कर सकते हो, जो करना चाहिए, उसे शीघ्र पूरा कर अपने को करने के राग से मुक्त कर लो। करने का राग मिटते ही देह-देही विभाजन हो जाता है और फिर साधक अपने में ही अपने साध्य को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

अब विचार यह करना है कि साधक को क्या नहीं करना चाहिए? स्पष्ट है कि उत्पन्न हुई, परिवर्तनशील शरीरादि वस्तुओं से ममता का त्याग अर्थात् यह अनुभव करो कि मिला हुआ शरीर मेरा नहीं है। यह अनुभव अपने ज्ञान से अपने द्वारा अपने लिए करना होगा कि शरीर मेरे लिए नहीं है। इस वास्तविकता में अविचल दृढ़ता

होनी चाहिए। ज्यों-ज्यों साधक इस सत्य को स्वीकार करेगा, त्यों-त्यों उसमें स्वतः निर्विकारता की अभिव्यक्ति होगी। निर्विकारता दैवी सम्पत्ति है। उसमें आकर्षण है। वह सभी को प्यारी लगती है। सभी उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। जिसे निर्विकारता प्राप्त हो जाती है, उसके जीवन में दृश्य का आकर्षण नहीं रहता और फिर साधक बड़ी ही सुगमता पूर्वक अपने में सन्तुष्ट हो जाता है।

जीवन अपने में है, जीवन-धन अपने हैं, अपने में है। उन्हीं को पसन्द करना- यही आध्यात्म-जीवन है। जो अपने हैं, उन्हीं को अपना मानना आस्तिक जीवन है। जिन्होंने अपने ही में अपने को सन्तुष्ट किया, वे वर्तमान में ही अमरत्व से अभिन्न हो गये। जिन्होंने, जो सदैव अपने हैं, उन्हीं को स्वीकार किया, वे अखंड स्मृति और अगाध प्रियता पाकर कृतकृत्य हो गये। इस दृष्टि से जो अपना नहीं है, उसे अपना मत मानों और न उसका दुरुपयोग करो। उसका परिणाम यह होगा कि मिले हुए बल का स्वतः सदुपयोग होने लगेगा। बल का सदुपयोग कर्त्तव्य-विज्ञान तथा भौतिकवाद है। इससे साधक की भौतिक उन्नति होती है और सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है और फिर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक योग का अधिकारी हो जाता है। कारण, कि कर्त्तव्य-विज्ञान का उत्तर पक्ष योग है। इसी वास्तविकता को बतलाने के लिए धर्म की महिमा कही गई है। धर्मात्मा बड़ी ही सुगमतापूर्वक संसार के चिन्तन से छूट जाता है। इतना ही नहीं, संसार धर्मात्मा की सदैव आवश्यकता अनुभव करता है। संसार जिसकी आवश्यकता अनुभव करे और जो संसार की आवश्यकता का अनुभव न करे, उससे बढ़कर भौतिक उन्नति और क्या हो सकती है? जिन कर्त्तव्यनिष्ठ साधकों ने दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकारों का त्याग किया, वे बड़ी सुगमतापूर्वक योग-युक्त हो गये और फिर उन्हें अपने ही में अपना अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप जीवन प्राप्त हो गया। यह कर्त्तव्यनिष्ठ साधकों का अनुभव है।

जो देखने में नहीं आता, उसी में अविचल आस्था करनी है। आस्था से देखने हुए का सम्बन्ध बड़ी ही सुगमतापूर्वक मिट सकता है और फिर साधक दृश्य के प्रभाव से मुक्त हो जाता है जिसके होते ही चिरशान्ति, जीवन-मुक्ति स्वतः प्राप्त होती है। यह सजग साधक के जीवन का सत्य है। इसमें विकल्प करना भूल है। शान्ति, मुक्ति स्वतः भक्ति से अभिन्न हो जाती है। शान्ति संसार के लिए, मुक्ति अपने लिए और भक्ति भगवान के लिए उपयोगी होती है, जो एकमात्र सत्य को स्वीकार करने से प्रत्येक मानव को मिल सकती है। शान्ति, मुक्ति, भक्ति के अतिरिक्त और कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जो सभी को सदा के लिए मिल सके। यदि यह कह दिया जाय कि इससे भिन्न और कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी; अपितु यही जीवन की वास्तविकता है। सर्व-समर्थ प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को वास्तविकता में अविचल आस्था प्रदान करें, इसी सद्भावना के साथ सभी को बहुत-बहुत प्यार!

ॐ आनन्द!

**अकिंचन**
**शरणानन्द।**

# साधन सूत्र

1. परिवर्तनशील जगत् की प्रत्येक वस्तु निरन्तर काल-रूप अग्नि में जल रही है। अतः वर्तमान में ही योग्यतानुसार प्रयत्न कर, प्रेम-पात्र से अभिन्न होने का प्रयास करना चाहिए।
2. अपने दुःख का कारण अपने से भिन्न किसी और को नहीं समझना चाहिए।
3. अपनी निर्बलता को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना चाहिए।
4. प्रेम-पात्र के नाते सम्बन्धियों के साथ निष्कपट तथा पवित्रता पूर्वक माने हुए भाव के अनुरूप सभी आवश्यकता व्यवहार करने चाहिएँ।
5. अपनी ओर से किए हुए व्यवहार के बदले में अपने प्रति अनुकूल व्यवहार की आशा ही नहीं करनी चाहिए।
6. आवश्यकता से अधिक थोड़े समय भी बेकार चेष्टाएँ नहीं करनी चाहिएँ, क्योंकि व्यर्थ-चेष्टाओं के निरोध से जितेन्द्रियता स्वाभाविक प्राप्त होती है।
7. संसार से सच्ची निराशा परम बल है।
8. अपने को सब ओर से हटाकर अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना अनन्य भक्ति है।
9. स्वधर्म पालन करने में आई हुई कठिनाइयों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना परम तप है।
10. किसी की बराबरी करने की भावना मन में उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिए।
11. उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर दो, जो किसी की पूर्ति तथा हित का साधन नहीं है।
12. उन सभी संकल्पो का अन्त कर दो, जिनको जन-समाज के सामने निर्भयतापूर्वक प्रकाशित नहीं कर सकते।
13. अन्न-वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं को शारीरिक हित के भाव से ग्रहण करो।
14. आवश्यकता के अतिरिक्त केवल विलासिता के भाव से जन-समाज से मत मिलो।
15. जब तक जितेन्द्रियता स्वाभाविक न हो पाए, तब तक किसी भी स्त्री-पुरुष से एकान्त में अधिक बातचीत मत करो।
16. अपने-आप आने वाले सुख-दुःख का शासन अपने पर मत होने दो।
17. बड़ी-से-बड़ी कठिनाई आने पर भी हार स्वीकार मत करो।
18. सत्य की खोज के लिए सर्वस्व समर्पण कर दो।
19. प्रत्येक कार्य आरम्भ करने के पूर्ण हित-अहित की दृष्टि से उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर लो।
20. वाणी का संयम करने के लिए भी व्यर्थ बात मत करो, अर्थात् स्वाभाविक मौन रहने का स्वभाव बनाओ।
21. हृदय में मोह की अग्नि मत जलने दो।
22. मृतक प्राणी का चिन्तन मत करो।
23. बच्चों की यथा-शक्ति सेवा करते हुए उनके सुख-दुःख से अपने को हर्ष अथवा विषाद मत होने दो।

24. नूतन बालवत् स्वभाव बनाने का प्रयत्न करो।
25. प्रत्येक कार्य अभिनय के रूप में करने का प्रयत्न करो।
26. निर्बलताओं को मिटाने के लिए व्याकुलतापूर्वक प्रेम-पात्र से प्रार्थना करो।
27. यथाशक्ति बुराई का उत्तर अच्छाई से देने का स्वभाव बनाओ।
28. दूसरों द्वारा की हुई बुराई का प्रभाव अपने पर मत होने दो।
29. भूतका की सभी घटनाओं को स्वप्नवत् समझकर भूल जाओ।
30. वर्तमान परिस्थिति को संभालने का प्रयत्न करो, क्योंकि वर्तमान को संभालने से बिगड़ा हुआ भूत तथा आने वाला भविष्य, दोनों अपने-आप संभल जाते हैं।
31. अपने को शरीर कभी मत समझो।
32. सर्वेन्द्रियों को ब्रह्मचर्य पालन कर, शरीर को शुद्ध कर लो।
33. प्रेम-पात्र के विरह तथा तत्त्व-विचार से हृदय शुद्ध कर लो।
34. गुणों का भोग मत करो, क्योंकि भोग करने से विकास रूक जाता है।
35. अपनी अच्छाई तथा दूसरों की बुराई भूल जाओ।
36. दूसरों के दोष मत देखो, क्योंकि दूसरों के दोष देखने से दोषों से अकारण ही सम्बन्ध हो जाता है।
37. दोषों का चिन्तन दोषों से भी अधिक दोष है।
38. भलाई का चिन्तन भलाई से भी अधिक भलाई है, क्योंकि चिन्तन से दृढ़ता आ जाती है।
39. की हुई बुराई को पुनः न करना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित् है, क्योंकि दोष के न करने से गुण अपने-आप उत्पन्न हो जाता है। अतः भूल हो जाने पर, प्रायश्चित् करने का स्वभाव बनाओ।
40. अपनी भूल स्वीकार करने से भी इन्कार मत करो, क्योंकि भूल स्वीकार करते ही सच्चा पश्चात्ताप उत्पन्न होता है, जो सभी बुराईयों को खा जाता है।
41. ऐसा कोई कार्य मत करो, जिससे अपनी दृष्टि में आदर के योग्य न रहो।
42. विषय-चिन्तन मिटाने के लिए भगवच्चिन्तन का स्वभाव बनाओ।
43. माने हुए सम्बन्धों का अन्त करने के लिए सद्भावपूर्वक प्रेम-पात्र से सम्बन्ध कर लो। प्रेम-पात्र वही है, जिसका वियोग नहीं होता।
44. स्वीकृतिमात्र को सज्ञा मत समझो।
45. सत्ता के यथार्थ ज्ञान के लिए स्वीकृति को अस्वीकृति से मिटा दो, क्योंकि स्वीकृति किसी अभ्यास से नहीं मिट सकती।
46. धर्मानुसार की हुई स्वीकृति के विधान के विपरीत कोई भी कर्म मत करो; क्योंकि अहंता के अनुरूप की हुई प्रवृत्ति से निर्भयता आ जाती है।

47. निर्वासना के बिना सत्य का अनुभव नहीं होता। अतः निर्वासना प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो।
48. निर्वासना किसी अन्य के द्वारा नहीं प्राप्त होगी। अतः उसे प्राप्त करने के लिए अपने पर ही पूरा भरोसा करो। कोई गुण नहीं है, जो निर्वासना से न आ जाए।
49. स्वार्थ-भाव मिटाने के लिए सेवा करने का स्वभाव बनाओ; क्योंकि सेवा करने से स्वार्थ-भाव मिट जाता है।
50. उस सुख का त्याग कर दो, जो किसी का दुःख हो।
51. उस दुःख को प्रसन्नतापूर्वक अपनाओ, जिससे किसी का हित हो।
52. अपनी प्रसन्नता के लिए किसी प्रकार का संगठन मत बनाओ; क्योंकि संगठन से उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता अपने आप मिट जाती है।
53. ऐसा कोई भी कार्य मत करो, जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते।
54. जिसकी आवश्यकता है, उसका अभाव स्वीकार न करो।
55. अपनी आवश्यकता से भिन्न किसी प्रकार का संग्रह न करो।
56. स्वीकृति को सत्ता मत समझो, क्योंकि 'स्वीकृति' अस्वीकृति से मिट जाती है।
57. सत्ता वही है, जिसका किसी प्रकार त्याग नहीं हो सकता।
58. त्याग करने वाले का त्याग अवश्य कर दो।
59. एक-निष्ठता सफलता की सर्वोत्कृष्ट कुन्जी है।
60. कर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान होने पर गुरु और ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रहती।
61. सब प्रकार की क्रियाओं को अभाव होने पर कर्ता का भी अन्त हो जाता है।
62. जो करना चाहिए उसके करने से 'करने' का अन्त हो जाता है।
63. सुख और दुःख बीज और वृक्ष के समान हैं; क्योंकि सुखरूपी बीज से ही दुःखमयी वृक्ष हरा-भरा होता है।
64. किसी का न होना, किसी का होन हो जाता है।
65. सेवक के जीवन में सुख, सुविधा, सम्मान के भोग का कोई स्थान ही नहीं है।
66. 'सेवा' सेवक को सेव्य की अगाध प्रियता प्रदान करती है।
67. सेवक से ही सेव्य को नित्य-नव रस मिलता है।
68. सुख, सुविधा, सम्मान की रुचि विनाश का मूल है।
69. सेवा, त्याग, प्रेम की माँग जीवन की वास्तविक माँग है।
70. सेवा क ही पूर्णता में त्याग तथा प्रेम की अभिव्यक्ति है।
71. अकिंचन, अचाह तथा अप्रयत्न-पूर्वक साधन साध्य से अभिन्न होता है।
72. साधक को किसी भी काल में साध्य की विस्मृति नहीं होती।

73. साधक सजगतापूर्वक भूलरहित होने के लिए अथक प्रयत्नशील रहता है।
74. 'शरीर' प्रभु के नाते सेवा-सामग्री है। सेवा-सामग्री को भोग-सामग्री बनाना भारी भूल है।
75. निर्मम होने से 'चित्त' शुद्ध और निष्काम होने से शांत होता है।
76. निमर्मता तथा निष्कामता से चित्त सदा के लिए शांत हो जाता है।
77. वर्तमान की नीरसता काम की जाननी है।
78. अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता में ही रसरूप जीवन है।
79. आत्मीयता से ही अखण्ड स्मृत्ति और अगाध प्रियता उदय होता है।
80. सजगता से ही प्रमाद की निवृत्ति होती है
81. मोह का नाश होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।
82. निर्दोष वही हो सकता है, जिसे केवल अपने ही दोषों का दर्शन होता है।
83. यदि अनुकूलता का सुख न प्रतीत हो, तो प्रतिकूलता का दुःख नहीं हो सकता।
84. प्रेम-प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है।
85. वर्तमान का सदुपयोग की विकास का मूल है।
86. जो हम अपने प्रति चाहते हैं, वही दूसरों के प्रति करना चाहिए।
87. 'त्याग' से अपने लिए, 'सेवा' से समाज के लिए और 'प्रेम' से प्रभु के लिए अपने को उपयोगी बनाएँ।
88. 'करने' में सावधान और 'होने' में प्रसन्न रहना चाहिए।
89. जो स्वयं भयभीत है, वही दूसरों को भय देता है।
90. की हुई भूल न दोहराने से स्वतः मिट जाती है।
91. कुछ भी पाने की चाह रखकर, सेवा और प्रेम नहीं हो सकता।
92. व्याकुलता होने पर ही प्रभु-प्राप्ति सम्भव है।
93. विश्वास के दृढ़ होने पर प्रीति जग जाती है।
94. जो कुछ भी चाहता है, वह 'होने' में प्रसन्न और 'करने' में सावधान नहीं रह सकता।
95. अहम् के नाश में अनन्त सामर्थ्य निहित है।
96. समस्त विकास निरभिमानता में निहित है।
97. सेवा और त्याग में ही कर्त्तव्य निहित है।
98. सुख उसी का दास है, जो सुख का दास नहीं है।
99. मोहयुक्त क्षमा तथा क्रोधयुक्त त्याग निरर्थक है।